दूसरी आवृत्ति
१०००
वीर नि० स० २४८४
द्वि० श्रावण शुक्ला १



मूल्य ५) रुपये



मुद्रकः—
नेमीचन्द बाकलीवाल
मैनेजर—कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज (किशनगढ़)

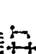


समर्पण

अध्यात्ममूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी को



जिन्होंने इस पामर पर अपार उपकार किया है, जो
स्वय मोक्षमार्गमें विचर रहे हैं और अपनी दिव्य
श्रुतधारा द्वारा भरतभूमि के जीवों को सतत
रूपमे मोक्षमार्ग दर्शा रहे हैं जिनकी पवित्र
वाणी में मोक्षमार्ग के मूलरूप कल्याण-
मूर्ति सम्यग्दर्शन का माहात्म्य निरतर
बरस रहा है, और जिनकी परम
कृपा द्वारा यह ग्रन्थ तैयार हुआ
है ऐसे कल्याणमूर्ति सम्यग-
दर्शनका स्वरूप समझाने
वाले परमोपकारी
गुरुदेवश्री को यह
ग्रन्थ अत्यन्त भक्ति
भाव पूर्वक
समर्पण
करता
हूँ।



—दासानुदास 'रामजी'

अनुवादक की ओर से



इस युग के परम आध्यात्मिक सन्त पुरुष श्री कानजी स्वामी से जैन समाज का बहुभाग परिचित हो चुका है। अल्प काल में ही उनके द्वारा जो सत् साहित्य सेवा, आध्यात्मिकता का प्रचार और सद्भावोंका प्रसार हुआ है, वह गत सौ वर्षों में भी शायद किसी अन्य जैन सन्त पुरुष से हुआ हो!

मुझे श्री कानजी स्वामीके निकट बैठकर कईबार उनके प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वे 'आध्यात्मिक' और 'निश्चय व्यवहार' जैसे शुष्क विषयों में भी ऐसी सरसता उत्पन्न कर देते हैं कि श्रोतागण घंटों क्या, महीनों तक निरन्तर उनके त्रिकाल प्रवचन सुनते रहते हैं। साथ ही श्रोताओंकी जिज्ञासात्मक रुचि बराबर बनी रहती है।

उनके निकट बैठकर अनेक महानुभावों ने ज्ञान-लाभ लिया है, और समयसार, प्रवचनसार आदि कई ग्रंथों का गुजराती अनुवाद किया है, जिनका राष्ट्र भाषानुवाद करने का सौभाग्य मुझे मिलता रहा है।

गुजराती पाठकों में वह टीकाशास्त्र अत्यधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। मैंने स्वय भी पर्यूषण पर्व में 'ललितपुर' की जैन समाजके समक्ष उसी गुजराती भाष्यको २-३ बार हिन्दीमें पढ़कर विवेचन किया है, जो समाज को बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुआ है।

उसी भाष्य ग्रन्थका राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवाद करनेका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ है, जो आपके करकमलोंमें प्रस्तुत है। मेरा विश्वास है कि सामान्य हिन्दी पाठक भी इस 'तत्वार्थ-विवेचन' का पठन-मनन करके तत्वार्थका रहस्यज्ञ बन सकता है। हिन्दी जगत्में इस ग्रन्थका अधिकाधिक प्रचार होना चाहिये।

जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर
२५-७-५४

—परमेष्ठीदास जैन

दो शब्द

आज इस चिर-प्रतीक्षित ग्रन्थराज श्री "मोक्षशास्त्र" पर आध्यात्मिक ष्टिसे की गई विस्तृत भाष्य समान टीकाको प्रकाशित होते देखकर हृदय हुत आनन्दित हो रहा है। हमारे यहाँ दिगम्बर समाजमें इस ग्रन्थराजकी हुत ही उत्कृष्ट महिमा है, सर्वदा पर्यूषण पर्वमें सर्व स्थानोंमें दस दिवसमें सी ग्रन्थराजके दस अध्यायका अर्थ सहित वाँचन करनेकी पद्धति निरन्तर चलित है तथा बहुत से स्त्री पुरुषोंको ऐसा नियम होता है कि नित्य प्रति इसका पूरा स्वाध्याय जरूर करना, इस प्रकार कीपद्धति जो कि अभी रूढ़ि-मात्र ही रह गई है, अर्थ एव भाव पर लक्ष्य किये विना मात्र स्वाध्याय कल्याणकारी कदापि नहीं बन सकती, कदाचित् कषाय मन्द करे तो किंचित् पुण्य हो सकता है लेकिन मोक्षमार्गमें सम्यक्रहित पुण्य का क्या मूल्य है, लेकिन यहां पर तो इतना ही समझना है कि समाजमें अभी भी इस ग्रन्थ-राजका कितना आदर है, इसकी ओर अनेक महान्२ दिग्गज आचार्य श्रीमद् उमास्वामी आचार्यके बाद हुये जिन्होंने इस ग्रन्थराज मोक्षशास्त्र पर अनेक विस्तृत टीकायें श्री सर्वार्थसिद्धि, श्रीराजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक आदि और हिन्दी भाषामें भी अर्थ प्रकाशिका आदि अनेक विस्तृत टीकायें रची गई, जितनी बड़ी २ टीकाए इस ग्रन्थराज पर मिलती हैं उतनी अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं मिलतीं, ऐसे ग्रन्थराज पर अध्यात्मरसरोचक हमारे श्री माननीय भाई श्री रामजीभाई माणेकचन्दजी दोशी एडवोकेट सपादक आत्म धर्म एव प्रमुख श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण सहित से एक विस्तृत भाष्यरूप टीका गुजरातीमें तैयार की जिसमें अनेक २ ग्रन्थोंमें इस विषय पर क्या कहा गया है उन सबके अक्षरशः उद्धरण साथमें देने से यह टीका बहुत ही सुन्दर एवं उपयोगी बनगई, यह टीका गुजरातीमें वीर सवत २४७३ के फागुन सुदी १ को १००० प्रति

सिर्फ ६ मासमें सर्व १००० प्रति पूर्ण होगई और मांग बराबर आती रहनेके कारण वीर स० २४७५ मिती अषाढ़ सुदी २ को दूसरी आवृत्ति प्रति १००० की प्रकाशित करनी पडी ऐसे सुन्दर प्रकाशनको देखकर मेरी यह तीव्र भावना हुई कि अगर यह विस्तृत सकलन हिन्दी भाषामे अनुवाद होकर प्रकाशित हो तो हिन्दी भाषी एव भारत भर के मुमुक्षु भाइयो को इसका महान् लाभ मिले अतः मैंने अपनी भावना श्री माननीय रामजी भाई को व्यक्त की लेकिन कुछ समय तक इस पर विचार होता रहा कि हिन्दी भाषी समाज बड़े २ उपयोगी ग्रन्थों को भी खरीदने मे संकोच करती है अतः बड़े ग्रन्थों के प्रकाशन मे बड़ी रकम अटक जाने से दूसरे प्रकाशन रुक जाते हैं आदि २, यह बात सत्य भी है कारण हमारे यहाँ शास्त्रोंको सिर्फ मंदिर में ही रखने की पद्धति है जो कि ठीक नहीं है, जिस प्रकार हरएक व्यक्ति व्यक्तिगतरूप से अलग २ अपने २ आभूषण रखना चाहता है चाहे वह उनको कभी २ ही पहनता हो उसीप्रकार हरएक व्यक्ति को जिसके मोक्षमार्ग प्राप्त करने की अभिलाषा है उसको तो मोक्षमार्ग प्राप्त कराने के साधनभूत सत्शास्त्र आभूषणसे भी ज्यादा व्यक्तिगतरूपसे अलग २ रखनेकी आवश्यकता अनुभव होनी चाहिये, यही कारण है कि जिससे बड़े २ उपयोगी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य समाजमें कम होता जारहा है, लेकिन जब अनेक स्थानोंसे इस मोक्षशास्त्रको हिन्दी भाषामें प्रकाशन कराने की मांग आने लगी तो अन्तमे इसको हिन्दी भाषामें अनुवाद कराकर प्रकाशन करानेका निर्णय हुवा। फलत. यह ग्रन्थराज सभाष्य आपको आज मिल रहा है, आशा है सर्व मुमुक्षुगण इससे पूरा पूरा लाभ उठावेंगे।

इस टीकाके लिखने वाले व सग्राहक श्री माननीय रामजीभाई ने इसको तैयार करने मे अत्यन्त असाधारण परिश्रम किया है, तथा अपने गम्भीर शास्त्राभ्यासका इसमें दोहन किया है, जब इस टीकाके तैयार करने का कार्य चलता था तब तो हमेशा प्रातःकाल ४ बजे से भी पहले उठकर लिखने को बैठ जाते थे। उनकी उम्र ७२ वर्ष के आसपास होने पर भी उनकी कार्य शक्ति बहुत ही आश्चर्यजनक है! उन्होंने स० २००२ के मगसर

सुदी १० से वकालत वंद करके निवृत्ति ले ली है, और तभी से वे करीब २ अपने सम्पूर्ण समय सोनगढ़ में ही रहते हैं, उनमें सूक्ष्म न्यायों को भी ग्रहण करने की शक्ति, विशालबुद्धि, उदारता और इस संस्था (श्री दि०जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़) के प्रति अत्यन्त प्रेम आदिकी प्रशसा पूज्य महाराज श्री के मुखसे भी अनेक बार मुमुक्षुओंने सुनी है।

जो भी मुमुक्षु इस ग्रन्थकी स्वाध्याय करेंगे उनपर इस प्रकार श्रीयुत् रामजीभाई के प्रखर पांडित्य एव कठिन श्रमकी छाप पड़े विना नहीं रह सकती अतः श्री रामजी भाई का समाज पर बहुत उपकार है कि जिन्होंने इस ग्रन्थराजका विषय अनेक ग्रन्थोंमें कहाँ किस प्रकार आया है और उसका अभिप्राय क्या है यह सब सकलन करके एक ही जगह इकट्ठा करके हमको दे दिया है।

सबसे महान् उपकार तो हम सबके ऊपर परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजी स्वामी का है कि जिनकी अमृतवाणीको रुचिपूर्वक श्रवण करने मात्रसे अपने आपको पहिचानने का मार्ग मुमुक्षुको प्राप्त होता है, और जिनकी अध्यात्मसरिताका अमृतमय जलपान करके श्री रामजी भाई एवं श्री पडित हिम्मतलाल जेठालाल शाह जिन्होंने समयसार प्रवचनसार नियमसारकी सुन्दर टीका वनाई ऐसे २ नर रत्न प्रगट हुये है। मेरे ऊपर तो परम पूज्य परम उपकारी श्री गुरुदेव कानजी स्वामीका महान् २ उपकार है कि जिनके द्वारा अनेक भवोंमें नहीं प्राप्त किया ऐसा मोक्षमार्गका उपाय साक्षात् प्राप्त हुवा है और भविष्यके लिये यही आन्तरिक भावना है कि पूर्ण पदकी प्राप्ति होने तक आपका उपदेश मेरे हृदय में निरन्तर जयवन्त रहो।

श्रावण शुक्ला २
वीर नि० स० २४८०

—नेमीचन्द पाटनी

आज हमें इस ग्रन्थराजकी हिंदीमे द्वितीयावृत्ति प्रस्तुत करते हुवे बहुत ही आनन्द हो रहा है। तत्वरसिक समाजने इस ग्रन्थराजको इतना ज्यादा अपनाया कि प्रथम आवृत्ति की १००० प्रति ६ महिनेमे ही सम्पूर्ण होगई, उस पर भी समाजकी बहुत ज्यादा मांग बनी रही लेकिन कई कारणों से तथा पूज्य कानजी स्वामीजीके संघसहित तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर की यात्रा जाने के कारण यह दूसरी आवृत्ति इतनी देरी से प्रकाशित हो सकी है, इस आवृत्तिमें कुछ आवश्यक सशोधन भी किये गये है तथा नवीन उद्धरण आदि भी और बढाये गये हैं तथा अशुद्धियां भी बहुत ही कम रह गई हैं। इस प्रकार दूसरी आवृत्ति पहली आवृत्ति से भी विशेषता रखती है अतः तत्त्व रुचिक समाजसे निवेदन है कि इस ग्रन्थको भले प्रकार अध्ययन करके तत्त्वज्ञान की प्राप्ति पूर्वक आत्मलाभ करके जीवन सफल करें।

अषाढ़ वदी १
वीर नि० स० २४८४

—नेमीचन्द पाटनी



इस ग्रन्थ के ज्ञान प्रभावना के लिये लागत कीमत से भी कम कीमत में वितरण करने के हेतु—५०१) रु० श्री मणिबहिन रणछोडदास के स्मरणार्थ उसके पौत्रों द्वारा प्राप्त हुए हैं, अतः इसके लिये उनका आभार माना जाता है।



जैन शास्त्रोंकी कथन पद्धति समझकर तत्त्वार्थों की सच्ची श्रद्धा-करने की रीति

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३६९ से ३७३)

"व्यवहारनयका श्रद्धान छोडि निश्चयनयका श्रद्धान करना योग्य है।" "व्यवहारनय-स्व-द्रव्य परद्रव्यकौ वा तिनके भावनिकौ वा कारण कार्यादिककौ काहूकौ काहूविषै मिलाय निरूपण करै है। सो ऐसे ही श्रद्धानतै मिथ्यात्व है। तातै याका त्याग करना। बहुरि निश्चयनय तिन्ही कौ यथावत् निरूपै है, काहूकौ काहूविषै न मिलावै है। ऐसे ही श्रद्धानतै सम्यक्त्व हो है। तातै याका श्रद्धान करना। यहाँ प्रश्न—जो ऐसै है, तौ जिनमार्ग विषै-दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या है, सो कैसै !

ताका समाधान—जिनमार्ग विषै कही तौ निश्चयनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकौ तौ 'सत्यार्थ ऐसै ही है' ऐसा जानना। बहुरि कही व्यवहारनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है, ताकौ 'ऐसै है नाही निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोऊ नयनिका ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनिके व्याख्यानकौं समान सत्यार्थ जानि ऐसैं भी है ऐसैं भी है, ऐसा भ्रमरूप प्रवर्त्तनेकरि तौ दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या है नाहीं।

बहुरि प्रश्न—जो व्यवहारनय असत्यार्थ है, तौ ताका उपदेश जिनमार्ग विषै काहे कौ दिया—एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था ? ताका समाधान—ऐसा ही तर्क समयसार गा० ८ विषै किया हैं। तहाँ यह उत्तर दिया है—याका अर्थ–जैसै अनार्य जो म्लेच्छ सो ताहि म्लेछ भाषा विना अर्थ ग्रहण करावनेकौ समर्थ न हूजे। तैसै व्यवहार विना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। तातै व्यवहारका उपदेश है। बहुरि इसही सूत्रकी व्याख्याविषै ऐसा कह्या है—'व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य'। याका अर्थ—यहु निश्चयके अंगीकार करावने कौ व्यवहारकरि उपदेश दीजिए

है। वहुरि व्यवहारनय है, सो अंगीकार करने योग्य नाहीं।

यहा प्रश्न—व्यवहार विना निश्चयका कैसे न होय। वहुरि व्यवहारनय कैसे अगीकार करना, सो कहो ?

ताका समाधान—निश्चयनयकरि तौ आत्मा परद्रव्यनितैं भिन्न और स्वभावनितैं अभिन्न स्वयसिद्ध वस्तु है ताकौ जे न पहिचानैं, तिनकौं ऐसैं ही कह्या करिए तौ वह समझै नाही। तव उनको व्यवहार नयकरि शरीरादिक परद्रव्यनिकी सापेक्षकरि नर, नारक, पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष किए। तव मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार लिएं वाकै जीवकी पहिचानि भई। अथवा अभेद वस्तु विषै भेद उपजाय ज्ञानदर्शनादि गुणपर्यायरूप जीवके विशेप किए, तव जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है, इत्यादि प्रकार लिए वाकै जीवकी पहिचान भई। वहुरि निश्चयनयकरि वीतरागभाव मोक्षमार्ग है ताकौ जे न पहिचानैं, तिनिकौ ऐसैं ही कह्या करिए, तौ वै समझै नाही। तव उनकौं व्यवहारनय करि तत्वश्रद्धानज्ञानपूर्वक परद्रव्यका निमित्त मेटनेकी सापेक्ष करि व्रत, शील, सयमादिरूप वीतरागभावके विशेप दिखाए, तव वाकै वीतराग भावकी पहिचान भई। याही प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार विना निश्चयका उपदेश न होना जानना। वहुरि यहाँ व्यवहार करि नर, नारकादि पर्याय ही कौं जीव कह्या, सो पर्याय ही कौ जीव न मानि लैना। पर्याय तौ जीव पुद्गल का सयोगरूप है। तहाँ निश्चयकरि जीव जुदा है, ताही कौ जीव मानना। जीवका सयोग तै शरीरादिककौं भी उपचारकरि जीव कह्या, सो कहनेमात्र ही है। परमार्थतै शरीरादिक जीव होते नाही। ऐसा ही श्रद्धान करना। वहुरि अभेद आत्मा विपै ज्ञानदर्शनादि भेद किए, सो तिनकौं भेदरूपही न मानि लैनै। भेद तौ समझावने के अर्थ हैं। निश्चय करि आत्मा अभेद ही है। तिसही कौं जीव वस्तु मानना। सज्ञा सख्यादि करि भेद कहे, सो कहनें मात्र ही है। परमार्थ तै जुदे जुदे हैं नाही। ऐसा ही श्रद्धान करना। वहुरि परद्रव्यका निमित्त मेटनेकी अपेक्षा व्रत शील संयमादिककौ मोक्षमार्ग कह्या। सो इन ही कौं मोक्षमार्ग न मानि लेना।

जातैं परद्रव्यका ग्रहण त्याग आत्माकै होय, तौ आत्मा परद्रव्यका कर्त्ता हर्त्ता होय **सो कोई द्रव्य कोई द्रव्य कै आधीन है नाहीं** । तातैं आत्मा अपने भाव रागादिक है, तिनकौ छोडि वीतरागी हो है । **सो निश्चय-करि वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है** । वीतराग भावनिके अर व्रतादिक-निकै कदाचित् कार्य कारणपनो है । **परमार्थतैं बाह्य क्रिया मोक्षमार्ग नाहीं, ऐसा ही श्रद्धान करना** । ऐसै ही अन्यत्र भी व्यवहारनयका अंगी-कार करना जान लेना ।

यहाँ प्रश्न—जो व्यवहारनय परको उपदेशविषै ही कार्यकारी है कि अपना भी प्रयोजन साधै है ?

ताका समाधान—आप भी यावत् निश्चयनयकरि प्ररूपित वस्तुकौ न पहिचानै, तावत् व्यवहार मार्गकरि वस्तुका निश्चय करे । तातैं निचली दशाविषै आपकौ भी व्यवहारनय कार्यकारी है । परन्तु व्यवहारकौ उपचारमात्र मानि वाकै द्वारै वस्तुका श्रद्धान ठीक करै, तौ कार्यकारी होय । बहुरि जो **निश्चयवत् व्यवहार भी सत्यभूत मानि 'वस्तु ऐसैं ही है,' ऐसा श्रद्धान करै, तौ उलटा अकार्यकारी होय जाय** सो ही पुरुषार्थ सिद्धि उपाय शास्त्र मे कह्या है—

अबुधस्य बोधनार्थ मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयता यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

इनका अर्थ—मुनिराज अज्ञानीके समझावनेकौ असत्यार्थ जो व्यव-हारनय ताकौ उपदेशैं है । जो केवल व्यवहारही कौ जानै है, ताकौ उप-देश ही देना योग्य नाही है । बहुरि जैसे जो साचा सिंह कौ न जानै, ताकैं विलाव ही सिंह है, तैसै जो निश्चय कौ न जानै, ताकैं व्यवहार ही निश्चयपणाकौ प्राप्त हो है । (मो० मा० प्र० पृ० ३६९ से ३७३)

निश्चय व्यवहाराभास—अवलंबीओंका निरूपण

अब निश्चय व्यवहार दोऊ नयनिके आभासको अवलम्बै है, ऐसे मिथ्यादृष्टि तिनिका निरूपण कीजिए है—

जे जीव ऐसा मानै हैं—जिनमतविषै निश्चय व्यवहार दोय नय कहे है, तातै हमको तिनि दोऊनिका अगीकार करना। ऐसै विचारि जैसै केवल निश्चयाभास के अवलवीनिका कथन किया था, तैसै तौ निश्चयका अगीकार करै हैं अर जैसै केवल व्यवहाराभास के अवलम्बीनिका कथन किया था, तैसै तौ व्यवहारका अगीकार करै है। यद्यपि ऐसे अगीकार करने विषै दोऊ नयनिविषै परस्पर विरोध है, तथापि करै कहा, साचा तो दोऊ नयनिका स्वरुप भास्या नाही, अर जिनमतविषै दोय नय कहे, तिनिविषै काहूको छोडी भी जाती नाही। तातै भ्रमलिए दोऊनिका साधन साधै हैं, ते भी जीव मिथ्यादृष्टि जाननें।

अब इनिकी प्रवृत्तिका विशेष दिखाइए हैं—अतरगविषै आप तौ निर्धारकरि यथावत् निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गकौ पहिचान्या नाही। जिन आज्ञा मानि निश्चय व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दोय प्रकार मानैं है। सो मोक्षमार्ग दोय नाहीं। मोक्षमार्गका निरूपण दोय प्रकार है। जहाँ सांचा मोक्षमार्ग कौं मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है। अर जहाँ जो मोक्षमार्ग तौ है नाहीं, परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है, वा सहचारी है, ताकौ उपचारकरि मोक्षमार्ग कहीए, सो व्यवहार मोक्षमार्ग है जातैं निश्चय व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण हैं। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दोय प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है। ऐसैं दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानै है सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय व्यवहारका स्वरूप तौ परस्पर विरोध लिए है।

(देहली मे प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३६५—६६)

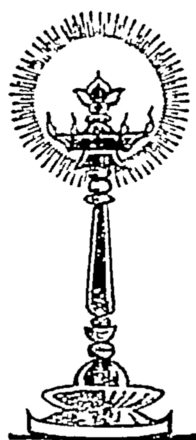
सूत्र पदोंके अर्थ के निर्णय निश्चयनय द्वारा करने के लिये प्रवचनसार चारित्र चूलिका-अधिकार गाथा २६८ मे कहा है कि 'निश्चित-सूत्रार्थ पद' उसका अर्थ—"जिसने सूत्रोके पदोको और अर्थोको निश्चित किया है, (वह सम्यग्दृष्टि हो सकते है)।"

प्रश्न—'पदो और अर्थो के निश्चितका अर्थ क्या है ?'

उत्तर—यहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य कहते है कि जो वाक्य व्यवहारनयका हो उसका अर्थ भी निश्चयनयद्वारा करना चाहिये। इसीलिये टीकामे कहा है कि **निश्चयनयद्वारा 'सूत्रके पदों और अर्थों का निश्चयवाला हो'**।

(पाटनी ग्रन्थमाला प्रवचनसार, पृ० ३१८)

इस विषयमे देखो, इस शास्त्रमे पृ० ३६ मे जैन शास्त्रोके अर्थ करने की पद्धति वह यहाँ भी पढना।



मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

प्रस्तावना

(१) शास्त्र के कर्ता और उसकी टीकाएँ—

१. इस मोक्षशास्त्रके कर्त्ता भगवान श्री उमास्वामी आचार्य है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के वे मुख्य शिष्य थे। 'श्री उमास्वाति' के नाम से भी वे पहिचाने जाते हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् वे आचार्य पद पर विराजमान हुए थे। वे विक्रम सवत् की दूसरी शताब्दीमे होगये है।

२ जैन समाज मे यह शास्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी एक विशेषता यह है कि जैन आगमो मे सस्कृत भाषामे सर्वप्रथम इसी शास्त्र की रचना हुई है, इस शास्त्र पर श्री पूज्यपाद स्वामी, अकलक स्वामी और श्री विद्यानदि स्वामी जैसे समर्थ आचार्यदेवोने विस्तृत टीकाकी रचना की है। श्री सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, अर्थप्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसी शास्त्रकी टीकाएँ है। बालक से लेकर महापण्डितो तक के लिये यह शास्त्र उपयोगी है। इस शास्त्र की रचना अत्यन्त आकर्षक है, अत्यल्प शब्दोमे प्रत्येक सूत्रकी रचना है और वे सूत्र सरलतासे याद रखे जा सकते है। अनेक जैन उन सूत्रोंको मुखाग्र करते हैं। जैन पाठशालाओ की पाठ्य-पुस्तकोमे यह एक मुख्य है। हिन्दीमे इस शास्त्रकी कई आवृत्तिया छप गई हैं।

(२) शास्त्र के नाम की सार्थकता—

३. इस शास्त्रमे आचार्य भगवानने प्रयोजनभूत तत्त्वोका वर्णन बडी खूबीसे भर दिया है। पथभ्रात संसारी जीवोको आचार्यदेवने मोक्ष का मार्ग दर्शाया है, प्रारम्भ मे ही 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है'—ऐसा बतलाकर निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यग्चारित्रका वर्णन किया है। इसप्रकार मोक्षमार्गका प्ररूपण होनेसे यह शास्त्र 'मोक्षशास्त्र' नाम से पहिचाना जाता है। और जीव-अजीवादि सात तत्त्वोका वर्णन होनेसे 'तत्त्वार्थ सूत्र' नामसे भी प्रसिद्ध है।

(३) शास्त्रके विषय

४. यह शास्त्र कुल १० अध्यायोमे विभक्त है और उनमे कुल ३५७ सूत्र हैं प्रथम अध्यायमे ३३ सूत्र हैं, उनमे पहले ही सूत्रमे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनोकी एकताको मोक्षमार्गरूपसे बतलाकर फिर निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञानका विवेचन किया है। दूसरे अध्यायमे ५३ सूत्र हैं, उनमे जीवतत्त्वका वर्णन है। जीवके पाच असाधारण भाव, जीवका लक्षण तथा इन्द्रिय, योनि, जन्म, शरीरादिके साथके सम्बन्धका विवेचन किया है। तीसरे अध्यायमे ३९ तथा चौथे अध्यायमे ४२ सूत्र है। इन दोनो अध्यायोमे संसारी जीवको रहने के स्थानरूप अधो, मध्य और ऊर्ध्व इन तीन लोको का वर्णन है और नरक, तिर्यच, मनुष्य तथा देव—इन चार गतियोका विवेचन है। पाँचवे अध्यायमे ४२ सूत्र है और उसमे अजीव तत्त्वका वर्णन है, इसलिये पुद्गलादि अजीव द्रव्योका वर्णन किया है, तदुपरान्त द्रव्य, गुण, पर्यायके लक्षणका वर्णन बहुत सक्षेपमे विशिष्ट रीतिसे किया है—यह इस अध्यायकी मुख्य विशेषता है। छठवे अध्यायमे २७ तथा सातवे अध्यायमे ३९ सूत्र हैं, इन दोनो अध्यायोमे आस्रवतत्त्वका वर्णन है। छठवे अध्यायमे प्रथम आस्रवके स्वरूपका वर्णन करके फिर आठो कर्मोके आस्रवके कारण बतलाये है। सातवे अध्यायमे शुभास्रवका वर्णन है, उसमें बारह व्रतोका वर्णन करके उसका आस्रवके कारणमे समावेश किया है। इस अध्यायमें श्रावकाचारके वर्णनका समावेश हो जाता है। आठवे अध्यायमे २६ सूत्र हैं और उनमे बधतत्त्वका वर्णन है। बधके कारणोंका तथा उसके भेदोका और स्थितिका वर्णन किया है। नवमे अध्यायमे ४७ सूत्र हैं और उनमे सवर तथा निर्जरा इन दो तत्त्वोका बहुत सुन्दर विवेचन है, तथा निर्ग्रंथ मुनियोका स्वरूप भी बतलाया है। इसलिये इस अध्यायमे निश्चयसम्यक्चारित्रके वर्णनका समावेश हो जाता है। पहले अध्याय

में निश्चय सम्यग्दर्शन तथा निश्चय सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया था और इस नवमे अध्यायमे निश्चय सम्यक्‌चारित्रका (-सवर, निर्जराका) वर्णन किया । इस प्रकार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्गका वर्णन पूर्ण होने पर अन्तमे दसवें अध्यायमे नव सूत्रो द्वारा मोक्षतत्त्वका वर्णन करके श्री आचार्य देव ने यह शास्त्र पूर्ण किया है ।

५ सक्षेपमे देखने से इस शास्त्रमे निश्चयसम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्ररूप मोक्षमार्ग, प्रमाण–नय–निक्षेप, जीव–अजीवादि सात तत्त्व, ऊर्ध्व–मध्य–अधो–यह तीन लोक, चार गतियाँ, छह द्रव्य और द्रव्य–गुण–पर्याय इन सबका स्वरूप आ जाता है । इसप्रकार आचार्य भगवान ने इस शास्त्रमे तत्त्वज्ञानका भन्डार वडी खूवी से भर दिया है ।

तत्त्वार्थों की यथार्थ श्रद्धा करने के लिये कितेक विषयों पर प्रकाश

६—अ० १ सूत्र १ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रके सम्बन्धमे श्री नियमसार शास्त्र गा० २ की टीकामे श्री पद्म-प्रभमलधारी देव ने कहा है कि "सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र" ऐसा वचन होने से **मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है** । इससे यह सूत्र शुद्धरत्नत्रय अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग की व्याख्या करता है । ऐसी वस्तु स्थिति होने से, इस सूत्रका कोई विरुद्ध अर्थ करे तो वह अर्थ मान्य करने योग्य नही है ।

इस शास्त्र मे पृ० ६ पैरा न० ४ मे उस अनुसार अर्थ करने मे आया है उस ओर जिज्ञासुओका ध्यान खिचने मे आता है ।

७—सूत्र, २ 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' यहाँ "सम्यग्दर्शन" शव्द दिया है वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और वही प्रथम सूत्र के साथ सुसगत अर्थ है । कही शास्त्रमे सात तत्त्वोको भेदरूप दिखाना हो वहाँ भी 'तत्त्वार्थश्रद्धा' ऐसे शव्द आते है वहाँ 'व्यवहार सम्यग्दर्शन' ऐसा उसका अर्थ करना चाहिये ।

इस सूत्रमे तो तत्त्वार्थश्रद्धान शव्द सात तत्त्वोको अभेदरूप दिखाने के लिये है इसलिये सू० २ "निश्चयसम्यग्दर्शन" की व्याख्या करता है ।

इस सूत्रमे 'निश्चयसम्यग्दर्शन' की व्याख्या की है ऐसा अर्थ करने के कारण इस शास्त्रमे पृ० १६ से २० मे स्पष्टतया दिखाया है वह जिज्ञासुओ को सावधानता पूर्वक पढने की विनती करने मे आती है।

८—प्रश्न–वस्तुस्वरूप अनेकान्त है और जैन शास्त्र अनेकान्त विद्या प्रतिपादन करते हैं, तो सूत्र १ मे कथित निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् शुद्धरत्नत्रय और सू० २ मे कथित निश्चय सम्यग्दर्शन को अनेकान्त किस भाँति घटते हैं ?

उत्तर—(१) निश्चय मोक्षमार्ग वही खरा (-सच्चा) मोक्षमार्ग है और व्यवहार मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नही है, तथा निश्चय सम्यग्दर्शन वही सच्चा सम्यग्दर्शन है, व्यवहार सम्यग्दर्शन सच्चा सम्यग्दर्शन नही है। और

(२) वह स्वाश्रय से ही प्रगट हो सकता है—और पराश्रय से कभी भी प्रगट हो सकता नही ऐसा अनेकान्त है,

(३) मोक्षमार्ग परमनिरपेक्ष है अर्थात् उसे पर की अपेक्षा नही है किन्तु तीनो काल स्वकी अपेक्षासे ही वह प्रगट हो सकता है, वह अनेकान्त है।

(४) इसीलिये वह प्रगट होने मे आंशिक स्वाश्रय और आंशिक पराश्रयपना है—(-अर्थात् वह निमित्त, व्यवहार, भेद आदि का आश्रय से है) ऐसा मानना वह सच्चा अनेकान्त नही है परन्तु वह मिथ्या–एकान्त है, इसप्रकार नि:संदेह नक्की करना वही अनेकान्त विद्या है।

(५) सच्चा मोक्षमार्ग स्वाश्रयसे भी हो और पराश्रयसे भी हो, ऐसा माना जाये तो उसमे निश्चय और व्यवहार का स्वरूप (जो परस्पर विरुद्धता लक्षण सहित है वह न रहकर) एकमेक हो जाय–निश्चय और व्यवहार दोनोका लोप हो जाय, अत ऐसा कभी होता नही।

९—अ० १, सू० ७–८ मे निश्चय सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने के अमुख्य उपाय दिखाये हैं, वे उपाय अमुख्य अर्थात् ऐसे और निमित्तमात्र हैं। यदि उनके आश्रयसे अंशमात्र भी निश्चय धर्म प्रगट हो सके ऐसा माना जाये तो वे उपाय अमुख्य न रहकर, मुख्य (-निश्चय) हो जाय ऐसा समझना, अमुख्य अर्थात् गौण, और गौण (उपाय) को हेय–छोडने योग्य कहा है (देखो प्रवचनसार गा० ५३ की टीका)

निश्चय सम्यग्दर्शन जिस जीवने स्वसन्मुख होकर प्रगट किया हो वहाँ निमित्त–जो अमुख्य उपाय है वह कैसे कैसे होते हैं वह इस सूत्रमे दिखाते हैं। निमित्त पर पदार्थ है उसे जीव जुटा सकते नही, ला सके, ग्रहण कर सके ऐसा भी नही है। "उपादान निश्चय जहाँ तहाँ निमित्त पर होय" (बनारसीदासजी) इस बारे मे मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली) पृ० ४५६ मे कहा है कि "तातै जो पुरुपार्थ करि मोक्षका उपाय करै है, ताकै सर्व कारण मिलै हैं, अर वाकै अवश्य मोक्ष की प्राप्ति हो है ऐसा निश्चय करना।"

श्री प्रवचनसार गा० १६ की टीका मे श्री अमृतचद्राचार्य भी कहते है कि—

"निश्चय से परके साथ आत्माका कारकता का सम्बन्ध नही है, कि जिससे शुद्धात्म स्वभावकी प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूढने की व्यग्रतासे जीव (व्यर्थ) परतत्र होते हैं।"

१० इस शास्त्र के पृष्ठ ६ मे नियमसार का आधार देकर 'निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र' परम निरपेक्ष है ऐसा दिखाया है, इससे उसका एक अंग जो 'निश्चयसम्यग्दर्शन' है वह भी परम निरपेक्ष है अर्थात् स्वात्माके आश्रयसे ही और पर से निरपेक्ष ही होता है ऐसा समझना। ('ही' शब्द वस्तुस्थिति की मर्यादारूप सच्चा नियम बताने के लिये है)

निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग के स्वरूपमें कैसा निर्णय करना चाहिये

११—"निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है, वीतराग-

भावनिके और व्रतादिकके कदाचित् कार्य कारणपनो है* तातै व्रतादिकको मोक्षमार्ग कहे, सो कहने मात्र ही हैं"—(मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृ० ३७२)

धर्म परिणत जीवको वीतराग भावके साथ जो शुभभावरूप रत्नत्रय (-दर्शनज्ञानचारित्र) होते है उसे व्यवहारनय द्वारा उपचारसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है जो कि वह रागभाव होने से बंधमार्ग ही है। ऐसा निर्णय करना चाहिये।

१२—व्यवहार मोक्षमार्ग वास्तवमे वाधक होने पर भी उसका निमित्तपना बताने के लिये उसे व्यवहार नयसे साधक कहा है, उस कथन ऊपर से कितनेक ऐसा मानते हैं कि निश्चय मोक्षमार्ग से व्यवहार मोक्षमार्ग विपरीत (-विरुद्ध) नही है किन्तु दोनो हितकारी है, तो उनकी यह समझ (-मान्यता) झूठ है। इस सम्बन्ध मे मो० मा० प्रकाशक देहली पत्र ३६५–६६ मे कहा है कि—

मोक्षमार्ग दोय नाही। मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहाँ साचा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नाही, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है, वा सहचारी है, ताको उपचार करि मोक्षमार्ग कहिए, सो व्यवहार मोक्षमार्ग है जातै निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातै निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय माने है, सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध लिये है।' जातै समयसार विषै ऐसा कह्या है—

'व्यवहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो सुद्धणओ' याका अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है। सत्यस्वरूपको न निरूपै है, किसी अपेक्षा उपचार

---

* नैमित्तिक निमित्तपना।

करि अन्यथा निरूपे है वहुरि शुद्धनय जो निश्चय है, सो भूतार्थ है। जैसा वस्तु का स्वरूप है तैसा निरूपै है, ऐसे इन दोऊनिका (दोनो नय का) स्वरूप तो विरुद्धता लिए है।

(मो० मा० प्रकाशक पृ० ३६६)

प्रवचनसार गाथा २७३–७४ मे तथा टीका मे भी कहा है कि 'मोक्ष तत्त्व का साधनतत्त्व 'शुद्ध ही है' और वही चारो अनुयोगोका सार है।

१३—निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से मिथ्यादर्शन ज्ञान–चारित्र तो विरुद्ध है ही, परन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप तथा फल परस्पर विरुद्ध है इसलिये ऐसा निर्णय करने के लिये कुछ आधार निम्नोक्त दिये जाते है—

१–श्री नियमसारजी (गुजराती अनुवादित) पत्र न० १४६ निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार की गाथा, ७७ से ८१ की भूमिका,

२–नियमसार गाथा ६१ पत्र १७३ कलश न० १२२,

३– „ „ ६२ „ १७५ टीका

४– „ „ १०६ „ २१५ कलश–१५५ नीचे की टीका,

५– „ „ १२१ „ २४८ टीका,

६– „ „ १२३ „ २४६ टीका,

७– „ „ १२८ „ १५६–६० टीका तथा फुटनोट,

८– „ „ १४१ „ २८२ गाथा, १४१ की भूमिका,

प्रवचनसारजी (पाटनी ग्रन्थमाला मे देखो —

६– गाथा ११ टीका पत्र न० १२–१३

१०– „ ४-५ „ „ „ ७

११– „ १३ की भूमिका तथा टीका पत्र, १४-१५,

१२– „ ७८ टीका, पत्र, ८८–८६,

१३– „ ६२ „ „ १०४-५

१४–गाथा १५६ तथा टीका पत्र, २०३ (तथा इस गाथा के नीचे प०

श्री हेमराजजी की टीका पत्र न० २२०) (यह पुस्तक हिन्दी मे श्री रायचन्द्र ग्रन्थमाला का देखना)

१५–गाथा, २४८ तथा टीका पत्र ३०४, [तथा उस गाथा नीचे प० हेमराजजी की टीका हिन्दी पुस्तक–रायचद्र ग्रन्थमाला का]

१६–गाथा २४५ तथा टीका प० ३०१,

१७–गाथा १५६ तथा टीका प० २०१,

श्री अमृतचद्राचार्यकृत समयसारजी कलशो के ऊपर श्री राजमल्लजी टीका (सूरत से प्रकाशित) पुण्य पापाधिकार कलश, ४ पत्र १०३–४,

कलश, ५ पत्र, १०४–५

„ ६ „ १०६ (इसमे धर्मी के शुभ भावो को वन्ध मार्ग कहा है)

„ ८ „ १०८

„ ६ „ १०६

„ ११ „ ११२–१३ यह सभी कलश श्री समयसार पुण्य पापाधिकार में है वहाँ से भी पढ लेना,

योगेन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा न० ७१ मे (-पुण्य को भी निश्चय से पाप कहा है)

योगेन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा न० ३२, ३३, ३४, ३७,

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत मोक्षपाहुड़ गाथा ३१,

समाधि शतक गाथा १६

पुरुषार्थ सि० उपाय गा० २२०

पचास्तिकाय गाथा १६५, १६६–६७–६८–६६,

श्री स० सारजी कलश के ऊपर

पं० बनारसी नाटक में पुण्य पाप अ० कलश, १२ पृ० १३१–३२

„ ७ „ १२६–२७

„ ८ „ १२७–२८

समयसारजी शास्त्र मूल गाथा टीका गा० ६९, ७०, ७१, ७२, ७४, ९२, गा० ३८ तथा टीका, गा० २१०, २१४, २७६–२७७–२९७ गाथा टीका सहित पढना।

१४५ से १५१, १८१ से १८३ पृ९ २९५ (-परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता होने से)

३०६– ७, (शुभभाव व्यवहार चारित्र निश्चय से विषकुम्भ) २९७ गाथा मे श्री जयसेनाचार्य की टीकामे भी स्पष्ट खुलासा है।

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली सस्ती ग्रथमाला) पृष्ठ, न० ४, ३२७–२८–३२–३३–३४–३७–४०–४१–४२–४३–४४, ३६०–६१, ३६५ से ३७१ (३७१ ३७५–७६–७७ पत्र मे खास वात है) ३७२, ३७३–७५–७६–७७–९७, ४०७–८, ४५७, ४७१–७२।

व्यवहारनय के स्वरूप की मर्यादा

१४—समयसार गा० ८ की टीका मे कहा है कि " व्यवहारनय म्लेच्छ भाषाके स्थान पर होने से परमार्थका कहने वाला है इसलिये, व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है परन्तु × × वह **व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।"** फिर गाथा ११ की टीका मे कहा कि **व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है** इसलिये वह अविद्यमान, असत्य अर्थ को, अभूत अर्थ को प्रगट करता है, **शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से** सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है × × वादमे कहा है कि × × इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते है वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यक्‌दृष्टि हैं ,दूसरे सम्यग्दृष्टि नही है। इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालो को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नही है।"

गाथा ११ के भावार्थ मे प० जी श्री जयचदजीने कहा है कि—

प्राणियोंको भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादिकाल से ही है, और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणी मे व्यवहारनयका उपदेश शुद्धनयका हस्तावलबन (सहायक)

जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है,—वह कहीं कहीं पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्री गुरुने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है, कि—"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यक्‌दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता"। ऐसा आशय समझना चाहिये ॥ ११ ॥

१५—कोई ऐसा मानते हैं कि प्रथम व्यवहारनय प्रगट हो और बादमें व्यवहारनयके आश्रयसे निश्चयनय प्रगट होता है अथवा प्रथम व्यवहार धर्म करते करते निश्चय धर्म प्रगट होता है तो वह मान्यता योग्य नहीं है, कारण कि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है (देखो मो० मा० प्रकाशक-देहली-पृ ३६६)

(१) निश्चय सम्यग्ज्ञान के बिना जीवने अनन्तबार मुनिव्रत पालन किये परन्तु उस मुनिव्रतके पालन को निमित्त कारण नहीं कहा गया, कारण कि सत्यार्थ कार्य प्रगट हुए बिना साधक (-निमित्त) किसको कहना ?

प्रश्न—"जो द्रव्यलिंगीमुनि मोक्षके अर्थि गृहस्थपनो छोडि तपश्चरणादि करै है, तहाँ पुरुषार्थ तौ किया, कार्य सिद्ध न भया, तातैं पुरुषार्थ किये तौ कछु सिद्धि नाहीं। ताका समाधान—अन्यथा पुरुषार्थ करि फल चाहै, तो कैसे सिद्धि होय ? तपश्चरणादिक व्यवहार साधन विषै अनुरागी होय प्रवर्त्तै, ताका फल शास्त्र विषै तो शुभबन्ध कह्या है, अर यहु तिसतैं मोक्ष चाहै है, तो कैसैं सिद्धि होय ! अतः यहु तौ भ्रम है।" मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४५६ देखो।

(२) मिथ्यादृष्टिकी दशा मे कोई भी जीवको कभी भी 'सम्यग्

श्रुतज्ञान' हो सकता नही, जिसको 'सम्यक् श्रुतज्ञान' प्रगट हुआ है उसे ही 'नय' होते है, कारण कि 'नय' ज्ञान वह सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश है अंशी विना अंश कैसा ? "सम्यक् श्रुतज्ञान" (भावश्रुतज्ञान) होते ही दोनूं नय एकी साथ होय है, प्रथम और पीछे ऐसा नही है इसप्रकार सच्चे जैनधर्मी मानते है ।

(३) वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसी समय सम्यक्श्रुतज्ञान प्रगट होता है, सम्यक् श्रुतज्ञान मे दोनूं नय अशोका सद्भाव एकी साथ है आगे पीछे नय होते नही । निजात्मा के आश्रयसे जव भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ तव अपना ज्ञायकस्वभाव तथा उत्पन्न हुई जो शुद्धदशा उसे आत्मा के साथ अभेद गिनना वह निश्चयनय का विषय, और जो अपनी पर्याय मे अशुद्धता तथा अल्पता शेप है वह व्यवहारनय का विषय है । इसप्रकार दोनो नय एक ही साथ जीवको होते है । इसलिये प्रथम व्यवहारनय अथवा व्यवहार धर्म और वाद मे निश्चयनय अथवा निश्चय धर्म ऐसा वस्तुस्वरूप नही है ।

१६—प्रश्न—निश्चयनय और व्यवहारनय समवक्ष है ऐसा मानना ठीक है ?

उत्तर—नही, दोनोनयकोसमकक्षी माननेवाले एक सप्रदाय* है, वेदोनो को समकक्षीऔर दोनो के आश्रय से धर्महोता है ऐसा निरूपण

---

* उस सप्रदाय की व्यवहारनयके सम्वन्ध मे क्या श्रद्धा है ? देखो—(१) श्री मेघविजय जी गणी कृत युक्तिप्रवोध नाटक (वह गणीजी कविवर श्री वनारसी दास के समकालीन थे) उनने व्यवहारनयके आलवन द्वारा आत्महित होनो वताकर श्री समयसार नाटक तथा दिगम्वर जैनमत के सिद्धान्तो का खण्डन किया है तथा (२) जो प्रायः १६ वी शतिमे हुये–अव भी उनके सप्रदायमें वहुत मान्य है वह श्री यशोविजय जी उपाध्याय कृत गुर्जर साहित्य सग्रह में पृष्ठ न० २०७, २१६, २२२, ५८४, ८५ मे दि० जैनधर्म के खास सिद्धान्तो का उग्र, (-सख्त) भाषा द्वारा खण्डन किया है, वे वडे ग्रथकार थे-विद्वान थे उनने दिगम्वर आचार्यों का यह मत वतलाया है कि —

करते हैं परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव तो स्पष्टरूपसे फरमाते हैं कि भूतार्थ के (निश्चयके) आश्रय से ही हमेशा धर्म होता है, पराश्रय से (-व्यवहार से) कभी भी अंशमात्र भी सच्चा धर्म (-हित) नही होता। हाँ दोनो नयोका तथा उसके विषयो का ज्ञान अवश्य करना चाहिये। गुण स्थान अनुसार जैसे २ भेद आते हैं वह जानना प्रयोजनवान है परन्तु दोनो समान हैं—समकक्ष हैं ऐसा कभी नही है, कारण कि दोनो नयो के विषय में और फल मे परस्पर विरोध है इसलिये व्यवहारनय के आश्रय से कभी भी धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और टिकना होता ही नही ऐसा दृढ श्रद्धान करना चाहिये, स० सारजी में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत ११ वी गाथा को सच्चा जैनधर्मका प्राण कहा है इसलिये उस गाथा और टीकाका मनन करना चाहिये, गाथा निम्नोक्त है।

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है,
भूतार्थके आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होत है, (काव्य में)

१७—प्रश्न—व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्षका परम्परा कारण कहा है वहाँ क्या प्रयोजन है।

समाधान—(१) सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धात्म द्रव्यके आलवन द्वारा अपनी शुद्धता बढाकर जसे जैसे शुद्धता द्वारा गुणस्थान मे आगे

---

(१) निश्चयनय होने पर ही व्यवहारनय हो सकता है—व्यवहारनय प्रथम नही हो सकता,

(२) प्रथम व्यवहारनय तथा व्यवहार धर्म और पीछे निश्चयनय और निश्चय धर्म ऐसा नही है।

(३) निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों समकक्ष नहीं हैं-परस्पर विरुद्ध हैं उनके विषय और फलमें विपरीतता है।

(४) निमित्त का प्रभाव नही पड़ता, ऐसा दिगम्बर आचार्यों का मत है इन मूल बातों का उस सम्प्रदायने उग्र जोरों से खण्डन किया है—इसलिये जिज्ञासुओं से प्रार्थना है कि उसमें कौन मत सच्चा है, उसका निर्णय सच्ची श्रद्धाके लिये करें—जो बहुत प्रयोजन भूत है—जरूरी बात है।

बढेगा तैसे २ अशुद्धता (-शुभाशुभका) अभाव होता जायगा और क्रमशः शुभभाव का अभाव करके शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करेगा ऐसा दिखाने के लिये व्यवहार मोक्षमार्ग को परंपरा (निमित्त) कारण कहा गया है। यह निमित्त दिखानेके प्रयोजन से व्यवहारनयका कथन है।

(२) शुभभाव ज्ञानीको भी आस्रव (-बंधके कारण) होने से वे निश्चयनय से परंपरा भी मोक्षका कारण हो सकते नहीं श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा गाथा० ५६ मे कहा है कि **कर्मोंका आस्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा भी निर्वाण प्राप्त हो सकते नहीं; इस लिये संसार भ्रमणके कारणरूप आस्रव को निंद्य जानो ॥ ५६ ॥**

(३) पंचास्तिकाय गाथा १६७ मे श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—"श्री अर्हंतादि मे भी राग छोड़ने योग्य है" पीछे गाथा १६८ मे कहा है कि, **धर्मीजीव का राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ का परम्परा कारण है।**

(४) इस विषय मे स्पष्टीकरण श्री नियमसारजी गाथा ६० (गुजराती अनुवाद) पृष्ठ ११७ फुटनोट न० ३ मे कहा है कि "शुभोपयोगरूप व्यवहार व्रत शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्षका हेतु है ऐसी गिनकरके यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष के परम्परा हेतु कहा है, वास्तवमे तो शुभोपयोगी मुनिके योग्य शुद्ध परिणति ही (शुद्धात्म द्रव्यको आलम्बन करती होने से) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग हेतु होती है, इस प्रकार इस शुद्धपरिणतिमे स्थित जो मोक्ष के परपरा हेतुपना का आरोप उसकी साथ रहा हुआ शुभोपयोगमे करके व्यवहारव्रत को मोक्षका परम्परा हेतु कहने मे आता है। परन्तु जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो वहाँ रहा हुआ शुभोपयोगमे मोक्षके परम्परा हेतुपने का आरोप भी कर सकते नही, कारण कि जहाँ मोक्षका यथार्थ हेतु प्रगट हुआ ही नही—विद्यमान ही नही वहाँ शुभोपयोग मे आरोप किसका करना ?"

(५) और पचास्तिकाय गाथा-१५६ (गुज० अनु०) पृ० २३३–

३४ मे फुटनोट न० ४ मे कहा है कि—"जिनभगवान के उपदेशमे दो नयो द्वारा निरूपण होता है। वहाँ, निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ उपचरित निरूपण किया जाता है।

प्रश्न—सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिये, अभूतार्थ उपचरित निरूपण किसलिये किया जाता है?

उत्तर—जिसे सिहका यथार्थ स्वरूप सीधा समझमें नही आता हो, उसे सिहके स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्लीके स्वरूपके निरूपण द्वारा सिह के यथार्थ स्वरूप की समझकी ओर ले जाता है, उसी प्रकार जिसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप सीधा समझमे न आता हो उसे वस्तु-स्वरूपके उपचरित निरूपण द्वारा वस्तु स्वरूप की यथार्थ समझ की ओर ले जाते हैं। **और लम्बे कथन के बदलेमें संक्षिप्त कथन करने के लिये भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है।** यहां इतना लक्ष्यमे रखने योग्य है कि—जो पुरुप बिल्ली के निरूपण को ही सिह का निरूपण मानकर बिल्ली को ही सिह समझ ले वह तो उपदेश के ही योग्य नही है, उसी प्रकार जो पुरुप उपचरित निरूपण को ही सत्यार्थ निरूपण मानकर वस्तुस्वरूप को मिथ्यारीति से समझ बैठे वह तो उपदेश के ही योग्य नही है।

[यहाँ एक उदाहरण लिया जाता है—

साध्य—साधन सम्बन्धी सत्यार्थ निरूपण इस प्रकार है कि 'छट्ठवे गुणस्थानमे वर्तती हुई आत्मिक शुद्धि सातवे गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है।' अब, 'छट्ठवे गुणस्थान मे कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है,—इस बातको भी साथ की साथ समझाना हो तो, विस्तार मे ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धिके सद्भाव मे, उसके साथ-साथ महाव्रतादिके शुभ विकल्प हठ बिना सहजरूप से प्रवर्तमान हो वह छट्ठवे गुणस्थान योग्य शुद्धि सातवे गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।' ऐसे लम्बे कथनके बदलेमे, ऐसा कहा जाये

कि 'छठवे गुणस्थान मे प्रवर्तमान महाव्रतादि के शुभ विकल्प सातवे गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है,' तो यह उपचरित निरूपण है। ऐसे उपचरित निरूपणमे से ऐसा अर्थ निकालना चाहिये कि 'महाव्रतादिके शुभ विकल्प (साधन) नही किन्तु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि को बताना था वह शुद्धि वास्तव मे सातवे गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है।']

(६) परम्परा कारण का अर्थ निमित्त कारण है, व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग के लिये भिन्न साधन–साध्यरूप से कहा है, उनका अर्थ भी निमित्त मात्र है। जो निमित्तका ज्ञान न किया जाय तो प्रमाण ज्ञान होता नही, इसलिये जहाँ जहाँ उसे साधक, साधन, कारण, उपाय, मार्ग, सहकारी कारण, बहिरग हेतु कहा है वे सभी उस उस भूमिकाके सबधमे जानने योग्य निमित्त कारण कैसा होता है, उसका यथार्थ ज्ञान कराने के लिये है।

जो गुणस्थान अनुसार यथायोग्य साधक भाव, बाधक भाव और निमित्तो को यथार्थतया न जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। कारण कि उस सबधमे सच्चे ज्ञानके अभाव मे अज्ञानी ऐसा कहता है कि भावलिगी मुनिदशा नग्नदिगम्बर ही हो ऐसी कोई आवश्यकता नही है तो उनकी यह बात मिथ्या ही है, कारण कि भावलिगी मुनिको उस भूमिका मे तीन जातिके कषाय चतुष्टय का अभाव और सर्व सावद्य योग का त्याग सहित २८, मूलगुणो का पालन होते है इसलिये उसे वस्त्र का सबधवाला राग अथवा उस प्रकार का शरीर का राग कभी भी होता ही नही ऐसा निरपवाद नियम है, **वस्त्र रखकर अपने को जैनमुनि माननेवाले को शास्त्र में निगोदगामी कहा है**। इस प्रकार गुणस्थानानुसार उपादान निमित्त दोनोका यथार्थ ज्ञान होना चाहिये साधक जीवका ज्ञान ऐसा ही होता है जो उस उस भेदको जानता सता प्रगट होता है। समयसार शास्त्र मे गा० १२ मे मात्र, इस हेतु से व्यवहार नयको जानने के लिये प्रयोजनवानपना बताया है।

स्व. श्री दीपचन्दजी कृत ज्ञानदर्पण पृ० २९-३० मे कहा है कि, याही जगमाही ज्ञेय भावको लखैया ज्ञान, ताको धरि ध्यान आन काहे पर हेरै है। परके संयोग तै अनादि दुःख पाए अव, देखि तू सँभारि जो अखड निधि तेरै है। वाणी भगवानकी कौ सकल निचोर यहै, समैसार आप पुन्य-पाप नाहि नेरै है। यातै यह गन्थ शिव पथ को सधैया महा, अरथ विचारि गुरुदेव यौ परेरै है॥ ८५॥ व्रत तप शील सजमादि उपवास क्रिया, द्रव्य भावरूप दोउ वधकोकरतु है। करम जनिततातै करमको हेतु महा, वधही को करे मोक्ष पथ कौं हरतु हैं। आप जैसो होइ ताकौ आपकै समान करै, वध ही को मूल यातै वधकौं भरतु हैं। याकौं परंपरा अति मानि करतूति करैं, केई महा मूढ भवसिंधुमैं परतु हैं॥ ८६॥ कारण समान काज सब ही वखानतु है, यातै परक्रियामाहि परकी धरणि है। याहि तै अनादि द्रव्य क्रिया तो अनेक करी, कछु नाहि सिद्धि भई ज्ञानकी परणि है। करमको वस जामै ज्ञानको न अश कोउ, वढै भववास मोक्षपथकी हरणि है। यातै परक्रिया उपादेय तो न कही जाय, तातै सदाकाल एक वधकी ढरणि है॥ ८७॥ पराधीन वाधायुत वधकी करैया महा, सदा विनासीक जाको ऐसो ही सुभाव है। वध, उदै, रस, फल जीमै चार्यो एक रूप, शुभ वा अशुभ क्रिया एक ही लखाव है। करमकी चेतना मैं कैसे मोक्षपथ सधै, मानैं तेई मूढ हीए जिनके विभाव है। जैसो वीज होय ताको तैसो फल लागे जहाँ, यह जग माहि जिन आगम कहाव है॥८८॥

शुभोपयोगके सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टि की कैसी श्रद्धा है

१८—श्री प्रवचनसार गाथा ११ मे तथा टीकामे धर्म परिणत जीव के **शुभोपयोग को** शुद्धोपयोग से विरोधी शक्ति सहित होने से स्व कार्य (-चारित्रका कार्य) करने के लिये असमर्थ कहा है, हेय कहा है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि—**ज्ञानी (धर्मी) के शुभ भाव में भी किंचित् भी शुद्धि का अंश नहीं है,** कारण कि वह वीतराग भावरूप मोक्षमार्ग नही है—वंधमार्ग ही है, ऐसी बात होने पर भी जहाँ ज्ञानी के (धर्मीके) शुभ-भाव को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है वह उपचार से कहा है।

प्रश्न—किस अपेक्षा से वह उपचार किया है।

उत्तर—व्यवहार चारित्र की साथ निश्चय चारित्र हो तो वे (शुभभाव) निमित्तमात्र है उतना ज्ञान कराने की अपेक्षा वह उपचार किया है ऐसा समझना।

प्रश्न—उपचार भी कुछ हेतु से किया जाता है, तो यहा वह हेतु क्या है ?

उत्तर—निश्चय चारित्र के धारक जीव को छठवा गुणस्थानकमे वैसा ही शुभराग होता है परन्तु ऐसा व्यवहार से विरुद्ध प्रकारका राग कभी भी होता ही नही, कारण कि उस भूमिका मे तीन प्रकार की कषाय शक्ति का अभाव सहित महामद प्रशस्तराग होता है, उसे महा मुनि नहि छूटते जानकर उनका त्याग करते नही, भावलिगी मुनिओको कदाचित् मदरागके उदयसे व्यवहार चारित्र का भाव होता है, परन्तु उस शुभ भावको भी हेय जानकर दूर करना चाहते है और उस उस कालमे ऐसा ही राग होना संभव है—ऐसा राग बलजोरी से—(-अपनी स्व-सन्मुखता की कमजोरी से) आये विना रहता नही किन्तु मुनि उसे दूर से अतिक्रान्त कर जाते है। इस हेतु से यह उपचार किया है ऐसा समझना। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के दृढश्रद्धा होती है।

इस सम्वन्धमे मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३७६-७७ मे कहा है कि—

"वहुरि नीचली दशाविषैं केई जीवनिकै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोगका युक्तपना पाइए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग कौं मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचार तैं शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है। जातैं बंधकौ कारण सोई मोक्षका घातक है ऐसा श्रद्धान करना। वहुरि शुद्धोपयोग ही कौ उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोगकौ हेय जानि तिनके त्यागका उपाय करना। जहा शुद्धोपयोग न होय सकै, तहाँ अशुभोपयोगकौ छोडि शुभ ही विषै प्रवर्त्तना। जातै शुभोपयोगतै अशुभोपयोग मे अशुद्धता की अधिकता है।

वहुरि शुद्धोपयोग होय, तव तो परद्रव्यका साक्षी भूत ही रहै है। तहाँ तो किछू परद्रव्यका प्रयोजन ही नाही। वहुरि शुभोपयोग होय, तहाँ वाह्य व्रतादिक की प्रवृत्ति होय, अर अशुद्धोपयोग होय, तहा वाह्य अव्रतादिककी प्रवृत्ति होय। जातै अशुद्धोपयोग कै अर परद्रव्य की प्रवृत्तिके निमित्त नैमित्तिक सवध पाइए है। वहुरि पहलै अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग होइ, पीछै शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग होइ ऐसी क्रम परिपाटी है। परन्तु कोई ऐसै मानै कि शुभोपयोग है, सो शुद्धोपयोग कौ कारण है जैसे अशुभ छूटकर शुभोपयोग हो है, तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। जो ऐसै ही कार्य कारणपना हो तो शुभोपयोगका कारण अशुभोपयोग ठहरै। (तो ऐसा नही है) द्रव्य लिगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है, शुद्धोपयोग होता ही नाही तातै **परमार्थ तैं इनकै कारणकार्यपना है नाही।** जैसे अल्परोग निरोग होनेका कारण नही, और भला नही तैसे शुभोपयोग **भी रोग समान है भला नहीं है।**

(मो० प्र० देहली पृ० ३७५ से ७७)

सभी सम्यग्दृष्टिओको ऐसा श्रद्धान होता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नही है कि वे व्यवहार धर्मको मिथ्यात्व समझते हो, और ऐसा भी नही है कि उसे सच्चामोक्षमार्ग समझते हो।

१९—प्रश्न—शास्त्रमे प्रथम तीन गुणस्थानो मे अशुभोपयोग और ४–५ ६, गुणस्थान मे अकेला शुभोपयोग कहा है वह तारतम्यताकी अपेक्षा मे है या–मुख्यताकी अपेक्षा मे है ?

उत्तर—वह कथन तारतम्यता अपेक्षा नही है परन्तु मुख्यता की अपेक्षासे कहा है (मो० मार्ग प्रकाशक, पृ० ४०१, दे०) इस सबध मे विस्तारसे देखना हो तो प्रवचनसार (रायचन्द्र ग्रन्थमाला) अ० ३ गा० ४८ श्री जयसेनाचार्यकी टीका पृ० ३४२ मे देखो।

२०—प्रश्न—शास्त्रमे कई जगह–शुभ और शुद्ध परिणाममे कर्मो का क्षय होना है ऐसा कथन है, अब शुभ तो औदयिक भाव है–बधका

कारण है ऐसा होनेपर भी शुभ भाव से कर्मो का क्षय बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—(१)–शुभ परिणाम–रागभाव– (मलिनभाव) होने से वे किसी भी जीव के हो–सम्यक्दृष्टि के हो या मिथ्यादृष्टि के हो किन्तु वे मोहयुक्त उदयभाव होने से सम्यग्दृष्टि का शुभ भाव भी बधका ही कारण है, सवर निर्जरा का कारण नही है और यह बात सत्य ही है, जिसे इस शास्त्र मे पृ० ५४७ से ५५६ मे अनेक शास्त्र के प्रमाण द्वारा दिखाया है।

(२)—शास्त्र के कोई भी कथन का अर्थ करना हो तो प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि **वह किस नय का कथन है ?** ऐसा विचार करनेपर–सम्यग्दृष्टि के शुभ भावोसे कर्मों का क्षय होता है–वह कथन **व्यवहार नयका है,** इसलिये उसका ऐसा अर्थ होता है कि—वह **ऐसा नहीं है परन्तु निमित्त बताने की अपेक्षा से यह उपचार किया है।** अर्थात् वास्तवमे वह शुभ तो कर्म बधका ही कारण है परन्तु सम्यग्दृष्टि के नीचे की भूमिकामे—४ से १० गुणस्थान तक–शुद्ध परिणामके साथ वह वह भूमिकाके योग्य–शुभभाव निमित्तरूप होते है, उसका ज्ञान कराना इस उपचार का प्रयोजन है ऐसा समझना।

(३) एकहीसाथ शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मोंका क्षय जहाँ पर कहा हो **वहाँ उपादान और निमित्त दोनों उस उस गुणस्थानके समय होता है** और इसप्रकार के ही **होते हैं–विरुद्ध नहीं ऐसा** बताकर **उसमें जीवके शुद्ध भाव तो उपादानकारण है और शुभ भाव निमित्त कारण है** ऐसे इन दो कारणो **का ज्ञान कराया है, उसमें निमित्त कारण अभूतार्थ कारण है**–वास्तव मे कारण नही है इसलिये शुभ परिणाम से कर्मोंका क्षय कहना उपचार कथन है ऐसा समझना।

(४) प्रवचनसार (पाटनी ग्रन्थमाला) गाथा २४५ की टीका पृ० ३०१ मे ज्ञानी के शुभोपयोगरूप व्यवहार को "आस्रव ही" कहा है, अत उनसे सवर लेशमात्र भी नही है।

श्री पचास्तिकाय गाथा १६८ मे भी कहा है कि "उससे आस्रव

का निरोध नही हो सकता," तथा गाथा १६६ मे भी कहा है कि "व्यवहार मोक्षमार्ग वह सूक्ष्म परसमय है और वह बन्धका हेतु होने से उसका मोक्षमार्गपना निरस्त किया गया है। गाथा १५७ तथा उसकी टीका मे "शुभाशुभ परचारित्र है, बंधमार्ग है मोक्षमार्ग नही है।"

(५) इस सम्बन्धमे खास लक्ष्यमे (-खयालमे) रखने योग्य बात यह है कि पुरुषार्थ सिद्धि उपाय शास्त्रकी गाथा १११ का अर्थ बहुत समय से कितेक द्वारा असगत करनेमे आ रहा है, उसकी स्पष्टता के लिये देखो इस शास्त्र के पत्र न० ५५५–५६ ।

उपरोक्त सब कथन का अभिप्राय समझकर ऐसी श्रद्धा करना चाहिये कि—धर्मी जीव प्रथम से ही शुभरागका भी निषेध करते हैं। अतः धर्म परिणत जीवका शुभोपयोग भी हेय है, त्याज्य है, निषेध्य है, कारण कि वह बंधका ही कारण है। जो प्रथम से ही ऐसी श्रद्धा नही करता उसे आस्रव और बंध तत्त्वकी सत्यश्रद्धा नही हो सकती, और ऐसे जीव आस्रव को धर्मरूप मानते हैं, शुभभाव को हितकर मानते हैं इसलिये वे सभी झूठी श्रद्धावाले हैं। इस विषयमे विशेष समझनेके लिये देखो इस शास्त्रके पृ ५४७ से. ५५६ ।

व्यवहार मोक्षमार्ग से लाभ नहीं है ऐसी श्रद्धा करने योग्य है

२१—कितेक लोग ऐसा मान रहे है कि शुभोपयोग से अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग से आत्मा को वास्तवमे लाभ होता है तो वह बात मिथ्या है कारण कि वे सब व्यवहार मोक्षमार्गको वास्तवमे बहिरंग निमित्त कारण नही मानते परन्तु उपादान कारण मानते हैं। देखो श्री रायचन्द ग्रंथमालाके पंचास्तिकाय गा० ८६, मे जयसेनाचार्यकी टीका—

वहाँ अधर्मास्तिकाय का निमित्त कारणपना कैसे है यह बात सिद्ध करने में कहा है कि "शुद्धात्म स्वरूपे या स्थितिस्तस्य निश्चयेन वीतराग-निर्विकल्प स्वसंवेदन कारणं, व्यवहारेण पुनरर्हत्सिद्धादि परमेष्ठि गुण-स्मरणं च यथा, तथा जीव पुद्गलानां निश्चयेन स्वकीय स्वरूपमेव स्थितेरुपादान कारणं, व्यवहारेण पुनरधर्मद्रव्यं चेति सूत्रार्थः। अर्थ—

अथवा **जैसे शुद्धात्म स्वरूप में ठहरनेका कारण निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है** तथा व्यवहार नय से अर्हंत, सिद्धादि पंच परमेष्ठियोंका गुणोका स्मरण है तैसे जीव पुद्गलो के ठहरनेमे निश्चय-नयसे उनका ही स्वभाव ही उपादान कारण है, व्यवहारनय से अधर्म द्रव्य यह सूत्रका अर्थ है।"

इस कथन से सिद्ध होता है कि धर्म परिणत जीवको शुभोपयोगका निमित्तपना और गतिपूर्वक स्थिर होनेवाले को अधर्मास्तिका निमित्तपना समान है और इस कथनसे यह वात जानी जाती है कि निमित्त से वास्तवमे लाभ (हित) मानने वाले—निमित्तको उपादान ही मानते है, व्यवहार को निश्चय ही मानते हैं अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग से वास्तवमे लाभ मानते हैं इसलिये वे सब मिथ्यादृष्टि हैं, श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३७८ मे भी ऐसा कहा है कि—"यहु जीव निश्चयाभास को माने जाने है। परन्तु **व्यवहार साधन कौं भला जानें है,...** व्रतादिरूप शुभोपयोगरूप प्रवर्तै है तातै अंतिम ग्रैवेयक पर्यंत पद कौ पावै है। परन्तु संसारका ही भोक्ता रहै है।"

केवलज्ञान, क्रमबद्ध–क्रमवर्ती

२२–केवलज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रकारकी विपरीत मान्यता चल रही है, अत उनका सच्चा स्वरूप क्या है वह इस शास्त्र मे पत्र २०० से २१४ तक दिया गया है उस मूल वातकी ओर आपका ध्यान खीचनेमे आता है।

(१) केवली भगवान् आत्मज्ञ है, परज्ञ नही है ऐसी भी एक झूठी मान्यता चल रही है परन्तु श्री प्रवचनसार गाथा १३ से ५४ तक टीका सहित उनका स्पष्टसमाधान किया है, उनमे गाथा, ४८ मे कहा है कि "जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थो को नही जानता, उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नही है," वादमे विस्तार से टीका करके अंतमे कहा है कि "इस प्रकार फलित होता है कि जो सबको नही जानता वह अपने को (आत्माको) नही जानता।" प्र० सार गा० ४९ (पाटनी ग्रंथमाला) मे भी वहुत स्पष्ट कहा है, गाथा पर टीका के साथ जो कलश दिया है वह खास सूक्ष्मता से पढने योग्य है।

शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान है इसलिये केवलज्ञान प्रगट करने के लिये शुद्धोपयोग अधिकार शुरू करते आचार्यदेवने प्रवचनसार गा १३ की भूमिका मे कहा है कि "इस प्रकार यह (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव) समस्त शुभाशुभोपयोगवृत्तिको अपास्तकर, (हेय मानकर, तिरस्कार करके, दूरकरके) शुद्धोपयोगवृत्तिको आत्मसात् (अपनेरूप) करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते है। उसमे (पहले) शुद्धोपयोग के फलकी आत्माके प्रोत्साहन के लिये प्रशसा करते हैं" कारण कि शुद्धोपयोग का ही फल केवलज्ञान है।

उस केवलज्ञान के सबधमे विस्तार से स्पष्ट आधार द्वारा समझने के लिये देखो इस शास्त्रके पत्र न० २०० से २१४ तक।

(२) प्रवचनसार गा ४७ की टीकामे सर्वज्ञका ज्ञानके स्वभावका वर्णन करते २ कहा है कि "अतिविस्तार से बस हो, जिसका अनिवारित फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वको जानता है" इस से ही सिद्ध होते हैं कि सर्वज्ञेयोका सपूर्ण स्वरूप–प्रत्येक समयमे केवलज्ञान के प्रति सुनिश्चित होने से अनादि अनत क्रमवद्ध–क्रमवर्ति पर्याये केवलज्ञानी के ज्ञानमे स्पष्ट प्रतिभासित हैं और वे सुनिश्चित होने से सब द्रव्योकी सब पर्यायें क्रमबद्ध ही होती है, उल्टी–सीधी, अगम्य वा अनिश्चित होती ही नही।

(३) पर्यायको क्रमवर्ती भी कहनेमे आता है उसका अर्थ श्री पचास्तिकाय की गाथा १८ की टीका मे ऐसा किया है कि—"क्योंकि वे (पर्यायें) क्रमवर्ती होनेसे उनका स्वसमय उपस्थित होता है और और बीत जाता है।" बाद मे गाथा २१ की टीका मे कहा है कि "जब जीव, द्रव्यकी गौणतामे तथा पर्याय की मुख्यता से विवक्षित होता है तब वह (१) उपजता है, (२) विनष्ट होता है, (३) जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (-विद्यमान) पर्याय समूह को विनष्ट करता है और (४) जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है (-आपहुँचा है) ऐसे असत् को (अविद्यमान पर्याय समूह को) उत्पन्न करता है।

(४) पंचाध्यायी भाग १ गा १६७-६८ मे कहा है कि " 'क्रम' धातु है जो पाद विक्षेप अर्थ मे प्रसिद्ध है" गमनमे पैर दायाँ बायाँ क्रमसर ही चलते हैं उलटे क्रमसे नही चलता इस प्रकार द्रव्योकी पर्याय भी क्रमबद्ध होती है, जो अपने अपने अवसरमे प्रगट होती है, उसमे कोई समय पहिले की पीछे और पीछेवाली पहिले ऐसे उलटी सीधी नही होती अत प्रत्येक पर्याय अपने स्व समयमे ही क्रमानुसार प्रगट होती रहती है।

(५) पर्याय को क्रमभावी भी कहने मे आता है, श्री प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायशास्त्रमे [३, परोक्ष परि० सू० ३ गा० १७-१८ की टीका मे] कहा है कि 'पूर्वोत्तर चारिणोः कृतिकाशकटोदयादिस्वरूपयोः कार्यकारणयो श्चाग्नि धुमादिस्वरूपयो. इति। वे नक्षत्रोका दृष्टान्त से भी सिद्ध होता है कि जैसे नक्षत्रो के गमन का क्रमभावीपना कभी भी निश्चित क्रमको छोडकर उलटानही होता वैसे ही, द्रव्यो की प्रत्येकपर्यायो का उत्पाद व्ययरूप प्रवाह का क्रम अपने निश्चित क्रम को छोडकर कभी भी उलटा सीधा नही होता परन्तु उसका निश्चित स्व समयमे उत्पाद होता रहता है।

(६) केवली-सर्वज्ञका ज्ञान के प्रति-सर्वज्ञेयो सर्वद्रव्यो की त्रिकालवर्ति सर्व पर्याये ज्ञेयपनासे निश्चित ही है और क्रमवद्ध है उसकी सिद्धि करनेके लिये प्रवचनसार गाथा ९९ की टीका मे वहुत स्पष्ट कथन है विशेप देखो, पाटनी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्र० सार गाथा—

गाथा	१०	पृ०	१२	टीका	और भावार्थ
"	२३	"	२७-२८	"	"
"	३७	"	४४	"	"
"	३८	"	४५	"	"
"	३९	"	४६	"	"
"	४१	"	४८	"	"
"	४८-४९	"	५५ से ५८	"	"
"	५१	"	५९	"	"
"	९९	"	१२४-२६	"	"

गाथा	११३	पृ०	१४७–४८	टीका और भावार्थ
"	२००	"	२४३	" "

(७) श्री समयसारजी शास्त्रकी टीकामे कलशोकी श्री राजमलजी कृत टीका (सूरतमे प्रकाशित) मे पृ० १० मे कहा है कि ताकों ब्योरो— "यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै इसो न्योधु (नोंध) केवलज्ञान माहे छै।"

(८) अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी भी भविष्य की पर्यायो को निश्चितरूप से स्पष्ट जानते ही हैं, और नक्षत्रो, सूर्य, चन्द्र तथा ताराओकी गति उदय अस्त ग्रहणकाल आदिको निश्चितरूप से अल्पज्ञ जीव भी जान सकते है तो सर्वज्ञ वीतराग पूर्णज्ञानी होने से सर्व द्रव्यो की सर्व पर्यायो को निश्चितरूप से (उस के क्रम मे नियत) कैसे नही जान सकता ?— अवश्य जानता ही है।

(९) इस कथनका प्रयोजन—स्वतत्र वस्तु स्वरूपका ज्ञान द्वारा केवलज्ञान स्वभावी अपनी आत्माका जो पूर्णस्वरूप है उसका निश्चय करके, सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थोका वास्तविक श्रद्धान कराना और मिथ्या श्रद्धा छुड़ाना चाहिये। क्रमबद्धके सच्चे श्रद्धान मे कर्तापनेका और पर्याय का आश्रय से छूटकर अपना त्रैकालिक ज्ञाता स्वभावकी दृष्टि और आश्रय होता है, उसमे स्वसन्मुख ज्ञातापनेका सच्चा पुरुषार्थ, स्वभाव, काल नियति और कर्म इन पाचोका समूह एकहीसाथ होता है, यह नियम है। ऐसा अनेकान्त वस्तु का स्वभाव है ऐसा श्रद्धान करना, कारण कि उसकी श्रद्धा बिना किये सच्ची मध्यस्थता आ सकती नही।

२३—तत्त्वज्ञानी स्व० श्री प० बनारसीदासजीने 'परमार्थ वचनिकामे' ज्ञानी अज्ञानीका भेद समझनेके लिये कहा है कि —

(१) अब मूढ़ तथा ज्ञानी जीवको विशेषपणौ और भी सुनो,— ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधि जानै, मूढ़ मोक्षमार्ग न साधि जानै, काहे—याते

सुनो—मूढ जीव आगमपद्धतिको ❀ व्यवहार कहै, अध्यात्म पद्धतिको निश्चय कहै तातै आगम अंग एकान्तपनी साधिकै मोक्षमार्ग दिखावै, अध्यात्मअंग को—व्यवहारसे (भी) न जानै, एह मूढदृष्टिको स्वभाव, वाहि याही भांति सूझै काहेतै ?—यातै जू–आगमअग बाह्य क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, ताको स्वरूप साधिवो सुगम। ता (वे) बाह्यक्रिया करतो संतो आपकू मूढ जीव मोक्षको अधिकारी मानै, (परन्तु) अन्तरगर्भित अध्यात्मरूप क्रिया सो अतरदृष्टि ग्राह्य है सो क्रिया मूढ जीव न जानै। अतर-दृष्टिके अभावसो अन्तरक्रिया दृष्टिगोचर आवे नाही, तातै मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधिवे को असमर्थ है।

(२) अथ सम्यक् दृष्टिको विचार सुनौ—

सम्यग्दृष्टि कहा (कौन) सो सुनो—सशय, विमोह, विभ्रम ए तीन भाव जामै नाही सो सम्यग्दृष्टि। सशय, विमोह, विभ्रम कहा–ताको स्वरप दृष्टान्त करि दिखायतु है सो सुनो–जैसे च्यार पुरप काहु एकस्थान विषै ठाढे। तिन्ह चारि हूँ के आगे एक सीप को खण्ड किन्ही और पुरुषनै आनि दिखायो। प्रत्येक तै प्रश्न कीनौ कि यह कहा है ? सीप है कै रूपौ है, प्रथम ही एक पुरुप सशैवालो बोल्यो–कछु सुध नाही परत, किधौं सीप है किधौ रूपो है मोरी दिष्टिविषै याको निरधार होत नाहि नै। भी दूजो पुरुष विमोहवालो बोल्यो कि कछु मोहि यह सुधि नाही कि तुम सीप कौनसौ कहतु है रूपौ कौनसौ कहतु है मेरी दृष्टिविषै कछु आवतु नाही तातै हम नाहिनै जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहे बोलै नाही गहलरूप सौ। भी तीसरो पुरुप विभ्रमवालो बोल्यो कि–यह

❀—आगम पद्धति–दो प्रकार से है–(१) भावरूप पुद्गलाकार आत्माकी अशुद्ध परिणतिरूप–अर्थात् दया, दान, पूजा, अनुकम्पा, अव्रत तथा अणुव्रत–महाव्रत, मुनिके २८ मूलगुणोका पालनादि शुभभावोरूप जीवके मलिन परिणाम। (२) द्रव्यरूप पुद्गल परिणाम।

——अन्तर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धतिको साधना सो अध्यात्म अगका व्यवहार है।

तो प्रत्यक्ष प्रमान रूपो है याको सीप कौन कहै मेरी दृष्टिविषै तो रूपो सुभनु है तातै सर्वथा प्रकार यह रूपो है सो तीनो पुरुष तो वा सीप को स्वरूप जान्यौ नाही। तातै तीनो मिथ्यावादी। अब चौथो पुरुष बोल्यो कि यह तो प्रत्यक्ष प्रमान सीप को खण्ड है यामे कहा धोखो, सीप सीप सीप, निरधार सीप, याको जु कोई और वस्तु कहै सो प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रामक अथवा अध, तैसे सम्यग्दृष्टिवो स्वपरस्वरूपविषै न ससै है, न विमोह, न विभ्रम, यथार्थदृष्टि है तातै सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरदृष्टि करि मोक्षपद्धति साधि जानै। बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप * मानै; सो निमित्त नानारूप है, एकरूप नाहीं, अन्तरदृष्टिके प्रमान मोक्षमार्ग साधै सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरन की कनिका जागे मोक्षमार्ग साचो। मोक्षमार्ग कौ साधिवो ÷ यहै व्यवहार, शुद्धद्रव्य + अक्रियारूप सो निश्चे। ऐसैं

---

* व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला होनेसे जितने अलग २, एक २ भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा वह विचित्र अनेक वर्णमालाके समान होनेसे, जाननेमें आता हुआ उसकाल प्रयोजनवान है, परन्तु उपादेयरूप से प्रयोजनवान नहीं है ऐसी समझपूर्वक सम्यग्दृष्टिजीव अपने चारित्रगुण की पर्यायमें आंशिक शुद्धताके साथ जो शुभराग है उसे बाह्यभाव और बाह्य निमित्तरूप से जानते हैं। शास्त्रमें कहीं पर उस शुभरागको शुद्ध पर्याय का व्यवहारनय से साधक कहा हो तो उसका अर्थ वे बाह्य निमित्तमात्र हैं—हेय है ऐसा जानता है, अतः वे आश्रय करने योग्य या हितकर न मानकर बाधक ही है ऐसा मानता है।

÷—पाटनी ग्रन्थमाला श्री प्रवचनसार गा. ९४ में "अविचलित चेतनामात्र आत्मव्यवहार है" ऐसा टीकामें पृ० १११-१२ में कहा है, उसे यहाँ 'मोक्षमार्ग साधिवो उसे व्यवहार' ऐसा निरूपण किया।

+— त्रैकालिक एकरूप रहनेवाला जो आत्माका ध्रुव ज्ञायकभाव है वह भूतार्थ-निश्चयनयका विषय होने से उसे 'शुद्धद्रव्य अक्रियारूप' कहा गया है, उसे समस्तक्रियाविरहित भाव भी कहने में आता है और वह नित्य सामान्य द्रव्यरूप होने से [illegible] है तथा [illegible] पर्याय है इसमें व्यवहार नयका विषय है।

व्यवहार को स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानै, मूढ़जीव न जानै न मानै। मूढ जीव बंध पद्धतिको साधिकरि मोक्ष कहै, सो बात ज्ञाता मानै नाहीं। काहेतैं, यातैं जु बंधके साधते बंध सधै, मोक्ष सधै नाहीं। ज्ञाता कदाचित् बंध पद्धति विचारै तब जानै कि या पद्धतिसौं * मेरो द्रव्य अनादि को बंधरूप चल्यो आयो है—अब या पद्धतिसो— मोह तोरिवो है या पद्धति को राग पूर्वकी ज्यो हे नर काहे करौ ?।

छिनमात्र भी वन्ध पद्धतिविषै मगन होय नाही सो ज्ञाता अपनो स्वरूप विचारे, अनुभवै, ध्यावै, गावै, श्रवन करै, नवधा भक्ति, तप क्रिया अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होइकरि करै। यह ज्ञाताको आचार, याहीको नाम मिश्रव्यवहार।

(४) अब हेय ज्ञेय उपादेयरूप ज्ञाताकी चाल ताको विचार लिख्यते

हेय–त्यागरूप तौ अपने द्रव्यकी अशुद्धता, ज्ञेय–विचाररूप अन्य षट्द्रव्यको स्वरूप—उपादेय आचरनरूप अपने द्रव्यकी शुद्धता, ताको व्योरौ–गुणस्थानक प्रमान हेय ज्ञेय उपादेयरूप शक्ति ज्ञाताकी होय। ज्यो ज्यो ज्ञाताकी हेय ज्ञेय उपादेयरूप वर्धमान होय त्यो त्यो गुनस्थानक की वढवारी कही है, गुनस्थानक प्रवान ज्ञान, गुनस्थानक प्रमान क्रिया। तामैं विशेष इतनौ जु एक गुनस्थानकवर्ती अनेक जीव होंहि तौ अनेक रूप को ज्ञान कहिए, अनेकरूप की क्रिया कहिए। भिन्न भिन्न सत्ताके प्रवान करि

---

*—यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवको उसकी भूमिकाके अनुसार होनेवाले शुभभाव को भी बंध पद्धति–कही है। बंधमार्ग,–बंधका कारण,–बंधका उपाय और बन्धपद्धति एकार्थ है।

—सम्यग्दृष्टि शुभभाव को बंधपद्धति में गिनते हैं इससे इनसे लाभ या किंचितहित मानते नही, और उनका अभाव करनेका पुरुषार्थ करता है इसलिये "यह बंधपद्धतिका मोह तोडकर स्वसन्मुख प्रवर्तनका उद्यम करते हुए शुद्धतामें वृद्धि करने की सीख अपने को दे रहे हैं।

एकता मिलै नाही। एक एक जीव द्रव्य विषै अन्य अन्यरूप औदयिक भाव होहि तिन औदयिकभाव अनुसारी ज्ञानकी अन्य अन्यता जाननी। परन्तु विशेष इतनो जु कोऊ जातिको ज्ञान ऐसो न होइ जु परसत्तावलंबकशीली होइ करि मोक्षमार्ग साक्षात् कहे काहे तै अवस्था प्रवान (कारण कि अवस्था के प्रमानमे) परसत्तासलंवक है। वे ज्ञान को परसत्तावलंबी परमार्थता न कहे, जो ज्ञान हो सो स्वसत्तावलंबनशीली होय ताके नाऊ ज्ञान। ता ज्ञान (उनज्ञान) को सहकारभूत, निमित्तरूप नाना प्रकार के औदयिकभाव होहि तीन्ह औदयिकभावो को ज्ञाता तमासगीर, न कर्त्ता न भोक्ता, न अवलंबी तातै कोऊ यो कहै कि या भांतिके औदयिकभाव होहि सर्वथा, तो फलानो गुणस्थानक कहिए सो झूठो। तिनि द्रव्य को स्वरूप सर्वथा प्रकार जान्यो नाही। काहेतै–यातै जु और गुणस्थानक की कौन बात चलावै, केवलिके भी औदयिक भावनिकी नानात्वता (अनेक प्रकारता) जाननी। केवलीके भी औदयिकभाव एक से होय नाही। काहू केवलि को दण्ड कपाटरूप क्रिया उदय होय, काहू केवलिको नाही। तौ केवलिविषै भी उदयकी नानात्वता है तो और गुणस्थानक की कौन बात चलावै। तातै औदयिक * भावके भरोसे ज्ञान नाही ज्ञान स्वशक्ति प्रवान है। स्व–परप्रकाशक ज्ञानकी शक्ति, ज्ञायक प्रमान ज्ञान स्वरूपाचरनरूप चारित्र, यथानुभव प्रमान यह ज्ञाता को सामर्थ्य पनौ।

इन बातनको ब्योरो कहांताई लिखिये कहांताई कहिए। वचनातीत इन्द्रियातीत ज्ञानातीत, तातै यह विचार बहुत कहा लिखहि। जो ज्ञाता होइगो सो थोरो ही लिख्यो बहुत करि समुझैगो जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगा नही यह—वचनिका यथाका यथा सुमति प्रवान केवलिवचनानुसारी है। जो याहि सुणैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण। इति परमार्थ वचनिका।

---

* यहाँ ग्रन्थकर्ताने शुभोपयोगको औदयिकभाव कहा है और यह औदयिक भाव के भरोसे रहें, तो ज्ञान नहीं होता है।

२४—समाजमें आत्मज्ञान के विषय में अपूर्व जिज्ञासा और जागृति

(१) जिसे सत्यकी ओर रुचि होने लगी है, जो सत्यतत्त्व को समझने और निर्णय करनेके इच्छुक है वह समाज, मध्यस्थता से शास्त्रो की स्वाध्याय औरचर्चा करकेनयार्थ, अनेकान्त, उपादान निमित्त,निश्चय, व्यवहार दो नयोकी सच्ची व्याख्या और प्रयोजन तथा मोक्षमार्गका दो प्रकारसे निरूपण, हेयउपादेय और प्रत्येकद्रव्यकी पर्यायो की भीस्वतंत्रता केवलज्ञान और क्रमवद्ध पर्याय आदि प्रयोजनभूत विषयोमे उत्साह से अभ्यास कर रहे हैं और तत्त्वनिर्णय के विषयमे समाज मे खास विचारो का प्रवाह चलरहा है ऐसा नीचेके आधारसे भी सिद्ध होता है—

(२) श्री भारत० दि० जैन सघ (मथुरा) द्वारा ई० सन् १६५४ मे प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक (प० टोडरमलजी कृत) की प्रस्तावना पृ० ६ मे शास्त्रीजीने कहा है कि "अब तक शास्त्रस्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओ मे एकान्त निश्चयी और एकान्तव्यवहारी को ही मिथ्यादृष्टि कहते सुनते आए है। परन्तु दोनो नयो का अवलवन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं यह आपकी (स्व० श्री टोडरमलजी की) नई और विशेष चर्चा है। ऐसे मिथ्यादृष्टियो के सूक्ष्मभावो का विश्लेषण करते हुए आपने कई अपूर्व बाते लिखी है। उदाहरण के लिए आपने इस बातका खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय व्यवहाररूप दो प्रकारका है। वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय व्यवहारावलम्वी मिथ्यादृष्टियो की है, वास्तवमे पाठक देखेगे कि जो लोग निश्चय सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहार मोक्षमार्ग इत्यादि भेदो की रातदिन चर्चा करते रहते है उनके मतव्य से प० जी का मतव्य कितना भिन्न है ?। इसी प्रकार आगे चलकर उन्होने लिखा है कि **निश्चय व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योकि दोनों नयोंका स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, इसलिये दोनों नयोंका उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार किन्तु दोनों ही**

उपादेय है किन्तु पंडितजीने इसे मिथ्यादृष्टियोंकी प्रवृत्ति बतलाई है।"

आगे पृ० ३० में उद्धरण दिया है कि 'जो ऐसा मानता है कि निश्चयका श्रद्धान रखना चाहिये और प्रवृत्ति व्यवहार की रखना चाहिये' उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही बतलाते हैं।

२५—इस शास्त्रकी इस टीका के आधारभूतशास्त्र

इस टीकाका संग्रह–मुख्यतया श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक, श्री अर्थप्रकाशिका, श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री धवला–जयधवला–महाबंध तथा श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक इत्यादि अनेक सत् शास्त्रों के आधार पर किया गया है, जिसकी सूची भी इसग्रन्थमें शुरूमें दी गई है।

२६—अध्यात्म योगी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीकी कृपा का फल

मोक्षमार्गका सत्य पुरुषार्थ दर्शानेवाले, परम सत्य जैनधर्मके मर्मके पारगामी और अद्वितीय उपदेशक, आत्मज्ञ, सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीसे मैंने इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि पढ़ लेनेकी प्रार्थना की और उन्होंने उसे स्वीकार करनेकी कृपा की। फलस्वरूप उनकी सूचनानुसार सुधार करके प्रकाशन लिये भेजा गया। इस प्रकार यह ग्रन्थ उनकी कृपाका फल है—ऐसा कहनेकी आज्ञा लेता हूँ। इस कृपाके लिये उनका जितना उपकार प्रगट करूँ उतना कम ही है।

२७—मुमुक्षु पाठकों से.....

मुमुक्षुओंको इस ग्रन्थका सूक्ष्म दृष्टिसे और मध्यस्थरूपसे अध्ययन करना चाहिये। सत् शास्त्रका धर्म बुद्धि द्वारा अभ्यास करना सम्यग्दर्शन का कारण है। तदुपरांत, शास्त्राभ्यासमें निम्न बातें मुख्यतया ध्यान में रखना चाहिये—

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन से ही धर्मका प्रारम्भ होता है।

(२) निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीवको



सच्चे व्रत, सामायिक प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि क्रियाएँ नही होती क्योकि वे क्रियाएँ पाँचवे गुणस्थानमे शुभभावरूपसे होती है।

(३)शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनोको होता है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि उससे धर्म होगा, अथवा वह शुभभावरूप व्यवहार करते-करते भविष्यमे धर्म होगा, किन्तु ज्ञानियोको वो हेय बुद्धिसे होनेसे, उससे (-शुभभावसे धर्म होगा) ऐसा वे कभी नही मानते।

(४) पूर्ण वीतरागदशा प्रगट न हो वहा तक पद् अनुसार शुभभाव आये विना नही रहते किंतु उस भावको धर्म नही मानना चाहिए और न ऐसा मानना चाहिये कि उससे क्रमश धर्म होगा, क्योकि वह विकार होने से अनन्त वीतराग देवोने उसे बन्धनका ही कारण कहा है।

(५) प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायसे स्वतन्त्र है, एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ कर नही सकती, परिणमित नही कर सकती, प्रेरणा नही दे सकती, प्रभाव–असर–मदद या उपकार नही कर सकती, लाभ-हानि नही कर सकती, मार–जिला नही सकती, सुख-दु ख नही दे सकती–ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी स्वतत्रता अनन्त ज्ञानियोने पुकार पुकार कर कही है।

(६) जिनमतमे तो ऐसी परिपाटी है कि पहले निश्चय सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत, और निश्चय सम्यक्त्व तो विपरीत अभिप्राय रहित जीवादि तत्त्वार्थ श्रद्धान है, इसलिये ऐसा यथार्थ श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

(७) प्रथम गुणस्थानमे जिज्ञासु जीवोको ज्ञानी पुरुषोके धर्मोपदेशका श्रवण, उनका निरन्तर समागम, सत्शास्त्रका अभ्यास, पठन–मनन, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दानादि शुभभाव होते हैं, किन्तु पहले गुणस्थानमे सच्चे व्रत–तपादि नही होते।

(२८) अन्तमें

मोक्षशास्त्रके गुजराती टीका परसे हिन्दी अनुवाद करनेका कार्य

कठिन परिश्रम साध्य, उसको पूरा करनेवाले श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र है।

इसशास्त्र की प्रथमावृत्ति तथा दूसरी इस आवृत्ति तैयार करने मे अक्षरशः मिलान करके जांचनेके कार्यमे तथा शास्त्रानुसार स्पष्टता करनेके कार्यमे प्रेम पूर्वक अपना समय देकर बहुत श्रम दिया है उस सहायके लिये श्री ब्र० गुलाबचन्दभाई को आभार सह धन्यवाद है।

हिन्दी समाजको इस गुजराती-मोक्षशास्त्र टीकाका लाभ प्राप्त हो इसलिये उसका हिन्दी अनुवादन करानेके लिये तथा दूसरी आवृतिके लिये श्री नेमिचन्दजी पाटनीने पुन: पुन: प्रेरणा की थी, और कमल प्रि० प्रेसमें यह शास्त्र सुन्दर रीतिसे छपानेकी व्यवस्था करने के लिये श्री नेमिचन्दजी पाटनी (प्रधान-मंत्री श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ-राजस्थान) को धन्यवाद है।

इस ग्रन्थका प्रूफ रीडिंग, शुद्धिपत्र, विस्तृत विषय सूची, शब्दसूचि आदि तैयार करने का कार्य सावधानी से श्री० नेमीचन्दजी बाकलीवाल (मदनगंज) ने तथा ब्र० गुलाबचन्दजी ने किया है, अत: उन्हें भी धन्यवाद है।

वीर नि० संवत् २४८४
भाद्र० सुद ५
(श्री दशलक्षणी पर्व)

रामजी माणेकचन्द दोशी,
—प्रमुख—
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ



श्री मोक्षशास्त्र टीका की विषय सूची।



अध्याय तीसरा

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

उपसंहार

अध्याय छट्ठा

सूत्र नं०	विषय	पत्र सं०

अध्याय सातवाँ

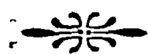
अध्याय आठवाँ

अध्याय नवमाँ

दशवाँ अध्याय



इस शास्त्रकी टीकामें लिये गये आधारभूत शास्त्र



१ सर्वार्थसिद्धि टीका
२ राजवार्तिक
३ श्लोकवार्तिक
४ अर्थ प्रकाशिका
५ सर्वार्थसिद्धि प्रश्नोत्तर
६ मोक्षशास्त्र (पन्नालालजी साहित्याचार्य टीका)
७ तत्त्वार्थ सूत्र (इङ्गलिश)
८ तत्त्वार्थसार
९ समयसार
१० प्रवचनसार
११ पचास्तिकाय
१२ नियमसार
१३ परमात्म प्रकाश
१४ अष्टपाहुड
१५ बारस अणुवेक्खा
१६ स० सार प्रवचन भा० १-२-३
१७ नियमसार प्रवचन भा० १
१८ समयसार नाटक
१९ ,, राजमलजीकृत (कलश टीका)
२० पंचाध्यायी
२१ धवला टीका
२२ जयधवला टीका
२३ तिलोय-पण्णत्ति
२४ गोमट्टसार
२५ श्रीमद् राजचन्द्र
२६ महाबन्ध
२७ आत्मसिद्धि शास्त्र
२८ बृहद् द्रव्य संग्रह
२९ द्रव्य संग्रह
३० पुरुषार्थ सिद्धि उपाय
३१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा
३२ मोक्षमार्ग प्रकाशक
३३ समयसार जयसेनाचार्य टीका
३४ पद्मनंदी पचविंशतिका
३५ रत्नकरण्ड श्रावकाचार
३६ भगवती आराधना
३७ योगसार (योगीन्द्रदेव)
३८ चर्चा समाधान (भूधरदासजी)
३९ प्रमेयरत्नमाला
४० न्याय दीपिका
४१ प्रमेयकमलमार्तण्ड
४२ अध्यात्म कमलमार्तण्ड
४३ आलाप पद्धति
४४ भाव संग्रह
४५ जैनसिद्धान्त प्रवेशिका (बरैयाजी)
४६ आप्तमीमांसा
४७ चारित्रसार
४८ अनुभव प्रकाश
४९ बनारसी विलास-परमार्थ वचनिका
५० सत्तास्वरूप
५१ रहस्यपूर्ण चिट्ठी (मल्लिजी)
५२ छहढाला
५३ जैनसिद्धान्त दर्पण वगैरह
५४ श्रीमद् राजचन्द्र



मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

卐 दंसणमूलो धम्मो 卐

❀ धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है ❀

—भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

—भगवान श्री उमास्वामी आचार्य देव

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

—श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देव

* श्री सर्वज्ञ वीतरागाय नमः *



श्रीमदाचार्य उमास्वामि विरचित

मोक्षशास्त्र

गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद

मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद् गुणलब्धये ॥

अर्थ—मोक्षमार्ग के प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतो के भेदक अर्थात् नष्ट करनेवाले, तथा विश्व के (समस्त) तत्त्वों के जाननेवाले (आप्त) को उनके गुणो की प्राप्ति के हेतु मै प्रणाम करता हूँ—वन्दना करता हूँ ।

संक्षिप्त अवलोकन

(१) इस शास्त्र को प्रारंभ करने से पूर्व संक्षेप मे यह बताना आवश्यक है कि इस शास्त्र का विषय क्या है ?

(२) आचार्य देवने इस शास्त्रका नाम **'मोक्षशास्त्र'** अथवा **'तत्त्वार्थसूत्र'** रखा है । जगतके जीव अनन्त प्रकारके दुःख भोग रहे है, और उन दुःखो से सदाके लिए मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करनेके लिये रात दिन उपाय कर रहे हैं, किन्तु उनके वे उपाय मिथ्या होने से, जीवो का दुःख दूर नही होता, एक या दूसरे रूप मे दुःख बना ही रहता है ।

जीव दुःखो की परंपरा से क्योंकर मुक्त हो इसका उपाय और उसका वीत-रागी विज्ञान इस शास्त्रमे बताया गया है, इसीलिये इसका नाम 'मोक्षशास्त्र' रखा गया है।

मूलभूत भूल के बिना दुःख नही होता, और उस भूलके दूर होने पर सुख हुये बिना नहीं रह सकता,—यह अबाधित सिद्धान्त है। वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझे बिना वह भूल दूर नही होती, इसलिये इस शास्त्रमे वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझाया गया है, इसीलिये इसका नाम 'तत्वार्थसूत्र' भी रखा गया है।

(३) यदि जीव को वस्तुके यथार्थ स्वरूप सम्बन्धी मिथ्या मान्यता (Wrong Belief) न हो तो ज्ञान मे भूल न हो। जहाँ मान्यता सच्ची होती है वहाँ ज्ञान सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान पूर्वक ही यथार्थ प्रवृत्ति होती है। इसलिए आचार्य देवने इस शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए प्रथम अध्याय के पहले ही सूत्र मे यह सिद्धान्त बताया है कि सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान पूर्वक होने वाली सच्ची प्रवृत्ति द्वारा ही जीव दुःख से मुक्त हो सकते है।

(४) 'स्वयं कौन है' इस संबंध मे जगत के जीवो की भारी भूल चली आ रही है। बहुत से जीव शरीर को अपना स्वरूप मानते है, इसलिए वे शरीर की रक्षा करने के लिए निरन्तर अनेक प्रकार के प्रयत्न करते रहते हैं। जब कि जीव शरीर को अपना मानता है तब जिसे वह समझता है कि यह शारीरिक सुविधा चेतन या जड पदार्थों की ओर से मिलती है उनकी ओर उसे राग होता ही है, और जिसे वह समझता है कि असुविधा चेतन या जड पदार्थों की ओर से मिलती है उनकी ओर उसे द्वेष भी होता ही है। और इस प्रकार की धारणा से जीव को आकुलता बनी ही रहती है।

(५) जीवकी इस महान् भूल को शास्त्र में 'मिथ्या दर्शन' कहा गया है। जहाँ मिथ्या मान्यता होती है वहां ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होता है, इसलिये मिथ्यादर्शनरूपी भूलको महापाप भी कहा जाता है।

मिथ्यादर्शन भारी भूल है और वह सर्व दु खोकी महान् बलवती जड है,—जीवोको ऐसा लक्ष न होनेसे वह लक्ष करानेके लिए और वह भूल दूर करके जीव अविनाशी सुखकी ओर पैर रखे इस हेतु से आचार्य देवने इस शास्त्रमे सब से पहला शब्द **'सम्यग्दर्शन'** प्रयुक्त किया है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही उसी समय ज्ञान सच्चा हो जाता है, इसलिये दूसरा शब्द **'सम्यग्ज्ञान'** प्रयुक्त किया गया है, और सम्यग्दर्शन–ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है इसलिये **'सम्यक्चारित्र'** शब्द को तीसरे रखा है। इस प्रकार तीन शब्दों का प्रयोग करने से कही लोग यह न मान बैठे कि–'सच्चा सुख प्राप्त करने के तीन मार्ग है' इसलिये प्रथम सूत्र मे ही यह बता दिया है कि 'तीनो की एकता ही मोक्षमार्ग है'।

(६) **यदि जीव को सच्चा सुख चाहिये तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।** जगतमे कौन कौन से पदार्थ है, उनका क्या स्वरूप है, उनका कार्यक्षेत्र क्या है, जीव क्या है, वह क्यो दु खी होता है,–इसकी यथार्थ समझ हो तब ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसलिये आचार्यदेवने दश अध्यायोमे सात तत्त्वो के द्वारा वस्तु स्वरूप बतलाया है।

(७) इस–मोक्षशास्त्र के दश अध्यायों मे निम्नलिखित विषय **लिये** गये है,—

१ अध्याय मे–मोक्ष का उपाय और जीव के ज्ञान की अवस्थाओ का वर्णन है।

२ अध्याय मे–जीव के भाव, लक्षण और शरीर के साथ जीवका सबध वर्णन किया गया है।

३–४ अध्याय मे–विकारी जीवो के रहने के क्षेत्रो का वर्णन है। इस प्रकार प्रथम चार अध्यायो मे पहले **जीव तत्त्व का** वर्णन किया गया है।

५ अध्याय मे दूसरे **अजीव तत्त्वका** वर्णन है।

६–७ अध्याय मे–जीवके नवीन विकारभाव (आस्रव) तथा उनका निमित्त पाकर जीवका सूक्ष्म जडकर्मके साथ होनेवाला

संबंध बताया है। इसप्रकार तीसरे **आस्रव तत्त्व का** वर्णन किया है।

८ अध्याय मे—यह बताया गया है कि जीव का जड़ कर्मो के साथ किस प्रकार बंध होता है और वह जडकर्म कितने समय तक जीव के साथ रहते हैं। इस प्रकार इस अध्याय मे चौथे बंध **तत्त्व का** वर्णन किया गया है।

९ अध्याय मे—यह बताया गया है कि जीव के अनादिकाल से न होने वाले धर्म का प्रारम्भ संवर से होता है, जीव की यह अवस्था होने पर उसे सच्चे सुख का प्रारम्भ होता है, और क्रमश शुद्धि के बढने पर विकार दूर होता है, उससे निर्जरा अर्थात् जडकर्मके साथके बंध का अंशत. अभाव होता है। इस प्रकार नवमे अध्यायमे पांचवां और छट्ठा अर्थात् **संवर** और **निर्जरा तत्त्व** बताया गया है।

१० अध्याय मे—जीवकी शुद्धि की पूर्णता, सर्व दु खो से अविनाशी मुक्ति और सम्पूर्ण पवित्रता—मोक्ष तत्त्व है, इसलिये आचार्य देव ने सातवां **मोक्ष** तत्त्व दशवे अध्याय मे बतलाया है।

(८) मंगलाचरणमे भगवानको 'कर्मरूपी पर्वतो को भेदनेवाला' कहा है। कर्म दो प्रकार के हैं—१—भावकर्म, २—द्रव्यकर्म। जब जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भावकर्मरूपी पर्वतोको दूर करता है तब द्रव्य-कर्म स्वय ही अपने मे हट जाते हैं—नष्ट हो जाते है, ऐसा जीवकी शुद्धता और कर्मक्षय का निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध है,—यहां यही बताया गया है। जीव जडकर्म को परमार्थत नष्ट कर सकता है,—यह कहने का आशय नहीं है।

(९) मगलाचरणमें नमस्कार करते हुये देवागमन, समोशरण, चामर और दिव्यशरीरादि पुण्य—विभूतियों का उल्लेख नहीं किया गया है

जो तीर्थंकर भगवान के पास होती है, क्योंकि पुण्य आत्मा की शुद्धता नही है।

(१०) मगलाचरणमे गुणो से पहचान करके भगवानको नमस्कार किया है। अर्थात् भगवान विश्व के (समस्त तत्त्वोके) ज्ञाता है, मोक्षमार्गके नेता है, और उनने सर्व विकारो (दोपो) का नाश किया है,-इस प्रकार भगवान के गुणोका स्वरूप बतलाकर गुणोकी पहचान करके उनकी स्तुति की है। निश्चय से अपनी आत्मा की स्तुति की है।



प्रथम अध्याय

निश्चय मोक्षमार्गकी व्याख्या

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थ—[**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, तीनो मिलकर [**मोक्षमार्गः**] मोक्षका मार्ग है, अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

टीका

(१) **सम्यक्**—यह शब्द प्रशसावाचक है, जो कि यथार्थता को सूचित करता है। विपरीत आदि दोषोका अभाव 'सम्यक्' है।

दर्शन—का अर्थ है श्रद्धा, 'ऐसा ही है—अन्यथा नही' ऐसा प्रतीतिभाव।

सम्यग्ज्ञान—सशय, विपर्यय और अनध्यवसायरहित अपने आत्माका तथा परका यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सशय—"विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञान सशय.", अर्थात् 'ऐसा है कि ऐसा है' इस प्रकार परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञानको सशय कहते हैं, जैसे आत्मा अपने कार्यको कर सकता होगा या जडके कार्यको ? शुभ रागरूप व्यवहार से धर्म होगा या वीतरागतारूप निश्चयसे ?

विपर्यय—"विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः", अर्थात् वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है' इसप्रकारका एकरूपज्ञान विपर्यय है, जैसे शरीरको आत्मा जानना।

अनध्यवसाय—"किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय", अर्थात् 'कुछ है' ऐसा निर्धाररहित विचार अनध्यवसाय है, जैसे मै कोई कुछ हूँ,—ऐसा जानना।

[विशेष—जीव और आत्मा दोनो शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।]

सम्यक्चारित्र—(यहाँ 'सम्यक्' पद अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्ति के लिये प्रयुक्त किया है।) सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक आत्मामे स्थिरता का होना सम्यक् चारित्र है।

यह तीनो क्रमश आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणोकी शुद्ध पर्याये है।

मोक्षमार्ग—यह शब्द एकवचन है, जो यह सूचित करता है कि मोक्षके तीन मार्ग नही, किन्तु इन तीनो का एकत्व मोक्षमार्ग है। मोक्ष-मार्ग का अर्थ है अपने आत्माकी शुद्धिका मार्ग, पथ, उपाय। उसे अमृत-मार्ग, स्वरूपमार्ग अथवा कल्याणमार्ग भी कहते है।

(२) इस सूत्रमे अस्तिसे कथन है, जो यह सूचित करता है कि इससे विरुद्ध भाव, जैसे कि राग, पुण्य इत्यादिसे धर्म होता है या वे धर्ममे सहायक होते हैं, इसप्रकारकी मान्यता, ज्ञान और आचरण मोक्षमार्ग नही है।

(३) इस सूत्रमे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि" कहा है वह निश्चय रत्नत्रय है व्यवहार रत्नत्रय नही है, उसका कारण यह है कि व्यवहार रत्नत्रय राग होनेसे बंधरूप है।

(४) इस सूत्र मे 'मोक्षमार्ग' शब्द निश्चय मोक्षमार्ग बताने के लिये कहा है। ऐसा समझना।

(५) मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है—

"निजपरमात्म तत्त्वके सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान–अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्र-

यात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्षमार्ग है और वह शुद्ध रत्नत्रयका फल निज शुद्धात्माकी प्राप्ति है।"

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार गा० २ की टीका)

इस सूत्र मे 'सम्यग्दर्शन' कहा है वह निश्चयसम्यग्दर्शन है ऐसी बात तीसरेसूत्र से सिद्ध होती है, उसीमे निसर्गज और अधिगमज ऐसा भेद कहा है वह निश्चय सम्यग्दर्शनका ही भेद है। और इस सूत्र की संस्कृत टीका श्री तत्त्वार्थराजवार्तिकमे जिस कारिका तथा व्याख्या द्वारा वर्णन किया है उस आधार से इस सूत्र तथा दूसरा सूत्र कथित सम्यग्दर्शन है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा सिद्ध होता है।

तथा इस सूत्र मे "ज्ञान" कहा है वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। अ० १-सूत्र ६ मे उसी के पाच भेद कहे है उसी मे मन.पर्यय और केवलज्ञान भी आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा है।

वाद मे इस सूत्र मे 'चारित्राणि' शब्द निश्चयसम्यक्चारित्र दिखाने के लिये कहा है। श्री तत्त्वार्थ रा० वा० मे इस सूत्र कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र माना है। क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र (-व्यवहार रत्नत्रय) आस्रव और बधरूप है, इससे यह सूत्र का अर्थ करने मे यह तीनो आत्माकी शुद्ध पर्याय एकत्वरूप परिणमित हुई है। इस प्रकार शास्त्रकार दिखाते है ऐसा स्पष्ट होता है।

पहले सूत्रका सिद्धान्त

(५) अज्ञानदशामे जीव दुःख भोग रहे है, इसका कारण यह है कि उन्हे अपने स्वरूपके सबधमे भ्रम है, जिसे (जिस भ्रम को) 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है। 'दर्शन' का एक अर्थ मान्यता भी है, इसलिये मिथ्यादर्शनका अर्थ मिथ्या मान्यता है। जहाँ अपने स्वरूपकी मिथ्या मान्यता होती है वहाँ जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान मिथ्या ही होता है, उस मिथ्या या खोटे ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान' कहा जाता है। जहाँ स्वरूपकी मिथ्या

मान्यता और मिथ्याज्ञान होता है वहाँ चारित्र भी मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे चारित्र को "मिथ्याचारित्र" कहा जाता है। अनादिकालसे जीवो के 'मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र' अपने अपराध से चले आरहे हैं, इसलिए जीव अनादिकाल से दुःख भोग रहे हैं।

क्योंकि अपनी यह दशा जीव स्वयं करता है इसलिए वह स्वयं उसे दूर कर सकता है, और उसे दूर करने का उपाय 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' ही है, दूसरा नही,–यही यहाँ कहा है। इससे सिद्ध होता है कि जीव सतत जो अन्य उपाय किया करता है वह सब मिथ्या हैं। जीव धर्म करना चाहता है, किन्तु उसे सच्चे उपाय का पता न होने मे वह खोटे उपाय किये बिना नही रहता, अतः जीवो को यह महान् भूल दूर करने के लिये **पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये**। उसके बिना कभी किसीके धर्मका प्रारंभ हो ही नही सकता।



निश्चय सम्यग्दर्शनका लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ—[तत्त्वार्थश्रद्धानं] तत्त्व (वस्तु) के स्वरूपसहित अर्थ–जीवादि पदार्थों की श्रद्धा करना सो [सम्यग्दर्शनम्] सम्यग्दर्शन है।

टीका

(१) तत्त्वो की सच्ची (-निश्चय) श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है। 'अर्थ' का अर्थ है द्रव्य-गुण-पर्याय, और 'तत्त्व' का अर्थ है उसका भावस्वरूप। स्वरूप (भाव) सहित प्रयोजनभूत पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

(२) इस सूत्र मे सम्यग्दर्शन को पहचाननेका लक्षण दिया है। सम्यग्दर्शन लक्ष्य और तत्त्वार्थश्रद्धा उसका लक्षण है।

(३) किसी जीव को यह प्रतीति तो हो कि–'यह ज्ञातृत्व है यह श्वेत वर्ण है' इत्यादि, किन्तु ऐसा श्रद्धान न हो कि–दर्शन-ज्ञान आत्माका

स्वभाव है और मैं आत्मा हूँ तथा वर्णादिक पुद्गल के स्वभाव है और पुद्गल मुझसे भिन्न (पृथक्) पदार्थ है, तो उपरोक्त मात्र 'भाव' का श्रद्धान किंचित्मात्र कार्यकारी नही है। यह श्रद्धान तो किया कि 'मै आत्मा हूँ' किन्तु आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान नही किया, तो 'भाव' के श्रद्धानके विना आत्माका श्रद्धान यथार्थ नही होता, इसलिये 'तत्त्व' और उसके 'अर्थ' का श्रद्धान होना ही कार्यकारी है।

(४) **दूसरा अर्थ**—जीवादिको जैसे 'तत्त्व' कहा जाता है वैसे ही 'अर्थ' भी कहा जाता है। जो तत्त्व है वही अर्थ है, और उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जैसा अवस्थित है उसका उसी प्रकार होना सो तत्त्व है, और 'अर्यते' कहने पर निश्चय किया जाय सो अर्थ है। इसलिये तत्त्वस्वरूपका निश्चय तत्त्वार्थ है, और तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

(५) विपरीत अभिनिवेश (उल्टे अभिप्राय) से रहित जीवादिका तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है। सम्यग्दर्शनमे विपरीत मान्यता नही होती, यह बतलानेके लिये 'दर्शन' से पूर्व 'सम्यक्' पद दिया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, यह सात तत्त्व है,—ऐसा चौथे सूत्र मे कहेंगे।

(६) "तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" यह लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शनका है' और वह तिर्यंच आदि से लेकर केवली तथा सिद्ध भगवानके समानरूपमे व्याप्त है। और वह लक्षण अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-और असंभव दोष रहित है। (देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ९ तथा इस शास्त्रका अ० १ परिशिष्ट ४)

(७) **'तत्त्व' शब्द का मर्म**—

'तत्त्व' शब्दका अर्थ तत्-पन या उसरूपता है। प्रत्येक वस्तुके-तत्त्वके स्वरूपसे तत्पन है और पर रूपसे अतत्पन है। जीव वस्तु है, इसलिये उसके अपने स्वरूपसे तत्पन है और परके स्वरूपसे अतत्पन है। जीव चैतन्यस्वरूप होनेसे ज्ञाता है और अन्य सब वस्तुये ज्ञेय है, इसलिए जीव

दूसरे सभी पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है। जीव अपनेसे तत् है, इसलिए उसे अपना ज्ञान स्वतः होता है, और जीव परसे अतत् है, इसलिए उसे परसे ज्ञान नहीं हो सकता। 'घडेका ज्ञान घडेके आधारसे होता है' ऐसा कई लोग मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिए वह ज्ञान अपनेसे तत् है और परसे अतत् है। जीवके प्रतिसमय अपनी योग्यताके अनुसार ज्ञानकी अवस्था होती है, परज्ञेयसंबंधी अपना ज्ञान होते समय परज्ञेय उपस्थित होता है, किन्तु जो यह मानता है कि उस परवस्तुसे जीवको ज्ञान होता है तो मानो कि वह जीवको 'तत्त्व' नहीं मानता। यदि घडे में घडा संबंधी ज्ञान होता हो तो ना समझ (अबोध) जीवको भी घडेकी उपस्थिति होने पर घडेका ज्ञान होजाना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता। इसलिए यह सुनिश्चित है कि ज्ञान स्वतः होता है। यदि जीवको परसे ज्ञान होने लगे तो जीव और पर एकतत्त्व हो जायें, किन्तु ऐसा नहीं होता।

(८) सम्यग्दर्शनकी महिमा—

यदि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग मिथ्यादर्शनयुक्त है, तो गुण होने के स्थान पर संसारमें दीर्घकाल तक परिभ्रमणकारी दोषोंको उत्पन्न करते हैं। जैसे विषयुक्त औषधिसे लाभ नहीं होता उसीप्रकार मिथ्यात्वसहित अहिंसादिसे जीवका संसार-रोग नहीं मिटता। जहाँ मिथ्यात्व होता है वहाँ निश्चयतः अहिंसादि कदापि नहीं होते। "आत्मभ्रांति सम रोग नहिं"—इस पदको विशेष ध्यानमें रखना चाहिये। जीवके साथ अनादिकालसे मिथ्यात्व-दशा चली आरही है इसलिये उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, इसलिये आचार्यदेव पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेके लिये बारम्बार उपदेश करते हैं।

सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान, चारित्र और तपमें सम्यक्ता नहीं आती, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है। जैसे आँखोंसे मुखकी सुन्दरता-शोभा होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शनसे ज्ञानादिकमें सम्यक्त्व सुन्दरता-शोभा आती है।

इसी संबंधमे रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे कहा है कि—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—तीनो काल और तीनो लोकमे जीवोका सम्यग्दर्शनके समान दूसरा कोई कल्याण और मिथ्यात्वके समान अकल्याण नही है।

भावार्थ—अनन्तकाल व्यतीत हो चुका, एक समय-वर्तमान चल रहा है और भविष्यमे अनन्तकाल आयगा,—इन तीनो कालमे और अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक,—इन तीनो लोकोमे जीवका सर्वोत्कृष्ट उपकारी सम्यक्त्वके समान दूसरा कोई न तो है, न हुआ है, और न होगा। त्रिलोक-स्थित इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र या तीर्थंकर इत्यादि चेतन और मणि, मंत्र, औषधि—इत्यादि जड द्रव्य,—ये कोई भी सम्यक्त्वके समान उपकारी नही है। और इस जीवका सबसे अधिक बुरा—अहित करनेवाला मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई जड या चेतन द्रव्य तीन-काल और तीनलोकमे न तो है, न हुआ है और न होगा। इसलिये मिथ्या-त्वको छोडनेके लिये परमपुरुषार्थ करो। समस्त संसारके दुःखोका नाश करनेवाला और आत्मकल्याणको प्रगट करनेवाला एकमात्र सम्यक्त्व ही है, इसलिये उसके प्रगट करनेका ही पुरुषार्थ करो।

और फिर, **सम्यक्त्व ही प्रथम कर्तव्य है,**—इस संबंधमे अष्ट पाहुड मे इस प्रकार कहा है,—

श्रावकको पहले क्या करना चाहिये, सो कहते है—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥

(मोक्षपाहुड गाथा ८६)

अर्थ—पहले श्रावकको सुनिर्मल, मेरुके समान निष्कंप—अचल (चल, मल और अगाढ दूषणसे रहित अत्यन्त निश्चल) सम्यक्त्व को ग्रहण

करके दु खोके क्षयके लिए उसे (सम्यक्त्वके विषयभूत एकरूप आत्माको) ध्यानमे ध्याना चाहिये ।

भावार्थ—पहले तो श्रावकको निरतिचार निश्चल सम्यक्त्वको ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिये कि जिस सम्यक्त्वकी भावनासे गृहस्थको गृहकार्य सबन्धी आकुलता, क्षोभ, दु ख मिट जाय, कार्यके विगडने-सुधरनेमे वस्तुस्वरूपका विचार आये तब दु ख मिट जाय । सम्यग्दृष्टिके ऐसा विचार होता है कि—सर्वज्ञने जैसा वस्तुस्वरूप जाना है वैसा निरतर परिणमित होता है, और वैसा ही होता है, उसमे इष्ट—अनिष्ट मानकर सुखी—दु खी होना व्यर्थ है । ऐसे विचार से दु ख मिटना है, यह प्रत्यक्ष अनुभव गोचर है । इसलिए सम्यक्त्वका ध्यान करनेको कहा है ।

अब, सम्यक्त्वके ध्यानकी महिमा कहते है,—

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥

(-मोक्षपाहुड गाथा ८७)

अर्थ—जो सम्यक्त्वको ध्याता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है, और सम्यक्त्वरूप परिणत जीव आठो दुष्ट कर्मोका क्षय करता है ।

भावार्थ—सम्यक्त्वका ध्यान ऐसा है कि, यदि पहले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी, उसके स्वरूपको जानकर उसका ध्यान करे तो वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर जीवके परिणाम ऐसे होजाते हैं कि ससारके कारणभूत आठो दुष्टकर्मोका क्षय हो जाता है । सम्यक्त्वके होते ही कर्मोकी गुण श्रेणी निर्जरा होती जाती है । और अनुक्रमसे मुनि होने पर, चारित्र और शुक्लध्यानके सहकारी होने पर सर्व कर्मोका नाश होता है ।

अब, इस बातको सक्षेपमे कहते हैं,—

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥

(-मोक्षपाहुड, गाथा ८८)

अर्थ—श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते है कि—बहुत कहनेसे क्या साध्य है ? जो नरप्रधान भूतकालमे सिद्ध हुये और भविष्यमे सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्वका ही माहात्म्य जानो ।

भावार्थ—सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि भूतकालमे जो श्रेष्ठ पुरुष आठ कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त हुये हैं तथा भविष्यमे होंगे, वे इसी सम्यक्त्वसे हुये है और होंगे । इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाय ? संक्षेपमे समझना चाहिये कि मुक्तिका प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है । ऐसा नही सोचना चाहिये कि गृहस्थो के क्या धर्म होता है ? यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि जो सर्व धर्मके अगको सफल करता है ।

अव यह कहते है कि जो निरतर सम्यक्त्व का पालन करते है वे धन्य है—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥

(—मोक्षपाहुड, गाथा ८९)

अर्थ—जिस पुरुष के मुक्ति को प्राप्त करानेवाला सम्यक्त्व है, और उस सम्यक्त्वको स्वप्नमे भी मलिन नही किया—अतिचार नही लगाया वह पुरुष धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पडित है, वही मनुष्य है ।

भावार्थ—लोक मे जो कुछ दानादि करता है उसे धन्य कहा जाता है, तथा जो विवाह, यज्ञादि करता है उसे कृतार्थ कहा जाता है, जो युद्ध से पीछे नहीं हटता उसे शूरवीर कहते हैं, और जो बहुतसे शास्त्र पढ लेता है उसे पडित कहते हैं, किंतु यह सव कथन मात्र है । वास्तवमे तो—जो मोक्षके कारणभूत सम्यक्त्व को मलिन नही करता,—उसे निरतिचार पालता है वही धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है, वही पडित है, वही मनुष्य है, उसके बिना (सम्यक्त्वके बिना) मनुष्य पशु समान है । सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा कही गई है ।

(९) सम्यग्दर्शन का बल—

केवली और सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नही होते, और संसारावस्था को नही चाहते, यह सम्यग्दर्शन का ही बल समझना चाहिये।

(१०) सम्यग्दर्शन के भेद—

ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यचादि (पशु आदि) के और केवली तथा सिद्ध भगवान के सम्यग्दर्शन को समान कहा है, उनके आत्म-प्रतीति एक ही प्रकार की होती है। किन्तु स्वपर्यायकी योग्यताकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके तीन भेद हो जाते हैं (१)–औपशमिक सम्यग्दर्शन, (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, (३) क्षायिक सम्यग्दर्शन।

औपशमिक सम्यग्दर्शन—इस दशामे मिथ्यात्वकर्मके तथा अनंतानुबंधी कषायके जड़रजकण स्वयं उपशमरूप होते है, जैसे मैले पानीमे से मैल नीचे बैठ जाता है, अथवा जैसे अग्नि राखसे ढक जाती है। आत्माके पुरुषार्थ से जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब औपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है। *

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन–इस दशामें मिथ्यात्व और मिश्रमिथ्यात्व कर्मके रजकण आत्मप्रदेशो से पृथक् होने पर उसका फल नहीं होता, और सम्यक्मोहनीयकर्मके रजकण उदयरूप होते है, तथा अनन्तानुबन्धी कषायकर्मके रजकण विसंयोजनरूप होते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन–इस दशामें मिथ्यात्वप्रकृतिके (तीनो उपविभागके) रजकण आत्मप्रदेशसे सर्वथा छूट जाते हैं, इसलिये मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की सातो प्रकृतियोका क्षय हुआ कहलाता है।

---

* अनादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी की चार,—ऐसी पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं। और सादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होने पर जिसके मिथ्यात्वकी तीन प्रकृतियाँ सत्तारूप होती है उसके मिथ्यात्वकी तीन और अनन्तानुबंधीकी चार, ऐसे सात प्रकृतियाँ उपशमरूप होती है, और जिस सादि मिथ्यादृष्टिके एक मिथ्यात्व प्रकृति ही सत्तामें होती है उसके मिथ्यात्व की एक और अनन्तानुबंधीकी चार,—ऐसी पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती है।

(११) सम्यग्दर्शनके अन्यप्रकारसे भेद—

सभी सम्यग्दृष्टि जीवोके आत्माकी--तत्त्वकी प्रतीति एकसी होती है, तथापि चारित्रदशाकी अपेक्षासे उनके दो भेद हो जाते है—(१) वीतराग सम्यग्दर्शन, (२) सराग सम्यग्दर्शन।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मामे स्थिर होता है तब उसके निर्विकल्प दशा होती है, तब रागके साथ बुद्धिपूर्वक सम्बन्ध नही होता। जीव की इस दशाको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। और जब सम्यग्दृष्टि जीव अपनेमे स्थिर नही रह सकता तब रागमे उसका अनित्य–सबध होता है, इसलिये उस दशा को 'सराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। ध्यान रहे कि सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कभी नही मानता कि शुभ रागसे धर्म होता है या धर्ममे सहायता होती है।

(१२) सराग सम्यग्दृष्टिके प्रशमादि भाव—

सम्यग्दृष्टिके राग के साथ सबध होता है तब चार प्रकारके शुभ भाव होते हैं (१) प्रशम, (२) सवेग, (३) अनुकपा, (४) आस्तिक्य।

प्रशम–क्रोध,-मान,-माया,-लोभ सबधी रागद्वेपादि की मदता।

संवेग—ससार अर्थात् विकारी भाव का भय।

अनुकम्पा–स्वय और पर–सर्व प्राणियो पर दया का प्रादुर्भाव।

आस्तिक्य–जीवादि तत्त्वो का जैसा अस्तित्व है वैसा ही आगम और युक्तिसे मानना।

सराग सम्यग्दृष्टि को इन चार प्रकार का राग होता है, इसलिए इन चार भावो को उपचार से सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा जाता है। जीवके सम्यग्दर्शन न हो तो वे शुभ भाव प्रशमाभास, सवेगाभास, अनुकम्पाभास, और आस्तिक्याभास है,—ऐसा समझना चाहिये। प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके यथार्थ (निश्चय) लक्षण नही है, उसका यथार्थ लक्षण अपने शुद्धात्मा की प्रतीति है।

(१३) सम्यग्दर्शन का विषय (लक्ष्य) तथा स्वरूप—

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको कैसा मानता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको परमार्थतः त्रिकाल शुद्ध, ध्रुव, अखण्ड चैतन्यस्वरूप मानता है।

प्रश्न—उस समय जीव की विकारी अवस्था तो होती है, सो उसका क्या ?

उत्तर—विकारी अवस्था सम्यग्ज्ञानका विषय है इसलिए उसे सम्यग्दृष्टि जानता तो है, किन्तु सम्यग्दृष्टि का आश्रय अवस्था (पर्याय-भेद) पर नहीं होता, क्योंकि अवस्थाके आश्रयमें जीवके राग होता है और ध्रुवस्वरूप के लक्ष से शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

प्रश्न—सम्यक्त्व (-श्रद्धा) गुण किसे कहते हैं।

उत्तर—जिस गुणकी निर्मलदशा प्रगट होनेसे अपने शुद्धात्मा का प्रतिभास (-यथार्थ प्रतीति) हो, अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति हो।

(१) सच्चे देव-गुरु-धर्ममें दृढ प्रतीति, (२) जीवादि सात तत्त्वों की—सच्ची प्रतीति, (३) स्व-परका श्रद्धान, (४) आत्म श्रद्धान इन लक्षणोंके अविनाभाव सहित जो श्रद्धान होता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उस पर्यायका धारक सम्यक्त्व (-श्रद्धा) गुण है, तथा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन उसकी पर्याये है)

(१४) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यह सूत्र निश्चय सम्यग्दर्शन के लिये है, ऐसा पं० टोडरमल्लजी मोक्षमार्ग प्र० अ० ९ में कहते हैं,—

(१) जो तत्त्वार्थ श्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धानपना सो सम्यग्दर्शनका लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है, सोई तत्त्वार्थ सूत्र विषै कह्या है—

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ १-२ ॥

बहुरि पुरुषार्थ सिद्धयुपाय विषै भी ऐसे ही कह्या है।

जीवा जीवादिनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपंतत् ॥२२॥

"याका अर्थ—विपरीताभिनिवेशकरि रहित जीव अजीव आदि तत्वार्थनिका श्रद्धान सदाकाल करना योग्य है। **सो यहु श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है चतुर्थादि गुणस्थान विषैं प्रगट हो है। पीछैं सिद्ध अवस्था विषैं भी सदाकाल याका** सद्भाव रहे है, ऐसा जानना"।

(देहली से प्र० सस्ती ग्रथमालाका, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४७०–७१)

इस सम्बन्ध मे पृ० ४७५ से ४७७ मे प० टोडरमल्लजी विशेप कहते है कि—

बहुरि प्रश्न—वो छद्मस्थ कै तो प्रतीति अप्रतीति कहना सभव है, तातै तहाँसप्त तत्त्वनि की प्रतीति सम्यक्त्वका लक्षण कह्या सो हम मान्याँ, परन्तु केवली सिद्ध भगवान के तो सर्वका जानपना समानरूप है। **तहाँ सप्त तत्त्वनि की प्रतीति कहना संभवै नाहीं। अर तिनकै सम्यक्त्व गुण पाइए ही है। तातैं तहाॅ तिस लक्षण का अव्याप्तिपना आया।**

ताका समाधान—जैसे छद्मस्थ के श्रुतज्ञान अनुसार प्रतीति पाइए है तैसे, केवली सिद्ध भगवान के केवलज्ञान के अनुसार प्रतीति पाइए है। जो सप्त तत्त्वनिका स्वरूप पहले ठीक किया था, सो ही केवलज्ञान करि जान्या। तहाँ प्रतीति कौ परम अवगाढपनो भयो। याही तै परमावगाढ सम्यक्त्व कह्या। जो पूर्वे श्रद्धान किया था, ताकौ जूठा जान्या होता, तौ तहाॅ अप्रतीति होती। **सो तौ जैसा सप्त तत्त्वनिका श्रद्धान छद्मस्थकै भया था, तैसा ही केवली सिद्ध भगवान के पाइए है।** तातै ज्ञानादिक की हीनता अधिकता होतै भी तिर्यंचादिक वा केवली सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व गुण समान कह्या। बहुरि पूर्व अवस्था विषै यहु मानै था—सवर निर्जराकरि मोक्षका उपाय करना। पीछै मुक्ति अवस्था भए ऐसे मानने लगे, जो सवर निर्जरा करि हमारे मोक्ष भई। बहुरि पूर्वे ज्ञानकी हीनता—करि जीवादिक

के थोड़े विशेष जाने था पीछे केवलज्ञान भए तिनके सर्व विशेष जानें परन्तु मूलभूत जीवादिक के स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थके पाइए है, तैसा ही केवली के पाइए है। बहुरि यद्यपि केवली, सिद्ध भगवान् अन्य पदार्थनि कौं भी प्रतीति लिये जानै है तथापि ते पदार्थ प्रयोजनभूत नाहीं। तातैं सम्यक्त्व गुण विषैं सप्त तत्त्वनि ही का श्रद्धान ग्रहण किया हैं। केवली सिद्ध भगवान रागादिरूप न परिणमैं हैं। संसार अवस्था कौं न चाहैं हैं। सो इस श्रद्धानका बल जानना।

बहुरि प्रश्न—जो सम्यग्दर्शन को तौ मोक्षमार्ग कह्या था, मोक्ष विषैं याका सद्भाव कैसे कहिए है?

ताका उत्तर—कोई कारण ऐसा भी हो है, जो कार्य सिद्ध भए भी नष्ट न होय। जैसे काहू वृक्षकै कोई एक शाखाकरि अनेक शाखायुक्त अवस्था भई, तिनको होतैं वह एक शाखा नष्ट न हो है। तैसे काहू आत्मा कैं सम्यक्त्व गुणकरि अनेक गुण युक्त मुक्ति अवस्था भई, ताको होतैं सम्यक्त्व गुण नष्ट न हो है ऐसैं केवली सिद्ध भगवान कैं भी तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण ही सम्यक्त्व पाइए है। तातैं तहाँ अव्याप्तिपनौं नाहीं है।"

(मोक्षमार्ग प्र० पृ० ४७७)

बहुरि प्रश्न—मिथ्यादृष्टि कैं भी तत्त्व श्रद्धान हो है, ऐसा शास्त्रविषैं निरूपण है। प्रवचनसारविषैं आतमज्ञानशून्य तत्त्वार्थ श्रद्धान अकार्यकारी कह्या है। तातैं सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कह्या है, तिस विषैं अतिव्याप्ति दूषण लागै है।

ताका समाधान—मिथ्यादृष्टि कैं जो तत्त्व श्रद्धान कह्या है, सो नामनिक्षेपकरि कह्या है। जामैं तत्त्व श्रद्धानका गुण नाहीं अर व्यवहारविषैं जाका नाम तत्त्व श्रद्धान-कहिए, सो मिथ्यादृष्टिकै हो है। अथवा आगमद्रव्यनिक्षेपकरि हो है। तत्त्वार्थ श्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रनिकौ अभ्यास है, तिनका स्वरूप निश्चय करने विषैं उपयोग नाहीं लगावै है, ऐसा जानना।

बहुरि यहाँ सम्यक्त्व का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कह्या है सो भावनिक्षेपकरि कह्या है। सो गुण सहित सांचा तत्त्वार्थ श्रद्धान मिथ्यादृष्टि के कदाचित् न होय। बहुरि आत्मज्ञान शून्य तत्त्वार्थ श्रद्धान कह्या है तहाँ सोई अर्थ जानना। **सांचा जीव अजीवादिकका जाके श्रद्धान होय, ताकै आत्मज्ञान कैसें न होय ? होय ही होय।** ऐसे कोई मिथ्यादृष्टि के साचा तत्त्वार्थ श्रद्धान सर्वथा न पाइए है, तातैं तिस लक्षण विषैं अतिव्याप्ति दूषण न लागै है।

बहुरि जो यहु तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण कह्या, सो असंभवी भी नहीं है। जातैं सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है यहु नाहीं। वाका लक्षण इसतैं विपरीतता लिए है ऐसैं अव्याप्ति अतिव्याप्ति, असंभविपनाकरि रहित सर्व सम्यग्दृष्टिनि विषैं तो पाइये अर कोई मिथ्यादृष्टि विषैं न पाइए— **ऐसा सम्यग्दर्शनका सांचा लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान है।"**

(मो० मा० प्र० अ० ९ पृ० ४७५ से ४७७)

पंचाध्यायी भाग २ में कहा है कि —

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नवपदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥१८६॥

अर्थ—इसलिये शुद्ध तत्त्व कुछ उन नव तत्त्वो से विलक्षण अर्थान्तर नही है किन्तु **केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारों को छोड़कर नवतत्त्व ही शुद्ध है।**

भावार्थ—इसलिये सिद्ध होता है कि केवल विकार की उपेक्षा करने से **नवतत्त्व ही शुद्ध जीव है।** नवतत्त्वों से कुछ सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है।

अतस्तत्त्वार्थ श्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम्।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥१८७॥

अर्थ—इसलिये सूत्र में तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है और वे तत्त्व भी जीवाजीवादिरूपसे नव हैं, अत क्रमानुसार उन नव पदार्थों का कथन करना चाहिये।

इसलिये इस शास्त्रका 'सूत्रमें' निश्चय सम्यग्दर्शनका ही लक्षण है, व्यवहार सम्यग्दर्शन का नही ऐसा निश्चय करना।

(१५) दूसरे सूत्रका सिद्धांत--

संसार-समुद्रमे रत्नत्रयरूपी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी) जहाज को पार करने के लिए सम्यग्दर्शन चतुर नाविक है। जो जीव सम्यग्दर्शन को प्रगट करता है वह अनंत सुख को पाता है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन नही है वह यदि पुण्य करे तो भी अनंत दुःख भोगता है, इसलिए जीवोको वास्तविक सुख प्राप्त करनेके लिए तत्त्वका स्वरूप यथार्थ समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। तत्त्वका स्वरूप समझे विना किसी जीवको सम्यग्दर्शन नही होता। जो जीव तत्त्वके स्वरूपको यथार्थतया समझता है उसे सम्यग्दर्शन होता ही है—इसे यह सूत्र प्रतिपादित करता है ॥ २ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनके (उत्पत्तिकी अपेक्षासे) भेद--

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ—[तत्] वह सम्यग्दर्शन [निसर्गात्] स्वभावसे [वा] अथवा [अधिगमात्] दूसरेके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है।

टीका

(१) उत्पत्ति की अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद है—(१) निसर्गज, (२) अधिगमज।

निसर्गज—जो दूसरेके उपदेशादिके विना स्वयमेव (पूर्व संस्कारसे) उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते है।

अधिगमज—जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(२) जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस जीवने उस समय अथवा पूर्व भवमे सम्यग्ज्ञानी आत्मासे उपदेश सुना होता है। [उपदिष्ट तत्त्वका ग्रहण–धारण होना, विचार होना उसे देशना लब्धि कहते हैं] उसके बिना किसीको सम्यग्दर्शन नही होता। इसका यह अर्थ नही समझना चाहिये कि वह उपदेश सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है। जीव सम्यग्दर्शन को स्वत अपनेमे प्रगट करता है, ज्ञानीका उपदेश तो निमित्त मात्र है। अज्ञानीका उपदेश सुनकर कोई सम्यग्दर्शन प्रगट नही कर सकता यह नियम है। और, यदि सद्गुरु का उपदेश सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता हो तो, जो जो जीव उस उपदेशको सुने उन सब को सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये, किंतु ऐसा नही होता। सद्गुरुके उपदेशसे सम्यग्दर्शन हुआ है,–यह कथन व्यवहारमात्र है,–निमित्तका ज्ञान करानेके लिए कथन है।

(३) अधिगमका स्वरूप इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमे दिया गया है। वहाँ बताया है कि–'प्रमाण और नयके द्वारा अधिगम होता है'। प्रमाण और नयका स्वरूप उस सूत्रकी टीकामे दिया है, वहाँसे ज्ञात करना चाहिये।

(४) तीसरे सूत्रका सिद्धान्त—

जीवको अपनी भूलके कारण अनादिकालसे अपने स्वरूपके संबंधमे भ्रम बना हुआ है, इसलिये उस भ्रमको स्वयं दूर करने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जीव जब अपने सच्चे स्वरूपको समझनेकी जिज्ञासा करता है तब उसे आत्मज्ञानीपुरुषके उपदेशका योग मिलता है। उस उपदेशको सुनकर जीव अपने स्वरूपका यथार्थ निर्णय करे तो उसे सम्यग्दर्शन होता है। किसी जीवको आत्मज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेपर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, और किसीको उसी भवमें दीर्घकालमे अथवा दूसरे भवमे उत्पन्न होता है। जिसे तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे **'अधिगमज सम्यग्दर्शन'** हुआ कहलाता है, और जिसे पूर्वके संस्कारसे उत्पन्न होता है उसे **'निसर्गज'** सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है।

[कोई जीव अपने आप शास्त्र पढकर या अज्ञानीका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करलें ऐसा कभी नही हो सकता है–देशना लब्धिके विषयमे सब प्रश्नोका संपूर्ण समाधानवाला लेख देखो–आत्मधर्म वर्ष छठवाँ अंक न. ११-१२]

जैसे वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करना हो तो वैद्यकके ज्ञानी गुरुकी शिक्षासे वह प्राप्त किया जा सकता है, वैद्यकके अज्ञानीपुरुषसे नही, उसीप्रकार आत्मज्ञानी गुरुके उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है, आत्मज्ञानहीन (अज्ञानी) गुरुके उपदेशसे वह प्राप्त नही किया जा सकता। इसलिए सच्चे सुखके इच्छुक जीवोको उपदेशकका चुनाव करनेमे सावधानी रखना आवश्यक है। जो उपदेशकका चुनाव करनेमे भूल करते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त नही कर सकते,—यह निश्चित समझना चाहिये ॥३॥

तत्त्वोंके नाम

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—[जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः] १ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बंध, ५ संवर, ६ निर्जरा और ७ मोक्ष,—यह सात [तत्त्वम्] तत्त्व है।

टीका

१–जीव—जीव अर्थात् आत्मा। वह सदा ज्ञाता स्वरूप, परसे भिन्न और त्रिकालस्थायी है जब वह पर-निमित्तके शुभ अवलंबनमे युक्त होता है तब उसके शुभभाव (पुण्य) होता है, और जब अशुभावलंबनमे युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है, और जब स्वावलंबी होता है तब शुद्ध-भाव (धर्म) होता है।

२–अजीव—जिसमे चेतना-ज्ञातृत्व नही है, ऐसे द्रव्य पाँच हैं। उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह चार अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सहित) है अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं, तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरे से पृथक्-स्वतंत्र हैं। पराश्रयके बिना जीवमे विकार नही होता, परोन्मुख होनेसे जीवके पुण्य-पापके शुभाशुभ, विकारी भाव होते है।

३–आस्रव—विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी अवस्था जीव मे

होती है वह भावास्रव और नवीन कर्म-रजकणो का आना (आत्माके साथ एक क्षेत्र मे रहना) सो द्रव्यास्रव है।

पुण्य-पाप दोनो आसृव और बध के उपभेद है।

पुण्य—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादिके जो शुभ भाव जीवके होते है वह अरूपी विकारी भाव है, वह भाव पुण्य है, और उसके निमित्तसे जड परमाणुओका समूह स्वय (अपने ही कारणसे स्वत) एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धसे जीव के साथ बँधता है, वह द्रव्य-पुण्य है।

पाप—हिंसा, असत्य, चोरी, अव्रत इत्यादि जो अशुभभाव है सो भाव -पाप है, और उसके निमित्तसे जडकी शक्तिसे जो परमाणुओका समूह स्वयं बँधता है वह द्रव्य-पाप है।

परमार्थत'—वास्तव मे यह पुण्य-पाप आत्माका स्वरूप नही है, वह आत्माकी क्षणिक अवस्थामे परके सम्बन्धसे होनेवाला विकार है।

४—वंध—आत्माका अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पापके भावमे रुक जाना सो भाव-बध है। और उसके निमित्तसे पुद्गलका स्वय कर्मरूप बँधना सो द्रव्य-बध है।

५—संवर—पुण्य-पापके विकारीभावको (आसृवको) आत्माके शुद्ध भाव द्वारा रोकना सो भाव-संवर है, और तदनुसार नये कर्मोंका आगमन रुक जाय सो द्रव्य-सवर है।

६—निर्जरा—अखन्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके लक्षके बलसे स्वरूप स्थिरताकी वृद्धि द्वारा आंशिकरूपमे शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आंशिक नाश करना सो भाव-निर्जरा है, और उसका निमित्त पाकर जडकर्मका अशत खिर जाना सो द्रव्य-निर्जरा है।

७—मोक्ष—अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा-सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल-पवित्र दशाका प्रगट होना सो भाव-मोक्ष है, और निमित्त-कारण द्रव्यकर्मका सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्य-मोक्ष है।

(२) सात तत्त्वों में से प्रथम दो तत्त्व—'जीव' और 'अजीव' द्रव्य है, तथा शेष पाच तत्त्व उनकी (जीव और अजीव की) सयोगी तथा वियोगी पर्यायें (विशेष अवस्थायें) है। आस्रव और बन्ध सयोगी हैं तथा सवर, निर्जरा और मोक्ष जीव-अजीव की वियोगी पर्याय है। जीव और अजीव तत्त्व **सामान्य** हैं तथा शेष पाच तत्त्व पर्याय होने से **विशेष** कहलाते हैं।

(३) जिसकी दशाको अशुद्धमे से शुद्ध करना है उसका नाम तो प्रथम अवश्य दिखाना ही चाहिये, इसलिये **'जीव'** तत्त्व प्रथम कहा गया है, पश्चात् जिस ओर के लक्षसे अशुद्धता अर्थात् विकार होता है उसका नाम देना आवश्यक है, इसलिये **'अजीव'** तत्त्व कहा गया है। अशुद्ध दशा के कारण-कार्यका ज्ञान करानेके लिये **'आस्रव'** और **'बंध'** तत्त्व कहे गये हैं। तत्पश्चात् मुक्तिका कारण कहना चाहिये, और मुक्तिका कारण वही हो सकता है जो वध और वधके कारणसे उल्टे रूपमे हो, इसलिये आस्रव के निरोध होने को **'संवर'** तत्त्व कहा है। अशुद्धता विकार के एक देश दूर होजाने के कार्यको **'निर्जरा'** तत्त्व कहा है। जीवके अत्यन्त शुद्ध होजाने की दशाको **'मोक्ष'** तत्त्व कहा है। इन तत्त्वोको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, इसीलिये वे कहे गये हैं। उन्हे समझनेसे जीव मोक्षोपायमे युक्त हो सकता है। मात्र जीव अजीवको जाननेवाला ज्ञान मोक्षमार्ग के लिये कार्यकारी नही होता। इसलिये जो सच्चे सुख के मार्गमे प्रवेश करना चाहते हैं उन्हे इन तत्त्वो को यथार्थतया जानना चाहिये।

(४) सात तत्त्वोके होने पर भी इस सूत्र के अन्त में **'तत्त्वम्'** ऐसा एकवचन सूचक शब्द प्रयोग किया गया है, जो यह सूचित करता है कि इन सात तत्त्वोका ज्ञान करके, भेद परसे लक्ष हटाकर, जीवके त्रिकालज्ञायक भावका आश्रय करनेसे जीव शुद्धता प्रगट कर सकता है।

(५) चौथे सूत्रका सिद्धान्त—

इस सूत्रमे सात तत्त्व कहे गये हैं, उनमे से पुण्य और पापका समावेश आस्रव और वध तत्त्वोमे होजाता है। जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और

दुःखका नाश हो उस कार्यका नाम प्रयोजन है। जीव और अजीवके विशेष (भेद) बहुतसे है। उनमेसे जो विशेषोके साथ जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान हो और उससे सुख उत्पन्न हो, और जिसका अयथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान न हो, रागादिकको दूर करनेका श्रद्धान न हो और उससे दुःख उत्पन्न हो, इन विशेषोसे युक्त जीव-अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत समझने चाहिये। आस्रव और बंध दुःखके कारण हैं, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष सुखके कारण हैं, इसलिये जीवादि सात तत्त्वोका श्रद्धान करना आवश्यक है। इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धाके विना शुद्ध-भाव प्रगट नही हो सकता। 'सम्यग्दर्शन' जीवके श्रद्धागुणकी शुद्ध अवस्था है, इसलिये उस शुद्ध भावको प्रगट करनेके लिये सात तत्त्वोका श्रद्धान-ज्ञान अनिवार्य है। जो जीव इन सात तत्त्वोकी श्रद्धा करता है वही अपने जीव अर्थात् शुद्धात्माको जानकर उस ओर अपना पुरुषार्थ लगाकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। इन सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वोके अतिरिक्त अन्य कोई 'तत्त्व' नही है,—ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि शब्दोंके अर्थ समझनेकी रीति—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—[**नामस्थापनाद्रव्यभावतः**—] नाम, स्थापना, द्रव्य, और भावसे [**तत्न्यास**] उन सात तत्त्वो तथा सम्यग्दर्शनादिका लोकव्यवहार होता है।

टीका

(१) वक्ताके मुखसे निकले हुये शब्दके, अपेक्षाको लेकर भिन्न २ अर्थ होते है, उन अर्थोंमे व्यभिचार (दोष) न आये और सच्चा अर्थ कैसे हो यह बतानेके लिए यह सूत्र कहा है।

(२) इन अर्थोंके सामान्य प्रकार चार किये गये हैं। पदार्थोंके भेदको न्यास अथवा निक्षेप कहा जाता है। [प्रमाण और नयके अनुसार प्रच-

लित हुए लोकव्यवहारको निक्षेप कहते हैं।] ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है, तथापि उसे जानने पर ज्ञेय-पदार्थके जो भेद (अंश, पहलू) किये जाते हैं उसे **निक्षेप** कहते है। और उस अंशको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। निक्षेप नयका विषय है, और नय निक्षेपका विषयी (विषय करनेवाला) है।

(३) निक्षेपके भेदोंकी व्याख्या--

नाम निक्षेप—गुण, जाति या क्रियाकी, अपेक्षा किये विना किसीका यथेच्छ नाम रख लेना सो नाम निक्षेप है। जैसे किसीका नाम 'जिनदत्त' रखा, किन्तु वह जिनदेवके द्वारा दिया हुआ नही है, तथापि लोकव्यवहार (पहचानने) के लिये उसका 'जिनदत्त' नाम रखा गया है। एकमात्र वस्तु की पहिचान के लिये उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है उसे नाम निक्षेप कहते हैं।

स्थापना निक्षेप--किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तुका किसी दूसरी उपस्थित वस्तुमे **संबंध** या **मनोभावना** को जोडकर आरोप कर देना कि 'यह वही है' सो ऐसी भावनाको **स्थापना** कहा जाता है। जहाँ ऐसा आरोप होता है वहाँ जीवोके ऐसी मनोभावना होने लगती है कि 'यह वही है'।

स्थापना दो प्रकारकी होती है—तदाकार और अतदाकार। जिस पदार्थका जैसा आकार हो वैसा आकार उसकी स्थापनामे करना सो 'तदाकार स्थापना' है। और चाहे जैसा आकार कर लेना सो 'अतदाकार स्थापना' है। सदृशताको स्थापना निक्षेपका कारण नही मान लेना चाहिये, **उसका कारण तो केवल मनोभावना ही है।** जनसमुदायकी यह मानसिक भावना जहाँ होती है वहाँ स्थापना निक्षेप समझना चाहिये। वीतराग-प्रतिमाको देखकर बहुतसे जीवोके भगवान और उनकी वीतरागताकी मनोभावना होती है, इसलिये वह स्थापना निक्षेप है। ❀

❀ नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेपमें यह अन्तर है कि—नाम निक्षेपमें पूज्य-अपूज्यका व्यवहार नही होता, और स्थापना निक्षेपमें यह व्यवहार होता है।

द्रव्य निक्षेप——भूत और भविष्यत् पर्यायकी मुख्यताको लेकर उसे वर्तमानमे कहना-जानना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे श्रेणिक राजा भविष्य मे तीर्थंकर होगे, उन्हे वर्तमानमे तीर्थंकर कहना-जानना, और भूतकालमे हो गये भगवान महावीरादि तीर्थंकरोको वर्तमान तीर्थंकर मानकर स्तुति करना, सो द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप—केवल वर्तमान पर्यायकी मुख्यतासे जो पदार्थ वर्तमान जिस दशामे है उसे उसरूप कहना-जानना सो भाव निक्षेप है। जैसे सीमंधर भगवान वर्तमान तीर्थंकरके रूपमे महाविदेहमे विराजमान है उन्हे तीर्थंकर कहना-जानना, और भगवान महावीर वर्तमानमे सिद्ध है। उन्हे सिद्ध कहना-जानना सो भाव निक्षेप है।

(४) जहाँ 'सम्यग्दर्शनादि' या 'जीवाजीवादि' शब्दो का प्रयोग किया गया हो वहा कौनसा निक्षेप लागू होता है, सो निश्चय करके जीवको सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिये। सूत्र १ मे 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान चारित्राणि' तथा मोक्षमार्ग वह शब्द तथा सूत्र २, मे सम्यग्दर्शन वह शब्द भावनिक्षेपसे कहा है ऐसा समझना चाहिये।

(५) स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेपमें भेद—

"In Sthapana the connotation is merely attributed. It is never there. It cannot be there. In dravya it will be there or has been there. The common factor between the two is that it is not there now, and to that extent connotation is fictitious in both." (English Tatvarth Sutram, page–11)

अर्थ—स्थापनानिक्षेपमें–बताना मात्र आरोपित है, उसमें वह (मूल वस्तु) कदापि नही है, वह वहाँ कदापि नही हो सकती। और **द्रव्यनिक्षेपमें** वह (मूल वस्तु) भविष्यमे प्रगट होगी अथवा भूतकालमे थी। दोनो के बीच सामान्यता इतनी है कि–वर्तमानकाल मे वह दोनो मे विद्यमान नही है, और उतने अंश मे दोनो मे आरोप है। [–तत्त्वार्थसूत्र अंग्रेजी टीका, पृष्ठ ११]

(६) पांचवें सूत्रका सिद्धान्त—

भगवानके नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप शुभभावके निमित्त हैं, इसलिये व्यवहार हैं। द्रव्यनिक्षेप निश्चयपूर्वक व्यवहार होनेसे अपनी शुद्ध पर्याय थोडे समयके पश्चात् प्रगट होगी यह सूचित करता है ! भावनिक्षेप निश्चय पूर्वक अपनी शुद्ध पर्याय होनेसे धर्म है, ऐसा समझना चाहिये। निश्चय और व्यवहारनयका स्पष्टीकरण, इसके वादके सूत्रकी टीकामे किया गया है ॥५॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जाननेका उपाय–

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वोका [**अधिगमः**] ज्ञान [**प्रमाणनयैः**] प्रमाण और नयोसे होता है।

टीका

(१) **प्रमाण**——सच्चे ज्ञानको–निर्दोपज्ञानको अर्थात् सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। अनन्तगुणो या धर्मका समुदायरूप अपना तथा परवस्तुका स्वरूप प्रमाणद्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तुके सर्वदेशको (सर्व पहलुओ को) ग्रहण करता है,–जानता है।

नय—प्रमाण द्वारा निश्चित् हुई वस्तुके एकदेशको जो ज्ञान ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। जो प्रमाण द्वारा निश्चित हुये अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक एक अगका ज्ञान मुख्यतासे कराता है सो नय है। वस्तुओमे अनत धर्म हैं, इसलिये उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं, और इसलिये अवयवके ज्ञानरूप नय भी अनन्त तक हो सकते है। श्रुतप्रमाणके विकल्प, भेद या अशको नय कहते हैं। श्रुतज्ञानमें ही नयरूप अश होता है। जो नय है वह **प्रमाणसापेक्षरूप** होता है। (मति, अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानमे नयके भेद नही होते।)

(2) "Right belife is not identical with blind faith It's authority is neither external nor autocratic. It is rea-

तत्त्वार्थ सत्र में न्याय शास्त्र के बीज

—डा० दरबारीलाल कोठिया

"तत्वार्थसूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनो मे समान रूप से प्रचलित है। इसके कुछ स्थानो मे पाठ-भेद अवश्य है। यह पाठ-भेद इन दोनो आम्नायो के मतभेद का परिणाम है। इस पाठ भेद या मतभेद का निर्णय इस निर्णय पर निर्भर है कि तत्वार्थसूत्र पर जो भाष्य प्रचलित है वह स्वोपज्ञ है या नहीं। एक ओर यह निर्णय है और दूसरी ओर वे कुछ प्रश्न हैं जो अब नये-नये उठाये जा रहे हैं। ऐसे प्रश्नो मे एक यह भी है कि तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी या उमास्वाति पहले हुए या आचार्य कुन्दकुन्द। अब तक यही माना जाता रहा है और ऐसा है भी कि आचार्य कुन्दकुन्द पहले हुए और और आचार्य उमास्वामी उनके बाद। इस तथ्य की पुष्टि मे डा० प० दरबारीलाल कोठिया ने प्रस्तुत लेख मे ऐसे तर्क दिये हैं, उदाहरण और मूल-सन्दर्भों के साथ, कि उनके आगे कुछ कहने को नहीं रह जाता। यह लेख इस क्षेत्र के शोधकर्ताओ के लिए आदर्श है।"

—सम्पादक

तत्वार्थसूत्र जैन परम्परा का एक महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। इसमे जैन तत्वज्ञान का अत्यन्त सक्षेप और प्राञ्जल सस्कृत गद्यसूत्रो मे बडी विशदता के साथ प्रतिपादन किया गया है। इसके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं जिन्हे उमास्वामी और उमास्वाति के नामो से भी जाना जाता है।

इसमे दस अध्याय है। प्रथम अध्याय मे रत्नत्रय के

अब प्रश्न है कि इस धर्म और दर्शन के ग्रन्थ मे क्या उनके विवेचन या सिद्धि के लिए न्याय का भी अवलम्बन लिया गया है? इस प्रश्न का उत्तर जब हम तत्वार्थसूत्र का गहराई और सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं तो उसी से मिल जाता है।

न्याय का स्वरूप प्रमाण और नय

न्यायदीपिकाकार अभिनव धर्मभूषण ने न्याय का

रूप मे मोक्षमार्ग का उल्लेख करते हुए सम्यग्दर्शन, उसके विषयभूत जीवादि सात तत्वो, उन्हे जानने के उपायो और सम्यग्ज्ञान का निरूपण किया गया है। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायो मे जीव तत्व का लक्षण उसके विभिन्न भेदो उससे सम्बन्धित शरीरो, जन्मो, योनियों, आवासो (रत्नप्रभा आदि नरकभूमियो, जम्बूद्वीप लवण समुद्र आदि मध्यलोक के स्थानो और देव निकायो) तथा उनसे सम्बद्ध आवश्यक जानकारियो का प्रतिपादन निबद्ध है। पाँचवे अध्याय मे अजीवतत्व और उसके पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पांच भेदो का छठे और सातवे अध्यायो मे आस्रवतत्व (पापास्रव और पुण्यास्रव का) आठवें मे बन्धतत्व का नवये मे सवर और निर्जरा तत्वो का तथा दशवें मे मोक्षतत्व का विवेचन है। इस तरह जैन धर्म के प्रसिद्ध साततत्वो का इसमे साङ्गोपाङ्ग कथन किया गया है और इस प्रकार हमे इसमे धम और दर्शन का पर्याप्त या यो कहिए कि प्राय पूरा निरूपण उपलब्ध होता है।

स्वरूप देते हुए लिखा है[1] कि प्रमाण और नय दोनो न्याय हैं, क्योकि उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। उनके अतिरिक्त उनके ज्ञान का अन्य कोई उपाय नहीं है जैसा कि उनके निम्न प्रतिपादन से स्पष्ट है—

प्रमाणनयाभ्या हि विवेचिता जीवादय सम्यगधिगम्यन्ते। तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरा सम्भवात'। न्या० दी० पृ० ४।

'न्याय' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दी गई है कि 'नि' पूर्वक 'इण गतौ' धातु से करण अर्थ मे घञ् प्रत्यय करने पर न्याय शब्द सिद्ध होता है। 'नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्याय., अर्थ परिच्छेदकोपायो न्याय इत्यर्थ'। स च प्रमाणनयात्मक एव।[2] अर्थात् निश्चय से जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते है वह न्याय है और वह

प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधक शास्त्राधिकार सम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते।'-न्याय दी पृ ५ वीर सेवा मन्दिर-सस्करण सन् १९४५।

२ न्याय दी० टिप्प० पृ० ५, सस्करण पूर्वोक्त।

soned knowledge It is a sort of a sight of a thing. You cannot doubt it's testimony. So long as there is doubt, there is no right belief. But doubt must not be suppressed, it must be destroyed. Things have not to be taken on trust. They must be tested and tried by every one him-self. This sutra lays down the mode in which it can be done. It refers the inquirer to the first laws of thought and to the universal principles of all reasoning, that is to logic under the names of Praman and Naya (English Tatvarth Sutram, page 15)

अर्थ—सम्यग्दर्शन अधश्रद्धाके साथ एकरूप नही है उसका अधिकार आत्माके बाहर या स्वच्छदी नही है, वह युक्तिपुरस्सर ज्ञानसहित होता है, उसका प्रकार वस्तुके दर्शन (देखने) समान है आप उसके साक्षीपनाकी शका नही कर सकते जहाँ तक (स्वस्वरूपकी) शका है वहाँ तक सच्ची मान्यता नही है। उस शकाको दबाना नही चाहिये, किन्तु उसका नाश करना चाहिये। [किसीके] भरोसेपर वस्तुका ग्रहण नही किया जाता। प्रत्येकको स्वय स्वत उसकी परीक्षा करके उसके लिये यत्न करना चाहिये। वह कैसे हो सकता है, सो यह सूत्र बतलाता है। विचारकताके प्राथमिक नियम तथा समस्त युक्तिमान् विश्वके सिद्धान्तोको प्रमाण और नयका नाम देकर उसका आश्रय लेनेके लिये सत्यशोधकको यह सूत्र सूचित करता है। [अग्रेजी तत्त्वार्थसूत्र पृष्ठ १५]

(३) युक्ति—

प्रमाण और नयको युक्ति कहते हैं। सत्‌शास्त्रका ज्ञान आगमज्ञान है। आगममे वर्णित तत्त्वोकी यथार्थता युक्ति द्वारा निश्चित किये बिना तत्त्वोके भावोका यथार्थ भास नही होता। इसलिये यहाँ युक्ति द्वारा निर्णय करने का कहा है।

(४) अनेकान्त एकान्त—

जैन शास्त्रोमे अनेकान्त और एकान्त शब्दोका खूब प्रयोग किया गया है, इसलिये उनका संक्षिप्त स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

अनेकान्त=[अनेक+अंत] अनेक धर्म।

एकान्त=[एक+अंत] एक धर्म।

अनेकान्त और एकान्त दोनोके दो-दो भेद हैं। अनेकान्तके दो भेद सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त तथा एकान्तके दो भेद–सम्यक् एकान्त और मिथ्या-एकान्त हैं। इनमे से सम्यक्-अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या-अनेकान्त प्रमाणाभास, तथा सम्यक्-एकान्त नय है और मिथ्या–एकांत नयाभास है।

(५) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्त का स्वरूप—

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगमप्रमाणसे अविरुद्ध एक वस्तुमे जो अनेक धर्म हैं उन्हें निरूपण करनेमे जो तत्पर है सो सम्यक् अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु निजरूपसे है और पररूपसे नही। आत्मा स्व-स्वरूपसे है,–पर स्वरूपमे नही, पर उसके स्वरूपसे है और आत्माके स्वरूपसे नही,-इसप्रकार जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। और जो तत् अतत् स्वभावकी मिथ्या कल्पना की जाती है सो मिथ्या अनेकान्त है। जीव अपना कुछ कर सकता है और दूसरे जीवोका भी कर सकता है,–इसमे जीवका निजसे और परसे–दोनोसे तत्पन हुआ, इसलिये वह मिथ्या-अनेकान्त है।

(६) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्तके दृष्टान्त—

१–आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे नही, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे भी है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

२–आत्मा अपना कुछ कर सकता है शरीरादि पर वस्तुओंका कुछ नही कर सकता,–ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा अपना कर सकता है और शरीरादि परका भी कर सकता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

३–आत्माके शुद्धभावसे धर्म होता है और शुभ भावसे नही होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माके शुद्ध भावसे धर्म होता है और शुभ भावसे भी होता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

४–निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रय से नही होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे भी होता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

५–निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके बाद स्वावलबनके बलसे जितना अश व्यवहारका (-पराश्रयका) अभाव होता है उतना अश निश्चय (-शुद्ध पर्याय) प्रगट होता है, ऐसा समझना सो सम्यक् अनेकान्त है। व्यवहारके करते २ निश्चय प्रगट हो जाता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

६–आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है, और शारीरिक क्रियासे हानि-लाभ नही होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा को अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है और शारीरिक क्रियासे भी लाभ होता है, ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

७–एक (प्रत्येक) वस्तुमे सदा स्वतत्र वस्तुत्वको सिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरोधी शक्तियो [सत्-असत्, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक–अनेक इत्यादि] को प्रकाशित करे सो सम्यक् अनेकान्त है।

एक वस्तुमे दूसरी वस्तुकी शक्तिको प्रकाशित करके, एक वस्तु, दो वस्तुओका कार्य करती है,–ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है, अथवा सम्यक् अनेकान्तसे वस्तुका जो स्वरूप निश्चित है उससे विपरीत वस्तु स्वरूपकी केवल कल्पना करके, जो उसमे न हो वैसे स्वभावोकी कल्पना करना सो मिथ्या अनेकान्त है।

८–जीव अपने भाव कर सकता है और पर वस्तुका कुछ नही कर सकता–ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है।

जीव सूक्ष्म पुद्गलोका कुछ नही कर सकता, किंतु स्थूल पुद्गलो का कर सकता है,—ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

(७) सम्यक् और मिथ्या एकान्तका स्वरूप—

निजस्वरूपसे अस्तिरूपता और पर–रूपसे नास्तिरूपता–आदि वस्तुका जो स्वरूप है उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाणके द्वारा ज्ञात पदार्थके एक देश को (एक पहलूको) विषय करनेवाला नय सम्यक् एकान्त है, और किसी वस्तुके एक धर्मका निश्चय करके उस वस्तुमे रहनेवाले अन्य धर्मों का निषेध करना सो मिथ्या एकान्त है।

(८) सम्यक् और मिथ्या एकान्तके दृष्टान्त—

१–'सिद्ध भगवन्त एकान्त सुखी हैं' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योकि 'सिद्धजीवोको विलकुल दुःख नही है' यह वात गर्भितरूप से उसमे आजाती है। और सर्व जीव एकान्त सुखी हैं—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योकि उसमे, अज्ञानी जीव वर्तमानमे दुखी हैं, उसका निषेध होता है।

२–'एकान्त बोधबीजरूप जीवका स्वभाव है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योकि छद्मस्थ जीवकी वर्तमान ज्ञानावस्था पूर्ण विकास रूप नही है यह उसमे गर्भितरूपसे आजाता है।

४–'सम्यग्ज्ञान धर्म है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योकि 'सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य होता है'—यह गर्भित रूपसे उसमे आजाता है। सम्यग्ज्ञान रहित 'त्याग मात्र धर्म है'—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योकि वह सम्यग्ज्ञान रहित होनेमे मिथ्या त्याग है।

(९) प्रमाणके प्रकार--

परोक्ष--उपात्त[1] और अनुपात्त[2] पर (पदार्थो) द्वारा प्रवर्तें वह परोक्ष (प्रमाणज्ञान) है।

प्रत्यक्ष--जो केवली आत्मासे ही प्रतिनिश्चिततया प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है।

प्रमाण सच्चा ज्ञान है। उसके पाँच भेद है–मति, श्रुत, अवधि, मन–पर्यय और केवल। इनमे से मति और श्रुत मुख्यतया परोक्ष है, अवधि और मन पर्यय विकल (-आंशिक-एक देश) प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है।

(१०) नयके प्रकार--

नय दो प्रकारके हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमे से जो द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तुमे द्रव्यका मुख्यतया अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिकनय है, और जो पर्यायका मुख्यतया अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय क्या है ? गुणार्थिक नय क्यों नहीं ?

शास्त्रोमे अनेक स्थलो पर द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का उल्लेख मिलता है, किन्तु कही भी 'गुणार्थिक नय' का प्रयोग नही किया गया है, इसका क्या कारण है ? सो कहते है—

तर्क-१—द्रव्यार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय गुण, और पर्यायार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय-पर्याय, तथा दोनो एकत्रित होकर जो प्रमाण का विषय-द्रव्य है सो सामान्य विशेषात्मक द्रव्य है, इसप्रकार मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नही किया है;–यदि कोई ऐसा कहे तो यह ठीक नही है क्योकि अकेले गुण द्रव्यार्थिक नयका विषय नही है।

नोट—उपात्त=प्राप्त, (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं। २ अनपात्त=अप्राप्त, (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं)

तर्क-२—द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य और पर्यायार्थिक नयका विषय पर्याय है, तथा पर्याय गुणका अंश होनेसे पर्यायमे गुण आगये, यह मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नही किया है, यदि इसप्रकार कोई कहे तो ऐसा भी नही है, क्योकि पर्यायमे सम्पूर्ण गुणका समावेश नही हो जाता।

गुणार्थिक नयका प्रयोग न करनेका वास्तविक कारण—

शास्त्रोमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक–दो नयोका ही प्रयोग किया गया है। उन दोनो नयोका वास्तविक स्वरूप यह है—

पर्यायार्थिक नयका विषय जीवकी अपेक्षित–बंध-मोक्षकी पर्याय है, और उस (बंध-मोक्षकी अपेक्षा) से रहित त्रैकालिक शक्तिरूप गुण तथा त्रैकालिक शक्तिरूप निरपेक्ष पर्याय सहित त्रैकालिक जीवद्रव्य सामान्य वही द्रव्यार्थिक नयका विषय है,–इस अर्थमे शास्त्रोमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका प्रयोग किया गया है, इसलिये गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नही रहती। जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योके त्रैकालिक ध्रुव स्वरूपमे भी उसके गुणोका समावेश हो जाता है, इसलिये पृथक् गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नही है।

शास्त्रोमे द्रव्यार्थिक नयका प्रयोग होता है, इसमे गंभीर रहस्य है। द्रव्यार्थिक नयका विषय त्रैकालिक द्रव्य है, और पर्यायार्थिक नय के विषय क्षणिक पर्याय हैं। द्रव्यार्थिक नयके विषयमे पृथक् गुण नही है क्योकि गुण को पृथक् करके लक्षमे लेने पर विकल्प उठता है, और गुण भेद तथा विकल्प पर्यायार्थिक नयका विषय है। ❀

(११) द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयके दूसरे नाम—

द्रव्यार्थिक नयको—निश्चय, शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतंत्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी नय कहा जाता है।

❀ नयका विशेष स्वरूप जानना हो तो प्रवचनसारके अन्तमें दिये गये ४७ नयो का अभ्यास करना चाहिये।

पर्यायार्थिक नयको—व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतंत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वसी, भेद और परलक्षी नय कहा जाता है।

(१२) सम्यग्दृष्टिके दूसरे नाम—

सम्यग्दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि और अन्तरात्मा आदि नाम दिये गये है।

(१३) मिथ्यादृष्टिके दूसरे नाम—

मिथ्यादृष्टिको पर्यायबुद्धि, सयोगीबुद्धि, पर्यायमूढ, व्यवहारदृष्टि, व्यवहारमूढ, ससारदृष्टि, परावलबी बुद्धि, पराश्रितदृष्टि और वहिरात्मा आदि नाम दिये गये है।

(१४) ज्ञान दोनों नयोंका करना चाहिये, किन्तु उसमे परमार्थतः आदरणीय निश्चय नय है,—ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

व्यवहारनय स्वद्रव्य, परद्रव्य अथवा उसके भावो को या कारण-कार्यादिको किसीका किसीमे मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व होता है, अत उसका त्याग करना चाहिये।

निश्चयनय स्वद्रव्य–परद्रव्यको अथवा उसके भावोको या कारण–कार्यादिको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमे नही मिलाता इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अत उसका श्रद्धान करना चाहिये। इन दोनो नयो को समकक्षी (—समान कोटिका) मानना सो मिथ्यात्व है।

(१५) व्यवहार और निश्चयका फल—

वीतराग कथित व्यवहार, अशुभ से बचाकर जीवको शुभभावमे ले जाता है, इसका दृष्टान्त द्रव्यलिंगी मुनि है। वे भगवान के द्वारा कथित व्रतादिका निरतिचार पालन करते हैं, इसलिये शुभभावके कारण नवमे ग्रैवेयक जाते है, किन्तु उनका ससार वना रहता है। और भगवानके द्वारा

कथित निश्चय, शुभ और अशुभ दोनोसे बचाकर जीवको शुद्धभावमे—मोक्ष मे ले जाता है, उसका दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि है, जो कि नियमत मोक्ष प्राप्त करता है।

(१६) शास्त्रोंमें दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

जैन शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति—जैन शास्त्रोमे वस्तुका स्वरूप समझानेके दो प्रकार हैं,—निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपमे जैसी हो उसीप्रकार कहना, इसलिये निश्चयनयकी मुख्यतासे जहाँ कथन हो वहाँ उसे तो **'सत्यार्थ ऐसा ही है'** यो जानना चाहिये, और—

(२) व्यवहारनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपसे वैसी न हो किन्तु परवस्तुके साथका सम्बन्ध बतलानेके लिये कथन हो, जैसे—'घी का घड़ा।' यद्यपि घडा घी का नही किन्तु मिट्टीका है, तथापि घी और घडा दोनो एक साथ हैं, यह बतानेके लिये उसे 'घीका घडा' कहा जाता है। इसप्रकार जहाँ व्यवहारसे कथन हो वहाँ यह समझना चाहिये कि **'वास्तवमें तो ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि बतलानेके लिये उपचारसे वैसा कथन है।'**

दोनो नयोके कथन को सत्यार्थ जानना अर्थात् 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसा मानना सो भ्रम है। इसलिये निश्चय कथनको सत्यार्थ जानना चाहिये, व्यवहार कथनको नही, प्रत्युत यह समझना चाहिये कि वह निमित्तादिको बतानेवाला कथन है, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार दोनो नयोके कथनका अर्थ करना सो दोनो नयोका ग्रहण है। दोनोको समकक्ष अथवा आदरणीय मानना सो भ्रम है। सत्यार्थको ही आदरणीय मानना चाहिये।

[नय=श्रुतज्ञानका एक पहलू, निमित्त=विद्यमान अनुकूल परवस्तु]

(मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३७२–३७३ के आधार से)

(१७) निश्चयाभासीका स्वरूप—

जो जीव आत्मा के त्रैकालिक स्वरूपको स्वीकार करे, किन्तु यह

स्वीकार न करे कि अपनी भूलके कारण वर्तमान पर्यायमे निजके विकार है वह निश्चयाभासी है उसे शुष्कज्ञानी भी कहते हैं।

(१८) व्यवहाराभासीका स्वरूप--

प्रथम व्यवहार चाहिये, व्यवहार करते २ निश्चय (धर्म) होता है ऐसा मानकर शुभराग करता है परन्तु अपना त्रैकालिक ध्रुव (ज्ञायकमात्र) स्वभावको नही मानता और न अन्तर्मुख होता है ऐसे जीवको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा सप्त तत्त्वोकी व्यवहार-श्रद्धा है तो भी अनादिकी निमित्त तथा व्यवहार (भेद-पराश्रय) की रुचि नही छोडता और सप्त तत्त्वकी निश्चय श्रद्धा नही करता इसलिये वह व्यवहाराभासी है, उसे क्रिया-जड भी कहते है और जो यह मानता है कि शारीरिक क्रियासे धर्म होता है वह व्यवहाराभाससे भी अति दूर है।

(१९) नयके दो प्रकार—

नय दो प्रकारके हैं—'रागसहित' और 'रागरहित'। आगमका प्रथम अभ्यास करने पर नयोका जो ज्ञान होता है वह 'रागसहित' नय है। वहाँ यदि जीव यह माने कि उस रागके होने पर भी **रागसे धर्म नहीं होता** तो वह नयका ज्ञान सच्चा है। किन्तु यदि यह माने कि रागसे धर्म होता है, तो वह ज्ञान नयाभास है। दोनो नयोका यथार्थ ज्ञान करनेके बाद जीव अपने पर्याय परका लक्ष छोडकर अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर लक्ष करे, स्वसन्मुख हो, तब सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट होते हैं इसलिये वह नय रागरहित नय है, उसे 'शुद्ध नयका आश्रय अथवा शुद्धनय का अवलवन' भी कहा जाता है, उस दशाको **'नयातिक्रांत'** भी कहते हैं। उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, और उसीको 'आत्मानुभव' भी कहते हैं।

(२०) प्रमाणसप्तभंगी—नयसप्तभंगी—

सप्तभगीके दो प्रकार है। सप्तभगका स्वरूप चौथे अध्यायके उपसहार मे दिया गया है, वहाँ से समझ लेना चाहिये। दो प्रकारकी सप्तभगीमे से जिस सप्तभगीसे एक गुण या पर्यायके द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य जाना जाय वह

'प्रमाण–सप्तभंगी' है, और जिस सप्तभगीसे कथित गुण अथवा पर्यायके द्वारा उस गुण अथवा पर्यायका ज्ञान हो वह **'नय–सप्तभंगी'** है। इस सप्तभगीका ज्ञान होने पर प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है, और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नही कर सकता–ऐसा निश्चय होने से, अनादिकालीन विपरीत मान्यता टल जाती है।

(२१) वीतरागी–विज्ञानका निरूपण—

जैन शास्त्रोंमे अनेकान्त रूप यथार्थ जीवादि तत्त्वोका निरूपण है तथा सच्चा (–निश्चय) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बताया है, इसलिए यदि जीव उसकी पहिचान कर ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमे वीतरागभावकी पुष्टिका ही प्रयोजन है, रागभाव (पुण्य-पापभाव) की पुष्टिका प्रयोजन नही है, इसलिए जो ऐसा मानते हैं कि रागसे–पुण्यसे धर्म होता है वे जैन शास्त्रोके मर्मको नही जानते।

(२२) मिथ्यादृष्टि के नय—

जो मनुष्य शरीरको अपना मानता है और ऐसा मानता है कि मै मनुष्य हूँ, जो शरीर है वह मै हूँ अथवा शरीर मेरा है अर्थात् जीव शरीर का कोई कार्य कर सकता है ऐसा मानने वाला जीव, आत्मा और अनन्त रजकणो को एकरूप मानने के कारण (अर्थात् अनतके मिलापको एक माननेके कारण) मिथ्यादृष्टि है और उसका ज्ञान भी यथार्थ मे कुनय है। ऐसी मान्यता पूर्वक प्रवर्तना कि मैं मनुष्य हूँ यह उसका (मिथ्यादृष्टिका) व्यवहार है इसलिए यह व्यवहार–कुनय है, वास्तवमे तो उस व्यवहारको निश्चय मानता है। जैसे 'जो शरीर है सो मैं हूँ' इस दृष्टान्तमे शरीर पर है, वह जीवके साथ मात्र एक क्षेत्रावगाही है तथापि उसको अपना रूप माना इसलिए उसने व्यवहारको निश्चय समझा। वह ऐसा भी मानता है कि "जो मैं हूँ सो शरीर है" इसलिए उसने निश्चयको व्यवहार माना है। जो ऐसा मानता है कि पर द्रव्योका मै कर सकता हूँ और पर अपने को लाभ नुकसान कर सकता है वह मिथ्यादृष्टि है–एकाती है।

(२३) सम्यग्दृष्टिके नय—

समस्त सम्यक् विद्याके मूलरूप अपने भगवान आत्माके स्वभावको प्राप्त होना, आत्म स्वभावकी भावनामे जुटना और स्व द्रव्यमे एकता के बल से आत्म स्वभावमे स्थिरता वढाना सो सम्यक् अनेकान्तदृष्टि है। सम्यक्-दृष्टि जीव अपने एकरूप—ध्रुव स्वभावरूप आत्माका आश्रय करता है यह उसका निश्चय—सुनय है और अचलित चैतन्य विलासरूप जो आत्म व्यवहार (शुद्धपर्याय) प्रगट होता है सो उसका व्यवहार सुनय है।

(२४) नीतिका स्वरूप—

प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्व क्षेत्र, स्वकाल औरस्व भावकी अपेक्षासे है और परवस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे वह वस्तु नही है, इसीलिये प्रत्येक वस्तु अपना ही कार्य कर सकती है ऐसा जानना सो यथार्थ नीति है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया अनेकात स्वरूप तथा प्रमाण और निश्चय व्यवहाररूप नय ही यथार्थ नीति है। जो सत्पुरुष अनेकात के साथ सुसगत (समीचीन) दृष्टिके द्वारा अनेकातमय वस्तुस्थितिको देखते है वे स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त कर—जानकर **जिननीतिको** अर्थात् जिनेश्वरदेव के मार्गको—न्यायको उल्लघन न करते हुये ज्ञानस्वरूप होते है।

नोट—(१) अनेकातको समझानेकी रीतिको स्याद्वाद कहा है। (२) सम्यक् अनेकातको प्रमाण कहा जाता है, यह सक्षिप्त कथन है। वास्तवमें जो सम्यक अनेकात का ज्ञान है सो प्रमाण है, उसीप्रकार सम्यक् एकातको नय कहते हैं वास्तवमें जो सम्यक एकान्तका ज्ञान है सो नय है।

(२५) निश्चय और व्यवहारका दूसरा अर्थ—

अपना द्रव्य और अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय बतानेके लिये भी निश्चय प्रयुक्त होता है, जैसे सर्व जीव द्रव्य अपेक्षासे सिद्ध परमात्मा समान है आत्माकी सिद्ध पर्यायको निश्चय पर्याय कहते है और आत्मामे होनेवाले विकारीभावको निश्चय बंध कहा जाता है।

स्व-द्रव्य या पर्यायको जब निश्चय कहा जाता है तब आत्माके साथ पर द्रव्यका जो सबंध होता है उसे आत्माका कहते है, यही व्यवहार है—उपचार कथन है। जैसे जडकर्मको आत्माका कहना व्यवहार है, जड कर्म परद्रव्यकी अवस्था है, आत्माकी अवस्था नही है। तथापि उन जडकर्मको आत्माका कहते हैं, यह कथन निमित्त नैमित्तिक सबंध बतानेके लिये है अत व्यवहार नय है—उपचार कथन है।

इस अध्यायके ३३ वे सूत्रमे दिये गये सात नय, आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्यमे लागू होते हैं इसलिये उन्हे आगम शास्त्रमे निश्चय नयके विभागके रूपमे माना जाता है। इन सात नयोमे से पहले तीन द्रव्यार्थिक नयके विभाग हैं और बादके चार पर्यायार्थिक नयके विभाग हैं, किंतु वे सात नय भेद हैं इसलिये, और उनके आश्रयसे राग होता है और वे राग दूर करने योग्य हैं इसलिये अध्यात्म शास्त्रोमे उन सबको व्यवहार नयके उप विभागके रूपमे माना जाता है।

आत्माका स्वरूप समझनेके लिये नय विभाग—

शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्य स्वरूप है—यहाँ (त्रिकाल शुद्ध कहनेमे) वर्तमान विकारी पर्याय गौण की गई है। यह विकारी पर्याय क्षणिक अवस्था होने से पर्यायार्थिक नयका विषय है और जब वह विकारी दशा आत्मामे होती है ऐसा बतलाना हो तो तब वह विकारी पर्याय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय होता है और जब ऐसा बतलाना हो कि यह पर्याय पर द्रव्यके सयोग से होती है तब वह विकारी पर्याय व्यवहार नयका विषय होती है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि जहाँ आत्माकी अपूर्ण पर्याय भी व्यवहारका विषय है वहाँ व्यवहारका अर्थ भेद होता है।

निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिक नय भिन्न भिन्न अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं—

ऐसा ज्ञान करना कि रत्नत्रय जीवसे अभिन्न है सो द्रव्यार्थिकनयका

स्वरूप है इसीप्रकार रत्नत्रय जीवसे भिन्न है ऐसा ज्ञान करना सो पर्यायार्थिक नयका स्वरूप है। रत्नत्रयमे अभेद पूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चय नयसे मोक्षमार्ग है तथा भेद पूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहार नयसे मोक्षमार्ग है।

निश्चय रत्नत्रयके समर्थन करनेका यह मतलब है कि जो भेद प्रवृत्ति है सो व्यवहार रत्नत्रय है और जो अभेद प्रवृत्ति है सो निश्चय रत्नत्रय है।

(२६) छट्ठे सूत्रका सिद्धान्त—

हे जीव! पहले यह निश्चय कर कि तुझे धर्म करना है या नही। यदि धर्म करना हो तो 'परके आश्रय से मेरा धर्म नही है। ऐसी श्रद्धाके द्वारा पराश्रित अभिप्रायको दूर कर। परसे जो जो अपनेमे होना माना है उस मान्यताको यथार्थ प्रतीतिके द्वारा जला दे।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जिसप्रकार सात (पुण्य पाप सहित नव) तत्त्वोको जानकर उनमेसे जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है उसी प्रकार अधिगमके उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेपोको जानकर उनमेसे शुद्धनयके विषयरूप जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है और यही सम्यग्दर्शन है॥ ६॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जाननेके अमुख्य (अप्रधान) उपाय—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः॥ ७॥

अर्थ—[निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति विधानतः] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक तत्त्वोका अधिगम होता है।

टीका

१—**निर्देश**—वस्तु स्वरूपके कथनको निर्देश कहते है।

२—**स्वामित्व**—वस्तुके अधिकारीपनको स्वामित्व कहते है।

३—**साधन**—वस्तु की उत्पत्तिके कारणको साधन कहते है।

४–**अधिकरण**–वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं।

५–**स्थिति**–वस्तुके कालकी मर्यादाको स्थिति कहते है।

६–**विधान**–वस्तुके भेदोको विधान कहते है।

उपरोक्त ६ प्रकारसे सम्यग्दर्शनका वर्णन निम्नप्रकार किया जाता है–

१–**निर्देश**–जीवादि सात तत्त्वो की यथार्थ श्रद्धापूर्वक निज शुद्धात्मा का प्रतिभास–विश्वास–प्रतीतिको निर्देश कहते हैं।

२–**स्वामित्व**–चारो गतिके सञी पचेन्द्रिय भव्य जीव स्वामी होते हैं।

३–**साधन**–साधनके दो भेद हैं अतरग और वाह्य। अन्तरग साधन (अन्तरङ्ग कारण) तो स्व शुद्धात्माके त्रिकाली ज्ञायकभाव (पारिणामिक भाव) का आश्रय है और वाह्य कारण भिन्न २ प्रकारके होते हैं। तिर्यंच और मनुष्य गतिमे (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण (३) जिनविम्व दर्शन ये निमित्त होते है, देवगतिमे वारहवे स्वर्गसे पहले (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण (३) जिन कल्याणकदर्शन और (४) देवऋद्धिदर्शन कारण होता है। और वारहवे स्वर्गसे १६ वे स्वर्ग पर्यंत (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण और (३) जिन कल्याणक दर्शन कारण है। नवग्रैवेयक मे (१) जातिस्मरण और (२) धर्म श्रवण होता है। नरकगतिमे तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्म श्रवण और दुखानुभव निमित्त होता है एव चौथे से सातवे नरक तक जातिस्मरण और दुखानुभव निमित्त होता है।

नोट —उपरोक्त धर्म श्रवण सम्यग्ज्ञानियोसे प्राप्त होना चाहिये।

शंका—सभी नारकी जीव विभगज्ञानके द्वारा एक, दो या तीन आदि भव जानते हैं, उसमे सभी को जातिस्मरण होता है इसलिए क्या सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जायेगे?

समाधान—सामान्यतया भवस्मरण द्वारा सम्यक्त्वकी प्राप्ति नही होती किन्तु पूर्वभवमे धर्म बुद्धिसे किये हुए अनुष्ठान विपरीत (विफल) थे ऐसी प्रतीति प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होती है इसी वातको ध्यानमे रखकर भवस्मरणको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कहा है। नारकी जीवो

के पूर्व भवका स्मरण होने पर भी बहुतोके उपरोक्त उपयोगका अभाव होता है। ऊपर कहे गए प्रकारका जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति का कारण होता है।

शंका—नरकमे ऋषियो (साधुओ) का गमन नही होना फिर वहाँ नारकी जीवोके धर्म श्रवण किस तरह सभव हो सकना है ?

समाधान—अपने पूर्व भवके सम्बन्धियो के धर्म उत्पन्न करानेमे प्रवृत्त और सभी बाधाओसे रहित सम्यग्दृष्टि देवोका वहाँ (तीसरे नरक पर्यन्त) गमन होता है।

शंका—यदि वेदनाका अनुभव सम्यक्त्वकी उत्पत्ति का कारण है तो सभी नारकियोको सम्यक्त्व हो जाना चाहिए क्योकि सभी नारकियोके वेदना का अनुभव है।

समाधान—वेदना सामान्य सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नही है किन्तु जिन जीवोके ऐसा उपयोग होता है कि मिथ्यात्वके कारण इस वेदना की उत्पत्ति हुई है, उन जीवोके वेदना–सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है, दूसरे जीवोके वेदना-सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नही होता।

[श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४२२–४२३]

शंका—जिन बिंब दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति का कारण कैसे होता है ?

समाधान—जिनबिम्ब दर्शनसे (जो जीव अपने सस्कार को शुद्ध आत्मोन्मुख करे उनके) निधत्त और निकाचितरूप मिथ्यात्त्वादि कर्म समूहका भी क्षय देखा जाता है और इसी कारण जिन बिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति का कारण होता है।

(श्री धवला, पुस्तक ६ पृष्ठ ४२७–४२८)

प्रश्न—शास्त्रमे जिनबिम्ब दर्शनसे (जिन प्रतिमाके दर्शनसे) सम्यग्दर्शन होना बताया है। अत दर्शन करने वाले सभीको यह फल होना चाहिये किन्तु सभीको वह फल क्यो नही होता ?

उत्तर—जिसने सर्वज्ञकी सत्ताका निर्णय किया है उसके जिन प्रतिमाके दर्शनसे सम्यग्दर्शन रूप फल होता है दूसरेको नही। उन सभीको नियमसे अपने आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि नही होती, जो जीव अपने सत्य पुरुषार्थसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसीको जिनविम्वदर्शन निमित्त कहा जाता है। जिन्होने सर्वज्ञका तो निश्चय किया नही किन्तु मात्र कुल पद्धतिसे, सप्रदायके आश्रयसे या मिथ्या धर्म–बुद्धिसे दर्शन पूजनादि रूप प्रवृत्ति करते हैं। और कितनेक जो मतपक्षके हठग्राहीपनेसे अन्यदेवको नही मानते, मात्र जिनदेवादिके सेवक बने हुये हैं उनके भी नियमसे अपने आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि नही होती।

प्रश्न—यदि सर्वज्ञकी सत्ताका निश्चय हमसे नही हुवा तो क्या हुआ? ये देव तो सच्चे देव हैं, उनकी पूजनादि करना व्यर्थ थोडे ही होती है?

उत्तर—यदि किंचित् मद कषाय रूप परिणति होगी तो पुण्य बध होगा परन्तु जिनमतमे तो देव दर्शनसे सम्यग्दर्शनरूप फल होना बतलाया है सो तो नियमसे सर्वज्ञकी सत्ताके जाननेसे ही होगा दूसरी तरहसे नही। इसलिए जिन्हे सच्चा जैनी होना है उन्हे तो सत्देव, सद्गुरु और सत्शास्त्रके आश्रय से सर्वज्ञको सत्ताका तत्त्व निर्णय करता योग्य है, किन्तु जो तत्त्व निर्णय तो नही करते और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, सयम सतोष आदि सभी कार्य करते हैं उनके ये सभी कार्य झूठे हैं। इसलिए सत् आगमका सेवन, युक्तिका अवलबन, परम्परा सद्गुरुओका उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्व निर्णय करना योग्य है।

प्रश्न—यह कहा है कि मिथ्यादृष्टि देव चार कारणोसे प्रथम औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं उनमे एक 'जिनमहिमा' कारण बतलाया है किन्तु जिनविम्वदर्शन नही बतलाया, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिनविम्व दर्शनका जिनमहिमा दर्शनमे समावेश होजाता है क्योंकि जिनविम्बके विना जिनमहिमाकी सिद्धि नही होती।

प्रश्न—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षा कल्याणकरूप जिनमहिमा जिनबिंबके बिना की जाती है इसलिये क्या जिन महिमादर्शनमे जिनबिंब दर्शनका अविनाभावित्व नही आया ?

उत्तर—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षाकल्याणरूप जिन महिमा मे भी भावी जिनबिंबका दर्शन होता है। दूसरी बात यह है कि इस महिमामे उत्पन्न होने वाले प्रथम सम्यक्त्व जिनबिंब दर्शन नैमित्तिक नही है, किन्तु जिनगुण श्रवण नैमित्तिक है। अर्थात् प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न होने मे जिनगुण श्रवण निमित्त है।

प्रश्न—जातिस्मरणका देवऋद्धि दर्शनमे समावेश क्यो नही होता ?

उत्तर—अपनी अणिमादिक ऋद्धियोको देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि जिन भगवानके द्वारा प्ररूपित धर्मानुष्ठानसे ये ऋद्धियाँ उत्पन्न हुई है तब प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जातिस्मरण निमित्त होता है, किंतु जिस समय सौधर्मादिक देवोकी महा ऋद्धियोको देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि सम्यग्दर्शन सहित सयमके फलसे—शुभभावसे वह उत्पन्न हुई है और मै सम्यक्त्व रहित द्रव्य सयमके फलमे वाहनादिक नीच देवो मे उत्पन्न हुआ हूँ, उस समय प्रथम सम्यक्त्वका ग्रहण देवर्द्धिदर्शन-निमित्तक होता है। इसतरह जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन इन दोनो कारणो मे अतर है।

नोटः—नारकियोंमें जातिस्मरण और वेदनारूप कारणोंमें भी यही नियम लगा लेना चाहिये।

प्रश्नः—आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके मिथ्या-दृष्टि देवोके प्रथमोपशम सम्यक्त्वमे देवर्द्धिदर्शन कारण क्यो नही बतलाया ?

उत्तरः—इन चार स्वर्गोंमे महा ऋद्धिवाले ऊपरके देवोका आगमन नही होता इसीलिये वहाँ प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण महाऋद्धिदर्शन कारण नही बतलाया, इन्ही स्वर्गोंमे स्थित देवोकी महाऋद्धिका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नही होता, क्योकि बारबार इन ऋद्धियोके देखनेसे विस्मय नही होता। पुनश्च इन स्वर्गोंमे शुक्ललेश्याके सद्भावके कारण महाऋद्धिके दर्शनसे कोई सक्लेशभाव उत्पन्न नही होता।

नवग्रैवेयकोमे ऊपरके देवोका आगमन नही होता इसीलिये वहाँ महाऋद्धिदर्शन कारण नही है। तथा ये विमानवासी देव अष्टाह्निक पर्व महोत्सव देखनेके लिये नदीश्वरादि द्वीपोमे नही जाते इसलिये वहाँ जिन-महिमा दर्शन भी कारण नही है। वे अवधिज्ञानके बलसे जिनमहिमाको देखते हैं तो भी इन देवोके रागकी न्यूनता अर्थात् मद राग होनेमे जिनमहिमा दर्शनसे उनको विस्मय उत्पन्न नही होता।

(श्री धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ४३२ से ४३६)

(४) **अधिकरण**—सम्यग्दर्शनका अतरग आधार आत्मा है और बाह्य आधार त्रसनाली है (लोकाकाशके मध्यमे चौदह राजू लम्बे और एक राजू चौडे स्थानको त्रसनाली कहते है।)

(५) **स्थिति**—तीनो प्रकारके सम्यग्दर्शनकी जघन्य से जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त को है, औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति भी अतर्मुहूर्त की है क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरकी और क्षायिक सम्यग्दर्शनकी सादि अनन्त है, तथा ससारमे रहनेकी अपेक्षा से उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अतर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कोडी पूर्व है।

(६) **विधान**—सम्यग्दर्शन एक तरह अथवा स्वपर्यायकी योग्यतानुसार तीन प्रकार है—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। तथा आज्ञा, मार्ग, बीज, उपदेश, सूत्र, सक्षेप, विस्तार, अर्थ अवगाढ और परमावगाढ इस तरह १० भेदरूप है ॥ ७ ॥

और भी अन्य अमुख्य उपाय

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थ—[च] और [सत् सख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भावाल्प बहुत्वै] सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोके द्वारा भी पदार्थका ज्ञान होता है।

टीका

सत् और संख्या—यह द्रव्य गुण पर्यायके सत्त्वकी अपेक्षासे उपभेद है सत् सामान्य और संख्या विशेष है।

क्षेत्र और स्पर्शन—यह क्षेत्रका उपभेद है। क्षेत्र सामान्य और स्पर्शन विशेष है।

काल और अन्तर—यह कालका उपभेद है, काल सामान्य और अंतर विशेष है।

भाव और अल्पबहुत्व—यह भावका उपभेद है, भाव सामान्य है और अल्पबहुत्व विशेष है।

सत्—वस्तुके अस्तित्वको सत् कहते है।

संख्या—वस्तुके परिमाणोकी गणनाको संख्या कहते है।

क्षेत्र—वस्तुके वर्तमानकालीन निवासको क्षेत्र कहते है।

स्पर्शन—वस्तुके त्रिकालवर्ती निवासको स्पर्शन कहते है।

काल—वस्तुके स्थिर रहनेकी मर्यादाको काल कहते है।

अंतर—वस्तुके विरहकालको अंतर कहते हैं।

भाव—गुणको अथवा औपशमिक, क्षायिक आदि पाँच भावोको भाव कहते है।

अल्पबहुत्व—अन्य पदार्थकी अपेक्षा से वस्तुकी हीनता-अधिकता के वर्णनको अल्पबहुत्व कहते है।

अनुयोग—भगवान् प्रणीत उपदेश विषयके अनुसार भिन्न २ अधिकारमे कहा गया है, उस प्रत्येक अधिकारका नाम अनुयोग है। सम्यक् ज्ञान का उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त हुए अधिकारको अनुयोग कहते हैं।

सत् और निर्देशमें अन्तर

यदि 'सत्' शब्द सामान्यत सम्यग्दर्शनादिकके अस्तित्वको बतलानेवाला हो तो निर्देश मे उसका समावेश हो जायगा, किन्तु गति, इन्द्रिय, काय,

योग आदि चौदह मार्गणाओमे किसजगह किस तरहका सम्यग्दर्शन होता है और किस तरहका नही ऐसा विशेष ज्ञान सत्से होना है, निर्देशसे ऐसा ज्ञान नही होता, यही सत् और निर्देशमे अन्तर है।

इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग किसलिये किया है ?

अनधिकृत पदार्थोंका भी ज्ञान करा सकने की सत् शब्दकी सामर्थ्य है। यदि इस सूत्रमे सत् शब्दका प्रयोग न किया होता तो आगामी सूत्रमे सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि सात तत्त्वोके ही अस्तित्वका ज्ञान निर्देश शब्दके द्वारा होता और जीवके क्रोध मान आदि पर्याय तथा पुद्गलके वर्ण गध आदि तथा घट पट आदि पर्याय (जिनका यह अधिकार नही है) के अस्तित्वके अभावका ज्ञान होता इसलिये इस समय अनधिकृत पदार्थ जीव मे क्रोधादि तथा पुद्गलमे वर्णादिका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमे सत् शब्दका प्रयोग किया है।

संख्या और विधानमें अंतर

प्रकारकी गणनाको विधान कहते है और उस भेदकी गणनाको सख्या कहते है। जैसे सम्यग्दृष्टि तीन तरहके है (१) औपशमिक सम्यग्दृष्टि (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। 'सख्या' शब्दसे भेद गणनाका ज्ञान होता है कि उक्त तीन प्रकारके सम्यग्दृष्टियोमे औपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि कितने है, भेदोके गणनाकी विशेषताको बतलानेका जो कारण है उसे सख्या कहते हैं।

'विधान' शब्दमे मूलपदार्थके ही भेद ग्रहण किये है, इसीलिये भेदोके अनेक तरहके भेदोको ग्रहण करनेके लिये सख्या शब्दका प्रयोग किया है।

'विधान' शब्दके कहनेसे भेद प्रभेद आजाते हैं ऐसा माना जाय तो विशेष स्पष्टताके लिये सख्या शब्दका प्रयोग किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

क्षेत्र और अधिकरणमें अंतर

अधिकरण शब्द थोडे स्थानको बतलाता है इसीसे वह व्याप्य है और क्षेत्र शब्द व्यापक है, वह अधिक स्थानको बतलाता है। 'अधिकरण' शब्दके कहनेसे सपूर्ण पदार्थोका ज्ञान नही होता, क्षेत्रके कहनेसे सपूर्ण पदार्थो का ज्ञान होता है, इसलिये समस्त पदार्थोके ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमे क्षेत्र शब्दका प्रयोग किया है।

क्षेत्र और स्पर्शनमें अंतर

'क्षेत्र' शब्द अधिकरणसे विशेषता बतलाता है तो भी उसका विपय एक देशका है और 'स्पर्शन' शब्द सर्वदेश का विषय करता है। जैसे किसीने पूछा कि 'राजा कहाँ रहता है' उत्तर दिया कि 'फलाने नगरमे रहता है' यहाँ यद्यपि राजा सपूर्ण नगरमे नही रहता किंतु नगरके एकदेशमे रहता है इसलिये नगरके एक देशमे राजाका निवास होने से 'नगर' क्षेत्र है। किसीने पूछा कि 'तेल कहाँ है ?' उत्तर दिया कि 'तिलमे तेल रहता है' यहाँ सपूर्ण स्थानमे तेल रहनेके कारण तिल तैलका स्पर्शन है, इसतरह क्षेत्र और स्पर्शन मे अतर है।

क्षेत्र वर्तमान कालका विषय है और स्पर्शन त्रिकालगोचर विषय है। वर्तमानकी दृष्टिसे घडेमें जल है किंतु वह त्रिकाल नही है। तीनो काल मे जिस जगह पदार्थकी सत्ता रहती है उसे स्पर्शन कहते है। यह दूसरी तरह से क्षेत्र और स्पर्शनके बीच अतर है।

काल और स्थितिमें अंतर

'स्थिति' शब्द कुछ पदार्थोंके कालकी मर्यादा बतलाता है, यह शब्द व्याप्य है। 'काल' शब्द व्यापक है और यह समस्त पदार्थोकी मर्यादाको बतलाता है। 'स्थिति' शब्द कुछ ही पदार्थोंका ज्ञान कराता है और 'काल' शब्द समस्त पदार्थोंका ज्ञान कराता है। कालके दो भेद है (१) निश्चय-काल (२) व्यवहारकाल। मुख्य कालको निश्चयकाल कहते है और पर्याय विशिष्ट पदार्थोंकी मर्यादा बतलानेवाला अर्थात् घटा घडी पल आदि व्यव-

हारकाल है। कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं अर्थात् 'स्थिति' शब्द इस बातको बतलाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक स्थानपर इतने समय रहता है, इतना काल और स्थितिमे अंतर है।

'भाव' शब्दका निक्षेपके सूत्रमें उल्लेख होने पर भी यहाँ किसलिये कहा है?

निक्षेपके सूत्र ५ वें मे भावका अर्थ यह है कि वर्तमानमे जो अवस्था मौजूद हो उसे भाव निक्षेप समझना और भविष्यमे होनेवाली अवस्थाको वर्तमानमे कहना सो द्रव्य निक्षेप है। यहाँ ८ वे सूत्र मे 'भाव' शब्दसे औपशमिक क्षायिक आदि भावोका ग्रहण किया है जैसे औपशमिक भी सम्यग्दर्शन है और क्षायिक आदि भी सम्यग्दर्शन कहे जाते हैं। इसप्रकार दोनो जगह (५ वे और ८ वे सूत्रमे) भाव शब्दका पृथक् प्रयोजन है।

विस्तृत वर्णनका प्रयोजन

कितने ही शिष्य अल्प कथनसे विशेष तात्पर्यको समझ लेते हैं और कितने ही शिष्य ऐसे होते हैं कि विस्तारपूर्वक कथन करने पर समझ सकते हैं। परम कल्याणमय आचार्यका सभीको तत्त्वोका स्वरूप समझानेका उद्देश्य है। प्रमाण नयसे ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है तथापि विस्तृत् कथनसे समझ सकने वाले जीवोको निर्देश आदि तथा सत् सख्यादिकका ज्ञान करानेके लिये पृथक् २ सूत्र कहे हैं। ऐसी शका ठीक नही है कि एक सूत्रमे दूसरेका समावेश हो जाता है इसलिये विस्तारपूर्वक कथन व्यर्थ है।

ज्ञान संबंधी विशेष स्पष्टिकरण

प्रश्नः—इस सूत्रमे ज्ञानके सत्–सख्यादि आठ भेद ही क्यो कहे गये हैं, कम या अधिक क्यो नही कहे गये ?

उत्तर—निम्नलिखित आठ प्रकारका निषेध करनेके लिये वे आठ भेद कहे गये हैं—

१—नास्तिक कहता है कि 'कोई वस्तु है ही नही'। इसलिये 'सत्' को सिद्ध करनेसे उस नास्तिककी तर्क खडित करदी गई है।

२– कोई कहता है कि 'वस्तु' एक ही है, उसमे किसी प्रकारके भेद नही है। 'सख्या' को सिद्ध करनेसे यह तर्क खडित करदी गई है।

३–कोई कहता है कि–'वस्तुके प्रदेश (आकार) नही है'। 'क्षेत्र' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खडित करदी गई है।

४–कोई कहता है कि 'वस्तु क्रिया रहित है'। स्पर्शन, के सिद्ध करने से यह तर्क खडित करदी गई है। [नोट –एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना सो क्रिया है]

५–'वस्तुका प्रलय (सर्वथा नाश) होता है' ऐसा कोई मानता है। 'काल' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खन्डित करदी गई है।

६–कोई यह मानता है कि 'वस्तु क्षणिक है'। 'अतर' के सिद्ध करने से यह तर्क खन्डित करदी गई है।

७–कोई यह मानता है कि 'वस्तु कूटस्थ है'। 'भाव' के सिद्ध करने से यह तर्क खन्डित करदी गई है। [जिसकी स्थिति न बदले उसे कूटस्थ कहते है।]

८–कोई यह मानता है कि 'वस्तु सर्वथा एक ही है अथवा वस्तु सर्वथा अनेक ही है'। 'अल्पबहुत्व'–के सिद्ध करनेसे यह तर्क खन्डित करदी गई है। [देखो प्रश्नोत्तर सर्वार्थसिद्धि पृ० २७७–२७८]

सूत्र ४ से ८ तकका तात्पर्यरूप सिद्धान्त

जिज्ञासु जीवोको जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वोका जानना, छोडने योग्य मिथ्यात्व-रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक के स्वरूप की पहिचान करना, प्रमाण और नयोके द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करना तथा निर्देश स्वामित्वादि और सत् सख्यादिके द्वारा उनका विशेष जानना चाहिये।

अब सम्यग्ज्ञानके भेद कहते हैं:—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच [ज्ञानम्] ज्ञान हैं ।

टीका

(१) **मतिज्ञान**—पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा (अपनी शक्तिके अनुसार) जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं ।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञानके द्वारा जाने हुये पदार्थको विशेषरूपसे जानना सो श्रुतज्ञान है ।

अवधिज्ञान—जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय या मनके निमित्तके विना रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं ।

मनःपर्ययज्ञान—जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके विना ही दूसरे पुरुषके मनमे स्थित रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे मन पर्ययज्ञान कहते हैं ।

केवलज्ञान—समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायो को एक साथ प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

(२) इस सूत्रमे 'ज्ञानम्' शब्द एक वचनका है वह यह बतलाता है कि ज्ञानगुण एक है और उसकी पर्यायके ये ५ भेद हैं । इनमे जब एक प्रकार उपयोगरूप होता है तब दूसरा प्रकार उपयोगरूप नही होता, इसीलिये इन पाँच मे से एक समय मे एक ही ज्ञानका प्रकार उपयोगरूप होता है ।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है, सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है । सम्यग्ज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी शुद्ध पर्याय है, यह आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नही है । सम्यग्ज्ञान का स्वरूप निम्न प्रकार है —

"सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थ व्यवसायात्मकं विदुः"

(तत्वार्थसार पूर्वार्ध गाथा १८ पृष्ठ १४)

अर्थ—जिस ज्ञानमे स्व=अपना स्वरूप, अर्थ=विषय, व्यवसाय= यथार्थ निश्चय, ये तीन बाते पूरी हो उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञानमे विषय प्रतिबोधके साथ साथ स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते है।

नवमें सूत्रका सिद्धान्त

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित ज्ञानके समस्त भेदो को जानकर परभावो को छोडकर और निजस्वरूपमे स्थिर होकर जीव जो चैतन्य चमत्कार मात्र है उसमे प्रवेश करता है वह तत्क्षण ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

(श्री नियमसार गाथा १० की टीका का श्लोक) ॥ ९ ॥

कौनसे ज्ञान प्रमाण हैं ?

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ—[तत्] उपरोक्त पाचो प्रकारके ज्ञान ही प्रमाण (सच्चे ज्ञान) है।

टीका

नवमे सूत्रमे कहे हुये पाँचो ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नही है। प्रमाण के दो भेद है प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह ध्यान रहे कि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियो और पदार्थों के सम्बन्ध (सन्निकर्ष) ये कोई प्रमाण नही है अर्थात् न तो इन्द्रियोसे ज्ञान होता है और न इन्द्रियो और पदार्थोंके सम्बन्धसे ज्ञान होता है किन्तु उपरोक्त मति आदि ज्ञान स्व से होते है इसलिए ज्ञान प्रमाण है।

प्रश्न—इन्द्रियाँ प्रमाण है क्योकि उनके द्वारा ज्ञान होता है ?

उत्तर—इन्द्रियाँ प्रमाण नही हैं क्योकि इन्द्रियाँ जड हैं और ज्ञान तो चेतनका पर्याय है, वह जड नही है इसलिये आत्माके द्वारा ही ज्ञान होता है।

—श्री जयधवला पुस्तक भाग १ पृष्ठ ५४–५५

प्रश्न—क्या यह ठीक है न कि प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थ हो तो उससे ज्ञान होता है ?

उत्तर—यह ठीक नही है, यदि प्रस्तुत पदार्थ (ज्ञेय) और आत्मा इन दोनोके मिलनेसे ज्ञान होता तो ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनो को ज्ञान होना चाहिये किन्तु ऐसा नही होता।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३३२)

यदि उपादान और निमित्त ये दो होकर एक कार्य करे तो उपादान और निमित्त की स्वतंत्र सत्ता न रहे, उपादान निमित्त का कुछ नही करते और न निमित्त उपादान का कुछ करता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र रूपसे अपने अपने कारणसे अपने लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा नियम होनेसे अपनी योग्यतानुसार निमित्त-उपादान दोनोका कार्य स्वतत्र, पृथक् पृथक् होते है। यदि उपादान और निमित्त ये दोनो मिलकर काम करे तो दोनो उपादान हो जाय अर्थात् दोनो की एक सता हो जाय किन्तु ऐसा नही होता।

इस सम्वन्ध मे ऐसा नियम है कि अपूर्ण ज्ञानका विकास जिस समय अपना व्यापार करता है उस समय उसके योग्य वाह्य पदार्थ अर्थात् इद्रिया प्रकाश, ज्ञेय पदार्थ, गुरु, शास्त्र इत्यादि (पर द्रव्य) स्व स्व कारणसे ही उपस्थित होते हैं, ज्ञानको उनकी प्रतीक्षा नही करनी पड़ती। निमित्त नैमित्तिक का तथा उपादान निमित्तका ऐसा मेल होता है।

प्रश्न—आप सम्यग्ज्ञानका फल अधिगम कहते हो किन्तु वह (अधिगम तो ज्ञान ही है इसलिए ऐसा मालुम होता है कि सम्यग्ज्ञानका कुछ फल नही होता।

उत्तर—सम्यग्ज्ञानका फल आनन्द (सतोष) उपेक्षा (राग द्वेष रहितता) और अज्ञान का नाश है। (सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ ३३४)

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान स्व से ही होता है परापदार्थसे नही होता।

सूत्र ९-१० का सिद्धांत

नौवे सूत्रमे कथित पाँच सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, उनके अतिरिक्त दूसरे लोग भिन्न भिन्न प्रमाण कहते हैं, किंतु वह ठीक नही है। जिस जीव को सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह अपने सम्यक्मति और सम्यक् श्रुतज्ञानके द्वारा अपनेको सम्यक्त्व होनेका निर्णयकर सकता है, और वह ज्ञान प्रमाण अर्थात् सच्चा ज्ञान है ॥ १० ॥

परोक्ष प्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ-[**आद्ये**] प्रारंभ के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [**परोक्षम्**] परोक्ष प्रमाण है।

टीका

यहाँ प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञानके भेदोमे से प्रारभके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है। यह ज्ञान परोक्ष प्रमाण है इसलिये उन्हे संशयवान या भूलयुक्त नही मान लेना चाहिये, क्योकि वे सर्वथा सच्चे ही है। उनके उपयोगके समय इन्द्रिय या मन निमित्त होते है, इसलिये परापेक्षाके कारण उन्हे परोक्ष कहा है, स्व-अपेक्षासे पाँचो प्रकारके ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

प्रश्न-तव क्या सम्यक्मतिज्ञानवाला जीव यह जान सकता है कि मुझे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर-ज्ञान सम्यक् है इसलिए अपनेको सम्यग्ज्ञान होनेका निर्णय भली भाँति कर सकता है, और जहाँ सम्यग्ज्ञान होता है वहाँ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिये उसका भी निर्णय कर ही लेता है। यदि निर्णय नही कर पाये तो वह अपना अनिर्णय अर्थात् अनध्यवसाय कहलायगा, और ऐसा होने पर उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलायगा।

प्रश्न—सम्यक्मतिज्ञानी दर्शनमोहनीय प्रकृतिके पुद्गलोको प्रत्यक्ष नही देख सकता, और उसके पुद्गल उदयरूप हो तथा जीव उसमे युक्त होता हो तो क्या उसकी भूल नही होगी ?

उत्तर—यदि भूल होती है तो वह ज्ञान विपरीत होगा, और इसलिए वह ज्ञान 'सम्यक्' नही कहला सकता। जैसे शरीरके विगडनेपर यह असाता-वेदनीयका उदय है, सातावेदनीयका उदय नही है—ऐसा कर्म के रजकणोको प्रत्यक्ष देखे विना श्रुतज्ञानके वलसे यथार्थ जान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने ज्ञान-अनुभवसे श्रुतज्ञानके बलसे यह सम्यक् (यथार्थ) जाना जा सकता है कि दर्शनमोहनीय कर्म उदयरूप नही है।

प्रश्न—क्या सम्यक्मतिज्ञान यह जान सकता है कि अमुक जीव भव्य है या अभव्य ?

उत्तर—इस सवधमे श्री धवला शास्त्रमे (पुस्तक ६ पृष्ठ १७ मे) लिखा है कि—अवग्रहसे ग्रहण किये गये अर्थ को विशेष जानने की आकाक्षा 'ईहा' है। जैसे—किसी पुरुषको देखकर 'यह भव्य है या अभव्य ?' इस प्रकार की विशेष परीक्षा करना सो 'ईहाज्ञान' है। ईहाज्ञान सदेहरूप नही होता, क्योकि ईहात्मक विचार बुद्धिसे सदेहका विनाश हो जाता है। सदेह से ऊपर और अवायसे नीचे तथा मध्यमें प्रवृत्त होनेवाली विचारबुद्धिका नाम ईहा है।

× × × ×

ईहाज्ञानसे जाने गये पदार्थ विषयक सदेहका दूर हो जाना सो 'अवाय' (निर्णय) है। पहले ईहा ज्ञानसे 'यह भव्य है या अभव्य ?' इसप्रकार सदेह रूप बुद्धिके द्वारा विषय किया गया जीव 'अभव्य नही भव्य ही है' क्योकि उसमे भव्यत्वके अविनाभावी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण प्रगट हुये है' इस प्रकार उत्पन्न हुये 'चयं' (निश्चय) ज्ञानका नाम 'अवाय' है।

इससे सिद्ध होता है कि सम्यक्मतिज्ञान यह यथार्थतया निश्चय कर सकता है कि अपने को तथा परको सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने उपयोगमे युक्त होता है तब वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते है। यह दशा चौथे गुणस्थान की होती है। मतिश्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय विशेष दशावाला होता है, फिर भी श्रेणिसमान तो नही किन्तु अपनी भूमिकाके योग्य निर्विकल्प होता है, इसलिए मति-श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष माना गया है। मति-श्रुत ज्ञानके विना केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही होती उसका यही कारण है। (अवधिमन पर्ययज्ञान के विना केवलज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है)

[पचाध्यायी भाग १ श्लोक ७०८ से ७१९ तक इस सूत्रकी चर्चा की गई है। देखो प० देवकीनदनजीकृत टीका पृष्ठ ३६३ से ३६८]

यहाँ मति-श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है तत्सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञानको 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा गया है। लोग कहते है कि 'मैने घडेके रूपको प्रत्यक्ष देखा है' इसलिये वह ज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

श्रुतज्ञानके तीन प्रकार हो जाते है—(१) सपूर्ण परोक्ष, (२) आशिक परोक्ष, (३) परोक्ष बिलकुल नही किन्तु प्रत्यक्ष।

(१) शब्दरूप जो श्रुतज्ञान है सो परोक्ष ही है। तथा दूरभूत स्वर्ग-नरकादि बाह्य विषयोका ज्ञान करानेवाला विकल्परूप ज्ञान भी परोक्ष ही है।

(२) आभ्यतरमे सुख-दुःखके विकल्परूप जो ज्ञान होता है वह, अथवा 'मै अनन्त ज्ञानादिरूप हूँ' ऐसा ज्ञान ईषत् (किंचित्) परोक्ष है।

(३) निश्चयभाव श्रुतज्ञान शुद्धात्माके सम्मुख होने से सुख सवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है। यद्यपि वह ज्ञान निजको जानता है तथापि इन्द्रियो तथा मनसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पोके समूहसे रहित होनेसे निर्विकल्प है। (अभेदनयसे) उसे 'आत्मज्ञान' शब्दसे पहचाना जाता है। यद्यपि वह केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि छद्मस्थोके क्षायिक ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे, क्षायोपशमिक होनेपर भी उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

प्रश्न—इस सूत्रमे मति और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है तथापि आपने उसे ऊपर 'प्रत्यक्ष' कैसे कहा है।

उत्तर—इस सूत्रमे जो श्रुतको परोक्ष कहा है सो वह सामान्य कथन है, और ऊपर जो भावश्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है सो विशेष कथन है। प्रत्यक्ष का कथन विशेष की अपेक्षासे है, ऐसा समझना चाहिये।

यदि इस सूत्रमे उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञानको परोक्ष नही कहा जाता। यदि मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्क शास्त्रमे उसे साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष क्यो कहते ? इसलिए जैसे विशेष कथनमे उस मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है उसीप्रकार निजात्मसन्मुख भावश्रुतज्ञानको (यद्यपि वह केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि) विशेष कथनमे प्रत्यक्ष कहा है।

यदि मति और श्रुत दोनो मात्र परोक्ष ही होते तो सुख-दुखादिका जो सवेदन (ज्ञान) होता है वह भी परोक्ष ही होता, किन्तु वह सवेदन प्रत्यक्ष है यह सभी जानते है। [देखो वृहत् द्रव्यसगह गाथा ५ की नीचे हिन्दी टीका पृष्ठ १३ से १५, इगलिश पृष्ठ १७-१८] उत्सर्ग=सामान्य,- General Ordinance-सामान्य नियम, अपवाद=विशेष Exception -विशेष नियम।

नोट—ऐसा उत्सर्ग कथन ध्याता के सम्बन्धमें अध्याय ९ सूत्र २७-४७ में कहा है, वहाँ अपवाद का कथन नही किया है। [देखो—वृहत् द्रव्य सग्रह गाथा ५७, नीचे हिन्दी टीका, पृष्ठ—२११] इस प्रकार जहाँ उत्सर्ग कथन हो वहाँ अपवाद कथन गर्भित है,-ऐसा समझना चाहिये।

प्रत्यक्षप्रमाणके भेद

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थ—[अन्यत्] शेष तीन अर्थात् अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष प्रमाण है।

टीका

अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान विकल–प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। [प्रत्यक्ष=प्रति×अक्ष] 'अक्ष' का अर्थ आत्मा है। आत्माके प्रति जिसका नियम हो अर्थात्‌जो परनिमित्त–इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदिसे रहित आत्माके आश्रयसे उत्पन्न हो, जिसमे दूसरा कोई निमित्त न हो, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है ॥ १२ ॥

मतिज्ञानके दूसरे नाम

मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोधइत्यनर्थांतरम्‌ ॥ १३ ॥

अर्थ—[**मतिः**] मति, [**स्मृतिः**] स्मृति, [**संज्ञा**] सज्ञा, [**चिंता**] चिंता [**अभिनिबोध**] अभिनिबोध, [**इति**] इत्यादि, [**अनर्थांतरम्‌**] अन्य पदार्थ नही हैं, अर्थात्‌ वे मतिज्ञान के नामातर है।

टीका

मति—मन अथवा इन्द्रियोसे, वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादि रूप साक्षात्‌ जानना सो मति है।

स्मृति—पहले जाने हुये, सुने हुये या अनुभव किये हुये पदार्थ का वर्तमानमे स्मरण आना सो स्मृति है।

संज्ञा—का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमानमे किसी पदार्थ को देखने पर 'यह वही पदार्थ है जो पहले देखा था' इसप्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोडरूप ज्ञानको सज्ञा कहते हैं।

चिंता—चितवनज्ञान अर्थात्‌ किसी चिह्नको देखकर 'यहाँ उस चिह्न वाला अवश्य होना चाहिए' इसप्रकारका विचार चिता है। इस ज्ञानको ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

अभिनिबोध—स्वार्थानुमान, अनुमान, उसके दूसरे नाम हैं। सन्मुख चिह्नादि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थका निर्णय करना सो 'अभिनिबोध' है।

यद्यपि इन सबमे अर्थभेद है तथापि प्रसिद्ध रूढिके बलसे वे मतिके नामान्तर कहलाते हैं। उन सबके प्रगट होनेमे मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है, यह लक्षमे रखकर उसे मतिज्ञानके नामातर कहते है।

यह सूत्र सिद्ध करता है कि–जिसने आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नही किया हो वह आत्माका स्मरण नही कर सकता, क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत पदार्थ की ही होती है, इसीलिये अज्ञानी को प्रभुस्मरण (आत्मस्मरण) नही होना, किंतु 'राग मेरा है' ऐसी पकडका स्मरण होता है, क्योंकि उसे उसका अनुभव है। इसप्रकार अज्ञानी जीव धर्मके नाम पर चाहे जो कार्य करे तथापि उसका ज्ञान मिथ्या होनेसे उसे धर्मका स्मरण नही होता, किंतु राग की पकडका स्मरण होता है।

स्वसंवेदन, बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा इत्यादि भी मतिज्ञानके भेद हैं।

स्वसंवेदन–सुखादि अंतरंग विषयोंका ज्ञान स्वसंवेदन है।

बुद्धि–बोधनमात्रता बुद्धि है। बुद्धि, प्रतिभा, प्रज्ञा आदि मतिज्ञानकी तारतम्यता (हीनाधिकता) सूचक ज्ञानके भेद हैं।

अनुमान दो प्रकारके हैं–एक मतिज्ञानका भेद है और दूसरा श्रुतज्ञानका। साधनके देखनेपर स्वयं साध्यका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है। दूसरे के हेतु और तर्कके वाक्य सुनकर जो अनुमान ज्ञान हो सो श्रुतानुमान है। चिह्नादिसे उसी पदार्थका अनुमान होना सो मतिज्ञान है और उसी (चिह्नादि) से दूसरे पदार्थका अनुमान होना सो श्रुतज्ञान है ॥ १३ ॥

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके समय निमित्त––

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ–[इन्द्रियानिन्द्रिय] इन्द्रियाँ और मन [तत्] उस मतिज्ञान के [निमित्तम्] निमित्त हैं।

टीका

इन्द्रिय–आत्मा, (इन्द्र=आत्मा) परम ऐश्वर्यरूप प्रवर्तनान है, इसप्रकार अनुमान करानेवाला शरीरका चिह्न।

नो इन्द्रिय–मन, जो सूक्ष्म पुद्गलस्कंध मनोवर्गणाके नामसे पहिचाने जाते है उनसे वने हुये शरीरका आतरिक अग, जो कि अष्टदल कमलके आकार हृदयस्थान मे है।

मतिज्ञानके होनेमे इन्द्रिय-मन निमित्त होता है, ऐसा जो इस सूत्रमे कहा है, सो वह परद्रव्योके होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षासे कहा है,–ऐसा समझना चाहिये। भीतर स्वलक्षमे मन-इन्द्रिय निमित्त नही है। जब जीव उस (मन और इन्द्रियके अवलम्वन) से अशत पृथक् होता है तब स्वतत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमे स्थिर हो सकता है।

इन्द्रियोका धर्म तो यह है कि वे स्पर्श, रस, गध, वर्णको जाननेमे निमित्त हो, आत्मामे वह नही है, इसलिये स्वलक्षमे इन्द्रियाँ निमित्त नही है। मनका धर्म यह है कि वह अनेक विकल्पोमे निमित्त हो। वह विकल्प भी यहाँ (स्वलक्षमे) नही है। जो ज्ञान इन्द्रियो तथा मनके द्वारा प्रवृत्त होता था वही ज्ञान निजानुभवमे वर्त रहा है, इसप्रकार इस मतिज्ञानमे मन-इन्द्रिय निमित्त नही है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। मनका विषय मूर्तिक–अमूर्तिक पदार्थ है, इसलिये मन सवधी परिणाम स्वरूपके विषयमे एकाग्र होकर अन्य चितवनका निरोध करता है, इसलिये उसे (उपचारसे) मनके द्वारा हुआ कहा जाता है। ऐसा अनुभव चतुर्थगुणस्थानसे ही होता है।

इस सूत्रमे वतलाया गया है कि मतिज्ञानमे इन्द्रिय–मन निमित्त है, यह नही कहा है कि–मतिज्ञानमे ज्ञेय अर्थ (वस्तु) और आलोक (प्रकाश) निमित्त हैं, क्योकि अर्थ और आलोक मतिज्ञानमे निमित्त नही हैं। उन्हे निमित्त मानना भूल है। यह विषय विशेष समझने योग्य है, इसलिये इसे प्रमेयरत्नमाला हिन्दी (पृष्ठ ५० से ५५) से यहाँ सक्षेपमे दे रहे है—

प्रश्न—सांव्यवहारिक मतिज्ञानका निमित्त कारण इन्द्रियादिको कहा है, उसीप्रकार (ज्ञेय) पदार्थ और प्रकाशको भी निमित्त कारण क्यो नही कहा ?

प्रश्नकारका तर्क यह है कि अर्थ (वस्तु) से भी ज्ञान उत्पन्न होता है- और प्रकाशसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है यदि उसे निमित्त न माना जाय तो सभी निमित्त कारण नही आ सकते इसलिये सूत्र अपूर्ण रह जाता है।

समाधान—आचार्यदेव कहते है कि—

"नार्थालोकौकारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्"

(द्वितीय समुद्देश)

अर्थ—अर्थ (वस्तु) और आलोक दोनो सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण नही हैं, किंतु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं। जैसे अंधकार ज्ञेय है वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं।

इसी न्यायको बतलानेके लिये तत्पश्चात् सातवा सूत्र दिया है जिस मे कहा गया है कि—ऐसा कोई नियम नही है कि जब अर्थ और आलोक हो तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हो तब ज्ञान उत्पन्न नही होता। इनके लिये निम्नलिखित दृष्टान्त दिये गये हैं—

(१) एक मनुष्यके सिर पर मच्छरोका समूह उड रहा था किंतु दूसरेने उसे बालोका गुच्छा समझा, इस प्रकार यहाँ अर्थ (वस्तु) ज्ञानका कारण नही हुआ।

(२) अंधकारमे बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी वस्तुओको देख सकते है, इसलिये ज्ञानके होनेमे प्रकाश कारण नही हुआ।

उपरोक्त दृष्टान्त (१) मे मच्छरोका समूह था फिर भी ज्ञान तो बालोके गुच्छेका हुआ, यदि अर्थ ज्ञानका कारण होता तो बालोके गुच्छेका ज्ञान क्यो हुआ, और मच्छरोके समूहका ज्ञान क्यो नही हुआ ? और दृष्टान्त (२) मे बिल्ली आदिको अंधकारमे ज्ञान हो गया, यदि प्रकाश ज्ञानका कारण होता तो बिल्लीको अंधकार मे ज्ञान कैसे हुआ ?

प्रश्न—तब यह मतिज्ञान किस कारणसे होता है ?

उत्तर—क्षायोपशमिक ज्ञानकी योग्यताके अनुसार ज्ञान होता है, ज्ञान होनेका यह कारण है। ज्ञानके उस क्षयोपशमके अनुसार यह ज्ञान होता है, वस्तुके अनुसार नही, इसलिये यह निश्चित समझना चाहिए कि बाह्य वस्तु ज्ञानके होनेमे निमित्त कारण नही है। आगे नवमे सूत्रमे इस न्यायको सिद्ध किया है।

जैसे दीपक घट इत्यादि पदार्थोसे उत्पन्न नही होता तथापि वह अर्थ का प्रकाशक है। [सूत्र ८]

जिस ज्ञानकी क्षयोपशम लक्षण योग्यता है वही विपयके प्रति नियम रूप ज्ञान होनेका कारण है, ऐसा समझना चाहिये [सूत्र ९]

जब आत्माके मतिज्ञान होता है तब इद्रियाँ और मन दोनो निमित्त मात्र होते है, वह मात्र इतना बतलाता है कि 'आत्मा', उपादान है। निमित्त अपनेमे (निमित्त मे) शत प्रतिशत कार्य करता है किन्तु वह उपादानमे अशमात्र कार्य नही करता। निमित्त परद्रव्य है, आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है, इसलिए आत्मामे (उपादानमे) उसका (निमित्तका) अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमे घुस नही सकता, इसलिए निमित्त उपादानका कुछ नही कर सकता। उपादान अपनेमे अपना कार्य स्वत शत प्रतिशत करता है। मतिज्ञान परोक्षज्ञान है यह ग्यारहवे सूत्रमे कहा है। वह परोक्षज्ञान है इसलिए उस ज्ञानके समय निमित्तकी स्वत अपने कारणसे उपस्थिति होती है। वह उपस्थित निमित्त कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यह सूत्र कहा है, किन्तु—'निमित्त आत्मामे कुछ भी कर सकता है' यह बताने के लिए यह सूत्र नही कहा है। यदि निमित्त आत्मामे कुछ करता होता तो वह (निमित्त) स्वय ही उपादान हो जाता।

और 'निमित्त भी उपादानके कार्य समय मात्र आरोपकारण है, यदि जीव चक्षुके द्वारा ज्ञान करे तो चक्षु पर निमित्तका आरोप होता है, और यदि जीव अन्य इन्द्रिय या मनके द्वारा ज्ञान करे तो उस पर निमित्तका आरोप होता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे (पर द्रव्यमे) अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ भी नही कर सकता। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमे कदापि प्रवेश नही है और न अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यकी पर्यायका उत्पादक ही है, क्योकि प्रत्येक वस्तु अपने अतरगमे अत्यन्त (सपूर्णतया) प्रकाशित है, परमे लेश मात्र भी नही है। इसलिए निमित्तभूत वस्तु उपादानभूतवस्तुका कुछ भी नही कर सकती। उपादानमे निमित्तकी द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे नास्ति है, और निमित्त मे उपादानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्ति है, इसलिए एक दूसरे का क्या कर सकते है ? यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ करने लगे तो वस्तु अपने वस्तुत्वको ही खो बैठे, किन्तु ऐसा हो ही नही सकता।

[निमित्त=संयोगरूपकारण; उपादान=वस्तु की सहज शक्ति]

दशवे सूत्रकी टीकामे निमित्त–उपादान सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया है वहाँ मे विशेष समझ लेना चाहिये।

उपादान–निमित्त कारण

प्रत्येक कार्यमे दो कारण होते हैं (१) उपादान, (२) निमित्त। इनमे से उपादान तो निश्चय (वास्तविक) कारण है और निमित्त व्यवहार–आरोप–कारण है, अर्थात् वह (जब उपादान कार्य कर रहा हो तब उसमे) अनुकूल उपस्थितरूप (विद्यमान) होता है। कार्यके समय निमित्त होता है किन्तु उपादानमे वह कोई कार्य नही कर सकता, इसलिये उसे व्यवहार कारण कहा जाता है। जब कार्य होता है तब निमित्त की उपस्थितिके दो प्रकार होते हैं (१) वास्तविक उपस्थिति (२) काल्पनिक उपस्थिति। जब छद्मस्थ जीव विकार करता है तब द्रव्यकर्मका उदय उपस्थितरूप होता ही है, वहाँ द्रव्यकर्मका उदय उस विकार का वास्तविक उपस्थितिरूप निमित्त कारण है। [यदि जीव विकार न करे तो वही द्रव्यकर्मकी निर्जरा हुई कहलाती है।]तथा जीव जब विकार करता है तब नो कर्मकी उपस्थिति वास्तवमे होती है अथवा कल्पनारूप होती है।

निमित्त होता ही नही, यह कहकर यदि कोई निमित्तके अस्तित्वका इन्कार करे तब, या उपादान कार्य कर रहा हो तब निमित्त उपस्थित होता है, यह बतलाया जाता है, किन्तु यह तो निमित्तका ज्ञान करानेके लिये है। इसलिये जो निमित्तके अस्तित्वको ही स्वीकार न करे उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। यहाँ सम्यग्ज्ञानका विषय होनेसे आचार्यदेवने निमित्त कैसा होता है इसका ज्ञान कराया है। जो यह मानता है कि निमित्त उपादान का कुछ करता है उसकी यह मान्यता मिथ्या है, और इसलिये यह समझना चाहिये कि उसे सम्यग्दर्शन नही है ॥ १४ ॥

मतिज्ञानके क्रमके भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थ—[अवग्रह ईहा अवाय धारणाः] अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा यह चार भेद है।

टीका

अवग्रह—चेतनामे जो थोडा विशेषाकार भासित होने लगता है उस ज्ञानको 'अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी (विषय करनेवाले) के योग्य स्थानमे आ जानेके बाद होनेवाला आद्यग्रहण अवग्रह है। स्व और पर दोनोका (जिस समय जो विषय हो उसका) पहिले अवग्रह होता है। (Perception)

ईहा—अवग्रहके द्वारा जाने गये पदार्थको विशेषरूपसे जाननेकी चेष्टा (-आकाक्षा) को ईहा कहते है। ईहाका विशेष वर्णन ग्यारहवे सूत्रके नीचे दिया गया है। (Conception)

अवाय—विशेष चिह्न देखनेसे उसका निश्चय हो जाय सो अवाय है। (Judgment)

धारणा—अवायसे निर्णीत पदार्थको कालान्तरमे न भूलना सो धारणा है। (Rettienon)

आत्माके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा

जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम है, इसलिये पहिले आत्मज्ञानी पुरुषसे आत्मस्वरूपको सुनकर युक्तिके द्वारा यह निर्णय करना चाहिए कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है, तत्पश्चात्—

परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण—इन्द्रिय द्वारा तथा मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धिको मर्यादामे लाकर अर्थात् पर पदार्थोंकी ओर से अपना लक्ष्य खीचकर जब आत्मा स्वय स्वसन्मुख लक्ष करता है तब, प्रथम सामान्य स्थूलतया आत्मासबधी ज्ञान हुआ, वह आत्माका अर्थावग्रह हुआ। तत्पश्चात् स्व-विचारके निर्णयकी ओर उन्मुख हुआ सो ईहा, और निर्णय हुआ सो अवाय, अर्थात् ईहासे ज्ञात आत्मामें यह वही है अन्य नही ऐसा दृढ ज्ञान अवाय है। आत्मासबधी कालान्तरमे सशय तथा विस्मरण न हो सो धारणा है। यहाँ तक तो परोक्षभूत मतिज्ञानमे धारणा तकका अतिमभेद हुआ। इसके बाद यह आत्मा अनत ज्ञानानन्द शाति स्वरूप है इसप्रकार मतिमेंसे प्रलबित तार्किक ज्ञान श्रुतज्ञान है। भीतर स्वलक्ष्यमे मन-इन्द्रिय निमित्त नही है। जब जीव उससे अशत पृथक् होता है तब स्वतत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमे स्थिर हो सकता है।

अवग्रह या ईहा हो किन्तु यदि वह लक्ष चालू न रहे तो आत्माका निर्णय नही होता अर्थात् अवाय ज्ञान नही होता, इसलिये अवायकी अत्यत आवश्यकता है। यह ज्ञान होते समय विकल्प, राग, मन, या पर वस्तुकी ओर लक्ष नही होता, किंतु स्वसमुख लक्ष होता है।

सम्यग्दृष्टि को अपना (आत्माका) ज्ञान होते समय इन चारो प्रकार का ज्ञान होता है। धारणा तो स्मृति है, जिस आत्माको सम्यग्ज्ञान अप्रतिहत (-निर्बाध) भावसे हुआ हो उसे आत्माका ज्ञान धारणारूप बना ही रहता है ॥ १५ ॥

अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ--

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥१६॥

अर्थ—[**बहु**] बहु [**बहुविध**] बहुप्रकार [**क्षिप्र**] जल्दी [**अनिःसृत**] अनि सृत [**अनुक्त**] अनुक्त [**ध्रुवाणां**] ध्रुव [**सेतराणाम्**] उनसे उल्टे भेदोसे युक्त अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, नि सृत, उक्त, और अध्रुव, इसप्रकार वारह प्रकारके पदार्थोका अवग्रह ईहादिरूप ज्ञान होता है।

टीका

(१) **बहु**—एकही साथ वहुतसे पदार्थोका अथवा बहुतसे समूहोका अवग्रहादि होना [जैसे लोगोके झुन्डका अथवा गेहूँके ढेरका] बहुतसे पदार्थों का ज्ञानगोचर होना।

(२) **एक**—अल्प अथवा एक पदार्थका ज्ञान होना [जैसे एक मनुष्य का अथवा पानीके प्यालेका] थोडे पदार्थोका ज्ञानगोचर होना।

(३) **बहुविध**—कई प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादि ज्ञान होना (जैसे कुत्तेके साथका मनुष्य अथवा गेहूँ चना चावल इत्यादि अनेक प्रकारके पदार्थ) युगपत् बहुत प्रकारके पदार्थोका ज्ञानगोचर होना।

(४) **एकविध**—एक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना (जैसे एक प्रकार के गेहूँका ज्ञान) एक प्रकारके पदार्थ ज्ञानगोचर होना।

(५) **क्षिप्र**—शीघ्रतासे पदार्थका ज्ञान होना।

(६) **अक्षिप्र**-किसी पदार्थको धीरे धीरे बहुत समयमे जानना अर्थात् चिरग्रहण।

(७) **अनिःसृत**—एक भागके ज्ञानसे सर्वभागका ज्ञान होना (जैसे पानीके बाहर निकली हुई सून्डको देखकर पानीमे डूबे हुए पूरे हाथीका ज्ञान होना) एक भागके अव्यक्त रहने पर भी ज्ञानागोचर होना।

(८) **निःसृत**—बाहर निकले हुए प्रगट पदार्थका ज्ञान होना, पूर्णव्यक्त पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(९) **अनुक्त**–(अकथित) जिस वस्तुका वर्णन नही किया उसे जानना। जिसका वर्णन नही सुना है फिर भी उस पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(१०) **उक्त**–कथित पदार्थका ज्ञान होना, वर्णन सुननेके वाद पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

(११) **ध्रुव**–वहुत समय तक ज्ञान जैसाका तैसा बना रहना, अर्थात् दृढतावाला ज्ञान।

(१२) **अध्रुव**–प्रतिक्षण हीनादिक होनेवाला ज्ञान अर्थात् अस्थिर-ज्ञान।

यह सव भेद सम्यक् मतिज्ञानके हैं। जिसे सम्यक्ज्ञान हो जाता है वह जानता है कि–आत्मा वास्तवमे अपने ज्ञान की पर्यायोको जानता है, और पर तो उस ज्ञानका निमित्त मात्र है। 'परको जाना ऐसा कहना सो व्यवहार है, यदि परमार्थ दृष्टिसे कहा जाय कि आत्मा परको जानता है' सो मिथ्या है, क्योकि ऐसा होनेपर आत्मा और पर (ज्ञान और ज्ञेय) दोनो एक हो जायेगे, क्योकि **'जिसका जो होता है वह वही होता है'** इसलिये वास्तव मे यदि यह कहा जाय कि 'पुद्गल का ज्ञान' है, तो ज्ञान पुद्गल-रूप—ज्ञेयरूप हो जायगा, इसलिये यह समझना चाहिये कि निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञान की पर्यायको आत्मा जानता है। (देखो श्री समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका)

प्रश्न—अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञानका विषय कैसे सभव है ?

उत्तर—श्रोत्रज्ञानमें 'अनुक्त' का अर्थ 'ईषत् (थोडा) अनुक्त' करना चाहिये, और 'उक्त' का अर्थ 'विस्तारसे लक्षणादिके द्वारा वर्णन किया है' ऐसा करना चाहिये, जिसमे नाममात्रके सुनते ही जीवको विशद (विस्तार रूप) ज्ञान हो जाय तो उस जीवको अनुक्त ज्ञान ही हुआ है ऐसा कहना चाहिये। इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोके द्वारा अनुक्तका ज्ञान होता है ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न—नेत्रज्ञानमे 'उक्त' विपय कैसे सभव है ?

उत्तर—किसी वस्तु को विस्तारपूर्वक मुन लिया हो और फिर वह देखनेमे आये तो उस समयका नेत्र ज्ञान 'उक्त ज्ञान' कहलाता है। इसीप्रकार श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियोके द्वारा भी 'उक्त' का ज्ञान होता है।

प्रश्न—'अनुक्त' का ज्ञान पाँच इन्द्रियोके द्वारा कैसे होता है ?

उत्तर—श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त चार इद्रियोके द्वारा होनेवाला ज्ञान सदा अनुक्त होता है। और श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा अनुक्तका ज्ञान कैसे होता है सो इसका स्पष्टीकरण पहिले उत्तरमे किया गया है।

प्रश्न—अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ श्रोत्र इत्यादि इद्रियोका सयोग होता हो यह हमे दिखाई नही देता, इसलिये हम उस सयोग को स्वीकार नही कर सकते।

उत्तर—यह भी ठीक नही है, जैसे यदि कोई जन्मसे ही जमीन के भीतर रक्खा गया पुरुष किसी प्रकार बाहर निकले तो उसे घट पटादि समस्त पदार्थोंका आभास होता है, किन्तु उसे जो 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विशेपज्ञान होता है वह उसे परके उपदेशसे ही होता है, वह स्वय वैसा ज्ञान नही कर सकता, इसीप्रकार सूक्ष्म अवयवोके साथ जो इन्द्रियोका भिडना होता है और उससे अवग्रहादि ज्ञान होता है वह विशेप ज्ञान भी वीतरागके उपदेशसे ही जाना जाता है, अपने भीतर ऐसी शक्ति नही है कि उसे स्वय जान सके, इसलिये केवलज्ञानीके उपदेशसे जब अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादि सिद्ध है तब उनका अभाव कभी नही कहा जा सकता।

प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा होनेवाले इन बारह प्रकारके मतिज्ञानका स्पष्टीकरण।

१—श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा

बहु—एक—तत (ताँतका शब्द) वितत (तालका शब्द) घन

(काँसेके वाद्यका शब्द) और सुषिर (वाँसुरी आदिका शब्द) इत्यादि शब्दो का एक साथ अवग्रह ज्ञान होता है। उसमे तत इत्यादि भिन्न भिन्न शब्दो का ग्रहण अवग्रहसे नही होता किन्तु उसके समुदायरूप सामान्यको वह ग्रहण करता है, ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिये, यहाँ बहु पदार्थका अवग्रह हुआ।

प्रश्न—सभिन्नसश्रोतृऋद्धिके धारी जीवको तत इत्यादि प्रत्येक शब्दका स्पष्टतया भिन्न २ रूपसे ज्ञान होता है तो उसे यह अवग्रहज्ञान होना बाधित है ?

उत्तर—यह ठीक नही है, सामान्य मनुष्यकी भाँति उसे भी क्रमश ही ज्ञान होता है, इसलिये उसे भी अवग्रह ज्ञान होता है।

जिस जीवके विशुद्धज्ञान मद होता है उसे तत आदि शब्दोमेसे किसी एक शब्दका अवग्रह होता है। यह एक पदार्थका अवग्रह हुआ।

बहुविध-एकविध—उपरोक्त दृष्टातमे 'तत' आदि शब्दोमे प्रत्येक शब्द के दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात या अनन्त भेदोको जीव ग्रहण करता है तब उसे 'बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धताके मद रहने पर जीव तत आदि शब्दोमेसे किसी एक प्रकार के शब्दोको ग्रहण करता है उसे 'एकविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

क्षिप्र-अक्षिप्र—विशुद्धिके बलसे कोई जीव बहुत जल्दी शब्दको ग्रहण करता है उसे 'क्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धि की मदता होनेसे जीवको शब्दके ग्रहण करनेमे ढील होती है उसे 'अक्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

अनिःसृत-निःसृत—विशुद्धिके बल से जीव जब विना कहे अथवा विना बताये ही शब्दको ग्रहण करता है तब उसे 'अनिःसृत पदार्थ का अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धिकी मदताके कारण जीव मुखमे से निकले हुए शब्द को ग्रहण करता है तब 'निःसृत' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है।

शंका—मुखसे पूरे शब्दके निकलनेको 'निःसृत', कहा है, और 'उक्त' का अर्थ भी वही होता है तब फिर दो मे से एक भेद कहना चाहिये, दोनो क्यो कहते हो ?

समाधान—जहाँ किसी अन्यके कहनेसे शब्दका ग्रहण होता है, जैसे किसीने 'गौ' शब्दका ऐसा उच्चारण किया कि 'यहाँ यह गौ शब्द है' उस पर से जो ज्ञान होता है वह 'उक्त' ज्ञान है, और इसप्रकार अन्यके बताये बिना शब्द समुख हो उसका यह 'अमुक शब्द है' ऐसा ज्ञान होना सो निःसृत ज्ञान है ।

अनुक्त-उक्त—जिस समय समस्त शब्दका उच्चारण न किया गया हो, किन्तु मुखमे से एक वर्णके निकलते ही विशुद्धताके बलसे अभिप्रायमात्रसे समस्त शब्दको कोई अन्यके कहे बिना ग्रहण कर ले कि 'वह यह कहना चाहता है'—उस समय उसके 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है ।

जिस समय विशुद्धिकी मदतासे समस्त शब्द कहा जाता है तब किसी दूसरेके कहनेसे जीव ग्रहण करता है उस समय 'उक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है । **अथवा**—

तन्त्री अथवा मृदग आदिमे कौनसा स्वर गाया जायगा उसका स्वर सचार न किया हो उससे पूर्व ही केवल उस बाजेमे गाये जाने वाले स्वरका मिलाप हो उसी समय जीवको विशुद्धिके बलसे ऐसा ज्ञान हो जाय कि 'वह यह स्वर बाजेमे बजायगा,' उसी समय 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है ।

विशुद्धिकी मदताके कारण बाजेके द्वारा वह स्वर गाया जाय उस समय जानना सो 'उक्त' पदार्थका अवग्रह है ।

ध्रुव-अध्रुव—विशुद्धिके बलसे जीवने जिसप्रकार प्रथम समयमे शब्दको ग्रहण किया उसीप्रकार निश्चयरूपसे कुछ समय ग्रहण करना चालू रहे—उसमे किंचित्मात्र भी न्यूनाधिक न हो सो 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह है ।

बारबार होनेवाले सक्लेश तथा विशुद्ध परिणाम स्वरूप कारणोसे जीवके श्रोत्र इन्द्रियादिका कुछ आवरण और कुछ अनावरण (क्षयोपशम)

भी रहता है, इसप्रकार श्रोत्र इन्द्रियादिके आवरणकी क्षयोपशमरूप विशुद्धि की कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष दशा रहती है, उस समय न्यूनाधिकता जाननेके कारण कुछ चल-विचलता, रहती है इससे उस 'अध्रुव' पदार्थका अवग्रह कहलाता है तथा कभी तत इत्यादि वहुतसे शव्दोका ग्रहण करना, कभी थोडेका कभी वहुतका, कभी वहुत प्रकार के शव्दो का ग्रहण करना, कभी एक प्रकारका, कभी जल्दी, कभी देरसे, कभी अनि सृत शव्दका ग्रहण करना, कभी नि सृतका, कभी अनुक्त शव्दका और कभी उक्तका ग्रहण करना-इस प्रकार जो चल-विचलतासे शव्द का ग्रहण करना सो सव 'अध्रुवावग्रह', का विषय है ।

शंका-समाधान

शंका—'वहु' शव्दोके अवग्रहमे तत आदि शव्दो का ग्रहण माना है और 'वहुविध' शव्दोके अवग्रहमे भी तत आदि शव्दोका ग्रहण माना है, तो उनमे क्या अन्तर है ?

समाधान—जैसे वाचालता रहित कोई विद्वान वहुत से शास्त्रो के विशेष २ अर्थ नही करता और एक सामान्य (सक्षेप) अर्थका ही प्रतिपादन करता है, अन्य विद्वान् वहुतसे शास्त्रोमे पाये जाने वाले एक दूसरे मे अतर वताने वाले कई प्रकारके अर्थोंका प्रतिपादन करता है, उसीप्रकार वहु और वहुविध दोनो प्रकारके अवग्रहमे सामान्यरूपमे तत आदि शव्दोका ग्रहण है, तथापि जिस अवग्रहमे तत आदि शव्दोके एक, दो, चार, सख्यात, असख्यात और अनत प्रकारके भेदोका ग्रहण है अर्थात् अनेक प्रकारके भेद-प्रभेद युक्त तत आदि शव्दोका ग्रहण है वह वहुविध वहु प्रकारके शव्दोको ग्रहण करने वाला अवग्रह कहलाता है, और जिस अवग्रहमे भेद प्रभेद रहित सामान्यरूप से तत आदि शव्दोका ग्रहण है वह वहु शव्दोका अवग्रह कहलाता है ।

२-चक्षु इन्द्रिय द्वारा

वहु-एक—जिस समय जीव विशुद्धिके वलसे सफेद काले हरे आदि रगोको ग्रहण करता है उस समय उसे 'वहु' पदार्थका अवग्रह होता है, और

जब मदताके कारण जीव एक वर्णको ग्रहण करता है तब उसे 'एक' पदार्थ का अवग्रह होता है।

बहुविध–एकविध—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे शुक्ल कृष्णादि प्रत्येक वर्णके दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात, और अनत भेद प्रभेदोको ग्रहण करता है उस समय उसे 'बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

जिस समय मदताके कारण जीव शुक्ल कृष्णादि वर्णोमे से एक प्रकार के वर्णको ग्रहण करता है उस समय उसे 'एकविध' पदार्थ का अवग्रह होता है।

क्षिप्र–अक्षिप्र—जिस समय जीव तीव्र क्षयोपशम (विशुद्धि) के बल से शुक्लादि वर्णको जल्दी ग्रहण करता है उस समय उसे क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मदताके कारण जिस समय जीव देरसे पदार्थको ग्रहण करता है उस समय उसके 'अक्षिप्र' पदार्थ का अवग्रह होता है।

अनिःसृत–निःसृत—जिस समय जीव विशुद्धि के बलसे किसी पचरगी वस्त्र या चित्रादिके एक बार किसी भागमे से पाँच रगोको देखता है उस समय यद्यपि शेष भागकी पचरगीनता उसे-दिखाई नही दी है तथा उस समय उसके समक्ष पूरा वस्त्र बिना खुला हुआ (घडी किया हुआ ही) रखा है तथापि वह उस वस्त्रके सभी भागोकी पचरगीनताको ग्रहण करता है, यह 'अनि सृत' पदार्थका अवग्रह है।

जिस समय विशुद्धिकी मदता के कारण जीवके समुख बाहर निकाल कर रखे गये पचरगी वस्त्रके पाचो रगोको जीव ग्रहण करता है उस समय उसे 'नि सृत' पदार्थ का अवग्रह होता है।

अनुक्त–उक्त—सफेद-काले अथवा सफेद-पीले आदि रगोकी मिलावट करते हुए किसी पुरुषको देखकर (वह इसप्रकारके रगोको मिलाकर अमुक प्रकारका रग तैयार करेगा) इसप्रकार विशुद्धिके बलसे विना कहे ही जान लेता है, उस समय उसे 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है। अथवा—

दूसरे देशमें बने हुए किसी पचरगी पदार्थको कहते समय, कहनेवाला पुरुष कहनेका प्रयत्न ही कर रहा है कि उसके कहनेसे पूर्व ही विशुद्धिके बल से जीव जिस समय उस वस्तुके पाँच रगोको जान लेता है उस समय उसके भी 'अनुक्त' पदार्थका अवगृह होता है।

विशुद्धिकी मदताके कारण पचरगी पदार्थको कहनेपर जिससमय जीव पाँच रगोको जान लेता है उससमय उसके 'उक्त' पदार्थ का अवगृह होता है।

ध्रुव-अध्रुव—सक्लेश परिणाम रहित और यथायोग्य विशुद्धता सहित जीव जैसे सबसे पहिले रग को जिस जिस प्रकारसे गृहण करता है उसी प्रकार निश्चलरूपसे कुछ समय वैसे ही उसके रगको गृहण करता बना रहता है, कुछ भी न्यूनाधिक नही होता, उस समय उसके 'ध्रुव' पदार्थ का अवगृह होता है।

बारम्बार होनेवाले सक्लेश परिणाम और विशुद्ध परिणामोके कारण जीवके जिस समय कुछ आवरण रहता है और कुछ विकास भी रहता है तथा वह विकास कुछ उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ऐसी दो दशाओमे रहता है तब, जिस समय कुछ हीनता और कुछ अधिकताके कारण चल-विचलता रहती है उस समय उसके अध्रुव अवगृह होता है। अथवा—

कृष्णादि बहुतसे रगोका जानना अथवा एक रगको जानना, बहुविध रगोको जानना, या एकविध रगको जानना, जल्दी रगोको जानना, या ढील से जानना, अनिसृत रगको जानना या निसृत रगको जानना, अनुक्तरूपको जानना या उक्तरूपको जानना, इसप्रकार जो चल-विचलरूप जीव जानता है सो अध्रुव अवगृहका विषय है।

विशेष-समाधान—आगममे कहा है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन यह छह प्रकारका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। लब्धिका अर्थ है क्षायोपशमिकरूप (विकासरूप) शक्ति और 'अक्षर' का अर्थ है अविनाशी। जिस क्षायोपशमिक शक्तिका कभी नाश न हो उसे लब्ध्यक्षर कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनिसृत और अनुक्त पदार्थोंका भी अवगृहादि ज्ञान

होता है। लब्ध्यक्षर ज्ञान श्रुतज्ञानका अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। जब इस ज्ञान को माना जाता है तब अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादि माननेमे कोई दोष नही है।

३-४-५ घ्राणेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय,—और स्पर्शनेन्द्रिय

घ्राण-रसना और स्पर्शन इन तीन इन्द्रियोके द्वारा उपर्युक्त बारह प्रकार के अवग्रहके भेद श्रोत्र और चक्षु इन्द्रियकी भाति समझ लेना चाहिये।

ईहा-अवाय- और धारणा

चालू सूत्रका शीर्षक 'अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ' है, उसमे अवग्रहादिके कहने पर, जैसे बारह भेद अवग्रहके कहे है उसीप्रकार ईहा-अवाय और धारणा ज्ञानोका भी विषय मानना चाहिये।

शंका-समाधान—

शंका—जो इन्द्रियाँ पदार्थको स्पर्श करके ज्ञान कराती है वे पदार्थोंके जितने भागो (अवयवो) के साथ सबध होता है उतने ही भागोका ज्ञान करा सकती है, अधिक अवयवोका नही। श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन और रसना,—यह चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है, इसलिये वे जितने अवयवोके साथ सबद्ध होती है उतने ही अवयवोका ज्ञान करा सकती है, अधिकका नही, तथापि अनि सृत और अनुक्तमे ऐसा नही होता, क्योकि वहा पदार्थोंका एक भाग देख लेने या सुन लेनेसे समस्त पदार्थका ज्ञान माना जाता है इसलिये श्रोत्रादि चार इन्द्रियोसे जो अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंका अवग्रह ईहादि माना गया है वह व्यर्थ है।

समाधान—यह शका ठीक नही है। जैसे चीटी आदि जीवोकी नाक तथा जिह्वाके साथ गुड आदि द्रव्योका सबध नही होता फिर भी उसकी गध और रसका ज्ञान उन्हे हो जाता है, क्योकि वहाँ अत्यन्त सूक्ष्म (जिसे हम नही देख सकते) गुड आदिके अवयवोके साथ चीटी आदि जीवोकी नाक तथा जिह्वा आदि इन्द्रियोका एक दूसरेके साथ स्वाभाविक सयोग सबध रहता है, उस सबन्धमे दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नही रहती, इस

लिये सूक्ष्म अवयवोके साथ सबन्ध रहनेसे वह प्राप्त होकर ही पदार्थको ग्रहण करते हैं। इसीप्रकार अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादि मे भी अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोके साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियोका अपनी उत्पत्तिमे परपदार्थोकी अपेक्षा न रखनेवाला स्वाभाविक सयोग सबन्ध है, इसलिये अनि सृत और अनुक्त स्थलोपर भी प्राप्त होकर इन्द्रियाँ पदार्थोका ज्ञान कराती हैं, अप्राप्त होकर नही।

इस सूत्रके अनुसार मतिज्ञानके भेदोकी सख्या निम्न प्रकार है—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, = ४
पाँच इन्द्रिय और मन = ६

उपरोक्त छह प्रकारके द्वारा चार प्रकारसे ज्ञान (४ × ६) = २४ तथा विषयोकी अपेक्षासे वहु वहुविध आदि वारह=(२४ × १२) = २८८ भेद हैं ॥ १६ ॥

उपरोक्त अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ भेद किसके हैं ?

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—उपरोक्त वारह अथवा २८८ भेद [अर्थस्य] पदार्थ के (द्रव्यके-वस्तुके) है।

टीका

यह भेद व्यक्त पदार्थके कहे हैं, अव्यक्त पदार्थके लिये अठारहवाँ सूत्र कहा है।

यदि कोई कहे कि—'रूपादि गुण ही इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं, इसलिये रूपादि गुणोका ही अवग्रह होता है, न कि द्रव्योका'। तो यह कहना ठीक नहीं है,—यह यहाँ वताया गया है। 'इन्द्रियोंके द्वारा रूपादि जाने जाते हैं' यह कहने मात्रका व्यवहार है, रूपादि गुण द्रव्यसे अभिन्न हैं इसलिये ऐसा व्यवहार होता है कि 'मैंने रूपको देखा या मैंने गध

को सूंघा', किन्तु गुण-पर्याय द्रव्यसे भिन्न नही है इसलिये पदार्थ का ज्ञान होता है। इन्द्रियोका सम्बन्ध पदार्थ के साथ होता है। मात्र गुण-पर्यायोके साथ नही होता ॥ १७ ॥

अवग्रह ज्ञानमें विशेषता

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ—[**व्यंजनस्य**] अप्रगटरूप शब्दादि पदार्थोंका [**अवग्रहः**] मात्र अवगृह ज्ञान होता है—ईहादि तीन ज्ञान नही होते।

टीका

अवगृहके दो भेद है—(१) व्यजनावगृह (२) अर्थावगृह।

व्यंजनावग्रह—अव्यक्त-अप्रगट पदार्थ के अवगृह को व्यजनावगृह कहते है।

अर्थावग्रह—व्यक्त-प्रगट पदार्थ के अवगृहको अर्थावगृह कहते है।

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहके दृष्टान्त

(१) पुस्तकका शरीरकी चमडीसे स्पर्श हुआ तब (उस वस्तुका ज्ञान प्रारम्भ होने पर भी) कुछ समय तक वह ज्ञान अपनेको प्रगट रूप नही होता, इसलिये जीव को उस पुस्तकका ज्ञान अव्यक्त-अप्रगट होनेसे उस ज्ञान को व्यजनावगृह कहा जाता है।

(२) पुस्तक पर दृष्टि पडने पर पहिले जो ज्ञान प्रगटरूप होता है वह व्यक्त अथवा प्रगट पदार्थ का अवगृह (अर्थावगृह) कहलाता है।

व्यंजनावगृह चक्षु और मनके अतिरिक्त चार इन्द्रियोके द्वारा होता है, व्यंजनावगृहके बाद ज्ञान प्रगटरूप होता है उसे अर्थावगृह कहते है। चक्षु और मनके द्वारा अर्थावगृह होता है।

'अव्यक्त' का अर्थ

जैसे मिट्टीके कोरे घडेको पानीके छींटे डालकर भिगोना प्रारंभ किया जाय तो थोडे छींटे पडने पर भी वे ऐसे सूख जाते है कि देखनेवाला उस स्थानको भीगा हुआ नही कह सकता, तथापि युक्तिसे तो वह 'भीगा हुआ ही है,' यह वात मानना ही होगी, इसीप्रकार कान, नाक, जीभ और त्वचा यह चार इन्द्रियाँ अपने विषयोके साथ भिडती है तभी ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये पहिले ही, कुछ समय तक विषयका मद सबध रहनेसे ज्ञान (होनेका प्रारभ हो जाने पर भी) प्रगट मालूम नही होता, तथापि विषय का सबध प्रारभ हो गया है इसलिये ज्ञानका होना भी प्रारभ हो गया है– यह वात युक्तिसे अवश्य मानना पडती है । **उसे (उस प्रारंभ हुए ज्ञानको) अव्यक्तज्ञान अथवा व्यंजनावग्रह कहते हैं ।**

जब व्यजनावग्रहमे विपयका स्वरूप ही स्पष्ट नही जाना जाता तब फिर विशेपनाकी शंका तथा समाधानरूप ईहादि ज्ञान तो कहाँसे हो सकता है ? इसलिये अव्यक्तका अवग्रहमात्र ही होता है । ईहादि नही होते ।

'व्यक्त' का अर्थ

मन तथा चक्षुके द्वारा होनेवाला ज्ञान विपयके साथ सबद्ध (स्पर्शित होकर नही हो सकता किन्तु दूर रहनेसे ही होता है, इसलिये मन और चक्षुके द्वारा जो ज्ञान होता है वह 'व्यक्त' कहलाता है । चक्षु तथा मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान अव्यक्त कदापि नही होता, इसलिये उसके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है ।

अव्यक्त और व्यक्त ज्ञान

उपरोक्त अव्यक्त ज्ञानका नाम व्यजनावग्रह है । जबसे विपयकी व्यक्तता भासित होने लगती है तभीसे उस ज्ञानको व्यक्तज्ञान कहते है, उसका नाम अर्थावग्रह है । यह अर्थावग्रह (अर्थ सहित अवग्रह) सभी इन्द्रियो तथा मनके द्वारा होता है ।

ईहा

अर्थावग्रहके बाद ईहा होता है अर्थावग्रह ज्ञानमे किसी पदार्थकी जितनी विशेषता भासित हो चुकी है उससे अधिक जाननेकी इच्छा हो तो वह ज्ञान सत्यकी ओर अधिक झुकता है, उसे ईहाज्ञान कहा जाता है, वह (ईहा) सुदृढ नही होता। ईहामे प्राप्त हुए सत्य विषयका यद्यपि पूर्ण निश्चय नही होता तथापि ज्ञानका अधिकाश वहाँ होता है। वह (ज्ञानके अधिकाश) विपयके सत्यार्थग्राही होते है, इसलिये ईहाको सत्य ज्ञानोमे गिना गया है।

अवाय

अवायका अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है ईहाके बादके काल तक ईहाके विषय पर लक्ष रहे तो ज्ञान सुदृढ हो जाता है, और उसे अवाय कहते है। ज्ञानके अवग्रह, ईहा, और अवाय इन तीनो भेदोमे से अवाय उत्कृष्ट अथवा सर्वाधिक विशेषज्ञान है।

धारणा

धारणा अवायके बाद होती है। किन्तु उसमे कुछ अधिक दृढता उत्पन्न होनेके अतिरिक्त अन्य विशेषता नही है, धारणाकी सुदृढताके कारण एक ऐसा सस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जानेसे पूर्वके अनुभवका स्मरण हो सकता है।

एकके बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं ?

अवग्रह होनेके बाद ईहा हो या न हो, और यदि अवग्रहके बाद ईहा हो तो एक ईहा ही होकर छूट जाता है और कभी कभी अवाय भी होती है। अवाय होनेके बाद धारणा होती है और नही भी होती।

ईहाज्ञान सत्य है या मिथ्या ?

जिस ज्ञानमे दो विषय ऐसे आ जाँय जिनमे एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या, तो (ऐसे समय) जिस अश पर ज्ञान करनेका अधिक ध्यान हो

तदनुसार उस ज्ञानको सत्य या मिथ्या मान लेना चाहिये। जैसे–एक चन्द्रमाके देखने पर यदि दो चन्द्रमाका ज्ञान हो और वहाँ यदि देखनेवाले का लक्ष केवल चन्द्रमाको समझ लेनेकी ओर हो तो उस ज्ञानको सत्य मानना चाहिये, और यदि देखनेवालेका लक्ष एक या दो ऐसी सख्या निश्चित् करने की ओर हो तो उस ज्ञानको असत्य (मिथ्या) मानना चाहिये।

इस नियमके अनुसार ईहामे ज्ञानका अधिकाश विपयका सत्यांशग्राही ही होता है इसलिये ईहाको सत्यज्ञान मे माना गया है।

'धारणा' और 'संस्कार' संबंधी स्पष्टिकरण

शंका—धारणा किसी उपयोग ज्ञानका नाम है या संस्कारका ?

शंकाकारका तर्क—यदि उपयोगरूप ज्ञानका नाम धारणा हो तो वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नही हो सकती, क्योकि कार्य कारणरूप पदार्थोमे परस्पर कालका अतर नही रह सकता। धारणा कव होती है और स्मरण कव, इसमे कालका वहुत वडा अतर पडता है। यदि उसे (धारणाको) सस्काररूप मानकर स्मरणके समयतक विद्यमान मानने की कल्पना करे तो वह प्रत्यक्षका भेद नही होता, क्योकि सस्काररूप ज्ञान भी स्मरणकी अपेक्षासे मलिन है, स्मरण उपयोगरूप होनेसे अपने समयमे दूसरा उपयोग नही होने देता और स्वय कोई विशेषज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु धारणाके सस्काररूप होने से उसके रहने पर भी अन्यान्य अनेक ज्ञान उत्पन्न होते रहते है, और स्वय वह धारणा तो अर्थका ज्ञान ही नही करा सकती।

[यह शकाकारका तर्क है उसका समाधान करते है]

समाधान—'धारणा' उपयोगरूप ज्ञानका भी नाम है और सस्कारका भी नाम है। धारणाको प्रत्यक्ष ज्ञानमे माना है और उसकी उत्पत्ति भी अवायके वाद ही होती है, उसका स्वरूप भी अवायकी अपेक्षा अधिक दृढरूप है, इसलिये उसे उपयोगरूप ज्ञानमे गर्भित करना चाहिए।

वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करती है और कार्यके पूर्वक्षणमे कारण रहना ही चाहिये इसलिये उसे सस्काररूप भी कह सकते है। तात्पर्य यह है कि जो स्मरणके समयतक रहता है उसे किसी किसी जगह धारणा से पृथक् गिनाया है और किसी २ जगह धारणाके नामसे कहा है। धारणा तथा उस सस्कारमे कारण-कार्य सवध है। इसलिये जहाँ भेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न गिने जाते है और जहा अभेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न न गिनकर केवल धारणाको ही स्मरणका कारण कहा है।

चार भेदोंकी विशेपता

इसप्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह चार मतिज्ञानके भेद है, उसका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम–अधिक अधिक शुद्ध होता है और उसे पूर्व २ ज्ञानका कार्य समझना चाहिये। एक विपयकी उत्तरोत्तर विशेषता उसके द्वारा जानी जाती है, इसलिये उन चारो ज्ञानोको एक ही ज्ञानके विशेष प्रकार भी कह सकते है। मति स्मृति-आदिकी भाँति उसमे कालका असवंध नही है तथा बुद्धि मेधादि की भाँति विपयका असवध भी नही है।' १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थ—व्यजनावग्रह [**चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्**] नेत्र और मनसे [**न**] नही होता।

टीका

मतिज्ञानके २८८ भेद सोलहवे सूत्रमे कहे गये है, और व्यजनावग्रह चार इन्द्रियोके द्वारा होता है, इसलिये उसके बहु बहुविध आदि बारह भेद होने पर अडतालीस भेद हो जाते है इसप्रकार मतिज्ञानके ३३६ प्रभेद होते है ॥ १९ ॥

श्रुतज्ञानका वर्णन, उत्पत्तिका क्रम तथा उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थ—[श्रुतम्] श्रुतज्ञान [मतिपूर्वं] मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञानके बाद होता है, वह श्रुतज्ञान [द्व्यनेकद्वादशभेदम्] दो, अनेक और बारह भेदवाला है।

टीका

(१) सम्यग्ज्ञानका विषय चल रहा है, [देखो सूत्र ९] इसलिये यह सम्यक् श्रुतज्ञानसे संबंध रखनेवाला सूत्र है,—ऐसा समझना चाहिये। मिथ्या श्रुतज्ञानके संबंधमे ३१ वाँ सूत्र कहा है।

(२) श्रुतज्ञान—मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थसे, उससे भिन्न पदार्थ ग्रहण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे—

१—सद्गुरुका उपदेश सुनकर आत्माका यथार्थ ज्ञान होना। इसमे उपदेश सुनना मतिज्ञान है, और फिर विचार करके आत्माका भान प्रगट करना श्रुतज्ञान है।

२—शब्दसे घटादि पदार्थोंको जानना। इसमे घट शब्दका सुनना मतिज्ञान है, और उससे घट पदार्थका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।

३—धुवेंसे अग्निका ग्रहण करना। इसमे धुवेंको आँखसे देखकर जो ज्ञान हुआ सो मतिज्ञान है, और धुवेंसे अग्निका अनुमान करना सो श्रुतज्ञान है।

४—एक मनुष्यने 'जहाज' शब्द सुना सो यह मतिज्ञान है। पहिले जहाजके गुण सुने अथवा पढ़े थे, तत्संबंधी ('जहाज' शब्द सुन कर) जो विचार करता है सो श्रुतज्ञान है।

(३) मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए विषयका अवलंबन लेकर जो उत्तर तर्कणा (दूसरे विषयके संबंधमे विचार) जीव करता है सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानके दो भेद हैं-(१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। "आत्मा"

शब्दको सुनकर आत्माके गुणोको हृदयमे प्रगट करना सो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षर और पदार्थमे वाचक-वाच्य सबध है। 'वाचक' शब्द है उसका ज्ञान मतिज्ञान है, और उसके निमित्तसे 'वाच्य' का ज्ञान होना सो श्रुतज्ञान है। परमार्थसे ज्ञान कोई अक्षर नही है, अक्षर तो जड है, वह पुद्गलस्कधकी पर्याय है, वह निमित्त मात्र है। 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' कहने पर कार्यमे कारणका (निमित्तका) मात्र उपचार किया गया समझना चाहिए।

(४) श्रुतज्ञान ज्ञानगुणकी पर्याय हैं, उसके होनेमे मतिज्ञान निमित्त-मात्र है। श्रुतज्ञानसे पूर्व ज्ञानगुणकी मतिज्ञानरूप पर्याय होती है, और उस उपयोगरूप पर्यायका व्यय होने पर श्रुतज्ञान प्रगट होता है, इसलिये मति-ज्ञानका व्यय श्रुतज्ञानका निमित्त है, वह 'अभावरूप निमित्त' है, अर्थात् मतिज्ञानका जो व्यय होता है वह श्रुतज्ञानको उत्पन्न नही करता, किन्तु श्रुतज्ञान तो अपने उपादान कारणसे उत्पन्न होता है। (मतिज्ञानसे श्रुत-ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।)

(५) **प्रश्न**—जगतमे कारणके समान ही कार्य होता है, इसलिये मतिज्ञानके समान ही श्रुतज्ञान होना चाहिये ?

उत्तर—उपादान कारणके समान कार्य होता है, निमित्त कारणके समान नही। जैसे घटकी उत्पत्तिमे दड, चक्र, कुम्हार, आकाश, इत्यादि निमित्त कारण होते है, किन्तु उत्पन्न हुआ घट उन दड चक्र कुम्हार आकाश आदिके समान नही होता, किन्तु वह भिन्न स्वरूप ही (मिट्टीके स्वरूप ही) होता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानके उत्पन्न होनेमे मति नाम (केवल नाम) मात्र बाह्य कारण है, और उसका स्वरूप श्रुतज्ञान से भिन्न है।

(६) एकवार श्रुतज्ञानके होने पर फिर जब विचार प्रलबित होता है। तब दूसरा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके बीचमे आये बिना भी उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न—ऐसे श्रुतज्ञानमे 'मतिपूर्वं' इस सूत्रमे दी गई व्याख्या कैसे लागू होती है ?

उत्तर—उसमे पहिला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक हुआ था इसलिये दूसरा श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक है ऐसा उपचार किया जा सकता है। सूत्रमे 'पूर्व' पहिले 'साक्षात्' शब्दका प्रयोग नही किया है, इसलिये यह समझना चाहिये कि श्रुतज्ञान साक्षात् मतिपूर्वक और परपरामतिपूर्वक–ऐसे दो प्रकारसे होता है।

(७) भावश्रुत और द्रव्यश्रुत—

श्रुतज्ञानमे तारतम्यकी अपेक्षासे भेद होता है, और उसके निमित्त मे भी भेद होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इन दोनोमे दो अनेक और वारह भेद होते हैं। भावश्रुतको भावागम भी कह सकते है, और उसमे द्रव्यागम निमित्त होता है। द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं, (१) अंग प्रविष्ट और (२) अगवाह्य। अग प्रविष्टके बारह भेद हैं।

(८) अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—पर्यायज्ञान और पर्यायसमास। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके उत्पन्न होते समय जो पहिले समयमे सर्व जघन्य श्रुतज्ञान होता है सो पर्याय ज्ञान है। दूसरा भेद पर्यायसमास है। सर्व-जघन्यज्ञानसे अधिक ज्ञानको पर्यायसमास कहते हैं। [उसके असख्यात लोक प्रमाण भेद हैं] निगोदिया जीवके सम्यक् श्रुतज्ञान नही होता, किंतु मिथ्याश्रुत होता है, इसलिये यह दो भेद सामान्य श्रुतज्ञानकी अपेक्षा मे कहे हैं ऐसा समझना चाहिये।

(९) यदि सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद न करके,–सामान्य मति-श्रुतज्ञानका विचार करे तो प्रत्येक छद्मस्थ जीवके मति और श्रुतज्ञान होता है। स्पर्शके द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है, और उसके सवन्धमे ऐसा ज्ञान होना कि 'यह हितकारी नही है या है' सो श्रुतज्ञान है, वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रियादि असैनी जीवोके अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। सैनीपचेन्द्रिय जीवोके दोनो प्रकारका श्रुत-ज्ञान होता है।

(१०) प्रमाणके दो प्रकार—

प्रमाण दो प्रकारका है—(१) स्वार्थप्रमाण, (२) परार्थप्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञानस्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुतके अतिरिक्त चार ज्ञान स्वार्थप्रमाण है। श्रुतप्रमाण स्वार्थ-परार्थ-दोनो रूप है, इसलिये वह ज्ञानरूप और वचनरूप है। श्रुत उपादान है और वचन उसका निमित्त है। [विकल्पका समावेश वचनमे हो जाता है।] श्रुतप्रमाणका अश 'नय' है।

[देखो पचाध्यायी भाग १ पृष्ठ ३४४ प० देवकीनन्दनजी कृत और जैन सिद्धान्त दर्पण पृष्ठ २२, राजवार्तिक पृष्ठ १५३, सर्वार्थसिद्धि अध्याय एक सूत्र ६ पृष्ठ ५६]

(११) 'श्रुत' का अर्थ—

श्रुतका अर्थ होता है 'सुना हुआ विषय' अथवा 'शब्द'। यद्यपि श्रुतज्ञान मतिज्ञानके बाद होता है तथापि उसमे वर्णनीय तथा शिक्षा योग्य सभी विषय आते है, और वह सुनकर जाना जा सकता है, इसप्रकार श्रुतज्ञानमे श्रुतका (शब्दका) सबध मुख्यतासे है, इसलिये श्रुतज्ञानको शास्त्रज्ञान (भावशास्त्रज्ञान) भी कहा जाता है। (शब्दोको सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है उसके अतिरिक्त अन्य प्रकारका भी श्रुतज्ञान होता है।) सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेसे पात्र जीवोंको आत्माका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, इस अपेक्षासे उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(१२) रूढिके बलसे भी मतिपूर्वक होनेवाले इस विशेष ज्ञानको 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

(१३) **श्रुतज्ञानको वितर्क**—भी कहते है। [अध्याय ९ सूत्र ३६]

(१४) **अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य**

अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं–(१) आचाराग (२) सूत्रकृताग (३) स्थानाग (४) समवायाग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अग (६) ज्ञातृधर्म कथाग (७) उपासकाध्ययनाग (८) अत कृतदशाग (९) अनुत्तरौपपादिकाग (१०) प्रश्नव्याकरणाग (११) विपाकसूत्राग और (१२) दृष्टिप्रवादाग—

अंगबाह्य श्रुतमें—चौदह प्रकीर्णक होते है। इन बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचना, जिस दिन तीर्थंकर भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है तब भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत गणधर भगवान एक ही मुहूर्तमे क्रमसे करते हैं।

(१५) यह सब शास्त्र निमित्तमात्र हैं, भावश्रुतज्ञानमे उसका अनुसरण करके तारतम्य होता है,—ऐसा समझना चाहिये।

(१६) मति और श्रुतज्ञानके बीचका भेद—

प्रश्न—जैसे मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है, तब फिर दोनोमे अंतर क्या है?

शंकाकारके कारण—इन्द्रिय और मनसे मतिज्ञानकी उत्पत्ति होती यह प्रसिद्ध है, और श्रुतज्ञान वक्ताके कथन और श्रोताके श्रवणसे उत्पन्न होता है, इसलिये वक्ताकी जीभ और श्रोताके कान तथा मन श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण हैं, इसप्रकार मति-श्रुत दोनोके उत्पादक कारण इन्द्रिय और मन हुए, इसलिये उन दोनोको एक मानना चाहिए।

उत्तर—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको एक मानना ठीक नही है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो इन्द्रियो और मनसे उत्पन्न होते हैं यह हेतु असिद्ध है, क्योकि जीभ और कानको श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण मानना भूल है। जीभ तो शब्दका उच्चारण करनेमे कारण है, श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे नही। कान भी जीवके होनेवाले मतिज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण हैं, श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति मे नही, इसलिये श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे दो इन्द्रियोको कारण बताना, और मति तथा श्रुतज्ञान दोनोको इन्द्रियो और मनसे उत्पन्न कहकर दोनोकी एकता मानना मिथ्या है। वे दो इन्द्रिया श्रुतज्ञान मे निमित्त नही हैं, इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिके कारणमे भेद है। मतिज्ञान इन्द्रियो और मनके कारण उत्पन्न होता है, और जिस पदार्थका इन्द्रियो तथा मनके द्वारा मतिज्ञान से निर्णय हो जाता है उस

पदार्थका मनके द्वारा जिस विशेषतासे ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है, इसलिये दोनो ज्ञान एक नही किन्तु भिन्न २ है।

विशेष स्पष्टीकरण—

१—इन्द्रिय और मनके द्वारा यह निश्चय किया कि यह 'घट' है सो यह मतिज्ञान है, तत्पश्चात्—उस घडेसे भिन्न, अनेक स्थलो और अनेक कालमे रहनेवाले अथवा विभिन्न रगोके समान जातीय दूसरे घडोका ज्ञान करना श्रुतज्ञान है। एक पदार्थको जाननेके बाद समान जातीय दूसरे प्रकार को जानना सो श्रुतज्ञानका विषय है। अथवा—

२—इन्द्रिय और मनके द्वारा जो घटका निश्चय किया, तत्पश्चात् उसके भेदोका ज्ञान करना सो श्रुतज्ञान है, जैसे—अमुक घडा, अमुक रगका है, अथवा घडा मिट्टीका है, तांबेका है, पीतलका है, इस प्रकार इन्द्रिय और मनके द्वारा निश्चय करके उसके भेद प्रभेदको जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। उसी (मतिज्ञानके द्वारा जाने गये) पदार्थके भेद प्रभेदका ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। अथवा—

३—'यह जीव है' या 'यह अजीव है' ऐसा निश्चय करनेके बाद जिस ज्ञानसे सत्—सख्यादि द्वारा उसका स्वरूप जाना जाता है वह श्रुतज्ञान है, क्योंकि उस विशेष स्वरूपका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नही हो सकता, इसलिये वह मतिज्ञानका विषय नही किन्तु श्रुतज्ञानका विषय है। जीव-अजीव को जाननेके बाद उसके सत्सख्यादि विशेषोका ज्ञानमात्र मनके निमित्त से होता है। मतिज्ञानमे एक पदार्थके अतिरिक्त दूसरे पदार्थ का या उसी पदार्थ के विशेषोका ज्ञान नही होता, इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भिन्न भिन्न हैं। अवग्रहके बाद ईहाज्ञानमे उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है और ईहा के बाद अवायमे उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है, किन्तु उसमे (ईहा या अवाय, में) उसी पदार्थके भेद प्रभेदका ज्ञान नही है, इसलिये वह मतिज्ञान है—श्रुतज्ञान नही। (अवग्रह ईहा और अवाय, मतिज्ञानके भेद है।)

सूत्र ११ से २० तकका सिद्धांत

जीवको सम्यग्दर्शन होने ही सम्यक्‌मति और सम्यक् श्रुतज्ञान होता

है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य, ऐसा समझना चाहिये। यह जो सम्यक्मति और श्रुतज्ञानके भेद दिये गये हैं वे ज्ञान विशेष निर्मलता होनेके लिये दिये गये हैं, उन भेदो मे अटककर रागमे लगे रहने के लिये नही दिये गये है, इसलिये उन भेदोका स्वरूप जानकर जीवको अपने त्रैकालिक अखड अभेद चैतन्य स्वभावकी ओर उन्मुख होकर निर्विकल्प होनेकी आवश्यकता है ॥ २० ॥

अवधिज्ञान का वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—[**भवप्रत्ययः**] भवप्रत्यय नामक [**अवधिः**] अवधिज्ञान [**देवनारकाणाम्**] देव और नारकियोके होता है।

टीका

(१) अवधिज्ञानके दो भेद हैं (१) भवप्रत्यय, (२) गुण प्रत्यय। प्रत्यय, कारण और निमित्त तीनो एकार्थ वाचक शब्द है। यहाँ 'भव प्रत्यय' शब्द वाह्य निमित्त की अपेक्षासे कहा है, अतरग निमित्त तो प्रत्येक प्रकार के अवधिज्ञानमे अवधिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होना है।

(२) देव और नारक पर्यायके धारण करने पर जीव को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है। जैसे पक्षियोमे जन्मका होना ही आकाशमे गमनका निमित्त होता है, न कि शिक्षा, उपदेश, जपतप इत्यादि, इसीप्रकार नारकी और देवकी पर्यायमे उत्पत्ति मात्रसे अवधिज्ञान प्राप्त होता है। [यहाँ सम्यग्ज्ञान का विषय है फिर भी सम्यक् या मिथ्याका भेद किये विना सामान्य अवधिज्ञान के लिये 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है।]

(३) भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरोके (गृहस्थदशा मे होता है, वह नियमसे देशावधि होता है, वह समस्तप्रदेश से उत्पन्न होता है।

(४) 'गुणप्रत्यय'—किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीवके पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहलाता है ॥ २१ ॥

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके भेद तथा उनके स्वामी—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—[**क्षयोपशमनिमित्तः**] क्षयोपशमनैमित्तक अवधिज्ञान [**षड्विकल्पः**] अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान अवस्थित और अनवस्थित–ऐसे छह भेदवाला है, और वह [**शेषाणाम्**] मनुष्य तथा तिर्यंचो के होता है।

टीका

(१) **अनुगामी**—जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाश की भाँति जीवके साथ ही साथ जाता है उसे अनुगामी कहते है।

अननुगामी—जो अवधिज्ञान जीवके साथ ही साथ नही जाता उसे अननुगामी कहते है।

वर्धमान—जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्षके चन्द्रमा की कला की भाँति बढता रहे उसे वर्धमान कहते है।

हीयमान—जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष के चन्द्रमाकी कलाके माफिक घटता रहे उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थित—जो अवधिज्ञान एकसा रहे, न घटे न बढे उसे अवस्थित कहते है।

अनवस्थित—जो पानीकी तरंगोकी भाँति घटता बढता रहे, एकसा न रहे उसे अनवस्थित कहते हैं।

(२) यह अवधिज्ञान मनुष्योको होता है ऐसा कहा गया है, इसमे तीर्थंकरोको नही लेना चाहिए, उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्योको समझना चाहिए, वह भी बहुत थोडेसे मनुष्योको होता है। इस अवधिज्ञानको 'गुणप्रत्यय' भी कहाजाता है। वह नाभिके ऊपर शंख, पद्म, वज्र स्वस्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नोके द्वारा होता है।

(३) अवधिज्ञानके * प्रतिपाति, × अप्रतिपाति, देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद भी हैं।

(४) जघन्य+देशावधि सयत तथा असयत मनुष्यो और तिर्यंचो के होता है। (देव-नारकीको नही होता) उत्कृष्ट देशावधि सयत भावमुनिके ही होता है–अन्य तीर्थंकरादि गृहस्थ–मनुष्य, देव नारकीके नही होता, उनके देशावधि होता है।

(५) देशावधि उपरोक्त (पैरा १ मे कहे गये) छह प्रकार तथा प्रतिपाति और अप्रतिपाति ऐसे आठ प्रकार का होता है।

परमावधि–अनुगामी, अननुगामी वर्धमान अवस्थित अनवस्थित और अप्रतिपाति होता है।

(६) अवधिज्ञान रूपी–पुद्गल तथा उस पुद्गलके सम्बन्धवाले ससारी जीव (के विकारी भाव) को प्रत्यक्ष जानता है।

(७) **द्रव्य अपेक्षा से जघन्य अवधिज्ञानका विषय**—एक जीवके औदारिक शरीर सचयके लोकाकाश–प्रदेश प्रमाण–खड करने पर उसके एक खड तकका ज्ञान होता है।

द्रव्यापेक्षासे सर्वावधिज्ञानका विषय—एक परमाणु तक जानता है [देखो सूत्र २८ की टीका]

द्रव्यापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्ट के बीचके द्रव्योके भेदोको जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे जघन्य अवधिज्ञान का विषय—उत्सेधागुलके [आठ यव मध्यके] असख्यातवे भाग तकके क्षेत्रको जानता है।

क्षेत्र अपेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय–असख्यात लोकप्रमाण तक क्षेत्रको जानता है।

---

* प्रतिपाति=जो गिर जाता है। × अप्रतिपाति=जो नही गिरता।

+ जघन्य=सबसे कम।

क्षेत्र अपेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके क्षत्र भेदोंको जानता है ।

कालापेक्षासे जघन्यअवधिज्ञानका विषय—आवलीके असख्यात भाग प्रमाण भूत और भविष्यको जानता है ।

कालापेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय—असख्यात लोक प्रमाण अतीत और अनागतकालको जानता है ।

कालापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्ट के बीचके काल भेदोको जानता है ।

भाव अपेक्षासे अवधिज्ञानका विषय—पहिले द्रव्य प्रमाण निरूपण किये गये द्रव्योकी शक्तिको जानता है ।

[श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९३-९४]

(८) कर्मका क्षयोपशम निमित्तमात्र है, अर्थात् जीव अपने पुरुषार्थसे अपने ज्ञानकी विशुद्ध अवधिज्ञान पर्यायको प्रगट करता है उसमे 'स्वय' ही कारण है। अवधिज्ञानके समय अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम स्वय होता है इतना सवध वतानेको निमित्त बताया है। कर्मकी उस समय की स्थिति कर्मके अपने कारणमे क्षयोपशमरूप होती है, इतना निमित्त—नैमित्तिक सवध है। वह यहाँ वताया है।

(९) क्षयोपशमका अर्थ—(१) सर्वघातिस्पर्द्धकोका उदयाभाविक्षय, (२) देशघातिस्पर्द्धकोमे गुणका सर्वथा घात करनेकी शक्तिका उपशम क्षयोपशम कहलाता है। तथा—

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमे वेदक सम्यक्त्वप्रकृतिके 'स्पर्द्धकोको क्षय' और मिथ्यात्व, तथा सम्यक् मिथ्यात्त्व प्रकृतियोके उदयाभावको उपशम कहते है। प्रकृतियोके क्षय तथा उपशमको क्षयोपशम कहते है [श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २००–२११–२२१]

(१०) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रतके निमित्तसे होता है तथापि वह सभी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती या महाव्रती, जीवो के नही होना, क्योकि असख्यात लोकप्रमाण सम्यक्त्व, सयमासयम

और संयमरूप परिणामोमे अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारणभूत परिणाम बहुत थोडे होते हैं [श्री जयधवला पृष्ठ १७] गुणप्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवोके ही हो सकता है, किन्तु वह सभी सम्यग्दृष्टि जीवो के नही होता।

सूत्र २१-२२ का सिद्धान्त

यह मानना ठीक नही है कि "जिन जीवोको अवधिज्ञान हुआ हो वे ही जीव अवधिज्ञानका उपयोग लगाकर दर्शन मोहकर्मके रजकणोकी अवस्थाको देखकर उसपर से यह यथार्थतया जान सकते है कि-हमे सम्यग्दर्शन हुआ है" क्योकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवोको अवधिज्ञान नही होता, किंतु सम्यग्दृष्टि जीवोमेसे बहुत थोडेसे जीवोको अवधिज्ञान होता है। अपनेको 'सम्यग्दर्शन हुआ है' यदि यह अवधिज्ञानके विना निश्चय न हो सकता होता तो जिन जीवोके अवधिज्ञान नही होता उन्हे सदा तत्संबधी शका-सशय बना ही रहेगा, किंतु नि शकित्व सम्यग्दर्शनका पहिला ही आचार है, इसलिये जिन जीवोको सम्यग्दर्शन सबधी शका बनी रहती है वे जीव वास्तवमे सम्यग्दृष्टि नही हो सकते किंतु मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये अवधिज्ञानका, मन पर्ययज्ञानका तथा उनके भेदोका स्वरूप जानकर, भेदो की ओरके रागको दूर करके अभेद ज्ञानस्वरूप अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होना चाहिये ॥ २२ ॥

मन:पर्ययज्ञानके भेद

ऋजुविपुलमती मन:पर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ—[मन पर्यय.] मन पर्ययज्ञान [ऋजुमतिविपुलमति·] ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकारका है।

टीका

(१) मन पर्ययज्ञानकी व्याख्या नवमे सूत्रकी टीकामे की गई है। दूसरेके मनोगत मूर्तिक द्रव्योको मनके साथ जो प्रत्यक्ष जानता है सो मन - पर्ययज्ञान है।

(२) **द्रव्यापेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका विषय**—जघन्य रूपसे एक समयमे होनेवाले औदारिक शरीरके निर्जरारूप द्रव्यतक जान सकता है, उत्कृष्टरूपसे आठ कर्मोंके एक समयमे बधे हुए समयप्रवद्धरूप* द्रव्यके अनंत भागोमे से एक भाग तक जान सकता है।

क्षेत्रापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—जघन्यरूपसे दो, तीन कोसतकके क्षेत्रको जानता है, और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर जान सकता है। [यहाँ विष्कभरूप मनुष्यक्षेत्र समझना चाहिए]

कालापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—जघन्यरूपसे दो तीन भवोका ग्रहण करता है, उत्कृष्टरूपसे असख्यात भवोका ग्रहण करता है।

भावापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—द्रव्यप्रमाणमे कहे गये द्रव्योकी शक्तिको (भावको) जानता है। [श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९४]

इस ज्ञानके होनेमे मन अपेक्षामात्र (निमित्तमात्र) कारण है, वह उत्पत्तिका कारण नही है। इस ज्ञानकी उत्पत्ति आत्माकी शुद्धिसे होती है। इस ज्ञानके द्वारा स्व तथा पर दोनोके मनमे स्थित रूपी पदार्थ जाने जा सकते है। [श्री सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८–४५१–४५२]

दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको भी मन कहते है, उनकी पर्यायो (विशेषो) को मन पर्यय कहते है, उसे जो ज्ञान जानता है सो मन पर्यय-ज्ञान है। मन पर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति—ऐसे दो भेद हैं।

ऋजुमति—मनमे चिंतित पदार्थको जानता है, अचिंतित पदार्थको नही, और वह भी सरलरूपसे चिंतित पदार्थको जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

विपुलमति—चिंतित और अचिंतित पदार्थको तथा वक्रचिंतित और अवक्रचिंतित पदार्थको भी जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

---

* समयप्रवद्ध—एक समयमे जितने कर्म परमाणु और नो कर्म परमाणु बँधने हैं उन सबको समयप्रवद्ध कहते हैं।

मन पर्ययज्ञान विशिष्ट सयमधारीके होता है [श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २८–२९] 'विपुल' का अर्थ विस्तीर्ण–विशाल–गभीर होता है। [उसमे कुटिल, असरल, विषम, सरल इत्यादि गर्भित हैं] विपुलमतिज्ञान में ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा) सर्वप्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरोके जीवन–मरण, सुख–दु ख, लाभ-अलाभ, इत्यादि का भी ज्ञान होता है।

विपुलमन पर्ययज्ञानी व्यक्त अथवा अव्यक्त मनसे चिंतित या अचिंतित अथवा आगे जाकर चिन्तवन किये जाने वाले सर्व प्रकारके पदार्थोंको जानता है। [सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ ४४८-४५१-४५२]

कालापेक्षासे ऋजुमतिका विषय–जघन्यरूपसे भूत–भविष्यत्‌के अपने और दूसरेके दो तीन भव जानता है, और उत्कृष्टरूपसे उसीप्रकार सात आठ भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे–यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीनसे ऊपर और नो से नीचे कोस, तथा उत्कृष्टरूपसे तीनसे ऊपर और नो से नीचे योजनके भीतर जानता है। उससे बाहर नही जानता।

कालापेक्षासे विपुलमतिका विषय–जघन्यरूपसे अगले पिछले सात आठ भव जानता है और उत्कृष्टरूपसे अगले पिछले असख्यात भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे—यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीन से ऊपर और नो से नीचे योजन प्रमाण जानता है, और उत्कृष्टरूपसे मानुषोत्तरपर्वतके भीतरतक जानता है, उससे बाहर नही। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४५४]

विपुलमति का अर्थ—इग्लिश तत्वार्थ सूत्रमे निम्न प्रकार दिया है।

Complex direct knowledge of complex mental things. e. g. of what a man is thinking of now along with what he has thought of it in the past and will think of it in the future.

[पृष्ठ ४०]

अर्थ—मनमे स्थित पेचीदा वस्तुओका पेचीदगी सहित प्रत्यक्षज्ञान, जैसे एक मनुष्य वर्तमानमे क्या विचार कर रहा है, उसके साथ भूतकालमे उसने क्या विचार किया है और भविष्य मे क्या विचार करेगा, इस ज्ञान का मनोगत विकल्प मनःपर्ययज्ञानका विषय है। (बाह्य वस्तु की अपेक्षा मनोगतभाव एक अति सूक्ष्म और विजातीय वस्तु है) ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थः—[**विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां**] परिणामो की विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होनेसे पूर्व न छूटना [**तद्विशेषः**] इन दो बातो से ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानमे विशेषता (अतर) है।

टीका

ऋजुमति और विपुलमति यह दो मन पर्ययज्ञानके भेद सूत्र २३ की टीकामे दिये गये है। इस सूत्रमे स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नही छूट सकता, किन्तु वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है यह भेद चारित्र की तीव्रता के भेदके कारण होते है। सयम परिणाम का घटना—उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमति वालेके होता है ॥ २४ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

अर्थः—[**अवधिमनःपर्यययोः**] अवधि और मन पर्ययज्ञान मे [**विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः**] विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षासे विशेषता होती है।

टीका

मन पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव-मुनियोके ही होता है, और अवधिज्ञान चारो गतियोके सैनी जीवोके होता है, यह स्वामी की अपेक्षासे भेद है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण तक है, और मनः-पर्ययज्ञानका ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र है। यह क्षेत्रापेक्षासे भेद है।

स्वामी तथा विषयके भेदसे विशुद्धि मे अन्तर जाना जा सकता है, अवधिज्ञानका विषय परमाणु पर्यन्त रूपी पदार्थ है, और मन पर्यय का विषय मनोगत विकल्प है।

विषयका भेद सूत्र २७-२८ की टीकामे दिया गया है, तथा सूत्र २२ की टीका मे अवधिज्ञानका और २३ की टीकामे मन पर्ययज्ञानका विषय दिया गया है, उस पर से यह भेद समझ लेना चाहिए ॥ २५ ॥

मति-श्रुतज्ञानका विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

अर्थः—[मतिश्रुतयोः] मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका [निबधः] विषय सम्बन्ध [असर्वपर्यायेषु] कुछ (न कि सर्व) पर्यायो से युक्त [द्रव्येषु] जीव,-पुद्गलादि सर्व द्रव्योमे हैं।

टीका

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्योको जानते है, किन्तु उनकी सभी पर्यायोको नही जानते, उनका विषय-सम्बन्ध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोके साथ होता है।

इस सूत्रमे 'द्रव्येषु' शब्द दिया है जिससे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल सभी द्रव्य समझना चाहिए। उनकी कुछ पर्यायो को यह ज्ञान जानते हैं, सभी पर्यायोको नही।

प्रश्न—जीव, धर्मास्तिकाय, इत्यादि अमूर्त्तद्रव्य हैं, उन्हे मतिज्ञान कैसे जानता है, जिससे यह कहा जा सके कि मतिज्ञान सब द्रव्यो को जानता है?

उत्तर—अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से अरूपी द्रव्योका अवग्रह ईहा अवाय और धारणारूप मतिज्ञान पहिले उत्पन्न होता है और फिर उस मति-

ज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान सर्व द्रव्योको जानता है, और अपनी अपनी योग्य पर्यायोको जानता है।

इन दोनो ज्ञानोके द्वारा जीवको भी यथार्थतया जाना जा सकता है॥ २६ ॥

अवधिज्ञानका विषय—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थः—[**अवधेः**] अवधिज्ञानका विषय—सम्बन्ध [**रूपिषु**] रूपी द्रव्योमे है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थोंको जानता है।

टीका

जिसके रूप, रस गध स्पर्श होता है वह पुद्गल द्रव्य है, पुद्गलद्रव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले ससारी जीवको भी इस ज्ञानके हेतुके लिये रूपी कहा जाता है, [देखो सूत्र २८ की टीका]

जीवके पाँच भावोमे से औदयिक औपशमिक, और क्षायोपशमिक,—यह तीन भाव (परिणाम) ही अवधिज्ञानके विषय है, और जीवके शेष—क्षायिक तथा परिणामिकभाव और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, तथा कालद्रव्य, अरूपी पदार्थ हैं, वे अवधिज्ञानके विषयभूत नही होते।

यह ज्ञान सर्व रूपी पदार्थों और उसकी कुछ पर्यायोको जानता है ॥ २७ ॥

मनःपर्ययज्ञानका विषय—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थ—[**तत् अनतभागे**] सर्वावधिज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनतवे भागमे [**मनःपर्ययस्य**] मन पर्ययज्ञानका विषय-सम्बन्ध है।

टीका

परमावधिज्ञानके विषयभूत जो पुद्गलस्कध है उनका अनतवाँ भाग

करने पर जो एक परमाणुमात्र होता है सो सर्वावधिका विषय है, उसका अनन्तवाँ भाग ऋजुमतिमन पर्ययज्ञानका विषय है और उसका अनतवाँ भाग विपुलमतिमन पर्ययज्ञानका विषय है। (सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ ४७३)

सूत्र २७—२८ का सिद्धान्त

अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका विषय रूपी है, ऐसा यहाँ कहा गया है। अध्याय दो सूत्र एक मे आत्माके पाँच भाव कहे हैं, उनमे से औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक ये तीन भाव इस ज्ञानके विषय है, ऐसा २७ वे सूत्रमे कहा है, इससे निश्चय होता है कि परमार्थत यह तीन भाव रूपी हैं,—अर्थात् वे अरूपी आत्माका स्वरूप नही है। क्योकि आत्मामे से वे भाव दूर हो सकते है, और जो दूर हो सकते हैं वे परमार्थत आत्माके नही हो सकते। 'रूपी' की व्याख्या अध्याय पाँचके सूत्र पाँचवे मे दी है। वहाँ पुद्गल 'रूपी' है–ऐसा कहा है, और पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाले हैं, यह अध्याय पाचके २३ सूत्रमे कहा है। श्रीसमयसारकी गाथा ५० से ६८ तथा २०३ मे यह कहा है कि वर्णादिसे गुणस्थानतकके भाव पुद्-गल द्रव्यके परिणाम होनेसे जीवकी अनुभूतिसे भिन्न हैं, इसलिये वे जीव नहीं हैं। वही सिद्धान्त इस शास्त्रमे उपरोक्त सक्षिप्त सूत्रोके द्वारा प्रति-पादन किया गया है।

अध्याय २ सूत्र १ मे उन भावोको व्यवहारसे जीवका कहा है, यदि वे वास्तवमे जीवके होते तो कभी जीवसे अलग न होते किंतु वे अलग किये जा सकते हैं इसलिये वे जीवस्वरूप या जीवके निजभाव नही है ॥२८॥

केवलज्ञानका विषय

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थ—[केवलस्य] केवलज्ञानका विषय सबध [सर्वद्रव्य–पर्यायेषु] सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं, अर्थात् केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थोंको और उनकी सभी पर्यायोंको जानता है।

टीका

केवलज्ञान = असहाय ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय, मन, या आलोक की अपेक्षासे रहित है। वह त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोको प्राप्त अनन्त वस्तुओको जानता है। वह असकुचित, प्रतिपक्षी रहित और अमर्यादित है।

शंका—जिस पदार्थका नाश हो चुका है और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नही हुआ उसे केवलज्ञान कैसे जान सकता है ?

समाधान—केवलज्ञान निरपेक्ष होनेसे बाह्य पदार्थोकी अपेक्षाके विना ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोको जाने तो इसमे कोई विरोध नही आता। केवलज्ञानको विपर्ययज्ञानत्वका भी प्रसग नही आता, क्योकि वह यथार्थ स्वरूपसे पदार्थोको जानता है। यद्यपि नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओका वर्तमान मे सद्भाव नही है तथापि उनका अत्यन्ताभाव भी नही है।

केवलज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनतानत पर्यायोको अक्रमसे एक ही कालमे जानता है, वह ज्ञान सहज (विनाइच्छाके) जानता है। केवलज्ञानमे ऐसी शक्ति है कि अनतानत लोक-अलोक हो तो भी उन्हे जाननेमे केवलज्ञान समर्थ है।

विशेप स्पष्टताके लिये देखो अध्याय १ परिशिष्ठ ५ जो बडे महत्वपूर्ण है।

शंका—केवली भगवानके एक ही ज्ञान होता है या पाँचो ?

समाधान—पाँचो ज्ञानोका एक ही साथ रहना नही माना जा सकता, क्योकि मतिज्ञानादि आवरणीयज्ञान है, केवलज्ञानी भगवान क्षीण आवरणीय है इसलिये भगवानके आवरणीय ज्ञानका होना सभव नही है, क्योकि आवरणके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानोका (आवरणोका अभाव होनेके बाद) रहना हो सकता, ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है, [श्री धवला पु० ६ पृष्ठ २९-३०]

मति आदि ज्ञानोका आवरण केवलज्ञानावरणके नाश होनेके साथ ही सपूर्ण नष्ट हो जाता है। [देखो सूत्र ३० की टीका]

एक ही साथ सर्वथा जाननेकी एक एक जीवमे सामर्थ्य है।

२९ वें सूत्रका सिद्धांत—

'मै परको जानू तो वडा कहलाऊ' ऐसा नही किंतु मेरी अपार सामर्थ्य अनत ज्ञान-ऐश्वर्यरूप है इसलिये मैं पूर्णज्ञानघन स्वाधीन आत्मा हूँ,—इसप्रकार पूर्ण साध्यको प्रत्येक जीवको निश्चित करना चाहिये, इसप्रकार निश्चित करके स्वसे एकत्व और परसे विभक्त (भिन्न) अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिये। अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जीव क्रमश आगे वढता है और थोडे समयमे उसकी पूर्ण ज्ञान दशा प्रगट हो जाती है॥ २९ ॥

एक जीवके एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

अर्थः—[एकस्मिन्] एक जीवमे [युगपत्] एक साथ [**एकादीनि**] एक से लेकर [**आचतुर्भ्यः**] चार ज्ञान तक [**भाज्यानि**] विभक्त करने योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

टीका

(१) एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चारज्ञान तक हो सकते हैं ? यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो हो तो मति और श्रुत होते है, तीन हो तो मति श्रुत और अवधि अथवा मति श्रुत और मन पर्ययज्ञान होते हैं, चार हो तो मति श्रुत, अवधि और मन पर्ययज्ञान होते हैं। एक ही साथ पाँच ज्ञान किसीके नही होते। और एक ही ज्ञान **एक समयमें** उपयोगरूप होता है, केवलज्ञानके प्रगट होने पर वह सदाके लिये वना रहता है, दूसरे ज्ञानोका उपयोग अधिकसे अधिक अतमुंहूर्त होता है, उससे अधिक नही होता, उसके वाद ज्ञानके उपयोगका विषय वदल ही जाता है। केवलीके अतिरिक्त सभी ससारी जीवोके कमसे कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

(२) क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है एककालमे एक ही प्रवर्तित होता

है, किंतु यहाँ जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे है सो चारका विकास एक ही समय होनेसे चार ज्ञानोकी जाननेरूप लब्धि एक कालमे होती है,— यही कहनेका तात्पर्य है। उपयोग तो एक कालमे एक ही स्वरूप होता है ॥ ३० ॥

सूत्र ९ से ३० तक का सिद्धांत

आत्मा वास्तवमे परमार्थ है और वह ज्ञान है, आत्मा स्वय एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। जो यह ज्ञान नामक एक पद है सो यह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष उपाय है। इन सूत्रोमे ज्ञानके जो भेद कहे है वे इस एक पदको अभिनदन करते है।

ज्ञानके हीनाधिकरूप भेद उसके सामान्य ज्ञान स्वभावको नही भेदते, कितु अभिनन्दन करते हैं, इसलिये जिसमे समस्त भेदोका अभाव है ऐसे आत्मस्वभावभूत ज्ञानका ही एकका आलबन करना चाहिए, अर्थात् ज्ञान-स्वरूप आत्माका ही अवलबन करना चाहिये, ज्ञानस्वरूप आत्माके अवलबन से ही निम्न प्रकार प्राप्ति होती है —

(१)—निजपद की प्राप्ति होती है। २—भ्रातिका नाश होता है। ३—आत्माका लाभ होता है। ४—आत्माका परिहार सिद्ध होता है। ५—भावकर्म बलवान नही हो सकता। ६—राग-द्वेष मोह उत्पन्न नही होते। ७—पुन कर्मका आश्रव नही होता। ८— पुन कर्म नही बँधता। ९—पूर्वबद्ध कर्म भोगा जानेपर निर्जरित हो जाता है। १०—समस्त कर्मों का अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। ज्ञान स्वरूप आत्माके आलबन की ऐसी महिमा है।

क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमे जो भेद होते है वे कही ज्ञान सामान्यको अज्ञानरूप नही करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते है इसलिये इन सब भेदो-पर का लक्ष्य गौण करके ज्ञान सामान्यका अवलवन करना चाहिये। नवमे सूत्रके अतमे एक वचन सूचक 'ज्ञानम्' शब्द कहा है, वह भेदोका स्वरूप जानकर, भेदो परका लक्ष्य छोडकर, शुद्धनयके विषयभूत अभेद, अखड ज्ञान-स्वरूप आत्माकी ओर अपना लक्ष्य करनेके लिये कहा है, ऐसा समझना चाहिए [देखो पाटनी ग्रन्थमाला का श्री समयसार–गाथा २०४, पृष्ठ ३१०]

मति श्रुत और अवधिज्ञानमें मिथ्यात्व—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययाश्च ॥ ३१ ॥

अर्थः—[मतिश्रुतावधयः] मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान [विपर्ययाश्च] विपर्यय भी होते है।

टीका

(१) उपरोक्त पाँचो ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु मति श्रुत और अवधि यह तीनो ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। उस मिथ्याज्ञानको कुमतिज्ञान कुश्रुत-ज्ञान तथा कुअवधि (विभगावधि) ज्ञान कहते हैं। अभीतक सम्यग्ज्ञान का अधिकार चला आ रहा है, अब इस सूत्रमे 'च' शब्दसे यह सूचित किया है कि यह तीन ज्ञान सम्यक् भी होते है और मिथ्या भी होते हैं। सूत्र मे विपर्यय. शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसमे सशय और अनध्यवसाय गर्भितरूप से आ जाते हैं। मति और श्रुतज्ञानमे सशय विपर्यय, और अनध्यवसाय यह तीन दोप हैं, अवधिज्ञानमे सशय नही होता, किन्तु अनध्यवसाय अथवा विपर्यय यह दो दोप होते हैं, इसलिये उसे कुअवधि अथवा विभग कहते हैं। विपर्यय सम्बन्धी विशेप वर्णन ३२ वे सूत्रकी टीका मे दिया गया है।

(२) अनादि मिथ्यादृष्टिके कुमति और कुश्रुत होते हैं। तथा उसके देव और नारकी के भवमे कुअवधि भी होता है। जहाँ जहाँ मिथ्यादर्शन होता है वहाँ वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावी रूपसे होता है॥ ३१॥

प्रश्न—जैसे सम्यग्दृष्टि जीव नेत्रादि इन्द्रियोमे रूपादि को सुमति से जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुमतिज्ञानसे उन्हे जानता है, तथा जैसे सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञानसे उन्हे जानता है तथा कथन करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञानसे जानता है और कथन करता है, तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानसे रूपी वस्तुओ को जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि कुअवधिज्ञानसे जानता है,—तब फिर मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्याज्ञान क्यों कहते हो?

उत्तर—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ—[**यदृच्छोपलब्धेः**] अपनी इच्छा से चाहे जैसा (Whims) ग्रहण करनेके कारण [**सत् असतोः**] विद्यमान और अविद्यमान पदार्थों का [**अविशेषात्**] भेदरूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होने से [**उन्मत्तवत्**] पागलके ज्ञानकी भाँति मिथ्यादृष्टि का ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

टीका

(१) यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह **'मोक्षशास्त्र है'** इसलिये अविनाशी सुखके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एक ही मार्ग है यह पहिले सूत्रमे बताकर, दूसरे सूत्रमे सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया है, जिसकी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन होता है वे सात तत्त्व चौथे सूत्रमे बताये है, तत्त्वोको जाननेके लिये प्रमाण और नयके ज्ञानोकी आवश्यकता है ऐसा ६ वें सूत्रमे कहा है, पाँच ज्ञान सम्यक् हैं इसलिये वे प्रमाण है, यह ९-१० वे सूत्र मे बताया है और उन पाच सम्यग्ज्ञानोका स्वरूप ११ से ३० वे सूत्र तक बताया है।

(२) इतनी भूमिका बाँधनेके वाद मति श्रुत और अवधि यह तीन मिथ्याज्ञान भी होते है, और जीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है इसलिये वह जब तक सम्यक्त्वको नही पाता तब तक उसका ज्ञान विपर्यय है, यह ३१ वे सूत्रमे बताया है। **सुखके सच्चे अभिलाषीको सर्व प्रथम मिथ्यादर्शन का त्याग करना चाहिये**—यह बतानेके लिये इस सूत्रमे मिथ्याज्ञान—जोकि सदा मिथ्यादर्शन पूर्वक ही होता है—उसका स्वरूप बताया है।

(३) सुखके सच्चे अभिलाषीको मिथ्याज्ञानका स्वरूप समझाने के लिये कहा है कि—

१—मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत् के बीचका भेद (विवेक) नही जानता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भव्य जीवको पहिले सत् क्या है और असत् क्या है इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मिथ्याज्ञान को दूर करना चाहिये।

२—जहाँ सत् और असत्के भेदका अज्ञान होता है वहाँ ना समझ पूर्वक जीव जैसा अपनेको ठीक लगता है वैसा पागल पुरुषकी भाँति अथवा शराव पीये हुए मनुष्यकी भाँति मिथ्या कल्पनाएँ किया ही करता है। इस लिये यह समझाया है कि सुखके सच्चे अभिलाषी जीवको **सच्ची समझ** पूर्वक मिथ्या कल्पनाओंका नाश करना चाहिए।

(४) पहिले से तीस तकके सूत्रोंमे मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका स्वरूप समझाकर उसे ग्रहण करनेको कहा है, वह उपदेश 'अस्ति' से दिया है, और ३१ वे सूत्र मे मिथ्याज्ञानका स्वरूप बताकर उसका कारण ३२वे सूत्रमे देकर मिथ्याज्ञानका नाश करनेका उपदेश दिया है, अर्थात् इस सूत्रमे 'नास्ति' से समझाया है। इसप्रकार 'अस्ति-नास्ति' के द्वारा अर्थात् अनेकात के द्वारा सम्यक्ज्ञानको प्रगट करके मिथ्याज्ञानकी नास्ति करनेके लिये उपदेश दिया है।

(५) सत्=विद्यमान (वस्तु)

असत्=अविद्यमान (वस्तु)

अविशेषात् = इन दोनोका यथार्थ विवेक न होनेसे।

यदृच्छ (विपर्यय) उपलब्धेः = [विपर्यय शब्दकी ३१ वे सूत्र से अनुवृत्ति चली आई है] विपरीत-अपनी मनमानी इच्छानुसार कल्पनाएँ-होनेमे वह मिथ्याज्ञान है।

उन्मत्तवत्—मदिरा पीये हुए मनुष्यकी भाँति।

विपर्यय—विपरीतता, वह तीन प्रकारकी है-१-कारणविपरीतता, २-स्वरूपविपरीतता, ३-भेदाभेदविपरीतता।

कारणविपरीतता—मूलकारणको न पहिचाने और अन्यथा कारण को माने।

स्वरूपविपरीतता—जिसे जानता है उसके मूल वस्तुभूत स्वरूप को न पहिचाने और अन्यथा स्वरूपको माने।

भेदाभेदविपरीतता–जिसे वह जानता है उसे 'यह इससे भिन्न है' और 'यह इससे अभिन्न है'–इसप्रकार यथार्थ न पहिचान कर अन्यथा भिन्नत्व-अभिन्नत्वको माने सो भेदाभेदविपरीतता है।

(१) इन तीन विपरीतताओंको दूर करनेका उपाय––

सच्चे धर्मकी यह परिपाटी है कि पहिले जीव सम्यक्त्व प्रगट करता है, पश्चात् व्रतरूप शुभभाव होते है। और सम्यक्त्व स्व और परका श्रद्धान हानेपर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग (अध्यातम शास्त्रो) का अभ्यास करनेसे होता है, इसलिये **पहिले** जीवको द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये, और **फिर** स्वय चरणानुयोगके अनुसार सच्चे व्रतादि धारण करके व्रती होना चाहिए।

इसप्रकार मुख्यतासे तो नीचली दशामे ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। यथार्थ अभ्यासके परिणामस्वरूप विपरीतताके दूर होने पर निम्नप्रकार यथार्थतया मानता है–

१—एक द्रव्य, उसके गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य, उसके गुण या पर्याय मे कुछ भी नही कर सकते। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने कारणसे अपनी पर्याय धारण करता है। विकारी अवस्थाके समय परद्रव्य निमित्तरूप अर्थात् उपस्थित तो होता है किन्तु वह किसी अन्यद्रव्यमे विक्रिया (कुछ भी) नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्यमे अगुरुलघुत्व नामक गुण है इसलिये यह द्रव्य अन्यरूप नही होता, एक गुण दूसरेरूप नही होता और एक पर्याय दूसरेरूप नही होती। एक द्रव्यके गुण या पर्याय उस द्रव्यसे पृथक् नही हो सकते। इसप्रकार जो अपने क्षेत्रसे अलग नही हो सकते और पर द्रव्यमे नही जा सकते तव फिर वे उसका क्या कर सकते है? कुछ भी नही। एक द्रव्य, गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यकी पर्यायमे कारण नही होते, इसीप्रकार वे दूसरे का कार्य भी नही होते, ऐसी **अकारणकार्यत्वशक्ति** प्रत्येक द्रव्य मे विद्यमान है। इसप्रकार समझ लेने पर कारणविपरीतता दूर हो जाती है।

२–प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है। जीव द्रव्य चेतनागुण स्वरूप है, पुद्गल-द्रव्य स्पर्श, रस, गध, और वर्ण स्वरूप है, जबतक जीव ऐसी विपरीत पकड़

पकडे रहता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है तथा शुभ विकल्पसे लाभ होता है' तवतक उसकी अज्ञानरूप पर्याय बनी रहती है। जब जीव यथार्थको समझता है अर्थात् सत्को समझता है तब यथार्थ मान्यता पूर्वक उसे सच्चा ज्ञान होता है। उसके परिणाम स्वरूप क्रमश शुद्धता बढकर सपूर्ण वीतरागता प्रगट होती है। अन्य चार द्रव्य (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और काल) अरूपी है, उनकी कभी अशुद्ध अवस्था नही होती, इसप्रकार समझ लेने पर स्वरूप विपरीतता दूर हो जाती हे।

३—परद्रव्य, जडकर्म और शरीरसे जीव त्रिकाल भिन्न है, जब वे एक क्षेत्रावगाह सबधसे रहते है तब भी जीवके साथ एक नही हो सकते, एक द्रव्यके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे द्रव्यमे नास्तिरूप है, क्योकि दूसरे द्रव्यसे वह द्रव्य चारो प्रकारसे भिन्न है। प्रत्येक दव्य स्वय अपने गुणसे अभिन्न है। क्योकि उससे वह द्रव्य कभी पृथक् नही हो सकता। इसप्रकार समझ लेने पर भेदाभेदविपरीतता दूर हो जाती है।

सत्—त्रिकाल टिकनेवाला, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय, शुद्ध, यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जीवका ज्ञायकभाव त्रैकालिक अखड है, इसलिये वह सत्, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय और शुद्ध है। इस दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, वस्तुदृष्टि, शिवदृष्टि, तत्त्वदृष्टि और कल्याणकारी दृष्टि भी कहते हैं।

असत्—क्षणिक, अभूतार्थ, अपरमार्थ, व्यवहार, भेद, पर्याय, भग, अविद्यमान, जीवमे होनेवाला विकारभाव असत् है क्योकि वह क्षणिक है और टालने पर टाला जा सकता है।

जीव अनादिकालसे इस असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है इसलिये उसे पर्यायबुद्धि, व्यवहारविमूढ, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि मोही और मूढ भी कहा जाता है, अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भावको अपना मान रहा है, अर्थात् वह असत्को सत् मान रहा है, इसलिये इस भेदको जानकर जो असत्को गौण करके सत् स्वरूपपर भार देकर अपने ज्ञायक स्व-

भावकी ओर उन्मुख होता है वह मिथ्याज्ञानको दूर करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, उसकी उन्मत्तता दूर हो जाती है।

विपर्यय—भी दो प्रकारका है, सहज और आहार्य।

(१) **सहज**—जो स्वत अपनी भूलसे अर्थात् परोपदेशके बिना विपरीतता उत्पन्न होती है।

(२) **आहार्य**—दूसरेके उपदेशसे ग्रहण की गई विपरीतता यह श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाले कुमतिज्ञान पूर्वक ग्रहण किया गया कुश्रुत-ज्ञान है।

शंका—दया धर्मके जाननेवाले जीवोके भले ही आत्माकी पहिचान न हो तथापि उन्हे दया धर्मकी श्रद्धा तो होती ही है, तब फिर उनके ज्ञान को अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—दया धर्मके ज्ञाताओमे भी आप्त, आगम, और पदार्थ (नव तत्त्वो) की यथार्थ श्रद्धासे रहित जो जीव है उनके दयाधर्म आदिमे यथार्थ श्रद्धा होनेका विरोध है, इसलिये उनका ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञानका जो कार्य होना चाहिए वह न हो तो वहाँ ज्ञानको अज्ञान माननेका व्यवहार लोकमे भी प्रसिद्ध है, क्योकि पुत्रका कार्य न करनेवाले पुत्रको भी लोकमे कुपुत्र कहनेका व्यवहार देखा जाता है।

शंका—ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधान—जाने हुए पदार्थकी श्रद्धा करना ज्ञानका कार्य है। ऐसे ज्ञानका कार्य मिथ्यादृष्टि जीवमे नही होता इसलिये उसके ज्ञानको अज्ञान कहा है। [श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २२४]

विपर्ययमे सशय और अनध्यवसायका समावेश हो जाता है,—यह ३१ वे सूत्रकी टीकामे कहा है, इसी सबधमे यहाँ कुछ बताया जाता है—

१—कुछ लोगोको यह सशय होता है कि धर्म या अधर्म कुछ होगा या नही ?

२—कुछ लोगोको सर्वज्ञके अस्तित्व–नास्तित्वका संशय होता है।

३—कुछ लोगोको परलोकके अस्तित्व नास्तित्वका संशय होता है।

४—कुछ लोगोको अनध्यवसाय (अनिर्णय) होता है। वे कहते है कि–हेतुवादरूप तर्कशास्त्र है इसलिये उससे कुछ निर्णय नही हो सकता ? और जो **आगम** है सो वे भिन्न २ प्रकारसे वस्तु का स्वरूप बतलाते है, कोई कुछ कहता है और कोई कुछ, इसलिये उनकी परस्पर बात नहीं मिलती।

४—कुछ लोगोको ऐसा अनध्यवसाय होता है कि कोई ज्ञाता सर्वज्ञ अथवा कोई मुनि या ज्ञानी प्रत्यक्ष दिखाई नही देता कि जिसके वचनो को हम प्रमाण मान सके, और धर्मका स्वरूप अति सूक्ष्म है इसलिये कैसे निर्णय हो सकता है ? इसलिए "महाजनो येन गता स पन्था" अर्थात् बडे आदमी जिस मार्गसे जाते है उसी मार्ग पर हमे चलना चाहिए।

६—कुछ लोग वीतराग धर्मका लौकिक वादोके साथ समन्वय करते है। वे शुभभावोके वर्णनमे कुछ समानता देखकर जगतमे चलनेवाली सभी धार्मिक मान्यताओको एक मान बैठते है। (यह विपर्यय है)।

७—कुछ लोग यह मानते हैं कि मंदकषायसे धर्म (शुद्धता) होती है, (यह भी विपर्यय है)।

८—कुछ लोग ईश्वरके स्वरूपको इसप्रकार विपर्यय मानते हैं कि—इस जगतको किसी ईश्वरने उत्पन्न किया है और वह उसका नियामक है।

इस प्रकार संशय विपर्यय और अनध्यवसाय अनेक प्रकारसे मिथ्याज्ञानमें होते हैं, इसलिये सत् और असत्का यथार्थ भेद यथार्थ समझकर, स्वच्छन्दतापूर्वककी जानेवाली कल्पनाओं और उन्मत्तताको दूर करनेके लिए यह सूत्र कहते हैं। [मिथ्यात्वको उन्मत्तता कहा है क्योंकि मिथ्यात्व से अनन्त पापोंका बंध होता है जिसका ध्यान जगतको नहीं है] ॥ ३२ ॥

प्रमाणका स्वरूप कहा गया, अब श्रुतज्ञानके अंशरूप नयका स्वरूप कहते हैं।

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतानयाः॥ ३३॥

अर्थ—[**नैगम**] नैगम [**संग्रह**] संग्रह [**व्यवहार**] व्यवहार [**ऋजुसूत्र**] ऋजुसूत्र [**शब्द**] शब्द [**समभिरूढ**] समभिरूढ [**एवंभूता**] एवंभूत—यह सात [**नया**] नय [Viewpoints] है।

टीका

वस्तुके अनेक धर्मोंमे से किसी एककी मुख्यता करके अन्य धर्मो का विरोध किये विना उन्हे गौण करके साध्य को जानना सो नय है।

प्रत्येक वस्तुमे अनेक धर्म रहे हुए है इसलिये वह अनेकान्तस्वरूप है। ['अंत' का अर्थ 'धर्म' होता है] अनेकान्तस्वरूप समझाने की पद्धति को 'स्याद्वाद' कहते है। स्याद्वाद द्योतक है, अनेकान्त द्योत्य है। 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' होता है, अर्थात् किसी यथार्थ प्रकार की विवक्षा का कथन स्याद्वाद है। अनेकान्तका प्रकाश करनेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

हेतु और विषयकी सामर्थ्यकी अपेक्षासे प्रमाण से निरूपण किये गये अर्थके एक देशको कहना सो नय है। उसे 'सम्यक् एकान्त' भी कहते है। श्रुतप्रमाण दो प्रकारका है स्वार्थ और परार्थ। उस श्रुतप्रमाणका अंश नय है। शास्त्रका भाव समझनेके लिये नयोंका स्वरूप समझना आवश्यक है, सात नयोंका स्वरूप निम्नप्रकार है।

१-**नैगमनय**—जो भूतकालकी पर्याय मे वर्तमानवत् संकल्प करे अथवा भविष्यकी पर्याय मे वर्तमानवत् संकल्प करे तथा वर्तमान पर्यायमे कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नही है उसका निष्पन्नरूप संकल्प करे उस ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं। [Figurative]

२–**संग्रहनय**—जो समस्त वस्तुओंको तथा समस्त पर्यायोंको संग्रह रूप करके जानता है तथा कहता है सो संग्रहनय है। जैसे सत् द्रव्य, इत्यादि [General, Common]

३–**व्यवहारनय**—अनेक प्रकारके भेद करके व्यवहार करे या भेदे सो व्यवहारनय है। जो संग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ को **विधिपूर्वक** भेद करे सो व्यवहार है जैसे सत्के दो प्रकार है–द्रव्य और गुण। द्रव्यके छह भेद है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुणके दो भेद हैं सामान्य और विशेष। इस प्रकार जहांतक भेद हो सकते है वहाँ तक यह नय प्रवृत्त होता है। [Distributive]

४–**ऋजुसूत्रनय**—[ऋजु अर्थात् वर्तमान, उपस्थित, सरल] जो ज्ञानका अंश वर्तमान पर्यायमात्रको ग्रहण करे सो ऋजुसूत्रनय है। (Present condition)

५–**शब्दनय**—जो नय लिंग, संख्या, कारक आदिके व्यभिचारको दूर करता है सो शब्द नय है। यह नय लिंगादिके भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है, जैसे दार, (पु०) भार्या (स्त्री०) कलत्र (न०), यह दार भार्या और कलत्र तीनो शब्द भिन्न लिंगवाले होनेसे यद्यपि एक ही पदार्थके वाचक है तथापि यह नय स्त्री पदार्थ को लिंग के भेद मे तीन भेदरूप जानता है। [Descriptive]

६–**समभिरूढनय**—(१) जो भिन्न २ अर्थो का उलंघन करके एक अर्थको रूढिमे ग्रहण करे। जैसे गाय [Usage] (२) जो पर्याय के भेदसे अर्थको भेदरूप ग्रहण करे। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरंदर, यह तीनो शब्द इन्द्रके नाम हैं किन्तु यह नय तीनोका भिन्न २ अर्थ करता है। [Specific]

७–**एवंभूतनय**—जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है उस क्रियारूप परिणमित होनेवाले पदार्थको जो नय ग्रहण करता है उसे एवं

भूतनय कहते हैं जैसे पुजारीको पूजा करते समय ही पुजारी कहना। [Active]

पहिले तीन भेद द्रव्यार्थिकनयके है, उसे सामान्य उत्सर्ग अथवा अनुवृत्ति नामसे भी कहा जाता है।

बादके चार भेद पर्यायार्थिकनयके है, उसे विशेप, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नामसे कहते है।

पहिले चार नय **अर्थनय** है, और बादके तीन **शब्दनय** है। **पर्याय** के दो भेद है—(१) सहभावी–जिसे गुण कहते है, (२) क्रमभावी–जिसे पर्याय कहते है।

द्रव्य नाम वस्तुओका भी है और वस्तुओके सामान्य स्वभावमय एक स्वभावका भी है। जव द्रव्य **प्रमाणका** विषय होता है तव उसका अर्थ वस्तु (द्रव्य–गुण और तीनो कालकी पर्याय महित) करना चाहिए। जव नयोके प्रकरणमे द्रव्यार्थिकका प्रयोग होता है तव 'सामान्य स्वभावमय एक स्वभाव' (सामान्यात्मक धर्म) अर्थ करना चाहिए। द्रव्यार्थिकमे निम्नप्रकार तीन भेद होते है।

१–सत् और असत् पर्यायके स्वरूपमे **प्रयोजनवश** परस्पर भेद न मानकर दोनोको वस्तुका स्वरूप मानना सो नैगमनय है।

२–सत्के अतर भेदोंमे भेद न मानना सो सग्रहनय है।

३–सत्मे अन्तर्भेदोको मानना सो व्यवहारनय है।

नयके ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय,—ऐसे भी तीन प्रकार होते है।

१–वास्तविक प्रमाणज्ञान है; और जव वह एक देशग्राही होता है तव उसे नय कहते हैं, इसलिये ज्ञानका नाम नय है और इसे ज्ञान नय कहा जाता है।

२–ज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थका प्रतिपादन शब्दके द्वारा होता है इसलिये उस शब्दको **शब्दनय** कहते हैं।

३–ज्ञानका विषय पदार्थ है इसलिये नयसे प्रतिपादित किये जाने-वाले पदार्थको भी नय कहते हैं। यह **अर्थनय** है।

आत्माके संबंधमे इन सात नयोको श्रीमद्राजचन्द्रजीने निम्नलिखित चौदह प्रकारसे अवतरित किए है। वे साधकको उपयोगी होनेसे यहाँ अर्थ सहित दिये जाते है।

१–एवंभूतदृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर =पूर्णताके लक्ष्यसे प्रारंभ कर।

२–ऋजुसूत्रदृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर=साधकदृष्टिके द्वारा साध्यमे स्थिति कर।

३–नैगमदृष्टिसे एवंभूत प्राप्ति कर=तू पूर्ण है ऐसी संकल्पदृष्टि से पूर्णताको प्राप्त कर।

४–एवंभूतदृष्टिमे नैगम विशुद्ध कर=पूर्णदृष्टिसे अव्यक्त अंश विशुद्ध कर।

५–संग्रहदृष्टिसे एवंभूत हो=त्रैकालिक सत्‌दृष्टिसे पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट कर।

६–एवंभूतदृष्टिमे संग्रह विशुद्ध कर=निश्चयदृष्टिसे सत्ताको विशुद्ध कर।

७–व्यवहारदृष्टिमे एवंभूतके प्रति जा=भेददृष्टि छोड़कर अभेदके प्रति जा।

८–एवंभूतदृष्टिसे व्यवहार निवृत्ति कर=अभेददृष्टिसे भेदको निवृत्त कर।

९–शब्ददृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा=शब्दके रहस्यभूत पदार्थकी दृष्टिसे पूर्णता के प्रति जा।

१०–एवंभूतदृष्टिमे शब्द निर्विकल्प कर=निश्चयदृष्टिसे शब्दके रहस्यभूत पदार्थमे निर्विकल्प हो।

११—समभिरूढदृष्टिसे एवंभूतको देख = साधक अवस्थाके आरूढ-भावसे निश्चयको देख ।

१२—एवंभूतदृष्टिसे समभिरूढ स्थिति कर = निश्चयदृष्टिसे सम-स्वभाव के प्रति आरूढ स्थिति कर ।

१३—एवंभूतदृष्टिसे एवंभूत हो = निश्चयदृष्टिसे निश्चयरूप हो ।

१४—एवंभूत स्थितिसे एवंभूतदृष्टिको शमित कर = निश्चय स्थितिसे निश्चयदृष्टिके विकल्पको शमित करदे ।

वास्तविकभाव लौकिकभावोंसे विरुद्ध होते हैं ।

प्रश्न—यदि व्यवहारनयसे अर्थात् व्याकरणके अनुसार जो प्रयोग (अर्थ) होता है उसे आप शब्दनयसे दूषित कहेंगे तो लोक और शास्त्रमे विरोध आयगा ।

उत्तर—लोक न समझे इसलिये विरोध भले करें, यहाँ यथार्थ स्व-रूप (तत्त्व) का विचार किया जा रहा है—परीक्षा की जा रही है । औषधि रोगीकी इच्छानुसार नही होती । [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ५३४] जगत रोगी है ज्ञानीजन उसीके अनुकूल (रुचिकर) तत्त्वका स्वरूप (औषधि) नही कहते, किन्तु वे वही कहते है जो यथार्थ स्वरूप होता है ॥ ३३ ॥

पाँच प्रकारसे जैन शास्त्रोंके अर्थ समझने की रीति

प्रत्येक वाक्यका पाँच प्रकारसे अर्थ करना चाहिये —

शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ ।

"परमात्माको नमस्कार" इस वाक्यका यहाँ पाँच प्रकारसे अर्थ किया जाता है —

(१) **शब्दार्थः**—'जो ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मकलंकको भस्म करके शुद्ध नित्य निरंजन ज्ञानमय हुए है उन परमात्माको मै नमस्कार करता हूँ ।' यह परमात्माको नमस्कारका शब्दार्थ हुआ ।

(२) नयार्थ–शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा परमानदस्वरूप है; पूर्ण-शुद्धता प्रगट हुई वह सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। कर्म दूर हुए वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार प्रत्येक स्थान पर नयसे समझना चाहिये। यदि नयोके अभिप्रायको न समझे तो वास्तविक अर्थ समझमे नही आता। यथार्थ ज्ञानमे साधकके सुनय होते ही है।

'ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोका'—ऐसा वाक्य हो वहाँ 'ज्ञानावरणीय नामका जड कर्म रोकता है, ऐसा कहना दो द्रव्योका सम्बन्ध बतलानेवाला व्यवहारनयका कथन है, सत्यार्थ नही है।

शास्त्रोके सच्चे रहस्यको खोलनेके लिये नयार्थ होना चाहिये, नयार्थको समझे विना चरणानुयोगका कथन भी समझमे नही आता। गुरुका उपकार माननेका कथन आये वहाँ समझना चाहिये कि गुरु परद्रव्य है, इसलिये वह व्यवहारका कथन है और वह असद्भूतउपचरित व्यवहारनय है। परमात्म प्रकाश गाथा ७ तथा १४ के अर्थमे बताया गया है कि–असद्भूतका अर्थ 'मि या' होता है।

चरणानुयोगमे परद्रव्य छोडनेकी बात आये वहाँ समझना चाहिये कि वहाँ रागको छुडानेके लिये व्यवहारनयका कथन है। प्रवचनसारमे शुद्धता और शुभरागकी मित्रता कही है, किन्तु वास्तवमे वहाँ उनके 'मित्रता' नही है, राग तो शुद्धताका शत्रु ही है, किंतु चरणानुयोगके शास्त्रमे वैसा कहने की पद्धति है और वह व्यवहारनयका कथन है। अशुभसे बचनेके लिये शुभ राग निमित्तमात्र मित्र कहा है, उसका भावार्थ तो यह है कि–वह वास्तवमे वीतरागताका शत्रु है किंतु निमित्त बतानेके लिये व्यवहार नय द्वारा ऐसा ही कथन होता है।

(३) मतार्थ:—दूसरे विरुद्ध मत किसप्रकारसे मिथ्या है, उसका वर्णन करना सो मतार्थ है। चरणानुयोगमे कहे हुए व्यवहारव्रतादि करने से धर्म हो, ऐसी मान्यतावाले अन्यमत हैं जैनमत नही है, श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भाव पाहुड गाथा ८३ में कहा है कि–"पूजादिकमे और व्रतादि सहित होय सो तो पुण्य है और मोह क्षोभ रहित आत्माका परिणाम सो धर्म है।

लौकिक जन-अन्यमति कई कहै है जो पूजा आदिक शुभ क्रियामे और व्रत-क्रिया सहित है सो जिनधर्म है सो ऐसै नही है।"

यहाँ बौद्ध, वेदान्त, नैयायिक इत्यादिमे जो एकात मान्यता है और जिनमतमे रहनेवाले जीवमे भी जिस प्रकारकी विपरीत-एकान्त-मान्यता चल रही हो वह भूल बतलाकर उस भूल-रहित सच्चा अभिप्राय बतलाना सो मतार्थ है।

(४) **आगमार्थः**—जो सत् शास्त्रमे (सिद्धातमे) कहा हो उसके साथ अर्थको मिलाना सो आगमार्थ है। सिद्धान्तमे जो अर्थ प्रसिद्ध हो वह आगमार्थ है।

(५) **भावार्थः**–तात्पर्य अर्थात् इस कथनका अन्तिम अभिप्राय—सार क्या है ? कि–परमात्मरूप वीतरागी आत्मद्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त कोई निमित्त या किसी प्रकारका राग-विकल्प उपादेय नही है। यह सब तो मात्र जाननेयोग्य है, एक परमशुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। भावनमस्काररूप पर्याय भी निश्चयसे आदरणीय नही है, इसप्रकार परम शुद्धात्म स्वभाव को ही उपादेयरूप से अंगीकार करना सो **भावार्थ** है।

यह पाच प्रकारसे शास्त्रोका अर्थ करनेकी बात समयसार, पचास्तिकाय, बृ० द्रव्यसग्रह, परमात्मप्रकाशकी टीकामे है।

यदि किसी शास्त्रमे वह न कही हो तो भी प्रत्येक शास्त्रके प्रत्येक कथनमे इन पाँच प्रकारसे अर्थ करके उसका भाव समझना चाहिये।

नयका स्वरूप संक्षेपमें निम्न प्रकार हैः—

सम्यग्नय सम्यग् श्रुतज्ञानका अवयव है और इससे वह परमार्थसे ज्ञानका (उपयोगात्मक) अंग है, और उसका शब्दरूप कथनको मात्र उपचारसे नय कहा है।

इस विषयमे श्री धवल टीकामे कहा है कि —

शंका—नय किसे कहते है ?

समाधान—ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते है।

शंका—'अभिप्राय' इसका क्या अर्थ है ?

समाधान—प्रमाणसे गृहीत वस्तुके एक देशमे वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है।

युक्ति अर्थात् प्रमाणसे अर्थ के ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्याय मे से किसी एकको अर्थ रूपसे ग्रहण करनेका नाम नय है। प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्यायमे वस्तु के निश्चय करने को नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय है।

(धवला टीका पुस्तक ६ पृ० १६२–१६३)

"प्रमाण और नयसे वस्तु का ज्ञान होता है, इस सूत्र द्वारा भी यह व्याख्यान विरुद्ध नही पडता। इसका कारण यह है कि प्रमाण और नय से उत्पन्न वाक्य भी उपचारसे प्रमाण और नय है।"

(ध० टी० पु० ६ पृ० १६४)

[यहाँ श्री वीरसेनाचार्यने वाक्यको उपचारसे नय कहकर ज्ञानात्मक नयको परमार्थसे नय कहा है]

पचाध्यायी मे भी नयके दो प्रकार माने हैं—

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपियथा।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुण ॥५०५॥

"अर्थ—वह नय भी द्रव्यनय और भावनय इस प्रकारके भेदसे दो प्रकार का है, जैसे कि वास्तवमे पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथा जीवका गुण जो चैतन्य यह है वह भावनय कहलाता है। अर्थात् नय ज्ञानात्मक और वचनात्मकके भेदमे दो प्रकारका है। उनमे से वचनात्मक नय द्रव्यनय तथा ज्ञानात्मक नय भावनय कहलाता है।"

स्वामी कार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षामे **नयके तीन प्रकार कहे हैं।** अब वस्तुके धर्मको, उसके वाचक शब्दको और उसके ज्ञानको नय कहते हैं—

"सो चिय इक्को धम्मो, वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स ।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णय विसेसा य ॥२६५॥

अर्थ—जो वस्तुका एक धर्म, उस धर्मका वाचक शब्द और उस धर्म को जाननेवाला ज्ञान ये तीनो ही नयके विशेष है ।

भावार्थ—वस्तुका ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु इनको जैसे प्रमाणस्वरूप कहते है वैसे ही नय भी कहते हैं ।"

(पाटनी ग्रन्थमाला से प्र० कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० १७०)

"सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ" श्रुतज्ञानके विकल्प (–भेद) को नय कहा है । (का० अनुप्रेक्षा गा० २६३)

जैन नीति अथवा नय विवक्षा:—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु तत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

(पु० सि० उपाय)

अर्थ—मथानीको खीचनेवाली ग्वालिनीकी तरह जिनेन्द्र भगवान् की जो नीति अर्थात् नय विवक्षा है वह वस्तु स्वरूप को एक नय विवक्षा से खीचती हुई तथा दूसरी नय विवक्षा से ढीली करती हुई अत अर्थात् दोनो विवक्षाओ से जयवत रहे ।

भावार्थ—भगवान् की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है, वस्तु का स्वरूप मुख्य तथा गौण नयकी विवक्षासे ग्रहण किया जाता है । जैसे जीव द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है, द्रव्यार्थिकनय की विवक्षासे नित्य है तथा पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा से अनित्य है यही नय विवक्षा है ।

(जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता से प्र० श्री अमृतचद्राचार्य कृत पुरुषार्थ सि० उ० पृ० १२३)

यह श्लोक सूचित करता है कि–शास्त्रमे कई स्थान पर निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन है और कहीपर व्यवहारनयकी मुख्यता से कथन है, परंतु

उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि–धर्म किसी समय तो व्यवहारनय (–अभूतार्थ नय) के आश्रयमे होता है और किसी समय निश्चयनय (–भूतार्थ नय) के आश्रयसे होना है, परन्तु धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनय के ही आश्रय से होता है (–अर्थात् भूतार्थ नय के अखड विषयरूप निजशुद्धात्मा के आश्रय से ही धर्म होता है।) ऐसा न्याय–पु० सि० उपाय के ५ वे श्लोकमे तथा श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ गा० ३११–१२ के भावार्थ मे दिया गया है। इसलिये इस श्लोक न० २२५ का अन्य प्रकार अर्थ करना ठीक नही है।

इस प्रकार श्री उमास्वामि विरचित मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायकी गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[१]

सम्यग्दर्शनके संबंधमें कुछ ज्ञातव्य

(१)

सम्यग्दर्शन की आवश्यकता

प्रश्न—ज्ञानी जब कहते हैं कि सम्यग्दर्शनसे धर्मका प्रारभ होता है, तब फिर सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान और चारित्र कैसे होते हैं ?

उत्तर—यदि सम्यग्दर्शन न हो तो ग्यारह अगका ज्ञाता भी मिथ्याज्ञानी है, और उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, जप, तप, भक्ति, प्रत्याख्यान आदि जितने भी आचरण हैं वे सब मिथ्याचारित्र हैं, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

(२)

सम्यग्दर्शन क्या है ?

प्रश्नः—सम्यग्दर्शन क्या है ? वह द्रव्य है, गुण है या पर्याय ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन जीव द्रव्यके श्रद्धागुणकी एक निर्मल पर्याय है। इस जगतमे छह द्रव्य हैं उनमेसे एक चैतन्यद्रव्य (जीव) है, और पाँच अचेतन–जड द्रव्य–पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल है। जीव द्रव्य अर्थात् आत्मवस्तुमे अनत गुण है, उनमेसे एक गुण श्रद्धा (मान्यता विश्वास-प्रतीति) है, उस गुणकी अवस्था अनादिकालसे उल्टी है इसलिये जीवको अपने स्वरूपका भ्रम बना हुआ है, उस अवस्था को मिथ्यादर्शन कहते है। उस श्रद्धागुणकी सुलटी [-शुद्ध]अवस्था सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार आत्माके श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय सम्यग्दर्शन है।

(३)

श्रद्धागुणकी मुख्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) श्रद्धागुणकी जिस अवस्थाके प्रगट होनेसे अपने शुद्ध आत्मा का प्रतिभास हो सो सम्यग्दर्शन है।

(२) सर्वज्ञ भगवानकी वाणीमे जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा गया है वैसा श्रद्धान करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

[निश्चय सम्यग्दर्शन-निमित्तको, अपूर्ण या विकारी पर्यायको, भग-भेदको या गुणभेदको स्वीकार नही करता—(भेदरूप) लक्षमे नही लेता।]

नोट'—बहुतसे लोग यह मानते हैं कि मात्र एक सर्वव्यापक आत्मा है और वह आत्मा कूटस्थमात्र है, किन्तु उनके कथनानुसार चैतन्यमात्र आत्माको मानना सम्यग्दर्शन नही है।

(३) स्वरूपका श्रद्धान।

(४) आतम श्रद्धान [पुरुषार्थसिद्धि उपाय श्लोक २१६]

(५) स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति—श्रद्धान [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७१-सस्ती ग्रन्थमाला देहलीसे प्रकाशित]

(६) परसे भिन्न अपने आत्माकी श्रद्धा रुचि [समयसार कलश ६, छहढाला तीसरी ढाल, छन्द २।]

नोटः—'यहाँ परसे भिन्न' शब्द सूचित करता है कि सम्यग्दर्शनको परवस्तु, निमित्त, अशुद्धपर्याय, अपूर्ण शुद्धपर्याय या भगभेद आदि कुछ भी स्वीकार्य नही है। सम्यग्दर्शनका विषय [लक्ष्य] पूर्ण ज्ञानघन त्रैकालिक आत्मा है। [पर्यायकी अपूर्णता इत्यादि सम्यग्ज्ञानका विषय है।]

(७) विशुद्धज्ञान—दर्शनस्वभावरूप निज परमात्मा की रुचि सम्यग्दर्शन है [जयसेनाचार्यकृत टीका—हिन्दी समयसार पृष्ठ ८]

नोट—यहाँ 'निज' शब्द है, वह अनेक आत्मा हैं उनसे अपनी भिन्नता बतलाता है।

(८) शुद्ध जीवास्तिकायकी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व । [जयसेनाचार्यकृत टीका–पचास्तिकाय गाथा १०७ पृष्ठ १७०]

(४)

ज्ञान गुणकी मुख्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) विपरीत अभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है, [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७० तथा पुरुषार्थ सिद्धय्युपाय श्लोक २२]

नोट —यह व्याख्या प्रमाण दृष्टि से है उसमें अस्ति–नास्ति दोनो पहलू वताये हैं।

(२) 'जीवादि का श्रद्धान सम्यक्त्व है' अर्थात् जीवादि पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान स्वरूपमे आत्माका परिणमन सम्यक्त्व है [समयसार गाथा १५५, हिन्दी टीका पृष्ठ २२५, गुजराती पृष्ठ २०१]

(३) भूतार्थसे जाने हुए पदार्थों से शुद्धात्माके पृथक्त्वका सम्यक् अवलोकन । [जयसेनाचार्यकृत टीका-हिन्दी समयसार पृष्ठ २२६]

नोटः —कालम न० २ और ३ यह सूचित करते हैं कि जिसे नव पदार्थों का सम्यग्ज्ञान होता है उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। इसप्रकार सम्यज्ञान और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी भाव वतलाता है। यह कथन द्रव्यार्थिक नयसे है।

(३) पचाध्यायी भाग दूसरेमे ज्ञानकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या श्लोक १८६ से १८९ मे दी गई है, यह कथन पर्यायार्थिकनयसे है। वह निम्नप्रकार कहा गया है —

[गाथा १८६]—'इसलिये शुद्धतत्त्व कही उन नव तत्त्वोसे विलक्षण अर्थान्तर नही है, किन्तु केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारोको छोडकर नवतत्त्व ही शुद्ध है।

भावार्थ—इससे सिद्ध होता है कि केवल विकार को उपेक्षा करने से नवतत्त्व ही शुद्ध है, नवतत्त्वोसे कही सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नही है।'

[गाथा १८७]—'इसलिये सूत्र मे तत्त्वार्थकी श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन माना गया है, और वह भी जीव-अजीवादिरूप नव है, ××

भावार्थ:—विकारकी उपेक्षा करने पर शुद्धत्व नवतत्त्वोसे अभिन्न है, इसलिये सूत्रकारने [तत्त्वार्थसूत्रमे] नवतत्त्वोके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। ××× ”

[गाथा १८८] इस गाथा मे 'जीव अजीव आश्रव वन्ध सवर निर्जरा और मोक्ष' इन सात तत्त्वोके नाम दिये हैं।

[गाथा १८९] "पुण्य और पापके साथ इन सात तत्त्वोको नव पदार्थ कहा जाता है, और वे नव पदार्थ भूतार्थके आश्रयसे सम्यग्दर्शनका वास्तविक विषय हैं।"

भावार्थ—"पुण्य और पापके साथ यह सात तत्त्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं, और वे नव पदार्थ यथार्थताके आश्रयसे सम्यग्दर्शनके यथार्थ विषय हैं।"

नोट—यह ध्यान रहे कि यह कथन ज्ञान की अपेक्षासे है। दर्शनापेक्षा मे सम्यग्दर्शनका विषय अपना अखड शुद्ध चैतन्यस्वरूप परिपूर्ण आत्मा है,—यह बात ऊपर बताई गई है।

(५) "शुद्ध चेतना एक प्रकारकी है क्योंकि शुद्धका एक प्रकार है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्धरूप है और वह ज्ञानरूप है इसलिये वह ज्ञान चेतना है" [पचाध्यायी अध्याय २ गाथा १९४]

"सभी सम्यग्दृष्टियोके यह ज्ञानचेतना प्रवाहरूपसे अथवा अखड एकधारारूपसे रहती है। [पचाध्यायी अध्याय २ गाथा ८५१]

(६) ज्ञेय—ज्ञातृत्वकी यथावत् प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है। [प्रवचनसार अध्याय ३ गाथा ४२, श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका पृष्ठ ३३५]

(७) आत्माने आत्माको जाननेवाला जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि है। [परमात्मप्रकाश गाथा ८२]

(८) 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र २]

(५)

चारित्रगुणकी मुख्यतासे निश्चयसम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) "ज्ञानचेतनामे 'ज्ञान' शब्दसे ज्ञानमय होनेके कारण शुद्धात्माका ग्रहण है, और वह शुद्धात्मा जिसके द्वारा अनुभूत होता है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं" [पचाध्यायी अध्याय २ गाथा १६६—भावार्थ०]

(२) उसका स्पष्टीकरण यह है कि–आत्माका ज्ञानगुण सम्यक्त्वयुक्त होनेपर आत्मस्वरूपकी जो उपलब्धि होती है, उसे ज्ञानचेनना कहते हैं'। [पचाध्यायी गाथा १६७]

(३) 'निश्चयसे यह ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है। [पचाध्यायी गाथा १६८]

नोट —यहाँ आत्माका जो शुद्धोपयोग है—अनुभव है वह चारित्रगुण की पर्याय है।

(४) आत्माकी शुद्ध उपलब्धि सम्यग्दर्शनका लक्षण है [पचाध्यायी गाथा २१५]

नोट —यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञानकी मुख्यता या चारित्र की मुख्यतासे जो कथन है उसे सम्यग्दर्शनका बाह्य लक्षण जानना चाहिये, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और अनुभवके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी है इसलिये वे सम्यग्दर्शनको अनुमानसे सिद्ध करते हैं। इस अपेक्षासे इसे व्यवहार कथन कहते हैं और दर्शन [श्रद्धा] गुणकी अपेक्षासे जो कथन है उसे निश्चय कथन कहते हैं।

(५) दर्शनका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि–भगवान् परमात्म स्वभावके अतीन्द्रिय सुखकी रुचि करनेवाले जीवमे शुद्ध अतरग आत्मिक तत्त्व के आनन्दको उत्पन्न होनेका धाम ऐसे शुद्ध जीवास्तिकायका (अपने जीवस्वरूपका) परमश्रद्धान, दृढ प्रतीति और सच्चा निश्चय ही दर्शन है (यह व्याख्या सुख गुणकी मुख्यतासे है।)

(६)

अनेकान्त स्वरूप

दर्शन-ज्ञान-चारित्र सबधी अनेकान्त स्वरूप समझने योग्य है इसलिये वह यहाँ कहा जाता है।

(१) **सम्यग्दर्शन**—सभी सम्यग्दृष्टियोंके अर्थात् चौथे गुणस्थान से सिद्धोतक सभीके एक समान है, अर्थात् शुद्धात्माकी मान्यता उन सबके एकसी है—मान्यतामे कोई अतर नही है।

(२) **सम्यग्ज्ञान**—सभी सम्यग्दृष्टियोके सम्यक्त्वकी अपेक्षासे ज्ञान एक ही प्रकारका है किन्तु ज्ञान किसीके हीन या किसीके अधिक होता है। तेरहवे गुणस्थानसे सिद्धोतकका ज्ञान सपूर्ण होनेसे सर्व वस्तुओंको युगपत् जानता है। नीचेके गुणस्थानोमे [चौथे से बारहवे तक] ज्ञान क्रमश होता है, और वहाँ यद्यपि ज्ञान सम्यक् है तथापि कम-बढ होता है, उस अवस्थामे जो ज्ञान विकासरूप नही है वह अभावरूप है, इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे अतर है।

(३) **सम्यक्चारित्र**—सभी सम्यग्दृष्टियोंके जो कुछ भी चारित्र प्रगट हुआ हो सो सम्यक् है। और जो दसवे गुणस्थान तक प्रगट नही हुआ सो विभावरूप है। तेरहवे गुणस्थानमे अनुजीवी योग गुण कपनरूप होनेसे विभावरूप है, और वहाँ प्रतिजीवीगुण बिलकुल प्रगट नही है। चौदहवे गुणस्थानमे भी उपादानकी कच्चाई है इसलिये वहाँ औदयिकभाव है।

(४) जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्रका अश अभेदरूप होता है, ऊपर कहे अनुसार दर्शनगुणसे ज्ञानगुणका पृथक्त्व और उन दोनो गुणोमे चारित्रगुणका पृथक्त्व सिद्ध हुआ, इसप्रकार अनेकान्त स्वरूप हुआ।

(५) यह भेद पर्यायार्थिकनयसे है। द्रव्य अखड है इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे सभी गुण अभेद—अखड है, ऐसा समझना चाहिये।

(७)

दर्शन [श्रद्धा], ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणोंकी अभेददृष्टिसे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) अखड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन; परमात्मस्वरूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है–[अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। नयोके पक्षपातको छोडकर एक अखड प्रतिभास को अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' ऐसे नाम पाता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कही अनुभवसे भिन्न नही है। [समय सार गाथा १४४ टीका भावार्थ,]

(२) वर्ते निज स्वभावका अनुभव लक्ष प्रतीत,
वृत्ति वहे जिनभावमें परमार्थे समकित।

[आत्मसिद्धि गाथा १११]

अर्थ—अपने स्वभावकी प्रतीति, ज्ञान और अनुभव वर्ते और अपने भावमे अपनी वृत्ति वहे सो परमार्थ सम्यक्त्व है।

(८)

निश्चय सम्यग्दर्शनका चारित्र के भेदोंकी अपेक्षासे कथन

निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे प्रारभ होता है, चौथे और पाँचवे गुणस्थान मे चारित्रमे मुख्यतया राग होता है इसलिये उसे 'सराग सम्यक्त्व' कहते है। छठे गुणस्थानमे चारित्रमे राग गौण है, और ऊपरके गुणस्थानोमे उसके दूर होते होते अतमे सपूर्ण वीतराग चारित्र हो जाता है, इसलिये छठे गुणस्थानसे 'वीतराग सम्यक्त्व,' कहलाता है।

(९)

निश्चय सम्यग्दर्शन के संबंध में प्रश्नोत्तर

प्रश्न:— मिथ्यात्व और अनतानुबधीके निमित्त से होनेवाले विपरीत अभिनिवेशसे रहित जो श्रद्धा है सो निश्चय सम्यक्त्व है या व्यवहार सम्यक्त्व ?

उत्तरः—वह निश्चय सम्यक्त्व है, व्यवहार सम्यक्त्व नही।

प्रश्नः—पंचास्तिकायकी १०७ वी गाथा की सस्कृत टीकासे उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

उत्तरः—नही, उसमे इसप्रकार शब्द हैं—"मिथ्यात्वोदयजनित विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानम्", यहाँ 'श्रद्धान' कहकर श्रद्धानकी पहिचान कराई है, किन्तु उसे व्यवहार सम्यक्त्व नही कहा है व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या गाथा १०७ मे कथित 'भावाणाम्' शब्द के अर्थ मे कही है।

प्रश्नः—'अध्यात्मकमलमार्तंड' की सातवी गाथा मे उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—नही, वहाँ निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या है, द्रव्यकर्मके उपशम, क्षय इत्यादिके निमित्तसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है–इसप्रकार निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या करना सो व्यवहारनयसे है क्योकि वह व्याख्या परद्रव्य की अपेक्षासे की है। अपने पुरुषार्थ से निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है यह निश्चयनयका कथन है। हिन्दीमे जो 'व्यवहार सम्यक्त्व' ऐसा अर्थ किया है सो वह मूल गाथाके साथ मेल नही खाता।

(१०)

व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या

(१) पचास्तिकाय, छहद्रव्य तथा जीव-पुद्गलके सयोगी परिणामोसे उत्पन्न आश्रव, बध, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा और मोक्ष इस प्रकार नव पदार्थोके विकल्परूप व्यवहार सम्यक्त्व है।

[पचास्तिकाय गाथा १०७ जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ट १७०]

(२) जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोकी ज्योकी त्यो यथार्थ अटल श्रद्धा करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। [छहढाला, ढाल ३ छन्द ३]

(३) **प्रश्नः**—क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक है ?

उत्तरः—प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनका अभाव होता है। इसलिये वह (व्यवहार सम्यग्दर्शन) वास्तवमे निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक नही है, तथापि उसे भूत-नैगमनयसे साधक कहा जाता है, अर्थात् पहिले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होते समय अभावरूप होता है, इसलिये जब उसका अभाव होता है तब पूर्वकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्म प्रकाश गाथा १४० पृष्ठ १४३, प्रथमावृत्ति सस्कृत टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नही, किंतु उसका अभाव कारण है।

(११)

व्यवहाराभास सम्यग्दर्शनको कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं।

द्रव्यलिंगी मुनिको आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और सयमभावकी एकता भी कार्यकारी नही है [देखो प्रवचनसार अध्याय ३ गाथा ३६]

यहाँ जो 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' शब्दका प्रयोग हुआ है सो वह भाव निक्षेप से नही किन्तु नाम निक्षेप से है।

'जिसे स्व–परका यथार्थ श्रद्धान नही है किन्तु जो वीतराग कथित देव, गुरु और धर्म–इन तीनोको मानता है तथा अन्यमतमे कथित देवादि को तथा तत्त्वादिको नही मानता, ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्वमे वह निश्चय सम्यक्त्वी नाम नही पा सकता'। (प० टोडरमलजी कृत रहस्य-पूर्ण चिट्ठी) उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर होगया है इस अपेक्षासे व्यवहार सम्यक्त्व हुआ है ऐसा कहा जाता है किन्तु उसके अगृहीत मिथ्यादर्शन है इसलिये वास्तवमे उसे व्यवहाराभास सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यादृष्टि जीवको देव गुरु धर्मादिका श्रद्धान आभासमात्र होता है, उसके श्रद्धानमे से विपरीताभिनिवेशका अभाव नही हुआ है, और उसे व्यवहार सम्यक्त्व आभासमात्र है, इसलिये उसे जो देव गुरु धर्म; नव तत्त्वादि का श्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशके अभावके लिये कारण नही हुआ, और कारण हुए विना उसमे [सम्यग्दर्शनका] उपचार सभवित नही होता, इसलिये उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन भी सभव नही है, उसे व्यवहार सम्यक्त्व. मात्र नामनिक्षेपसे कहा जाता है [मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ६ पृष्ठ ४७६–४७७ देहलीका]

(१२)

सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका उपाय

प्रश्न—सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका क्या उपाय है।

—(१)—

उत्तर—आत्मा और परद्रव्य सर्वथा भिन्न है, एकका दूसरेमे अत्यत अभाव है। एक द्रव्य, उसका कोई गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यमे, उसके गुण मे या उसकी पर्यायमे प्रवेश नही कर सकते, इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही कर सकता, ऐसी वस्तुस्थितिकी मर्यादा है। और फिर प्रत्येक द्रव्यमे अगुरुलघुत्व गुण है क्योकि वह सामान्यगुण है। उस गुणके कारण कोई किसीका कुछ नही कर सकता। इसलिये आत्मा परद्रव्यका कुछ नही कर सकता, शरीरको हिला डुला नही सकता, द्रव्यकर्म या कोई भी परद्रव्य जीवको कभी हानि नही पहुँचा सकता,—यह पहिले निश्चय करना चाहिये।

इसप्रकार निश्चय करनेसे जगतके परपदार्थोके कर्तृत्वका जो अभिमान आत्माके अनादिकालसे चला आरहा है वह दोष मान्यतामे से और ज्ञानमे से दूर हो जाता है।

शास्त्रोमे कहा गया है कि द्रव्यकर्म जीवके गुणोका घात करते हैं, इसलिये कई लोग मानते है कि उन कर्मोका उदय जीवके गुणोका वास्तव

मे घात करता है, और वे लोग ऐसा ही अर्थ करते है, किन्तु उनका यह अर्थ ठीक नही है। क्योकि वह कथन व्यवहारनयका है जो कि केवल निमित्तका ज्ञान करानेवाला है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि-जब जीव अपने पुरुषार्थके दोपसे अपनी पर्यायमे विकार करता है अर्थात् अपनी पर्यायका घात करता है तब उस घातमे अनुकूल निमित्तरूप जो द्रव्यकर्म आत्मप्रदेशोसे खिरनेके लिये तैयार हुआ है उसे 'उदय' कहनेका उपचार है अर्थात् उस कर्मपर विपाक उदयरूप निमित्तका आरोप होता है। और यदि जीव स्वय अपने सत्यपुरुपार्थसे विकार नही करता—अपनी पर्यायका घात नही करता तो द्रव्यकर्मोके उसी समूह को 'निर्जरा' नाम दिया जाता है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सबधका ज्ञान करने मात्रके लिये उस व्यवहार कथनका अर्थ होता है। यदि अन्यप्रकारसे (शब्दानुसार ही) अर्थ किया जाय तो इस सबधके बदले कर्त्ता, कर्म का सबध माननेके बराबर होता है, अर्थात् उपादान–निमित्त, निश्चयव्यवहार एकरूप हो जाता है, अथवा एक ओर जीवद्रव्य और दूसरी ओर अनत पुद्गल द्रव्य है, तो अनत द्रव्योने मिलकर जीवमे विकार किया है ऐसा उसका अर्थ हो जाता है, जो कि ऐसा नही हो सकता। यह निमित्त-नैमित्तिक सबध बतानेके लिये कर्मके उदयने जीवपर असर करके हानि पहुँचाई,–उसे परिणमित किया इत्यादि प्रकारसे उपचारसे कहा जाता है, किन्तु उसका यदि उस शब्दके अनुसार ही अर्थ किया जाय तो वह मिथ्या है। [देखो समयसार गाथा १२२ से १२५, १६०, तथा ३३७ से ३४४, ४१२ अमृतचद्राचार्य की टीका तथा समय सार कलश न० २११–१२–१३–२१९]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पहिले स्वद्रव्य–परद्रव्य की भिन्नता निश्चित करनी चाहिए, और फिर क्या करना चाहिए सो कहते है।

(२)

स्वद्रव्य और परद्रव्यकी भिन्नता निश्चित् करके, परद्रव्यो परसे लक्ष छोडकर स्वद्रव्यके विचारमे आना चाहिए वहाँ आत्मामे दो पहलू हैं उन्हे जानना चाहिए। एक पहलू-आत्माका प्रतिसमय त्रिकाल अखड परि-

पूर्ण चैतन्य स्वभावरूपता द्रव्य-गुण पर्यायमे (वर्तमान पर्यायको गौण करने पर) है, आत्माका यह पहलू निश्चयनयका विषय है। इस पहलूको निश्चय करने वाले ज्ञानका पहलू 'निश्चयनय' है।

दूसरा पहलू—वर्तमान पर्यायमे दोष है—विकार है, अल्पज्ञता है यह निश्चय करना चाहिए। यह पहलू व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार दो नयोके द्वारा आत्माके दोनो पहलुओका निश्चय करनेके वाद पर्यायका आश्रय छोड कर अपने त्रिकाल चैतन्य स्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिए।

इसप्रकार त्रैकालिक द्रव्यकी ओर उन्मुख होनेपर—वह त्रैकालिक नित्य पहलू होनेसे उसके आश्रय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यद्यपि निश्चयनय और सम्यग्दर्शन दोनो भिन्न २ गुणोकी पर्याय हैं तथापि उन दोनोका विषय एक है अर्थात् उन दोनोका विषय एक, अखड, शुद्ध, वुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है, उसे दूसरे शब्दोमे 'त्रैकालिक ज्ञायक स्वरूप' कहा जाता है। सम्यग्दर्शन किसी परद्रव्य, देव, गुरु, शास्त्र अथवा निमित्त, पर्याय, गुणभेद, या भग इत्यादिको स्वीकार नही करता, क्योकि उसका विषय उपरोक्त कथनानुसार त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप आत्मा है।

(१३)

निर्विकल्प अनुभवका प्रारंभ

निर्विकल्प अनुभवका प्रारभ चौथे गुणस्थानसे ही होता है, किंतु इस गुणस्थानमे वह वहुतकालके अतर से होता है, और ऊपरके गुणस्थानो मे जल्दी २ होता है। नीचेके और ऊपरके गुणस्थानोकी निर्विकल्पतामे भेद यह है कि परिणामोकी मग्नता ऊपरके गुणस्थानोमे विशेष है। [गुजराती मोक्षमार्ग प्रकाशकके साथकी श्री टोडरमलजी कृत रहस्य पूर्ण चिट्ठी पृष्ठ ३४६]

(१४)

जब कि सम्यक्त्व पर्याय है तब उसे गुण कैसे कहते हैं ?

प्रश्नः—सम्यग्दर्शन पर्याय है फिर भी कही २ उसे सम्यक्त्व गुण क्यो कहते है ?

उत्तरः—वास्तवमे तो सम्यग्दर्शन पर्याय है, किन्तु जैसा गुण है वैसी ही उसकी पर्याय प्रगट हुई है—इसप्रकार गुण पर्याय की अभिन्नता बताने के लिये कही २ उसे सम्यक्त्व गुण भी कहा जाता है, किन्तु वास्तवमे सम्यक्त्व पर्याय है, गुण नही। जो गुण होता है वह त्रिकाल रहता है। सम्यक्त्व त्रिकाल नही होता किन्तु उसे जीव जब अपने सत् पुरुषार्थसे प्रगट करता है तब होता है। इसलिये वह पर्याय है।

(१५)

सभी सम्यग्दृष्टियोंका सम्यग्दर्शन समान है

प्रश्नः—छद्मस्थ जीवोको सम्यग्दर्शन होता है और केवली तथा सिद्धभगवानके भी सम्यग्दर्शन होता है, वह उन सबके समान होता है या असमान ?

उत्तरः—जैसे छद्मस्थ (-अपूर्णज्ञानी) जीवके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवलीभगवान और सिद्धभगवानके केवलज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है। जैसे तत्त्वश्रद्धान छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली-सिद्धभगवानके भी होता है। इसलिये ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यच आदिके तथा केवली और सिद्धभगवानके सम्यग्दर्शन तो समान ही होता है, क्योकि जैसी आत्म स्वरूप की श्रद्धा छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि को है वैसी ही केवली भगवान को है। ऐसा नही होता कि चौथे गुणस्थान मे शुद्धात्माकी श्रद्धा एक प्रकारकी हो और केवली होने पर अन्य प्रकारकी हो, यदि ऐसा होने लगे तो चौथे गुणस्थानमे जो श्रद्धा होती है वह यथार्थ नही कहलायगी, किन्तु मिथ्या सिद्ध होगी। [देहलीका मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७५]

(१६)

सम्यग्दर्शनके भेद क्यों कहे गये हैं ?

प्रश्नः—यदि सभी सम्यग्दृष्टियोका सम्यग्दर्शन समान है तो फिर आत्मानुशासनकी ग्यारहवी गाथामे सम्यग्दर्शनके दश प्रकारके भेद क्यो कहे गये हैं ?

(१६)

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सम्यक्त्व प्रगट होनेकी वात श्रुतज्ञानके द्वारा वरावर जानता है।

प्रश्न—अपनेको सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है यह किस ज्ञानके द्वारा मालूम होता है ?

उत्तर—चौथे गुणस्थानमे भावश्रुतज्ञान होता है उससे सम्यग्दृष्टिको सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेकी वात मालूम हो जाती है। यदि उस ज्ञानके द्वारा खवर नही होती ऐसा माना जाय तो उस श्रुतज्ञानको सम्यक् [यथार्थ] कैसे कहा जा सकेगा। यदि अपनेको अपने सम्यग्दर्शनकी खवर न होती हो तो उसमे और मिथ्यादृष्टि अज्ञानीमे क्या अतर रहा ?

प्रश्न—यहाँ आपने कहा है कि सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है, किन्तु पचाध्यायी अध्याय २ मे उसे अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान गोचर कहा है। वे श्लोक निम्नप्रकार हैं ?—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वांतःपर्ययज्ञानयोर्द्वयो ॥ ३७५ ॥

[**अर्थ**—सम्यक्त्व वास्तवमे सूक्ष्म है और केवलज्ञान-गोचर है तथा अवधि और मन पर्यय इन दोनोके गोचर है।] और अध्याय २ गाथा ३७६ मे यह कहा है कि वे मति और श्रुतज्ञान गोचर नही है, और यहाँ आप कहते हैं कि सम्यक्दर्शन श्रुतज्ञानगोचर है, इसका क्या उत्तर है ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानगोचर नही है इसप्रकार जो ३७६ वी गाथामे कहा है उसका अर्थ इतना ही है कि-सम्यग्दर्शन उस—उस ज्ञानका प्रत्यक्ष विपय नही है ऐसा समझना चाहिए। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इस ज्ञानसे सम्यक्दर्शन किसी भी प्रकारसे नही जाना जा सकता। इस सम्वन्धमे पचाध्यायी अध्याय २ की ३७१ और ३७३वी गाथा निम्नप्रकार है—

इत्येवं ज्ञानतत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार तत्त्वोको जाननेवाले स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमे राग द्वेपको छोडते है ।

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैं (श्च) संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके दूसरे लक्षण भी है । जिन सम्यक्त्वके अविनाभावी लक्षणोके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित होता है ।

वे लक्षण गाथा ३७४ मे कहते है—

उक्तमाद्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वंच (स्वं) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥३७४॥

अर्थ—जैसे ऊपर कहा है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानका आदर नही है तथा आत्म प्रत्यक्ष होनेसे सभी कर्मोका भी आदर नही है ।

गाथा ३७५-३७६ का इतना ही अर्थ है कि—सम्यग्दर्शन केवलज्ञानादि का प्रत्यक्ष विषय है और मति श्रुतज्ञान का प्रत्यक्ष विषय नही है, किन्तु मति श्रुतज्ञान मे वह उसके लक्षणो के द्वारा जाना जा सकता है, और केवलज्ञानादि ज्ञान मे लक्षण लक्ष्य का भेद किये बिना प्रत्यक्ष जाना जा सकता है ।

प्रश्न—इस विपयको दृष्टात पूर्वक समझाइए ?

उत्तर—स्वानुभवदशामे जो आत्माको जाना जाता है सो श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है । श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, वह मतिज्ञान—श्रुतज्ञान परोक्ष है इसलिए वहाँ आत्माका जानना प्रत्यक्ष नही होता । यहाँ जो आत्मा को भलीभाति स्पष्ट जानता है उसमे पारमार्थिक प्रत्यक्षत्व नही है तथा जैसे पुद्गल पदार्थ नेत्रादिके द्वारा जाना जाता है उसीप्रकार एकदेश (अशत) निर्मलता पूर्वक भी आत्माके असख्यात प्रदेशादि नही जाने जाते, इसलिए साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नही है ।

अनुभवमे आत्मा तो परोक्ष ही है, कही आत्माके प्रदेशो का आकार भासित नही होता, परन्तु स्वरूपमे परिणाम मग्न होने पर जो स्वानुभव हुआ वह (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है। इस स्वानुभवका स्वाद कही आगम-अनुमानादि परोक्षप्रमाणके द्वारा ज्ञात नही होता, किन्तु स्वय ही इस अनुभवके रसास्वाद को प्रत्यक्ष वेदन करता है जानता है। जैसे कोई अन्ध पुरुष मिश्रीका स्वाद लेता है, वहाँ मिश्रीका आकारादि परोक्ष है, किन्तु जिह्वाके द्वारा स्वाद लिया है इसलिए वह स्वाद प्रत्यक्ष है,—ऐसा अनुभव के सम्वन्ध मे जानना चाहिए। [टोडरमलजी की रहस्य पूर्ण चिट्ठी ।] यह दशा चौथे गुणस्थानमे होती है ।

इस प्रकार आत्माका अनुभव जाना जा सकता है, और जिस जीव को उसका अनुभव होता है उसे सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिए मतिश्रुतज्ञानसे सम्यग्दर्शन भलीभाति जाना जा सकता है।

प्रश्न—इस सम्वन्धमे पचाध्यायीकारने क्या कहा है ?

उत्तर—पचाध्यायीके पहले अध्याय मे मति-श्रुतज्ञानका स्वरूप वतलाते हुए कहा है कि—

अपि किंचाभिनिवोधिकवोधद्वैत तदादिम यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्ष तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

अर्थ—और विशेष यह है कि-स्वानुभूतिके समय जितना भी पहिले उस मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका द्वैत रहता है उतना वह सब साक्षात् प्रत्यक्ष की भाति प्रत्यक्ष है, दूसरा नही—परोक्ष नही।

भावार्थ—तथा उस मति और श्रुतज्ञानमे भी इतनी विशेपता है कि—जिस समय उन दो ज्ञानोमेसे किसी एक ज्ञानके द्वारा स्वानुभूति होती है उस समय यह दोनो ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्माको प्रत्यक्ष करते है, इसलिए यह दोनो ज्ञान भी स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष है—परोक्ष नही।

प्रश्नः—क्या इस सवधमे कोई और शास्त्राधार है ?

उत्तरः—हां, प० टोडरमलजीकृत रहस्यपूर्ण चिट्ठीमे निम्नप्रकार कहा है—

"जो प्रत्यक्षके समान होता है उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोक मे भी कहते हैं कि–'हमने स्वप्नमे या ध्यानमे अमुक मनुष्यको प्रत्यक्ष देखा,' यद्यपि उसने प्रत्यक्ष नही देखा है तथापि प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ देखा है इसलिये उसे प्रत्यक्ष कह देते है, इसीप्रकार अनुभवमे आत्मा प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है"।

प्रश्नः—श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार परमागममे इस सबधमे क्या कहा है ?

उत्तरः—(१) श्रीसमयसारकी ४९ वी गाथाकी टीकामे इसप्रकार कहा है,—'इसप्रकार रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसवेदनके बलसे सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचर मात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिगग्रहण कहा जाता है।'

"अपने अनुभवमे आनेवाले चेतना गुणके द्वारा सदा अंतरगमे प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतना गुणवाला है।"

(२) श्री समयसार की १४३ वी गाथा की टीकामे इसप्रकार कहा है,—

टीकाः—जैसे केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत-व्यवहार निश्चयनयपक्षोके स्वरूपको ही केवल जानते है किंतु, निरतर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वय ही विज्ञानघन होनेसे, श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तत्वके द्वारा (श्रुतज्ञानकी भूमिकाको उलघन कर चुकनेसे) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करते, उसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), जिसकी उत्पत्ति क्षयोपशम से होती है ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्पोके उत्पन्न होते हुए भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयनय पक्षोके स्वरूपको ही केवल जानते है, किंतु तीक्ष्ण ज्ञान दृष्टिसे ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके कारण (चैतन्यमय आत्माके अनुभवसे) उस समय (अनुभवके समय) स्वयं ही विज्ञानघन होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अतर्जल्प-

रूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोकी भूमिका की अतिक्रातताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करता, वह (आत्मा) वास्तवमे समस्त विकल्पोसे परे, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्-ज्योति आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) है उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते है तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही होते है। एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाय तो मिथ्यात्व के साथ मिश्रित राग होता है, प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त चारित्र मोहका राग रहता है, और जब नयपक्षको छोडकर केवल वस्तु स्वरूपको जानता है तब श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतरागके समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) श्री समयसारकी ५ वी गाथामे आचार्यदेव कहते हैं कि—"उस एकत्वविभक्त आत्माको मै आत्माके निज वैभवके द्वारा दिखाता हूँ, यदि मैं उसे दिखाऊ तो प्रमाण करना। उसकी **टीका** करते हुए श्री अमृतचन्द्र-सूरि कहते है कि—"यो जिसप्रकारसे मेरा ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखलाता हूँ। यदि दिखाऊ तो स्वयमेव अपने अनुभव–प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण कर लेना"। आगे जाकर **भावार्थमें** बताया है कि—'आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलबन, परापर गुरुका उपदेश, और स्वसवेदन-इन चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। उसे सुननेवाले हे श्रोताओ! अपने स्व-सवेदन–प्रत्यक्षसे प्रमाण करो"। इससे सिद्ध होता है कि—अपनेको जो सम्यक्त्व होता है उसकी स्वसवेदन प्रत्यक्षसे श्रुतप्रमाण (सच्चेज्ञान) के द्वारा अपनेको खबर हो जाती है।

(४) कलश ९ मे श्री अमृतचद्राचार्य कहते हैं कि—

मालिनी

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकऽषेस्मि-
न्नमनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

अर्थ—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते है कि इन सर्व भेदो को गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्य चमत्कार मात्र तेज पु ज आत्मा है, उसका अनुभव होनेपर नयोकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नही होती। प्रमाण अस्तको प्राप्त होता है और निक्षेपोका समूह कहाँ चला जाता है सो हम नही जानते। इससे अधिक क्या कहे ? द्वैत ही प्रतिभासित नही होता।

भावार्थ— × × × × × × शुद्ध अनुभव होनेपर द्वैत ही भासित नही होता, केवल एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानमे भी आत्माको स्वय अपने भावश्रुतके द्वारा शुद्ध अनुभव होता है। समयसारमे लगभग प्रत्येक गाथामे यह अनुभव होता है, यह बतलाकर अनुभव करनेका उपदेश दिया है।

सम्यक्त्व सूक्ष्म पर्याय है यह ठीक है, किंतु सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुतज्ञान हुआ है, और इससे श्रुतज्ञान मे यह निश्चय करता है कि—उसका (सम्यग्ज्ञानका) अविनाभावी सम्यग्दर्शन मुझे हुआ है। केवलज्ञान, मन पर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान सम्यग्दर्शन को प्रत्यक्ष जान सकता है,—इतना ही मात्र अतर है।

पचाध्यायीको गाथा १९६–१९७–१९८ की हिन्दी टीका (प० मक्खनलालजी कृत) मे कहा है कि "ज्ञानशब्दसे आत्मा समझना चाहिए, क्योकि आत्मा स्वय ज्ञानरूप है, वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जाना जाता है उस का नाम ज्ञान चेतना है अर्थात् जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होता है—**केवल शुद्धात्माका अनुभव करता है उससमय उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है**। ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिको ही होती है, मिथ्यादृष्टिको कभी नही हो सकती।'

सम्यक्मति और सम्यक् श्रुतज्ञान कथचित् अनुभव गोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाता है, और सपूर्णज्ञान जो केवलज्ञान है वह यद्यपि

छद्मस्थको प्रत्यक्ष नही है तथापि शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष वतलाता है।

[श्री समयसार गाथा १४ के नीचेका भावार्थ] इसप्रकार सम्यग्दर्शनका यथार्थज्ञान सम्यक्मति और श्रुतज्ञानके अनुसार हो सकता है।

(२०)

कुछ प्रश्नोत्तर

(१) **प्रश्न**—जव ज्ञानगुण आत्माभिमुख होकर आत्मलीन हो जाता है तव उस ज्ञानकी विशेप अवस्था को सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नही यह ठीक नही, सम्यग्दर्शन दर्शन (श्रद्धा) गुणकी पर्याय है, वह ज्ञानकी विशेष पर्याय नही है। ज्ञानकी आत्माभिमुख अवस्थाके समय सम्यग्दर्शन होता है, यह सही है किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञानकी पर्याय नही है।

(२) **प्रश्न**—क्या सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्र की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर—वह निश्चय सम्यग्दर्शन नही है किन्तु जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन होता है उसे वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है, क्योकि वहाँ राग मिश्रित विचार है।

(३) **प्रश्न**—क्या व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण है ?

उत्तर—नही, क्योकि निश्चय भावश्रुतज्ञान परिणमित हुए विना, निश्चय और व्यवहार होता नही किन्तु व्यवहाराभास होता है, इसलिये वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नही है। व्यवहारसम्यग्दर्शन (आभासरूप हो या सच्चा हो) विकार (–अशुद्ध पर्याय) है और निश्चय सम्यग्दर्शन अविकार–शुद्ध पर्याय है, विकार अविकार का कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् वे, निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण नही हो सकता, किंतु

व्यवहाराभास का व्यय (–अभाव) होकर निश्चयसम्यग्दर्शनका उत्पाद–सुपात्र जीवको अपने पुरुषार्थ से ही होता है [व्यवहाराभासको सक्षेप में व्यवहार कहा जाता है।]

जहाँ शास्त्रमे व्यवहारसम्यग्दर्शनको निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण कहा है वहाँ यह समझना चाहिए कि व्यवहारसम्यग्दर्शनको **अभावरूप** कारण कहा है। कारणके दो प्रकार है–(१) निश्चय (२) और व्यवहार। निश्चय कारण तो अवस्थारूपसे होनेवाला द्रव्य स्वय है और व्यवहार कारण पूर्वकी पर्यायका व्यय होना है।

(४) **प्रश्न**—श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदि जितने गुण है वे सब सम्यक्त्व नही किन्तु ज्ञानकी पर्याय हैं ऐसा पचाध्यायी अध्याय २ गाथा ३८६–३८७ मे कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जब आत्मा जीवादि सात तत्वो का विचार करता है तब उसके ज्ञानमे रागसे भेद होता है इसलिए वे ज्ञानकी पर्याय है और वे सम्यक् नही है ऐसा कहा है।

सात तत्त्व और नव पदार्थोका निर्विकल्पज्ञान निश्चय सम्यग्दर्शन सहितका ज्ञान है। [देखो पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक १८६–१८६]

श्लोक ३८६ के भावार्थमे कहा है कि–"परन्तु वास्तवमे ज्ञान भी यही है कि जैसेको तैसा जानना और **सम्यक्त्व भी यही है कि जैसे का तैसा श्रद्धान करना**"।

इससे समझना चाहिये कि रागमिश्रित श्रद्धा ज्ञानकी पर्याय है। राग रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे सम्यक् मान्यता अथवा सम्यक् प्रतीति भी कहते हैं। गाथा ३८७ मे कहा है कि–ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शनका लक्षण है,–इसका यह अर्थ है कि अनुभूति स्वय सम्यग्दर्शन नही है किन्तु जब वह होती है तब सम्यग्दर्शन अविनाभावीरूप होता है इसलिये उसे बाह्य लक्षण कहा है। [देखो, पचाध्यायी अध्याय २ गाथा ४०१–४०२–४०३] सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है, और आत्मानुभूति होती है,–अर्थात् ज्ञान स्वज्ञेयमे स्थिर होता है। किन्तु वह

स्थिरता कुछ समय ही रहती है। और राग होने से **ज्ञान** स्वमे से छूटकर परकी ओर जाता है तब भी सम्यग्दर्शन होता है। और यद्यपि ज्ञान का उपयोग दूसरे के जानने मे लगा हुआ है तथापि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उस समय अनुभूति उपयोगरूप नही है फिर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ऐसा समझना चाहिए, क्योकि लब्धिरूप अनुभूति है।

(५) **प्रश्न**—'सम्यग्दर्शनका एक लक्षण ज्ञानचेतना है' क्या यह ठीक है ?

उत्तर—ज्ञानचेतनाके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता ही है इसलिए वह व्यवहार अथवा बाह्य लक्षण है।

(६) **प्रश्न**—'अनुभूतिका नाम चेतना है' क्या यह ठीक है ?

उत्तर—ज्ञानकी स्थिरता अर्थात् शुद्धोपयोग (अनुभूति) को उपयोगरूप ज्ञानचेतना कहा जाता है।

(७) **प्रश्न**—यदि सम्यक्त्वका विषय सभीके एकसा है तो फिर सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक–ऐसे भेद क्यो किये हैं ?

उत्तर—दर्शन मोहनीय कर्मके अनुभागबन्धकी अपेक्षासे वे भेद नही है किन्तु स्थितिबन्धकी अपेक्षासे है। उनके कारणसे उनमे आत्माकी मान्यता मे कोई अतर नही पडता। प्रत्येक प्रकारके सम्यग्दर्शनमे आत्माकी मान्यता एक ही प्रकारकी है। आत्माके स्वरूपकी जो मान्यता औपशमिक सम्यक्दर्शन मे होती है वही क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनमे होती है। केवली भगवानको परमावगाढ सम्यग्दर्शन होता है, उनके भी आत्मस्वरूप की उसी प्रकारकी मान्यता होती है। इस प्रकार सभी सम्यग्दृष्टि जीवो के आत्मस्वरूप की मान्यता एक ही प्रकारकी होती है। [देखो, पचाध्यायी अध्याय २ गाथा ६३४–६३८]

(२१)

ज्ञानचेतनाके विधानमे अन्तर क्यों है ?

प्रश्न—पचाध्यायी और पंचास्तिकायमे ज्ञानचेतना के विधानमे अतर क्यो है ?

उत्तर—पचाध्यायीमे चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतनाका विधान किया है [अध्याय २ गाथा ८५४], और पचास्तिकायमे तेरवे गुणस्थानसे ज्ञान-चेतना को स्वीकार किया है, किन्तु इससे उसमे विरोध नही आता। सम्य-ग्दृष्टि जीवके शुभाशुभभावका स्वामित्व नही है इस अपेक्षासे पचाध्यायीमे चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतना कही है। भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव ने क्षायोपशमिक भावमे कर्म निमित्त होता है इस अपेक्षासे नीचेके गुणस्थानोमे उसे स्वीकार नही किया है। दोनो कथन विवक्षाधीन होनेसे सत्य है।

(२२)

इस सम्बन्धमें विचारणीय नव विषय—

(१) **प्रश्न**—गुणके समुदायको द्रव्य कहा है और सपूर्ण गुण द्रव्य के प्रत्येक प्रदेशमे रहते हैं इसलिए यदि आत्माका एक गुण (—सम्यग्दर्शन) क्षायिक हो जाय तो सपूर्ण आत्मा ही क्षायिक हो जाना चाहिए और उसी क्षण उसकी मुक्ति हो जानी चाहिए, ऐसा क्यो नही होता ?

उत्तर—जीव द्रव्यमे अनत गुण है. वे प्रत्येक गुण असहाय और स्वाधीन है, इसलिये एक गुणकी पूर्ण शुद्धि होनेपर दूसरे गुणकी पूर्ण शुद्धि होनी ही चाहिए ऐसा नियम नही है। आत्मा अखड है इसलिए एक गुण दूसरे गुणके साथ अभेद है—प्रदेश भेद नही है, किन्तु पर्यायापेक्षासे प्रत्येक गुणकी पर्यायके भिन्न २ समयमे पूर्ण शुद्ध होनेमे कोई दोष नही है, जब द्रव्यापेक्षासे सपूर्ण शुद्धि प्रगट हो तब द्रव्यकी सपूर्ण शुद्धि प्रगट हुई मानी जाय, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेपर सपूर्ण आत्मा क्षायिक होना चाहिए और तत्काल मुक्ति होनी चाहिए ऐसा मानना ठीक नही है।

(२) प्रश्न—एक गुण सर्व गुणात्मक है और सर्व गुण एक गुणात्मक है, इसलिए एक गुणके सपूर्ण प्रगट होनेसे अन्य सपूर्ण गुण भी पूर्ण रीतिसे उसीसमय प्रगट होना चाहिए,—क्या यह ठीक है ?

उत्तर—यह मान्यता ठीक नही है। गुण और गुणी अखड हैं इस अभेदापेक्षासे गुण अभेद हैं–किन्तु इसीलिए एक गुण दूसरे सभी गुणरूप है ऐसा नही कहा जा सकता, ऐसा कहने पर प्रत्येक द्रव्य एक ही गुणात्मक हो जायगा, किन्तु ऐसा नही होता। भेदकी अपेक्षासे प्रत्येक गुण भिन्न, स्वतत्र, असहाय है, एक गुणमे दूसरे गुणकी नास्ति है, वस्तुका स्वरूप भेदाभेद है–ऐसा न माना जाय तो द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न हो जायँगे। एक गुणका दूसरे गुणके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है,–इस अपेक्षासे एक गुणको दूसरे गुणका सहायक कहा जाता है। [जैसे सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है।]

(३) प्रश्न—आत्माके एक गुणका घात होनेमे उस गुणके घातमे निमित्तरूप जो कर्म है उसके अतिरिक्त दूसरे कर्म निमित्तरूप घातक हैं या नही ?

उत्तर—नही।

प्रश्न—अनतानुबधी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है इसलिये वह चारित्रके घातमे निमित्त हो सकती है, किन्तु वह सम्यग्दर्शनके घातमे निमित्त कैसे मानी जाती है ?

उत्तर—अनतानुबधीके उदयमे युक्त होनेपर क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं किन्तु कही अतत्त्व श्रद्धान नही होता, इसलिये वह चारित्रके घातका ही निमित्त होता है, किन्तु सम्यक्त्वके घातमे वह निमित्त नही है, परमार्थसे तो ऐसा ही है, किन्तु अनतानुबधीके उदयसे जैसे क्रोधादिक होते है वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्वके सद्भावमे नही होते,–ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सबध है इसलिये उपचार से अनतानुबधीमे सम्यक्त्वकी घातकता कही जाती है। [मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ४८६ देहली।]

(४) **प्रश्न**—ससारमे ऐसा नियम है कि प्रत्येक गुणका क्रमिक विकास होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनका भी क्रमिक विकास होना चाहिए। क्या यह ठीक है ?

उत्तर—ऐसा एकात सिद्धात नही है। विकासमे भी अनेकात स्वरूप लागू होता है,-अर्थात् आत्माका श्रद्धागुण उसके विषयकी अपेक्षासे एकसाथ प्रगट होता है और आत्माके ज्ञानादि कुछ गुणोमे क्रमिक विकास होता है।

अक्रमिक विकास का दृष्टांत

मिथ्यादर्शनके दूर होने पर एक समयमे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसमे क्रम नही पडता। जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तभीसे वह अपने विपयके प्रति पूर्ण और क्रम रहित होता है।

क्रमिक विकास का दृष्टांत

सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्रमे क्रमश विकाश होता है। इसप्रकार विकासमे क्रमिकता और अक्रमिकता आती है। इसलिये विकासका स्वरूप अनेकात है ऐसा समझना चाहिए।

(५) **प्रश्न**—सम्यक्त्वके आठ अग कहे है, उनमे एक अग 'नि शकित' है जिसका अर्थ निर्भयता है। निर्भयता आठवे गुणस्थानमे होती है इसलिये क्या यह समझना ठीक है कि जबतक भय है तबतक पूर्ण सम्यग्दर्शन नही होता ? यदि सम्यदर्ग्शन पूर्ण होता तो श्रेणिक राजा जो कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे वे आपघात नही करते,—यह ठीक है या नही ?

उत्तर—यह ठीक नही है, सम्यग्दृष्टिको सम्यदर्ग्शनके विषय की मान्यता पूर्ण ही होती है, क्योकि उसका विषय अखड शुद्धात्मा है। सम्यग्दृष्टिके शका–काक्षा–विचिकित्साका अभाव द्रव्यानुयोगमे कहा है, और करणानुयोगमे भयका आठवे गुणस्थान तक, लोभका दशवे गुणस्थान तक और जुगुप्सा का आठवे गुणस्थान तक सद्भाव कहा है, इसमे विरोध नही है क्योकि–श्रद्धानपूर्वक के तीव्र शकादिका सम्यग्दृष्टिके अभाव हुआ है

अथवा मुख्यतया सम्यग्दृष्टि शकादि नही करता,—इस अपेक्षासे सम्यग्दृष्टि के शकादि का अभाव कहा है, किन्तु सूक्ष्म शक्तिकी अपेक्षासे भयादिका उदय आठवे आदि गुणस्थान तक होता है इसलिये करणानुयोगमे वहाँ तक सद्भाव कहा है। [देहली वाला मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४३३]

सम्यग्दृष्टिके 'निर्भयता' कही है इसका अर्थ यह है कि अनतानुबधी का कषायके साथ जिसप्रकारका भय होता है उसप्रकारका भय सम्यग्दृष्टि को नही होता, अर्थात् अज्ञानदशामे जीव जो यह मान रहा था कि 'परवस्तुमे मुझे भय होता है' यह मान्यता सम्यग्दृष्टि हो जाने पर दूर हो जाती है, उसके वाद भी जो भय होता है वह अपने पुरुपार्थ की कमजोरीके कारण होता है अर्थात् भयमे अपनी वर्तमान पर्यायका दोष है—परवस्तुका नही, ऐसा वह मानता है।

श्रेणिक राजाको जो भय उत्पन्न हुआ था सो वह अपने चारित्र की कमजोरीके कारण हुआ था, ऐसी उसकी मान्यता होनेसे सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा से वह निर्भय था। चारित्रकी अपेक्षासे अल्प भय होनेपर उसे आत्मघातका विकल्प हुआ था।

(६) **प्रश्न**—क्षायिक लब्धि की स्थिति रखनेके लिये वीर्यान्तराय कर्मके क्षय की आवश्यकता होगी, क्योकि क्षायिक शक्तिके विना कोई भी क्षायिक लब्धि नही रह सकती। क्या यह मान्यता ठीक है ?

उत्तर—यह मान्यता ठीक नही है, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके निमित्त मे अनेक प्रकारकी **क्षायिक पर्यायें** प्रगट होती है। १—क्षायिक सम्यग्दर्शन (चौथेसे सातवे गुणस्थानमे), २—क्षायिक यथाख्यात चारित्र (वारहवें गुणस्थानमे), ३—*क्षायिक क्षमा (दशवे गुणस्थानमे), ४—क्षायिक

---

* द्रव्य क्रोधकी नवमें गुणस्थानके सातवें भागमें व्युच्छित्ति होती है। द्रव्यमान की नवमें गुणस्थानके आठवें भागमें व्युच्छित्ति होती है। द्रव्यमाया की नवमें गुणस्थानके नवमें भागमें व्युच्छित्ति होती है।

निर्मानता (दशवे गुणस्थानमे), ५–क्षायिक निष्कपटता (दशवे गुण-स्थानमे) और क्षायिक निर्लोभता (बारहवे गुणस्थानमे) होती है। बारहवे गुणस्थान मे वीर्य क्षयोपशमरूप होता है, फिर भी कषायका क्षय है।

अन्य प्रकारसे देखा जाय तो तेरहवे गुणस्थानमे क्षायिक अनतवीर्य ओर संपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है, तथापि योगोका कपन और चार प्रतिजीवी गुणोकी शुद्ध पर्यायकी अप्रगटता (–विभाव पर्याय) होती है। चौदहवे गुणस्थानमे कषाय और योग दोनो क्षयरूप है, फिर भी असिद्धत्व है, उस समय भी जीव की अपने पूर्ण शुद्धतारूप उपादानकी कचाईके कारण कर्मो के साथका सबध और ससारीपन है।

उपरोक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि–भेदकी अपेक्षासे प्रत्येक गुण स्वतत्र है, यदि ऐसा न हो तो एक गुण दूसरे गुणरूप हो जाय और उस गुणका अपना स्वतत्र कार्य न रहे। द्रव्यकी अपेक्षासे सभी गुण अभिन्न हैं यह ऊपर कहा गया है।

(७) **प्रश्न**—ज्ञान और दर्शन चेतना गुणके विभाग है, उन दोनों के घातमे निमित्तरूपसे भिन्न २ कर्म माने गये है, किन्तु सम्यक्त्व और चारित्र दोनो भिन्न २ गुण हैं तथापि उन दोनोके घातमे निमित्तकर्म एक मोह ही माना गया है, इसका क्या कारण है ?

प्रश्न का विस्तार

इस प्रश्न परसे निम्न लिखित प्रश्न उत्पन्न होते है—

१–जब कि मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र दोनो गुणो के घातमे निमित्त है तब मूल प्रकृतियोमे उसके दो भेद मानकर नौ कर्म कहना चाहिए, किन्तु आठ ही क्यो कहे गये है ?

२–जब कि मोहनीयकर्म दो गुणोके घातनेमे निमित्त है तब चार घातिया कर्म चार ही गुणोके घातनेमे निमित्त क्यो बताये गये हैं ? पाँच गुणोका घात क्यो नही माना गया ?

३–शुद्ध जीवोके कर्म नष्ट होनेपर प्रगट होनेवाले जो आठ गुण कहे हैं, उनमे चारित्रको न कहकर सम्यक्त्वको ही कहा है इसका क्या कारण है ? वहाँ चारित्रको क्यो छोड दिया है ?

४–कही कही चारित्र अथवा सम्यक्त्वमेसे एकको भी न कहकर सुख गुणका ही उल्लेख किया गया है सो ऐसा क्यो ?

उत्तर

जब जीव अपना निजस्वरूप प्रगट न करे और ससारिक दशाको बढाये तब मोहनीय कर्म निमित्त है किन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है कि कर्म जीवका कुछ कर सकते हैं। ससारिक दशाका अर्थ यह है कि जीव मे आकुलता हो, अशाति हो, क्षोभ हो। इस अशातिके तीन भाग किये जा सकते हैं,—१–अशातिरूप वेदनका ज्ञान, २–उस वेदन की ओर जीव झुके तब निमित्त कारण, और ३–अशातिरूप वेदन। उस वेदनका ज्ञान ज्ञानगुणमे गर्भित हो जाता है। उस ज्ञानके कारणमे ज्ञानावरणका क्षयोपशम निमित्त है। जब जीव उस वेदन की ओर लगता है तब वेदनीय कर्म उस कार्यमे निमित्त होता है, और वेदनमे मोहनीय निमित्त है। अशाति, मोह, आत्मज्ञानपराङ्मुखता, तथा विषयासक्ति,—यह सब मोहके ही कार्य हैं। **कारणके नाशसे कार्य भी नष्ट हो जाता है इसलिये विषयासक्तिको घटाने से पूर्व ही आत्मज्ञान उत्पन्न करनेका उपदेश भगवानने दिया है।**

मोहके कार्यको दो प्रकारसे विभक्त कर सकते है —१ दृष्टिकी विमुखता और २—चारित्र की विमुखता। दोनोमे विमुखता सामान्य है। वे दोनो सामान्यतया 'मोह' के नामसे पहिचानी जाती हैं, इसलिये उन दोनो को अभेदरूपसे एक कर्म बतलाकर उसके दो उपविभाग 'दर्शन मोह' और 'चारित्र मोह' कहे हैं। दर्शनमोह अपरिमितमोह है और चारित्रमोह परिमित। मिथ्यादर्शन ससार की जड़ है, सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही मिथ्यादर्शन का अभाव हो जाता है। मिथ्यादर्शन मे दर्शनमोह निमित्त है, दर्शन मोहका अभाव होनेपर उसी समय चारित्र मोहका एक उपविभाग जो कि

अनतानुबधी क्रोध मान, माया लोभ है उसका एक ही साथ अभाव हो जाता है, और तत्पश्चात् क्रमश वीतरागताके बढनेपर चारित्रमोहका क्रमश अभाव होता जाता है, इसलिये दर्शनको कारण और चारित्रको कार्य भी कहा जाता है, इसप्रकार भेदकी अपेक्षासे वे पृथक् है। इसलिये प्रथम अभेदकी अपेक्षासे 'मोह' एक होनेसे उसे एक कर्म मानकर फिर उसके दो उपविभाग—दर्शनमोह और चारित्रमोह माने गये है।

चार घातिया कर्मोको चार गुणोके घातमे निमित्त कहा है इसका कारण यह है कि—मोह कर्मको अभेदकी अपेक्षासे जब एक माना है तब श्रद्धा और चारित्र गुणको अभेदकी अपेक्षासे शाति (सुख) मान कर चार गुणोके घातमे चार घातिया कर्मोको निमित्तरूप कहा है।

शंका—यदि मिथ्यात्व और कषाय एक ही हो तो मिथ्यात्वका नाश होने पर कषायका भी अभाव होना चाहिए, जिस कषायके अभावको चारित्र की प्राप्ति कहते है,–किन्तु ऐसा नही होता और सम्यत्क्वके प्राप्त होने पर भी चौथे गुणस्थानमे चारित्र प्राप्त नही होता, इसलिये चौथे गुणस्थान को अव्रतरूप कहा जाता है। अणुव्रतके होनेपर पाँचवाँ गुणस्थान होता है और पूर्ण व्रतके होने पर 'व्रती' सज्ञा होने पर भी यथाख्यात चारित्र प्राप्त नही होता। इसप्रकार विचार करनेसे मालूम होगा कि सम्यक्त्वके क्षायिक रूप पूर्ण होने पर भी चारित्र की प्राप्तिमे अथवा पूर्णतामे विलब होता है इसलिये सम्यक्त्व और चारित्र अथवा मिथ्यात्व और कषायोमे एकता तथा कार्य–कारणता कैसे ठीक हो सकती है ?

समाधान—मिथ्यात्वके न रहनेसे जो कषाय रहती है वह मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली अति तीव्र अनतानुबधी कषायोके समान नही होती, किंतु अति मद हो जाती है, इसलिये वह कषाय चाहे जैसा बध करे तथापि वह बध दीर्घसंसारका कारणभूत नही होता, और इससे ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शनके होते ही प्रारभ हो जाती है,–जोकि बधके नाशका कारण है, इसलिये जब प्रथम मिथ्यात्व होता है तब जो चेतना होती है वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है–जो कि पूर्ण बधका कारण है। इसका साराश

यह है कि–कषाय तो सम्यग्दृष्टिके भी शेष रहती है किंतु मिथ्यात्वका नाश होनेसे अति मंद हो जाती है, और उससे सम्यग्दृष्टि जीव कुछ अंशोंमें अबंध रहता है और निर्जरा करता है, इससे मिथ्यात्व और कषायका कुछ अविनाभाव अवश्य है।

अब शंका की बात यह रह जाती है कि–मिथ्यात्वके नाशके साथ ही कषायका पूर्ण नाश क्यों नहीं होता ? इसका समाधान यह है कि–मिथ्यात्व और कषाय सर्वथा एक वस्तु तो नहीं है। सामान्य स्वभाव दोनों का एक है किन्तु विशेष की अपेक्षासे कुछ भेद भी है। विशेष–सामान्यकी अपेक्षासे भेद-अभेद दोनोंको यहाँ मानना चाहिए। यह भाव दिखानेके लिए ही शास्त्रकारने सम्यक्त्व और आत्मशांतिके घातका निमित्त मूल प्रकृति एक 'मोह' रखी है और उत्तर प्रकृतिमें दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय–दो भेद किये हैं। [इस स्पष्टीकरणमें पहिली और दूसरी शंकाका समाधान हो जाता है] जब कि उत्तर प्रकृतिमें भेद है तब उसके नाशका पूर्ण अविनाभाव कैसे हो सकता है ? [-नहीं हो सकता] हाँ, मूल कारणके न रहनेपर चारित्र-मोहनीय की स्थिरता भी अधिक नहीं रहती। दर्शनमोहनीयके साथ न सही, तो भी थोडे ही समयमें चारित्रमोहनीय भी नष्ट हो जाता है।

अथवा सम्यक्त्वके हो जाने पर भी ज्ञान सदा स्वानुभूतिमें ही तो नहीं रहता, जब ज्ञानका बाह्य लक्ष हो जाता है तब स्वानुभूतिसे हट जानेके कारण सम्यग्दृष्टि भी विषयोंमें अल्पतन्मय हो जाता है, किन्तु यह छद्मस्थ-ज्ञानकी चंचलताका दोष है और उसका कारण भी कषाय ही है। उस ज्ञान की केवल कषाय–नैमित्तिक चंचलता कुछ समय तक ही रह सकती है, और वह भी तीव्र बंधका कारण नहीं होती।

भावार्थ—यद्यपि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे संसारकी जड कट जाती है किन्तु दूसरे कर्मोंका उसी क्षण सर्व नाश नहीं हो जाता। कर्म अपनी अपनी योग्यतानुसार बँधते हैं और उदयमें आते हैं। जैसे–मिथ्यात्वके साथी चारित्रमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागरकी होती है। इसमें यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व ही समस्त दोषोंमें अधिक बलवान

दोष है, और वही दीर्घससारकी स्थापना करता है, इसलिये यह समझना चाहिए कि उसका नाश किया और ससारका किनारा आगया। किंतु साथ ही यह भी नही भूलना चाहिए कि मोह तो दोनो है। उनमे से एक (दर्शनमोह) अमर्यादित है और दूसरा (चारित्रमोह) मर्यादित है। किन्तु दोनो ससारके ही कारण है।

यदि संसारका सक्षेपमे स्वरूप कहा जाय तो वह दु खमय है, इसलिये आनुषंगिक रूपसे दूसरे कर्म भी भले ही दुखके निमित्त कारण हो किंतु मुख्य निमित्तकारण तो मोहनीयकर्म ही है। जब कि सर्वदु खका कारण (निमित्तरूपसे) मोहनीय कर्ममात्र है तो मोहके नाशको सुख कहना चाहिए। जो ग्रथकार मोहके नाशको सुख गुणकी प्राप्ति मानते है उनका मानना मोहके सयुक्त कार्यकी अपेक्षा से ठीक है। वैसा मानना अभेद-व्यापकदृष्टिसे है इसलिये जो सुखको अनत चतुष्टयमे गर्भित करते है वे चारित्र तथा सम्यक्त्वको भिन्न नही गिनते, क्योकि सम्यक्त्व तथा चारित्रके सामुदायिक स्वरूपको सुख कहा जा सकता है।

चारित्र और सम्यक्त्व दोनोका समावेश सुखगुणमे अथवा स्वरूपलाभमे ही होता है, इसलिये चारित्र और सम्यक्त्वका अर्थ सुख भी हो सकता है। जहाँ सुख और वीर्यगुणका उल्लेख अनत चतुष्टयमे किया गया है वहाँ उन गुणोकी मुख्यता मानकर कहा है, और दूसरोको गौण मानकर नही कहा है, तथापि उन्हे उनमे सगृहीत हुआ समझ लेना चाहिये, क्योंकि वे दोनो सुखगुणके विशेषाकार हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म किसगुणके घातमे निमित्त है। और इससे वेदनीयकी अघातकता भी सिद्ध हो जाती है, क्योकि वेदनीय किसीके घातनेमे निमित्त नही है, मात्र घात हुए स्वरूपका जीव जब अनुभव करता है तब निमित्तरूप होता है।
[इस स्पष्टीकरणमे तीसरी और चौथी शका का समाधान होजाता है।]

[यह बात विशेष ध्यानमे रखनी चाहिए कि जीवमे होनेवाले विकारभावोको जीवजब स्वय करता है तब कर्मका उदय उपस्थितरूपमे निमित्त होता है, किंतु उस कर्मके रजकणोने जीवका कुछ भी किया है या कोई

असर पहुँचाया है, यह मानना सर्वथा मिथ्या है। इसीप्रकार जीव जब विकार करता है तब पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वय कर्मरूप परिणमित होती है,–ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जीवको विकारीरूपमे कर्म परिणमित करता है और कर्मको जीव परिणमित करता है,–इस प्रकार सबध बताने वाला व्यवहार कथन है। वास्तवमे जडको कर्मरूपमे जीव परिणमित नही कर सकता और कर्म जीवको किकारी नही कर सकता, गोमट्टसार आदि कर्म शास्त्रोका इसप्रकार अर्थ करना ही न्यायपूर्ण है।

प्रश्न—बधके कारणोमे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग–ये पाँचो मोक्षशास्त्रमे कहे हैं, और दूसरे आचार्य कषाय तथा योग दो ही बतलाते हैं, इस प्रकार वे मिथ्यात्व अविरति और प्रमादको कषाय का भेद मानते हैं। कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है, इससे यह प्रतीत होता है कि चारित्रमोहनीय ही सभी कर्मोका कारण है। क्या यह कथन ठीक है?

उत्तर—मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद कषायके उपभेद हैं किंतु इससे यह मानना ठीक नही है कि कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है। मिथ्यात्व महा कषाय है। जब 'कषाय' को सामान्य अर्थमे लेते हैं तब दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनोरूप माने जाते हैं, क्योकि कषायमे मिथ्यादर्शनका समावेश हो जाता है जब कषायको विशेष अर्थमे प्रयुक्त करते है तब वह चारित्र मोहनीयका भेद कहलाता है। चारित्र मोहनीय कर्म उन सब कर्मोका कारण नही है, किन्तु जीवका मोहभाव उन सात अथवा आठ कर्मोके बध का निमित्त है।

(९) **प्रश्न**—सात प्रकृतियोका क्षय अथवा उपशमादि होता है सो वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है या निश्चयसम्यग्दर्शन?

उत्तर—वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।

प्रश्न—सिद्ध भगवानके व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है या निश्चयसम्यग्दर्शन?

उत्तर—सिद्धोके निश्चयसम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न—व्यवहारसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शनमे क्या अतर है ?

उत्तर—जीवादि नव तत्त्व और सच्चे देव गुरु शास्त्रकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहारसम्यक्त्व कहते है। जो जीव उस विकल्पका अभाव करके अपने शुद्धात्माकी ओर उन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसे पहिले व्यवहारसम्यक्त्व था ऐसा कहा जाता है। जो जीव निश्चय-सम्यग्दर्शन को प्रगट नही करता उसका वह व्यवहाराभाससम्यक्त्व है। जो उसीका अभाव करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसके व्यवहार-सम्यग्दर्शन उपचारसे (अर्थात् व्ययरूपमे-अभावरूपमे) निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण कहा जाता है ।

सम्यग्दृष्टि जीवको विपरीताभिनिवेश रहित जो आत्माका श्रद्धान है सो निश्चयसम्यग्दर्शन है, और देव, गुरु धर्मादिका श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है इसप्रकार एक कालमे सम्यग्दृष्टिके दोनो सम्यग्दर्शन होते हैं। कुछ मिथ्यादृष्टियोको द्रव्यलिंगी मुनियोको और कुछ अभव्य जीवोको देव गुरु धर्मादिका श्रद्धान होता है, किंतु वह आभासमात्र होता है, क्योकि उनके निश्चय सम्यक्त्व नही है इसलिये उनका व्यवहार सम्यक्त्व भी आभासरूप है [देखो देहलीसे प्रकाशित–मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४८६–४९०]

देव गुरु धर्मके श्रद्धानमे प्रवृत्तिकी मुख्यता है। जो प्रवृत्तिमे अरह-तादिको देवादि मानता है और अन्यको नही मानता उसे देवादिका श्रद्धानी कहा जाता है। तत्त्व श्रद्धानमे विचारकी मुख्यता है। जो ज्ञानमे जीवादि तत्त्वोका विचार करता है उसे तत्त्वश्रद्धानी कहा जाता है। इन दोनोको समझनेके बाद कोई जीव स्वोन्मुख होकर रागका आंशिक अभाव करके सम्यक्त्व को प्रगट करता है, इसलिये यह दोनो (-व्यवहार श्रद्धान) इसी जीवके सम्यक्त्व के (उपचारसे) कारण कहे जाते है, किंतु उसका सद्भाव मिथ्यादृष्टिके भी सभव है इसलिये वह श्रद्धान **व्यवहाराभास है।**

–२३–

सम्यग्दर्शन और ज्ञानचेतनामें अंतर

प्रश्न—जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तबतक ज्ञान ज्ञानचेतना है और उतना ही सम्यग्दर्शन है, यह ठीक है ?

उत्तर—आत्माके अनुभवको शुद्धोपलब्धि कहते हैं, वह चारित्रगुण की पर्याय है। जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धोपयोगमे युक्त होता है अर्थात् स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे सम्यक्त्व होता है, और जब शुद्धोपयोगमे युक्त नही होता तब भी उसे ज्ञानचेतना लब्धरूप होती है। जब ज्ञानचेतना अनुभवरूप होती है तभी सम्यग्दर्शन होता है और जब अनुभवरूप नही होती तब नही होता–इसप्रकार मानना बहुत बडी भूल है।

क्षायिक सम्यक्त्वमे जीव शुभाशुभरूप प्रवृत्ति करे या स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करे, किन्तु सम्यक्त्वगुण तो सामान्य प्रवर्त्तनरूप ही है। [देखो, प० टोडरमलजीकी रहस्यपूर्ण चिट्ठी]

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है। वह क्रमश विकसित नही होता किन्तु अक्रमसे एकसमयमे प्रगट हो जाता है। और सम्यग्ज्ञानमे तो हीनाधिकता होती है किन्तु विभावभाव नही होता। चारित्रगुण भी क्रमश विकसित होता है। वह अशत शुद्ध और अशत. अशुद्ध (रागद्वेषवाला) निम्नदशामे होता है, अर्थात् इसप्रकारसे तीनो गुणोकी शुद्ध पर्यायके विकास मे अतर है।

–२४–

सम्यक्श्रद्धा करनी ही चाहिये

चारित्र न पले फिर भी उसकी श्रद्धा करनी चाहिए

दर्शन पाहुड की २२ वी गाथामे भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने कहा है कि–"यदि (हम कहते है वह) करने को समर्थ हो तो करना, और यदि करनेमे समर्थ न हो तो सच्ची श्रद्धा अवश्य करना, क्योकि केवली भगवानने श्रद्धा करनेवालेको सम्यक्त्व कहा है।"

यह गाथा बतलाती है कि—जिसने निज़स्वरूपको उपादेय जानकर श्रद्धा की उसका मिथ्यात्व मिट गया किन्तु पुरुषार्थकी हीनतासे चारित्र अगीकार करनेकी शक्ति न हो तो जितनी शक्ति हो उतना ही करे और शेष के प्रति श्रद्धा करे। ऐसी श्रद्धा करनेवालेके भगवानने सम्यक्त्व कहा है।

[अष्टपाहुड हिन्दीमे पृष्ठ ३३, दर्शन पाहुड गाथा २२]

इसी आशयकी बात नियमसारकी गाथा १५४ मे भी कही गई है क्योकि **सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है।**

—२५—

निश्चय सम्यग्दर्शनका दूसरा अर्थ

मिथ्यात्वभावके दूर होनेपर सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमे प्रगट होता है। वह श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय होनेसे निश्चयसम्यक्त्व है। किंतु यदि उस सम्यग्दर्शनके साथके चारित्र गुणकी पर्यायका विचार किया जाय तो चारित्र गुणकी रागवाली पर्याय हो या स्वानुभवरूप निर्विकल्प पर्याय हो वहाँ चारित्र गुणकी निर्विकल्प पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको वीत-राग सम्यग्दर्शन कहा जाता है, औरसविकल्प (रागसहित) पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस सबधमे आगे (८ वे विभागमे) कहा जा चुका है।

जब सातवे गुणस्थानमे और उससे आगे बढनेवाली दशामे निश्चय सम्यग्दर्शन और वीतराग चारित्रका अविनाभावीभाव होता है तब उस अविनाभावीभावको बतानेके लिए दोनो गुणका एकत्त्व लेकर उस समयके सम्यग्दर्शनको उस एकत्त्वकी अपेक्षासे **'निश्चय सम्यक्त्व'** कहा जाता है। और निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ की विकल्प दशा बतानेके लिये, उस समय यद्यपि निश्चय सम्यग्दर्शन है फिर भी उस निश्चय सम्यग्दर्शनको 'व्यवहार सम्यक्त्व' कहा जाता है। इसलिये जहाँ 'निश्चय सम्यग्दर्शन, शब्द आया हो वहाँ वह श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे है या मात्र श्रद्धागुणकी अपेक्षासे है, यह निश्चय करके उसका अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्न—कुछ जीवोको गृहस्थ दशामे मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे कैसा सम्यग्दर्शन समझना चाहिए ?

उत्तर—केवल श्रद्धागुणकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शन और श्रद्धा तथा चारित्र गुणकी एकत्वकी अपेक्षासे व्यवहारसम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इसप्रकार गृहस्थ दशामे जो निश्चयसम्यग्दर्शन है वह कथचित् निश्चय और कथचित् व्यवहार सम्यग्दर्शन है–ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—उस निश्चय सम्यग्दर्शनको श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे व्यवहारसम्यग्दर्शन क्यो कहा है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव शुभरागको तोडकर वीतराग चारित्रके साथ अल्प कालमे तन्मय हो जायगा, इतना सबध बतानेके लिये उस निश्चय सम्यग्दर्शन को श्रद्धा और चारित्रकी एकत्व अपेक्षासे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

सातवे और आगेके गुणस्थानमे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकता होती है इसलिये उस समयके सम्यक्त्वमे निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद नही होते, इसलिये वहाँ जो सम्यक्त्व होता है उसे 'निश्चयसम्यग्दर्शन' ही कहा जाता है।

(देखो परमात्मप्रकाश अध्याय १ गाथा ८५ नीचेकी सस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ ९० तथा परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १७–१८ के नीचेकी सस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ १४६–१४७ और हिन्दी समयसारमे श्री जयसेनाचार्यकी सस्कृत टीका गाथा १२१–१२५ के नीचे पृष्ठ १८६ तथा हिन्दी समयसारकी टीकामे श्री जयसेनाचार्यकी टीकाका अनुवाद पृष्ठ ११६)

—अंतमें—

पुण्यसे धर्म होता है और आत्मा पर द्रव्यका कुछ भी कर सकता है–यह बात श्री वीतरागदेवके द्वारा प्ररूपित धर्मकी मर्यादाके बाहर है।



प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[२]

❀ निश्चय सम्यग्दर्शन ❀

निश्चय सम्यग्दर्शन क्या है और उसे किसका अवलंबन है ।

वह सम्यग्दर्शन स्वय आत्माके श्रद्धागुणकी निर्विकारी पर्याय है। अखंड आत्माके **लक्षसे** सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शनको किसी विकल्प का अवलबन नही है, किन्तु निर्विकल्प स्वभावके अवलबनसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । यह सम्यग्दर्शन ही आत्माके सर्व सुखका मूल है । 'मै ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ बध रहित हूँ' ऐसा विकल्प करना भी शुभ राग है, उस शुभ राग का अवलबन भी सम्यग्दर्शनको नही है, उस शुभ विकल्प का अतिक्रम करने पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन स्वय रागादि विकल्प रहित निर्मल पर्याय है । उसे किसी निमित्त या विकारका अवलंबन नही है,—किन्तु पूर्ण रूप आत्माका अवलबन है—यह सपूर्ण आत्माको स्वीकार करता है ।

एक बार निर्विकल्प होकर अखड क्षायक स्वभावको **लक्षमें** लिया कि वहाँ सम्यक्प्रतीति हो जाती है। अखण्ड स्वभावका **लक्ष** ही स्वरूपकी शुद्धिके लिये कार्यकारी है । अखण्ड सत्य स्वरूपको जाने बिना—श्रद्धा किये बिना, 'मै ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ अबद्धस्पृष्ट हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धिके लिए कार्यकारी नही है। एक बार अखण्ड ज्ञायक स्वभावका सवेदन—**लक्ष** किया कि फिर जो वृत्ति उठती है वे शुभाशुभ वृत्तियाँ अस्थिरताका कार्य करती है, किन्तु वे स्वरूपके रोकनेमे समर्थ नही है, क्योंकि श्रद्धा तो नित्य विकल्प रहित होनेसे जो वृत्ति उद्भूत होती है वह श्रद्धा को नही बदल सकती यदि विकल्पमे ही रुक गया तो वह मिथ्यादृष्टि है ।

विकल्प रहित होकर अभेदका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है । इस सबधमे समयसारमे कहा है कि —

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भएणदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

'आत्मा कर्मसे बद्ध है या अबद्ध' ऐसे दो प्रकारके भेदोके विचारमे रुकना सो नयका पक्ष है । 'मै आत्मा हूँ परसे भिन्न हूँ' ऐसा विकल्प भी राग है इस रागकी वृत्तिको,–नयके पक्षको,—उलघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो । 'मै बद्ध हूँ अथवा बध रहित मुक्त हूँ' ऐसी विचार श्रेणीको लाघकर जो आत्मानुभव करता है वही सम्यग्दृष्टि है और वही शुद्धात्मा है ।

'मैं अबध हूँ, बध मेरा स्वरूप नही है' ऐसे भगकी विचार श्रेणी के कार्य मे रुकना सो अज्ञान है । और उस भगके विचारको लाघकर अभग-स्वरूपको स्पर्श कर लेना (अनुभव करलेना) ही पहला आत्म-धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है । 'मैं पराश्रय रहित, अबध, शुद्ध हूँ' ऐसे निश्चयनयके पक्षका विकल्प राग है, और जो उस रागमे अटक जाता है (-रागको ही सम्यग्दर्शन मानले और राग रहित स्वरूपका अनुभव न करे) सो वह मिथ्यादृष्टि है ।

भेदके विकल्प उठते तो हैं किन्तु उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नही है परिचय नही है, इस-लिये आत्मानुभव करने समय तत्सम्बन्धी विकल्प आये बिना नही रहते । अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नही है इसलिये वृत्तियोका उद्भव होता है कि—'मै आत्मा कर्मोंके साथ सबधवाला हूँ या कर्मोंके सबध से रहित हूँ' इसप्रकार नयोके दो विकल्प उठते हैं, परन्तु—'कर्मोंके साथ सम्बन्ध वाला या कर्मोंके सबधसे रहित अर्थात् बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ' ऐसे दो प्रकारके भेदोका भी एक स्वरूपमे कहाँ अवकाश है ? स्वरूप तो नयपक्षकी अपेक्षाओ से परे है । एक प्रकारके स्वरूपमे दो प्रकारकी अपेक्षाएँ नही होती । मै शुभाशुभभाव से रहित हूँ ऐसे विचारमे उलझना भी पक्ष है । उससे भी परे स्वरूप है, और स्वरूप तो पक्षातिक्रात है यही सम्यग्दर्शनका विषय है, अर्थात् उसीके लक्षमे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसके अति-रिक्त दूसरा कोई सम्यग्दर्शन का उपाय नही है ।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप क्या है ? किसी शारीरिक क्रियासे सम्यग्दर्शन नही होता जड़ कर्मोसे भी नही होता, और अशुभ राग या शुभ रागके लक्षसे भी सम्यग्दर्शन नही होता। तथा 'मै पुण्य-पापके परिणामोसे रहित ज्ञायक स्वरूप हूँ' ऐसा विचार भी स्वरूपका अनुभव करानेमे समर्थ नही है। मै ज्ञायक हूँ 'ऐसे विचारमे उलझा कि भेदके विचारमे उलझ गया' किन्तु स्वरूप तो ज्ञातादृष्टा है' उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेदके विचारमे उलझना सम्यग्दर्शनका स्वरूप नही है।

जो वस्तु है सो स्वत. परिपूर्ण स्वभावसे भरी हुई है। आत्माका स्वभाव परापेक्षासे रहित एकरूप है। मै कर्म-सवधवाला हूँ या कर्मोके सम्बन्ध से रहित हूँ, ऐसी अपेक्षाओसे उस स्वभावका आश्रय नही होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है किन्तु 'मै अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्पको भी छोड कर निर्विकल्प ज्ञातादृष्टा निरपेक्ष स्वभावका आश्रय करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्माकी प्रभुताकी महिमा भीतर परिपूर्ण है, अनादिकालसे उस की सम्यक् प्रतीतिके विना उसका अनुभव नही हुआ, अनादिकालसे पर लक्ष किया है किन्तु स्वभावका लक्ष नही किया। शरीरादिमे आत्माका सुख नही है, शुभरागमे भी सुख नही है, और 'मेरा स्वरूप शुभरागसे रहित है' ऐसे भेदके विचारमे भी आत्माका सुख नही है। इसलिये उस भेदके विचार मे उलझना भी अज्ञानी का कार्य है। इसलिये उस नयपक्षके भेदका आश्रय छोडकर अभेद ज्ञाता स्वभावका आश्रय करना ही सम्यग्दर्शन है और उसीमे सुख है। अभेद स्वभावका आश्रय कहो या ज्ञाता स्वरूपका अनुभव कहो अथवा सुख कहो, धर्म कहो या सम्यग्दर्शन कहो—सब यही है।

विकल्पको रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता

अखंडानंद अभेद आत्माका लक्ष नयपक्षके द्वारा नही होता। नयपक्षकी विकल्परूपी मोटर चाहे जितनी दौडाई जाय,—'मै ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ,' ऐसे विकल्प करे फिर भी वे विकल्पस्वरूप तकके आँगन तक ही ले जायेगे, किन्तु स्वरूपानुभवके समय तो वे सब विकल्प छोड ही देने

पडेगे । विकल्पको साथ लेकर स्वरूपानुभव नही हो सकता । नयपक्षोका ज्ञान स्वरूपके आँगन तक पहुँचनेमे वीचमे आते हैं । "मै स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड है, जड कर्म मेरे स्वरूपको नही रोक सकते, यदि मै विकार करूँ तो कर्म निमित्त कहलाते हैं किन्तु कर्म मुझे विकार नही कराते क्योकि कर्म और आत्मामे परस्पर अत्यत अभाव होनेसे दोनो द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक दूसरेका कुछ नही कर सकते । किसी अपेक्षा मैं जडका कुछ नही करता, और जड मेरा कुछ नही करते, जो राग-द्वेष होते हैं उन्हे भी कर्म नही कराता, तथा वे परवस्तुमे नही होते किन्तु मेरी अवस्थामे होते है वे राग द्वेष मेरा स्वभाव नही है, निश्चयसे मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञानस्वरूप है" इसप्रकार सभी पहलुओ (नयोका) ज्ञान पहले करना चाहिये किन्तु इतना करने तक भी भेदका आश्रय है, भेदके आश्रयसे अभेद आत्मस्वरूपका अनुभव नही होता फिर भी पहिले उन भेदोको जानना चाहिए । जव इतना जानलेता है तब वह स्वरूपके आँगनतक पहुँचा हुआ कहलाता है । उसके बाद जब स्वसन्मुख अनुभव द्वारा अभेदका आश्रय करता है तब भेदका आश्रय छूट जाता है, प्रत्यक्ष स्वरूपानुभव होनेसे अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । इसप्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होनेसे पूर्व नयपक्ष के विचार होते है किन्तु उस नयपक्षके कोई भी विचार स्वरूपानुभवमे सहायक नही है ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संबंध किसके साथ है ?

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है, उसका मात्र निश्चय-अखड स्वभावके साथ ही सबन्ध है । अखड द्रव्य जो कि भगभेद रहित है वही सम्यग्दर्शनको मान्य है, सम्यग्दर्शन पर्यायको स्वीकार नही करता, किन्तु सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाले सम्यग्ज्ञान का सम्वन्ध निश्चयव्यवहार दोनोके साथ है अर्थात् निश्चय-अखण्ड स्वभावको तथा व्यवहारमे पर्यायके जो भग-भेद होते हैं उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है ।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है, किन्तु 'मैं एक निर्मल पर्याय हूँ' इस प्रकार सम्यग्दर्शन स्वय अपनेको नही जानता । सम्यग्दर्शन का अखड विषय एक द्रव्य ही है, पर्याय नही ।

प्रश्न—जब कि सम्यग्दर्शनका विषय अखंड है और वह पर्यायको स्वीकार नही करता तब फिर सम्यग्दर्शनके समय पर्याय कहाँ चली जाती है ? सम्यग्दर्शन स्वय ही पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्यसे पृथक् होगई ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनका विषय अखंड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शनके विषय द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद नही है, द्रव्य-गुण-पर्यायसे अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शनको मान्य है। (अभिन्न वस्तुका लक्ष करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य वस्तुके साथ अभिन्न हो जाती है)। सम्यग्दर्शन-रूप पर्यायको भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नही करता, एक समयमे अभिन्न परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शनको मान्य है, एक मात्र पूर्णरूप आत्माको सम्यग्दर्शन प्रतीतिमे लेता है, परन्तु सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य विशेष सबको जानता है, सम्यक्ज्ञान पर्यायको और निमित्तको भी जानता है। सम्यग्दर्शनको भी जाननेवाला सम्यक्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुए ?

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव—कोई भी सम्यग्दर्शनका विषय नही है क्योकि वे सब पर्याय है। सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, पर्यायको सम्यग्दर्शन स्वीकार नही करता, जब अकेली वस्तुका लक्ष किया जाता है तब श्रद्धा सम्यक् होती है।

प्रश्न—उस समय होनेवाला सम्यक्ज्ञान कैसा होता है ?

उत्तर—ज्ञानका स्वभाव सामान्य—विशेष सबको जानना है। जब ज्ञानने सपूर्ण द्रव्यको, विकसित पर्यायको और विकारको ज्यो का त्यो जानकर, यह विवेक किया कि—'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो मै हूँ और जो विकार रह गया है सो मै नही हूँ" तब वह सम्यक् कहलाया। सम्यग्दर्शनरूप विकसित पर्यायको, सम्यग्दर्शनकी विषयभूत परिपूर्ण वस्तुको और अवस्थाकी कमी को इन तीनोको सम्यग्ज्ञान यथावत् जानता है, अवस्थाकी स्वीकृति ज्ञानमे है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन एक निश्चयको ही (अभेदस्वरूपको ही) स्वीकार करता है, और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी सम्यग्ज्ञान निश्चय तथा व्यवहार

दोनोको यथावत् जानकर विवेक करना है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नही होता। यदि व्यवहारका आश्रय करे तो दृष्टि मिथ्या सिद्ध होती है और यदि व्यवहारको जाने ही नही तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। ज्ञान निश्चय-व्यवहारका विवेक करता है तब वह सम्यक् कहलाता है। और दृष्टि व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चयको अगीकार करे तो वह सम्यक् कहलाती है।

सम्यग्दर्शनका विषय क्या है ?

मोक्षका परमार्थ कारण क्या है ?

सम्यग्दर्शनके विषयमे मोक्ष पर्याय और द्रव्य ऐसे भेद ही नही हैं। द्रव्य ही परिपूर्ण है जो कि सम्यग्दर्शनको मान्य है। बंध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शनको मान्य नही है। बंध-मोक्षकी पर्याय, साधक दशाके भग-भेद इत्यादि सबको सम्यक् ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्षका परमार्थ कारण है। पंच महाव्रतादि या विकल्पको मोक्षका कारण कहना स्थूल व्यवहार है, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्थाको मोक्षका कारण कहना भी व्यवहार है, क्योंकि उस साधक अवस्थाका भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है, अर्थात् वह भी अभावरूप कारण है, इसलिये व्यवहार है। त्रैकालिक अखंड वस्तु ही मोक्षका निश्चय कारण है। परमार्थ से वस्तुमे कारण-कार्यके भेद भी नही हैं, कार्यकारणका भेद भी व्यवहार है। एक अखंड वस्तुमें कार्यकारणके भेदके विचारमे विकल्प होता है इसलिये वह भी व्यवहार है, फिर भी व्यवहाररूपसे भी कार्य-कारणके भेद सर्वथा नही ही हो तो मोक्षदशाको प्रगट करनेकी बात भी नही कही जा सकती। अर्थात् अवस्थामे साधकसाध्य के भेद है किंतु अभेदके आश्रयके समय व्यवहारका आश्रय नही होता, क्योंकि व्यवहारके आश्रयमें भेद होता है और भेदके आश्रयमे परमार्थअभेदस्वरूप लक्षमे नही आता, इसलिये सम्यग्दर्शनके विषयमे भेद नही होते, एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शनका विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शांतिका उपाय है

अनादिकालसे आत्माके अखन्ड रसको सम्यक्‌दर्शनके द्वारा नही

जाना है इसलिये जीव परमे और विकल्पमे रस मान रहा है। किन्तु मै अखड एकरूप स्वभाव हूँ उसीमे मेरा रस है, परमे कही मेरा रस नही है,—इसप्रकार स्वभाव दृष्टिके बलसे एकबार सबको नीरस बनादे ! तुझे सहजानन्दस्वरूपके अमृत रसकी अपूर्व शातिका अनुभव प्रगट होगा। उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसारका अभाव सम्यग्दर्शनसे ही होता है

अनतकालसे अनतजीव ससारमे परिभ्रमण कर रहे है और अनन्त कालमे अनतजीव सम्यग्दर्शनके द्वारा पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके मोक्षको प्राप्त हुए है, जीवोने ससार पक्ष तो अनादिकालसे ग्रहण किया है किन्तु सिद्धोका पक्ष कभी ग्रहण नही किया। अब सिद्धोका पक्ष ग्रहण करके अपने सिद्ध स्वरूपको जानकर ससारका अभाव करनेका अवसर आया है, ...

और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है—



प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[३]

जिज्ञासुको धर्म किस प्रकार करना चाहिए ?

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभावको समझना चाहता है वह अपने सुखको प्राप्त (-प्रगट अनुभवरूप) करना चाहता है और दु खको दूर करना चाहता है तो सुख अपना नित्य स्वभाव है और वर्तमानमे जो दु ख है सो क्षणिक है इसलिये वह दूर हो सकता है। वर्तमान दु ख अवस्थाको दूर करके स्वय सुखरूप अवस्थाको प्रगट कर सकता है,—इतना तो सत्को समझना चाहता है उसने स्वीकार ही कर लिया है। आत्माको अपने भावमे अपूर्व तत्त्व विचाररूप पुरुषार्थ करके विकार रहित स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। वर्तमान विकारके होने पर भी विकार रहित स्व-भावकी श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह विकार और दु ख मेरा स्वरूप नही है ऐसा निश्चय हो सकता है।

पात्र जीवका लक्षण

जिज्ञासु जीवोको स्वरूपका निर्णय करनेके लिये शास्त्रोने पहिले ही ज्ञान क्रिया वतलाई है। स्वरूपका निर्णय करनेके लिये दूसरा कोई दान–पूजा–भक्ति-व्रत, तपादि करने को नही कहा है, किंतु श्रुतज्ञानसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करनेका ही कहा है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रकी ओर का आदर और उस ओरका झुकाव तो हट ही जाना चाहिए तथा विपयादि परवस्तुमे से सुख वुद्धि दूर हो जानी चाहिए। सव ओरसे रुचि हटकर अपनी ओर रुचि ढलनी चाहिए। और देव-शास्त्र-गुरुको यथार्थतया पहिचानकर उस ओर आदर करे, और यह सव यदि स्वभावके लक्षसे हुआ हो तो उस जीव की पात्रता हुई कहलाती है। इतनी पात्रता तो अभी सम्यग्दर्शनका मूल कारण नही है। सम्यग्दर्शनका मूल कारण चैतन्य स्वभावका आश्रय करना है, किन्तु पहिले कुदेवादिका सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सत्समागम का प्रेम, पात्र जीवोके होता ही है ऐसे पात्र हुए

जीवोको आत्माका स्वरूप समझनेके लिए क्या करना चाहिए सो यहाँ स्पष्ट बताया है।

सम्यग्दर्शनके उपायके लिये ज्ञानियोंके द्वारा बताई गई क्रिया

"पहिले श्रुतज्ञानके अवलंबनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए, पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारण जो इन्द्रियोके द्वारा और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ है उन्हे मर्यादामे लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्वको आत्मसमुख किया है ऐसा, तथा नानाप्रकार के पक्षो के आलबनसे होनेवाले अनेक विकल्पोके द्वारा आकुलताको उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोको भी मान मर्यादामे लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल परमात्मस्वरूप आत्माको जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है [अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।" [देखो समयसार गाथा १४४ की टीका]

उपरोक्त कथनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ?

"प्रथम श्रुतज्ञानके अवलबनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए।" ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ? सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तु स्वरूपको सिद्ध करता है। जो अनेकातस्वरूप वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नही है' इसप्रकार वस्तु को स्वतन्त्र सिद्ध करता है वह श्रुतज्ञान है।

एक वस्तु निजरूपसे है और वह वस्तु अनत पर द्रव्योसे पृथक् है इसप्रकार अस्ति-नास्ति रूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोको प्रकाशित करके जो वस्तु स्वरूपको बतावे—सिद्ध करे सो अनेकान्त है और वही श्रुतज्ञानका लक्षण है। वस्तु स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नही इसमे वस्तुकी नित्यता और स्वतत्रता सिद्ध की है।

श्रुतज्ञानका वास्तविक लक्षण–अनेकांत

एक वस्तुमे 'है' और 'नही' ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियो को भिन्न २ अपेक्षासे प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूपको परमे भिन्न बताये सो श्रुतज्ञान है, आत्मा सर्व परद्रव्योसे भिन्न वस्तु है ऐसा पहिले श्रुतज्ञानसे निश्चित करना चाहिये।

अनत परवस्तुसे यह आत्मा भिन्न है,–यह सिद्ध होने पर अब अपने द्रव्य–पर्यायमे देखना है। मेरा त्रैकालिक द्रव्य एक समयमात्रकी अवस्थारूप नही है, अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायरूपसे है और त्रैकालिक स्वरूपमे विकार नही है—इसप्रकार विकार रहित स्वभावकी सिद्धि भी अनेकातके द्वारा ही होती है। भगवान्‌के द्वारा कहे गये शास्त्रोकी महत्ता अनेकात से ही है। भगवानने पर जीवोकी दया पालनेको कहा है या अहिंसा बतलाई है अथवा कर्मोका वर्णन किया है,–इसप्रकार मानना न तो भगवानको पहिचानने का वास्तविक लक्षण है और न भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रो को ही पहिचानने का।

भगवान भी दूसरेका कुछ नहीं कर सके

भगवानने अपना कार्य भली भाँति किया किन्तु वे दूसरोका कुछ नही कर सके, क्योकि एक तत्त्व स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नही है, इसलिये कोई किसीका कुछ नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्य पृथक् पृथक् स्वतत्र है, कोई किसीका कुछ नही कर सकता। इसप्रकार समझ लेना ही भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रो की पहिचान है, और वही श्रुतज्ञान है।

प्रभावनाका सच्चा स्वरूप

कोई जीव पर द्रव्यकी प्रभावना नही कर सकता, किंतु जैनधर्म जो कि आत्माका वीतराग स्वभाव है उसकी प्रभावना धर्मी जीव करते है। आत्मा को जाने बिना आत्म स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना कैसे की जा सकती है? प्रभावना करनेका जो विकल्प उठता है सो भी परके कारण से नही। दूसरेके लिये कुछ भी अपनेमे होता है यह कहना जैन शासन की मर्यादामे नही है। जैन शासन तो वस्तुको स्वतत्र, स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवानके द्वारा कथित सच्ची दया (अहिंसा) का स्वरूप

यह बात मिथ्या है कि भगवानने दूसरे जीवोकी दया स्थापित की है। जब कि यह जीव पर जीवोकी क्रिया कर ही नही सकता तब फिर उसे बचा सकने की बात भगवान कैसे कहे ? भगवानने तो आत्माके स्वभाव को पहिचान कर ज्ञातामात्र भावकी श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा कषायभावसे अपने आत्माको बचानेकी बात कही है, और यही सच्ची दया है। अपना आत्माका निर्णय किए बिना जीव क्या कर सकता है ? भगवानके श्रुतज्ञानमे तो यह कहा है कि—तू स्वत परिपूर्ण वस्तु है, प्रत्येक तत्त्व, स्वत. स्वतत्र है किसी तत्त्वको दूसरे तत्त्वका आश्रय नही है,—इसप्रकार वस्तु स्वरूपको पृथक् स्वतत्र जानना सो अहिसा है और वस्तुको पराधीन मानना कि एक दूसरे का कुछ कर सकता है तथा रागसे धर्म मानना सो हिसा है। सरागीको दूसरे जीवको बचाने का राग तो होता है किंतु उस शुभ रागसे पुण्य बंधन होता है—धर्म नही होता है ऐसा समझना चाहिये।

आनन्दको प्रगट करनेवाली भावनावाला क्या करे ?

जगतके जीवोको सुख चाहिये है और सुखका दूसरा नाम धर्म है। धर्म करना है अर्थात् आत्म शाति चाहिए है अथवा अच्छा करना है। और वह अच्छा कहाँ करना है ? आत्माकी अवस्थामे दु खका नाश करके वीत-रागी आनन्द प्रगट करना है। वह आनन्द ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो—जिसके लिये परका अवलबन न हो। ऐसा आनन्द प्रगट करनेकी जिस की यथार्थ भावना हो सो वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानद प्रगट करने की भावना वाला जिज्ञासु पहिले यह देखता है कि ऐसा पूर्णानद किसे प्रगट हुआ है ? अपनेको अभी ऐसा आनद प्रगट नही हुआ है किंतु अपनेको जिसकी चाह है ऐसा आनंद अन्य किसीको प्रगट हुआ है और जिन्हे वह आनद प्रगट हुआ है उनके निमित्त से स्वय उस आनन्दको प्रगट करनेका सच्चा मार्ग जानले। और ऐसा जान ले सो उसमे सच्चे निमित्तोकी पहि-चान भी आ गई। जब तक इतना करता है तब तक वह जिज्ञासु है।

अपनी अवस्थामे अधर्म–अशाति है उसे दूर करके धर्म–शांति प्रगट करना है। वह शाति अपने आधारसे और परिपूर्ण होनी चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा होती है वह पहिले यह निश्चय करता है कि–मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ। तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी और के प्रगटहुआ होना चाहिए, यदिपरिपूर्ण मुख–आनद प्रगट न होतो दुखी कहलाये। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनद प्रगट होता है वह सपूर्ण सुखी है, और ऐसे सर्वज्ञ वीतराग है। इसप्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञानमे सर्वज्ञ का निर्णय करता है। दूसरेका कुछ करने धरनेकी वात तो है ही नही। जव परसे कुछ पृथक् हुआ है तभी तो आत्माकी जिज्ञासा हुई है। जिसे परसे हटकर आत्महित करनेकी तीव्र आकाक्षा जाग्रत हुई है ऐसे जिज्ञासु जीवकी यह वात है। परद्रव्यके प्रति सुख वुद्धि और रुचिको दूर की, वह पात्रता है। और स्वभावकी रुचि तथा पहिचान होना सो पात्रताका फल है।

दूखका मूल भूल है जिसने अपनी भूलसे दुःख उत्पन्न किया है वह अपनी भूलको दूर करे तो उसका दुःख दूर हो। अन्य किसीने भूल नही कराई इसलिये दूसरा कोई अपना दुःख दूर करनेमे समर्थ नही है।

श्रुतज्ञानका अवलंबन ही पहिली क्रिया है

जो आत्म कल्याण करनेको तैयार हुआ है ऐसे जिज्ञासुको पहिले क्या करना चाहिए,–यह वतलाया जाता है। आत्मकल्याण कही अपने आप नही हो जाता किंतु वह अपनेज्ञानमे रुचि और पुरुषार्थसे होता है। अपना कल्याण करनेके लिये पहिले अपने ज्ञानमे यह निर्णय करना होगा कि—जिन्हे पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है वे कौन हैं और वे क्या कहते हैं। तथा उन्होने पहिले क्या किया था। अर्थात् सर्वज्ञका स्वरूप जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञानके अवलवनसे अपने आत्माका निर्णय करना चाहिये, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी परके अवलवनसे धर्म प्रगट नही होता, फिर भी जव स्वय अपने पुरुषार्थसे समझता है तव समुख निमित्तरूपसे सच्चे–देव–गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार प्रथम ही निर्णय यह हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष सपूर्ण सुखी है और सपूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुखका पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है, स्वय उसे समझकर अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और स्वय जब समझता है तब सच्चे देव गुरु शास्त्र ही निमित्तरूप होते हैं। जिसे स्त्री पुत्र पैसा इत्यादिकी अर्थात् ससारके निमित्तोके ओर की तीव्र रुचि होगी उसे धर्मके निमित्त—भूत देव शास्त्र गुरुके प्रति रुचि नही होगी अर्थात् उसे श्रुत-ज्ञानका अवलवन नही रहेगा और श्रुतज्ञानके अवलवनके बिना आत्माका निर्णय नही होगा। क्योकि आत्माके निर्णयमे सत् निमित्त ही होते हैं, कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र इत्यादि कोई भी आत्माके निर्णयमे निमित्तरूप नही हो सकते। जो कुद्रेवादिको मानता है उसे आत्म निर्णय हो ही नही सकता।

जिज्ञासुकी यह मान्यता तो हो ही नही सकती कि दूसरेकी सेवा करेंगे तो धर्म होगा। किंतु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहिले पूर्णज्ञानी भगवान और उनके कथित शास्त्रोके अवलबनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये उद्यमी होगा। अनतभवमे जीवने धर्मके नाम-पर मोह किया किंतु धर्मकी कलाको समझा ही नही है। यदि धर्मकी एक कला ही सीख ले तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहेगा।

जिज्ञासु जीव पहिले कुदेवादिका और सुदेवादिका निर्णय करके कुदे-वादिको छोडता है और फिर उसे सच्चे देव गुरुकी ऐसी लगन लग जाती है कि उसका एक मात्र यही लक्ष हो जाता है कि सत्पुरुप क्या कहते हैं उसे समझा जाय, अर्थात् वह अशुभ से तो अलग हो ही जाता है। यदि कोई सासारिक रुचिसे पीछे न हटे तो वह श्रुतावलवनमे टिक नही सकेगा।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है ?

बहुतसे जिज्ञासुओको यही प्रश्न होता है कि धर्मके लिये पहिले क्या करना चाहिए ? क्या पर्वत पर चढना चाहिए, या सेवा-पूजा-ध्यान करते रहना चाहिए, या गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए अथवा दान देना चाहिए ? इन सबका उत्तर यह है कि इसमे कही भी आत्माका धर्म नही

है। धर्म तो अपना स्वभाव है, धर्म पराधीन नही है। किसीके अवलवनसे धर्म नही होता। धर्म किसी के द्वारा दिया नही जाता किन्तु अपनी पहिचानसे ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिए है उसे यह निश्चित करना चाहिए कि पूर्णानन्द का स्वरूप क्या है और वह किसे प्रगट हुआ है ? जो आनन्द मैं चाहता हूँ वह पूर्ण अवाधित आनन्द चाहता हूँ। अर्थात् कोई आत्मा वैसे पूर्णानद दशाको प्राप्त हुए हैं और उन्हे पूर्णानन्द दशा मे ज्ञान भी पूर्ण ही है, क्योंकि यदि ज्ञान पूर्ण न ,हो तो राग-द्वेष रहेगा, उसके रहनेसे दु ख रहेगा और जहाँ दुःख होता है वहाँ पूर्णानन्द नही हो सकता इसलिए जिन्हे पूर्णानद प्रगट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं। उनका और वे क्या कहते हैं इसका जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिए। इसीलिए कहा है कि 'पहिले श्रुतज्ञान के अवलवन से आत्माका—पूर्णरूपका निर्णय करना चाहिए' ·· ··इसमे उपादान-निमित्त की संधि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है, सत् वात कौन कहता है,—यह सव निश्चय करनेके लिए निवृत्ति लेनी चाहिए। यदि स्त्री-कुटुम्व, लक्ष्मी का प्रेम और ससार की रुचिमे कमी न आये तो वह सत् समागम के लिए निवृत्ति नही ले सकेगा। जहाँ श्रुतका अवलवन लेनेको कहा है वही तीव्र अशुभ भावका त्याग आ गया और सच्चे निमित्तोकी पहिचान करना भी आ गया।

सुखका उपाय ज्ञान और सत् समागम

तुझे तो सुख चाहिए है ? यदि तुझे सुख चाहिए है तो पहिले यह निर्णय कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है। सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है, इसका ज्ञान किये विना (वाह्याचार करके यदि) सूख जाय तव भी सुख नही मिलता—धर्म नही होता। सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कथित श्रुतज्ञानके अवलवनसे यह निर्णय होता है और इस निर्णय का करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो वह धर्मीको पहिचान कर वे क्या कहते हैं इसका निर्णय करनेके लिये सत् समागम करे। सत् समागमसे जिसे श्रुतज्ञानका अवलवन प्राप्त हुआ है कि अहो ! परिपूर्ण

आत्मवस्तु ही उत्कृष्ट महिमावान है, मैंने ऐसा परमस्वरूप अनतकालमे पहिले कभी नही सुना था—ऐसा होनेपर उसे स्वरूपकी रुचि जाग्रत होती है और सत्समागमका रग लग जाता है अर्थात् उसे कुदेवादि या ससारके प्रति रुचि हो ही नही सकती ।

यदि अपनी वस्तुको पहिचाने तो प्रेम जाग्रत हो और उस तरफका पुरुषार्थ ढले । आत्मा अनादिकालसे स्वभावको भूलकर पुण्य-पापमय परभाव रूपी परदेशमे परिभ्रमण करता है, स्वरूपसे बाहर ससारमे परिभ्रमण करते करते परमपिता सर्वज्ञदेव और परम हितकारी श्री परमगुरुसे भेट हुई और वे पूर्ण हित कैसे होता है यह सुनाते है तथा आत्मस्वरूप की पहिचान कराते हैं । अपने स्वरूपको सुनते हुए किस धर्मीको उल्लास नही होता ? आत्मस्वभाव की बात सुनते ही जिज्ञासु जीवोको महिमा आती ही है कि—अहो ! अनतकालसे यह अपूर्व ज्ञान नही हुआ, स्वरूपके बाहर परभावमे भ्रमित होकर अनतकाल तक दु खी हुआ, यदि यह अपूर्वज्ञान पहिले किया होता तो यह दु ख नही होता । इसप्रकार स्वरूप की चाह जाग्रत हो, रस आये, महिमा जागे और इस महिमाको यथार्थतया रटते हुए स्वरूपका निर्णय करे । इसप्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो उसे पहिले श्रुत-ज्ञानका अवलवन लेकर आत्माका निर्णय करना चाहिये ।

भगवान की श्रुतज्ञानरूपी डोरीको दृढतापूर्वक पकड कर उसके अवलबनसे-स्वरूपमे पहुँचा जाता है । श्रुतज्ञानके अवलबनका अर्थ क्या है? सच्चे श्रुतज्ञानका ही रस है, अन्य कुश्रुतज्ञानका रस नही है, ससार की बातो का तीव्र रस टल गया है और श्रुतज्ञानका तीव्र रस आने लगा है । इसप्रकार श्रुतज्ञानके अवलबनसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये जो तैयार हुआ है उसे अल्पकालमे आत्म प्रतीति होगी ससारका तीव्र लोह-रस जिसके हृदयमे घुल रहा हो उसे परमशात स्वभावकी बात समझनेकी पात्रता ही जाग्रत नही होती यहाँ जो 'श्रुतका अवलबन' शब्द दिया है सो वह अवलबन स्वभावके लक्षसे है, पीछे न हटनेके लक्ष से है, जिसने ज्ञान-स्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिए श्रुतका अवलबन लिया है वह

आत्मस्वभावका निर्णय करता ही है। उसके पीछे हटनेकी बात शास्त्रमे नही ली गई है।

ससारकी रुचिको घटाकर आत्म निर्णय करनेके लक्षसे जो यहाँतक आया है उसे श्रुतज्ञानके अवलबनसे निर्णय अवश्य होगा, यह हो ही नही सकता कि निर्णय न हो। सच्चे साहूकारके वहीखातेमे दिवाले की बात ही नही हो सकती, उसीप्रकार यहाँ दीर्घ ससारीकी बात ही नही है यहाँ तो सच्चे जिज्ञासु जीवो ही की बात है। सभी बातोकी हामे हा भरे और एक भी बातका अपने ज्ञानमे निर्णय न करे ऐसे 'ध्वजपुच्छ' जैसे जीवोकी बात यहाँ नही है। यहाँ तो निश्चल और स्पष्ट बात है। जो अनन्तकालीन ससारका अत करने के लिये पूर्ण स्वभावके लक्षसे प्रारभ करनेको निकले हैं ऐसे जीवो का प्रारभ किया हुआ कार्य फिर पीछे नही हटता,—ऐसे जीवो की ही यहाँ बात है, यह तो अप्रतिहत मार्ग है। 'पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारभ ही वास्तविक प्रारभ है'। पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारभ पीछे नही हटता, पूर्णताके लक्षसे पूर्णता अवश्य होती है।

जिस ओरकी रुचि उसी ओरकी रटन

एककी एक बात ही पुन पुन (अदल बदलकर) कही जा रही है, किन्तु रुचिवान जीवको उकताहट नही होती। नाटकका रुचिवान मनुष्य नाटकमे 'वन्स मोर' कहकर अपनी रुचिवाली वस्तुको बारबार देखता है। इसीप्रकार जिन भव्य जीवोको आत्मरुचि हुई है और जो आत्मकल्याण करने को निकले है वे बारम्बार रुचिपूर्वक प्रतिसमय—खाते, पीते, चलते फिरते सोते जागते उठते बैठते बोलते चालते विचार करते हुए निरतर श्रुत का ही अवलबन स्वभावके लक्षसे करते हैं, उसमे किसी काल या क्षेत्रकी मर्यादा नही करते। उन्हे श्रुतज्ञानकी रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी नही हटती। ऐसा नही कहा है कि अमुक समय तक अवलबन करना चाहिए और फिर छोड देना चाहिए, किंतु श्रुतज्ञानके अवलबनसे आत्माका निर्णय करनेको कहा है। जिसे सच्ची तत्त्वकी रुचि हुई है वह दूसरे सब कार्योंकी प्रीति को गौण ही कर देता है।

प्रश्न—तब क्या सत्की प्रीति होती है इसलिये खाना-पीना और व्यापार धधा सब छोड देना चाहिए ? और श्रुतज्ञानको सुनते ही रहना चाहिए ? किंतु उसे सुनकर भी क्या करना है ?

उत्तर—सत्की प्रीति होती है इसलिये तत्काल खाना पीना सब छूट ही जाय ऐसा नियम नही है, किन्तु उस ओरकी रुचि तो अवश्य कम हो ही जाती है। परमेसे सुख बुद्धि उड जाय और सबमे एक आत्मा ही आगे रहे इसका अर्थ यह है कि निरतर आत्मा ही की तीव्राकाक्षा और चाह होती है। ऐसा नही कहा है कि मात्र श्रुतज्ञानको सुना ही करे किंतु श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका निर्णय करना चाहिए।

श्रुतावलबनकी धुन लगनेपर वहाँ, देव–गुरु–शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, इत्यादि अनेक प्रकारसे बाते आती है उन सब प्रकारोको जानकर एक ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए। उसमे भगवान कैसे है उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते है, इन सबका अवलबन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञान स्वरूपी ही है, ज्ञानके अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नही कर सकता।

देव–गुरु–शास्त्र कैसे होते है और उन्हे पहिचानकर उनका अवलबन करनेवाला स्वय क्या समझा है,—यह इसमे बताया है। 'तू ज्ञान स्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानना ही है, कुछ परका करना या पुण्य पापके भाव करना तेरा स्वभाव नही है' इसप्रकार जो बताते हो वे सच्चे देव–गुरु–शास्त्र है, और इसप्रकार जो समझता है वही देव–गुरु–शास्त्रके अवलबनसे श्रुतज्ञानको समझा है। किंतु जो रागसे निमित्तसे धर्म–मनवाते हो और जो यह मनवाते हो कि आत्मा शरीराश्रित क्रिया करता है जडकर्म आत्माको हैरान करते हैं वे देव–गुरु–शास्त्र सच्चे नही हैं।

जो शरीरादि सर्व परसे भिन्न ज्ञान स्वभाव आत्माका स्वरूप बतलाता हो और यह बतलाता हो कि—पुण्य–पापका कर्तव्य आत्माका नही है वही सत् श्रुत है, वही सच्चा देव है और वही सच्चा गुरु है। और जो पुण्य से धर्म बताये, शरीरकी क्रियाका कर्ता आत्माको बतावे और रागसे

धर्म बतावे वह कुगुरु–कुदेव–कुशास्त्र है, क्योंकि वे यथावत् वस्तु स्वरूपके ज्ञाता नही हैं प्रत्युत उल्टा स्वरूप बतलाते हैं। जो वस्तु स्वरूपको यथावत् नही बतलाते और किंचित्मात्र भी विरुद्ध बतलाते हैं वे कोई देव, गुरु, या शास्त्र सच्चे नही हैं।

श्रुतज्ञानके अवलंबनका फल–आत्मानुभव

'मैं आत्मा ज्ञायक हूँ' पुण्य पापकी प्रवृत्तियां मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञानसे पृथक् हैं, इसप्रकार पहिले विकल्पके द्वारा देव-गुरु-शास्त्रके अवलंबन से यथार्थ निर्णय करना चाहिए। यह तो अभी ज्ञान स्वभावका अनुभव नही हुआ उससे पहिलेकी बात है। जिसने स्वभावके लक्षसे श्रुतका अवलंबन लिया है वह अल्पकालमें आत्मानुभव अवश्य करेगा। प्रथम विकल्पमे जिसने यह निश्चय किया कि मैं परसे भिन्न हूँ, पुण्य पाप भी मेरा स्वरूप नही है, मेरे शुद्धस्वभाव के आश्रयमे ही लाभ है, देव गुरु शास्त्रका भी अवलंबन परमार्थसे नही है, मैं तो स्वाधीन ज्ञान स्वभाव हूँ, इसप्रकार निर्णय करनेवालेको अनुभव हुए बिना नही रहेगा।

पुण्य–पाप मेरा स्वरूप नही है, मैं ज्ञायक हूँ–इसप्रकार जिसने निर्णय के द्वारा स्वीकार किया है, उसका परिणमन पुण्य–पापकी ओरसे पीछे हटकर ज्ञायक स्वभावकी ओर ढल गया है अर्थात् उसे पुण्य–पापका आदर नही रहा, इसलिये वह अल्पकालमे ही पुण्य-पाप रहित स्वभावका निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहां पूर्णकी ही बात है–प्रारंभ और पूर्णताके बीच कोई भेद ही नही किया, क्योंकि जो प्रारंभ हुआ है वह पूर्णताको लक्षमे लेकर ही हुआ है। सत्यको सुनानेवाले और सुननेवाले दोनोकी पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभावकी बात करते हैं वे देव-गुरु और शास्त्र-तीनो पवित्र ही है। उनके अवलंबनसे जिसने हां कही है वह भी पूर्ण पवित्र हुए बिना नही रह सकता। जो पूर्णकी हां कहकर आया है वह पूर्ण होगा ही ····इसप्रकार उपादान निमित्तकी संधि साथ ही है।

सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व…………

आत्मानद प्रगट करनेके लिए पात्रताका स्वरूप क्या है ? तुझे तो धर्म करना है न ! तो तू अपनेको पहिचान । सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है । अरे तू है कौन ? क्या क्षणिक पुण्य पापका करनेवाला तू ही है ? नही, नही । तू तो ज्ञानका करनेवाला ज्ञानस्वभाव है । तू परको ग्रहण करने वाला या छोडनेवाला नही है, तू तो केवलज्ञान जाननेवाला ही है। ऐसा निर्णय ही धर्मके प्रारभका (सम्यग्दर्शनका) उपाय है। प्रारभमे अर्थात् सम्यग्दर्शनसे पूर्व यदि ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रतामे भी नही है। मेरा सहज स्यभाव जाननेका है.—ऐसा श्रुतके अवलाबनसे जो निर्णय करता है वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हुई है उसे आतरिक अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व जिज्ञासु जीव—धर्म समुख हुआ जीव—सत्समागममे आया हुआ जीव—श्रुतज्ञानके अवलाबनसे ज्ञान स्वभाव आत्मा का निर्णय करता है।

मै ज्ञानस्वभाव जाननेवाला हूँ, मेरा ज्ञानस्वभाव ऐसा नही है कि ज्ञेयमे कही राग—द्वेष करके अटक जाय; पर पदार्थ चाहे जैसा हो, मै तो उसका मात्र ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञाता स्वभावपरका कुछ करनेवाला नही है, मै जैसा ज्ञान स्वभाव हूँ उसी प्रकार जगतके सभी आत्मा ज्ञानस्वभाव है, वे स्वय अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय (करना) चूक गये है इसलिये दुखी है। यदि वे स्वय निर्णय करे तो उनका दुख दूर हो, मै किसीको वदलनेमे समर्थ नही हूँ। मै पर जीवोका दुख दूर नही कर सकता, क्योकि उन्होने दुख अपनी भूलसे किया है यदि वे अपनी भूलको दूर करे तो उनका दुख दूर हो।

पहिले श्रुतका अवलबन बताया है, उसमे पात्रता हुई है, अर्थात् श्रुतावलाबनसे आत्माका अव्यक्त निर्णय हुआ है, तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है यह नीचे कहा जा रहा है—

सम्यग्दर्शन के पूर्व श्रुतज्ञानका अवलबनके बलसे आत्माके ज्ञान स्वभावको—अव्यक्तरूपमे लक्षमे लिया है। अब प्रगटरूप लक्षमे लेता है—

अनुभव करता है–आत्म साक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन करता है। वह किस प्रकार ? उनकी रीति यह है कि–" · बादमे आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये पर पदार्थ की प्रसिद्धि के कारणभूत जो इन्द्रिय और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोको मर्यादामे लाकर जिसे मतिज्ञान–तत्त्वको (मतिज्ञानके-स्वरूपको) आत्मसन्मुख किया है। ऐसा " अप्रगटरूप निर्णय हुए थे वह अब प्रगटरूप कार्य मे लाता है जो निर्णय किया था उनका फल प्रगट होता है।

इस निर्णयको जगतके सब सञ्ज्ञी आत्मा कर सकते हैं, सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही है इसलिये सब अपने ज्ञान स्वभावका निर्णय कर सकने मे समर्थ है। जो आत्महित करना चाहता है उसे वह हो सकता है, किंतु अनादिकालसे अपनी चिंता नही की है। अरे भाई ! तू कौन वस्तु है, यह जाने विना तू क्या करेगा ? पहिले इस ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए। इसके निर्णय होने पर अव्यक्तरूपसे आत्माका लक्ष हो जाता है, और फिर परके लक्षसे तथा विकल्पसे हटकर स्वका लक्ष–पूर्ण स्वरूप की प्रतीति अनुभवरूपसे प्रगट करना चाहिए।

आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए इन्द्रिय और मनसे जो पर–लक्ष जाता है उसे बदलकर उस मतिज्ञानको निजमे एकाग्र करने पर आत्माका लक्ष होता है अर्थात् आत्माकी प्रगटरूपसे प्रसिद्धि होती है शुद्ध आत्माका प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यक् दर्शन ही धर्म है।

धर्मके लिए पहिले क्या करना चाहिए ?

कोई लोग कहा करते हैं कि–यदि आत्माके सबंधमे कुछ समझमे न आये तो पुण्यके शुभ भाव करना चाहिए या नही ? इसका उत्तर यह है कि–पहिले आत्मस्वभावको समझना ही धर्म है। धर्मसे ही संसार का अन्त आता है। शुभभावसे धर्म नही होता और धर्मके बिना संसारका अंत नही होता, धर्म तो अपना स्वभाव है इसलिये पहिले स्वभाव ही समझना चाहिए।

प्रश्न—यदि स्वभाव समझमे न आये तो क्या करना चाहिए ?

और यदि उसके समझनेमे देर लगे तो क्या अशुभ भाव करके दुर्गतिका बध करना चाहिए ? क्योकि आप शुभ भावोसे धर्म होना तो मानते नही,— उसका निषेध करते हैं ।

उत्तर—पहिले तो, यह हो ही नही सकता कि यह बात समझमे न आये । हाँ यदि समझनेमे देर लगे तो वहाँ निरतर समझनेका लक्ष मुख्य रखकर अशुभ भावोको दूर करके शुभभाव करनेका निषेध नही है, किन्तु मिथ्या श्रद्धाका निषेध है, यह समझना चाहिए कि शुभभावसे कभी धर्म नही होता । जबतक जीव किसी भी जड वस्तु की क्रिया को और रागकी क्रियाको अपनी मानता है तथा प्रथम व्यवहार करते २ बादमे निश्चय धर्म होगा ऐसा मानता है तब तक वह यथार्थ समझ के मार्ग पर नही है, किंतु विरुद्ध मे है ।

सुखका मार्ग सच्ची समझ, विकारका फल जड़

यदि आत्माकी सच्ची रुचि हो तो समझका मार्ग लिये बिना न रहे । यदि सत्य चाहिए हो, सुख चाहिए हो तो यही मार्ग है । समझने मे भले देर लगे किन्तु सच्ची समझका मार्ग तो ग्रहण करना ही चाहिए । यदि सच्ची समझका मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझमे आये बिना रह ही नही सकता । यदि इस मनुष्य देहमे और सत्समागमके इस सुयोगमे भी सत्य न समझे तो फिर ऐसे सत्य का सुअवसर नही मिलता । जिसे यह खबर नही है कि मै कौन हूँ और जो यहाँ पर भी स्वरूप को चूक कर जाता है वह अन्यत्र जहाँ जायगा वहाँ क्या करेगा ? शान्ति कहाँ मे लायगा ? कदाचित् शुभभाव किए हो तो उस शुभका फल जडमे जाता है, आत्मामे पुण्यका फल नही पहुँचता जिसने आत्माकी चिन्ता नही की और जो यहीसे मूढ हो गया है इसलिए उन रजकणोके फलमे भी रजकणो का सयोग ही मिलेगा । उन रजकणो के सयोगमे आत्माका क्या लाभ है ? आत्माकी शाति तो आत्मामे ही है किन्तु उसकी चिन्ता की नही है ।

असाध्य कौन है ? और शुद्धात्मा कौन है ?

अज्ञानी जीव जडका लक्ष करके जडवत् हो गया है इसलिए मरते

समय अपनेको भूलकर सयोग दृष्टिको लेकर मरता है, असाध्यतया प्रवृत्ति करता है अर्थात् चैतन्य स्वरूपका भान नही है। वह जीते जी ही असाध्य ही है। भले शरीर हिले डुले, वोले चाले, किन्तु यह तो जड की क्रिया है। उसका स्वामी होगया किन्तु अतरगमे साध्यभूत ज्ञानस्वरूप की जिसे खवर नही है वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है, यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञानसे वस्तु स्वभावको यथार्थतया न समझे तो जीवको स्वरूपका किंचित् लाभ नही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानके द्वारा स्वरूप की पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ उसीको 'शुद्धात्मा' नाम मिलता है, और शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मै शुद्ध हूँ' ऐसा विकल्प छूटकर मात्र आत्मानुभव रह जाय सो यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वे कही आत्मा से भिन्न नही है।

जिसे सत्य चाहिए हो ऐसे जिज्ञासु—समझदार जीव को यदि कोई असत्य वतलाए तो वह असत्य को स्वीकार नही कर लेता, जिसे सत्स्वभावकी चाह है वह स्वभावसे विरुद्धभावको स्वीकार नही करता, वस्तुका स्वरूप शुद्ध है इसका ठीक निर्णय किया और वृत्ति छूट गई, इसके वाद जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही धर्म है। ऐसा धर्म किस प्रकार होता है और धर्म करनेके लिए पहिले क्या करना चाहिए ? तत्सबधी यह कथन चल रहा है।

धर्मकी रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ?

धर्मके लिये सर्वप्रथम श्रुतज्ञानका अवलवन लेकर श्रवण—मननसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए कि मै एक ज्ञान स्वभाव हूँ। ज्ञान स्वभावमे ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई करने धरनेका स्वभाव नही है इस प्रकार सत्के समझनेमे जो काल व्यतीत होता है वह भी अनतकालमे पहिले कभी नही किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीवको सत्की ओरकी रुचि होती है इसलिये वैराग्य जाग्रत होता है और समस्त ससारके ओरकी रुचि उड जाती है, चौरासीके अवतारके प्रति त्रास जाग्रत हो जाता है कि यह कैसी विडवना है ? एक तो स्वरूपकी प्रतीति नही है और उधर प्रतिक्षण पराश्रयभाव मे रचे-पचे रहते हैं,—भला यह भी कोई मनुष्यका जीवन है ? तिर्यंच इत्यादिके दु खोकी तो वात ही क्या, किन्तु इस नर देह मे भी ऐसा जीवन ? और मरण समय स्वरूपका भान रहित असाध्य होकर ऐसा दयनीय मरण ?

इसप्रकार ससार सबधी त्रास उत्पन्न होने पर स्वरूपको समझनेकी रुचि उत्पन्न होती है। वस्तुको समझनेके लिये जो काल व्यतीत होता है वह भी ज्ञानकी क्रिया है, सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओको पहिले ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए कि "मै सदा एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य-पापके भाव, या स्वर्ग-नरक आदि कोई मेरा स्वभाव नही है,"—इसप्रकार श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कारण-कार्य

१—सच्चे श्रुतज्ञानके अवलबन के बिना और २—श्रुतज्ञानसे ज्ञान-स्वभाव आत्माका निर्णय किये बिना आत्मा अनुभवमे नही आता। इसमे आत्माका अनुभव करना कार्य है, आत्माका निर्णय करना उपादान कारण है और श्रुतका अवलबन निमित्त कारण है। श्रुतके अवलबनसे ज्ञान स्वभाव का जो निर्णय किया उसका फल उस निर्णयके अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्माका निर्णय कारण और आत्माका अनुभव कार्य है,—इसप्रकार यहाँ लिया गया है अर्थात् जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है,—ऐसी बात कही है।

अंतरंग अनुभवका उपाय अर्थात् ज्ञानकी क्रिया

अब यह बतलाते है कि आत्माका निर्णय करनेके बाद उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये। निर्णयानुसार श्रद्धाका आचरण अनुभव है। प्रगट अनुभवमे शातिका वेदन लानेके लिए अर्थात् आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारणोको छोड देना चाहिए। पहिले 'मै ज्ञाना-नद स्वरूप आत्मा हूँ' ऐसा निश्चय करनेके बाद आत्माके आनन्दका प्रगट भोग करनेके लिए [वेदन या अनुभव करनेके लिये], परपदार्थकी प्रसिद्धि के कारण,—जो इन्द्रिय और मनके द्वारा पराश्रय मे प्रवर्तमान ज्ञान है उसे स्व की ओर लाना, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि परपदार्थों की ओरका लक्ष तथा मनके अवलबनसे प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मतिज्ञान को सकुचित करके-मर्यादा मे लाकर स्वात्माभिमुख करना सो आतरिक अनुभवका पथ है, सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभावकी छायामे प्रवेश करनेकी पहिली सीढी है।

प्रथम, आत्मा ज्ञान स्वभाव है ऐसा भलीभांति निश्चय करके फिर प्रगट अनुभव करनेके लिए पर की ओर जाने वाले भाव जो मति और श्रुतज्ञान है उन्हे अपनी ओर एकाग्र करना चाहिए। **जो ज्ञान पर में विकल्प करके रुक जाता है अथवा मैं ज्ञान हूँ व मेरे विकल्पमें रुक जाता है उसी ज्ञान को वहाँ से हटाकर स्वभावकी ओर लाना चाहिए।** मति और श्रुतज्ञानके जो भाव है वे तो ज्ञानमे ही रहते है, किंतु पहिले वे भाव परकी ओर जाते थे, अव उन्हे आत्मोन्मुख करने पर स्वभावका लक्ष होता है। आत्माके स्वभावमे एकाग्र होनेकी यह क्रमिक सीढी है।

ज्ञानमें भव नहीं है

जिसने मनके अवलवनसे प्रवर्तमान ज्ञानको मनसे छुडाकर अपनी ओर किया है अर्थात् पर पदार्थ की ओर जाते हुए मतिज्ञानको मर्यादा मे लाकर आत्म समुख किया है उसके ज्ञानमे अनत ससारका नास्तिभाव और पूर्ण ज्ञानस्वभावका अस्ति भाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करने में अनत पुरुपार्थ है। स्वभावमें भव नही है इसलिये जिसका स्वभावकी ओर का पुरुपार्थ उदित हुआ है उसे भवकी शका नही रहती। जहाँ भवकी शका है वहाँ सच्चा ज्ञान नही है, और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ भव की शका नही है। इस प्रकार ज्ञान और भवकी एक दूसरेमे नास्ति है।

पुरुपार्थके द्वारा सत्समागमसे अकेले ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करनेके वाद 'मै अवध हूँ या वधवान, शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूं, त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ,' ऐसे जो वृत्तियाँ उठती है उनमे भी आत्म-शाति नही है, वे वृत्तियाँ आकुलतामय-आत्म शातिकी विरोधिनी हैं। नयपक्षोके अवलवनसे होनेवाले मन सम्वन्धी अनेक प्रकार के विकल्पो को भी मर्यादा मे लाकर अर्थात् उन विकल्पो को रोकनेके पुरुपार्थमे श्रुतज्ञानको भी आत्म समुख करने पर शुद्धात्माका अनुभव होता है। इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानको आत्मसमुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय और मनके अवलंवन से जो मतिज्ञान शव्दादि विपयोमे प्रवृत्ति कर रहा था उसे, और मनके अवलवन से जो श्रुतज्ञान अनेक प्रकारके नयपक्षोके विकल्पोमे उलझ रहा था उसे-

अर्थात् परावलबनसे प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको मर्यादामे लाकर –अंतरस्वभाव समुख करके, उन ज्ञानोके द्वारा एक ज्ञानस्वभावको पकड़कर (लक्षमे लेकर) निर्विकल्प होकर, तत्काल निज रससे ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिए, वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ।

इसप्रकार अनुभवमें आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ?

शुद्धात्मा आदि मध्य और अन्त रहित त्रिकाल एकरूप पूर्ण ज्ञानघन है, उसमे बध–मोक्ष नही है, वह अनाकुलता स्वरूप है, मै शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ" ऐसे विकल्पोसे होनेवाली आकुलता सेरहित है । लक्षमेसे पुण्य–पापका आश्रय छूटकर मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है । केवल एक ज्ञानमात्र आत्मा मे पुण्य–पापके कोई भाव नही है । मानो सम्पूर्ण विश्वके ऊपर तैर रहा हो अर्थात् समस्त विभावोसे पृथक् हो गया हो ऐसा चैतन्य स्वभाव पृथक् अखंड प्रतिभासमय अनुभवमे आता है । आत्माका स्वभाव पुण्य–पापके ऊपर तैरता है, अर्थात् उनमे मिल नही जाता, एकमेक नही हो जाता या तद्रूप नही हो जाता, किन्तु उनसे अलग का अलग रहता है । वह अनत है, अर्थात् उसके स्वभाव का कभी अन्त नही है' पुण्य-पाप अन्तवाले हैं, और ज्ञानस्वरूप अनत है तथा विज्ञानघन है । मात्र ज्ञानका ही पिण्ड है मात्र ज्ञान पिण्ड मे राग-द्वेष किंचित् मात्र भी नही है । अज्ञान भावसे रागादिका कर्ता था किन्तु स्वभाव भावसे रागका कर्ता नही है । अखड आत्मस्वभावका अनुभव होने पर जो जो अस्थिरताके विभाव थे उन सबसे पृथक् होकर जब यह आत्मा, विज्ञानघन अर्थात् जिसमे कोई विकल्प प्रवेश नही कर सकते ऐसे ज्ञानके निविड पिण्डरूप परमात्म स्वरूप आत्माका अनुभव करता है तब वह स्वय ही सम्यग्दर्शन स्वरूप है ।

निश्चय और व्यवहार

इसमे निश्चय और व्यवहार दोनो आ जाते है । अखंड विज्ञानघन-स्वरूप ज्ञानस्वभाव आत्मा निश्चय है और परिणतिको स्वभाव समुख करना व्यवहार है । मति-श्रुतज्ञानको अपनी ओर लगा लेनेकी पुरुषार्थरूप जो पर्याय

है सो व्यवहार है, और अखंड आत्मस्वभाव निश्चय है। जब मति-श्रुतज्ञानको स्वसन्मुख किया और आत्मानुभव किया कि उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है—उसकी श्रद्धा की जाती है। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके समय की बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है?

सम्यग्दर्शनके होने पर स्वरसका अपूर्व आनन्द अनुभवमे आता है। आत्माका सहज आनद प्रगट होता है। आत्मिक आनन्द उछलने लगता है। अतरगमे अपूर्व आत्मशाति का वेदन होता है। आत्माका जो सुख अतरगमे है वह अनुभवमे आता है। इस अपूर्व सुखका मार्ग सम्यक्दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा चैतन्य स्वरूप हूँ' इसप्रकार जो निर्विकल्प शातरस अनुभव मे आता है वही शुद्धात्मा अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है यहाँ सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनो अभेदरूप लिये गये हैं आत्मा स्वय सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

वारंवार ज्ञानमें एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए

सर्व प्रथम आत्माका निर्णय करके फिर अनुभव करनेको कहा है। सबसे पहिले जबतक यह निर्णय नही होता कि—'मै निश्चय ज्ञान स्वरूप हूँ, दूसरा कोई रागादि मेरा स्वरूप नही है,' तबतक सच्चे श्रुतज्ञानको पहिचान कर उसका परिचय करना चाहिए।

सत् श्रुतके परिचयसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके बाद मति श्रुतज्ञानको उस ज्ञानस्वभाव की ओर ले जानेका प्रयत्न करना, निर्विकल्प होनेका प्रयत्न करना ही प्रथम अर्थात् सम्यग्दर्शनका मार्ग है। इसमे तो वारवार ज्ञानमे एकाग्रताका अभ्यास ही करना है, वाह्यमे कुछ करनेकी वात नही है, किंतु ज्ञानमे ही समझ और एकाग्रताका प्रयास करने की वात है। ज्ञानमे अभ्यास करते करते जहाँ एकाग्र हुआ वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपमे यह आत्मा प्रगट होता है। यही जन्म-मरणको दूर करने का उपाय है। एकमात्र ज्ञाता स्वभाव है उस मे, दूसरा कुछ करनेका स्वभाव नही है। निर्विकल्प अनुभव होनेसे पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो समझना चाहिए कि उसे व्यवहारसे भी आत्मा का निश्चय नही है । अनत उपवास करने पर भी आत्मज्ञान नही होता, बाहर की दौड धूपसे भी ज्ञान नही होता किंतु ज्ञानस्वभावकी पकड से ही ज्ञान होता है । आत्माकी ओर लक्ष और श्रद्धा किये बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहाँसे हो सकता है ? पहिले देव गुरु शास्त्रके निमित्तोसे अनेकप्रकारसे श्रुतज्ञान जानता है और उन सबमेसे एक आत्माको निकाल लेता है, और फिर उसका लक्ष करके प्रगट अनुभव करनेके लिये, मति-श्रुतज्ञानके बाहिर झुकने वाली पर्यायोको स्वसन्मुख करता हुआ तत्काल निर्विकल्प निजस्वभाव-रस-आनदका अनुभव होता है । जब आत्मा परमात्मस्वरूपका अनुभव करता है उसी समय आत्मा स्वय सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है, उसे बादमे विकल्प उठने पर भी उसकी प्रतीति बनी रहती है, अर्थात् आत्मानुभवके बाद विकल्प उठे तो उससे सम्यग्दर्शन चला नही जाता । निज स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ।

सम्यग्दर्शनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करनेके बाद भी शुभ भाव आते तो है किंतु आत्महित तो ज्ञानस्वभाव का निश्चय और आश्रय करनेसे ही होता है । जैसे जैसे ज्ञानस्वभावकी दृढता बढती जाती है वैसे ही वैसे शुभभाव भी हटते जाते हैं । परोन्मुखतासे जो वेदन होता है वह सब दुःखरूप है, अतरगमे शातरस की ही मूर्ति आत्मा है, उसके अभेद लक्ष से जो वेदन होता है वही सुख है । सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, गुण गुणी से अलग नही होता । ज्ञानादि अनत गुणोका पिंड एक अखड प्रतिभासमय आत्माका निःशक अनुभव ही सम्यग्दर्शन है ।

अंतिम अभिप्राय

यह आत्म कल्याणका छोटेसे छोटा (जिसे सब कर सके ऐसा) उपाय है । दूसरे सब उपाय छोडकर यही एक करना है । हितका साधन बाह्यमे किंचित् मात्र नही है सत्समागमसे एक आत्माका ही निश्चय करना चाहिए । वास्तविक तत्त्वकी श्रद्धाके बिना आतरिक वेदनका आनद नही आ सकता । पहिले भीतरसे सत्की स्वीकृति आये बिना सत् स्वरूपका ज्ञान

नही होता और सत् स्वरूपके ज्ञानके विना भव वन्धनकी वेडी नही टूटती। भव वधनका अत आये विना यह जीवन किस कामका ? भवके अन्तकी श्रद्धाके विना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद या इन्द्रपद मिलता है किंतु उसमे आत्माको क्या है ? आत्म प्रतीतिके विना व्रत-तपकी प्रवृत्ति सव पुण्य और इन्द्रपद आदि व्यर्थ है, उसमे आत्मशान्तिका अश तक नही होता, इसलिये पहिले श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभावका दृढ निश्चय करना चाहिये फिर प्रतीतिमे भवकी शका ही नही रहती, और जितनी ज्ञानकी दृढता होती है उतनी शान्ति वढती जाती है।

प्रभो ! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, यह तूने नही जान पाया। अपनी प्रभुता की प्रतीति किये विना तू वाह्यमे चाहे जिसके गीत गाता फिरे तो इससे कही तुझे अपनी प्रभुताका लाभ नही हो सकता। अभी तक दूसरेके गीत गाये हैं किंतु अपने गीत नही गाये। तू भगवानकी प्रतिमा के सम्मुख खडा होकर कहता है कि—हे भगवान् ! हे नाथ ! आप अनत ज्ञान के धनी हो, वहाँ सामनेसे भी ऐसी ही आवाज आती है—ऐसी ही प्रतिध्वनि होती है कि—'हे भगवान् ! हे नाथ ! आप अनन्त ज्ञानके धनी हैं'. यदि अन्तरगमे पहिचान हो तभी तो उसे समझेगा ? विना पहिचानके भीतर मे सच्ची प्रतिध्वनि (नि शकतारूप) नही पडती।

शुद्धात्मस्वरूपका वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो, या साक्षात्कार कहो,—जो कहो सो यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहे ? जो कुछ है सो यह एक आत्मा ही है, उसीको भिन्न २ नामोसे कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद या साधुपद यह सव एक आत्मा मे ही समाविष्ट होते है। समाधिमरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूप की स्थिरता ही है। इसप्रकार आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है, और यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मोका मूल है, सम्यग्दर्शन ही आत्माका धर्म है।



प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[४]

मोक्षशास्त्र अध्याय एक (१), सूत्र २ में 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है; उस लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषका परिहार।

अव्याप्ति दोषका परिहार

(१) **प्रश्न**—तिर्यंचादि कितने ही तुच्छज्ञानी जीव सात तत्त्वो के नाम तक नही जान सकते तथापि उनके भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति शास्त्रोमे कही गई है, इसलिये आपने जो सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान (तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्) कहा है उसमे अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—जीव-अजीवादिके नामादिको जाने या न जाने अथवा अन्यथा जाने, किंतु उसके स्वरूप को यथार्थ जानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है। उसमे कोई तो सामान्यतया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है और कोई विशेषतया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है। तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवादिके नाम भी नही जानते तथापि वे सामान्यरूपसे उसका स्वरूप पहिचानकर श्रद्धान करते हैं इसलिये उन्हे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। जैसे कोई तिर्यंच अपना या दूसरोका नामादि तो नही जानता किन्तु अपनेमे ही अपनापन तथा अन्यको पर मानता है, इसी प्रकार तुच्छज्ञानी जीव–अजीवके नाम न जाने फिर भी वह ज्ञानदिस्वरूप आत्मामे स्वत्व मानता है तथा शरीरादिको पर मानता है, ऐसा श्रद्धान उसे होता है और यही जीव–अजीवका श्रद्धान है। और फिर जैसे वही तिर्यंच सुखादिके नामादि तो नही जानता तथापि सुखावस्थाको पहिचानकर तदर्थ भावी दुःखोके कारणोको पहिचानकर उनका त्याग करना चाहता है तथा वर्तमानमे जो दुःख के कारण वने हुए हैं उनके अभावका उपाय करता है,

इसीप्रकार तुच्छज्ञानी मोक्षादिके नाम नही जानता फिर भी सर्वथा सुखरूप मोक्षअवस्थाका श्रद्धान करके उसके लिए भाविबन्धनके कारणरूप रागादि आश्रवभाव के त्यागरूप सवरको करना चाहता है, तथा जो ससार-दु खके कारण हैं उनकी शुद्ध भावसे निर्जरा करना चाहता है। इसप्रकार उसे आश्रवादिका श्रद्धान है। इसीप्रकार उसे भी सात तत्त्वोका श्रद्धान होता है यदि उसे ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादिको छोडकर शुद्धभाव करने की इच्छा नही हो सकती। सो ही यहाँ कहनेमे आता है।

यदि जीवकी जातिका न जाने—स्वपरको न पहिचाने तो वह परमे रागादि क्यो न करे ? यदि रागादिको न पहिचाने तो वह उनका त्याग क्यो करना चाहेगा ? और रागादि ही आश्रव है। तथा रागादिका फल बुरा है, यह न जाने तो वह रागादिको क्यो छोडना चाहेगा ? रागादि का फल ही बध है। यदि रागादि रहित परिणामोको पहिचानेगा तो तदरूप होना चाहेगा। रागादि रहित परिणामका नाम ही सवर है। और पूर्व ससारावस्थाका जो कारण विभावभाव है उसकी हानिको वह पहिचानता है और तदर्थ वह शुद्धभाव करना चाहता है। पूर्व ससारावस्थाका कारण विभावभाव है, और उसकी हानि होना ही निर्जरा है। यदि ससारावस्थाके अभावको न पहिचाने तो वह सवर निर्जरारूप प्रवृत्ति क्यो करे ? और ससारावस्थाका अभाव ही मोक्ष है इसप्रकार सातो तत्त्वोका श्रद्धान होते ही रागादिको छोडकर शुद्धभावरूप होने की इच्छा उत्पन्न होती है, यदि इनमेसे एक भी तत्त्वका श्रद्धान न हो तो ऐसी इच्छा न हो। ऐसी इच्छा उन तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यक्‌दृष्टियो के अवश्य होती है, इसलिये यह निश्चय समझना चाहिए कि उनके सात तत्त्वोका श्रद्धान होता है। यद्यपि ज्ञानावरणका क्षयोपशम अल्प होने से उन्हे विशेषरूपसे तत्त्वोका ज्ञान नही होता, फिर भी मिथ्यादर्शन के उपशमादि से सामान्यतया तत्त्वश्रद्धान की शक्ति प्रगट होती है। इसप्रकार इस लक्षणमे अव्याप्ति दोष नही आता।

(२) प्रश्न—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषय कार्यो मे प्रवृत्ति करता है उस समय उसे सात तत्त्वोका विचार ही नही होता तब

फिर वहाँ श्रद्धान कैसे सभव है ? और सम्यक्त्व तो उसे रहता ही है, इसलिए इस लक्षणमे अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—विचार तो उपयोगाधीन होता है, जहाँ उपयोग जुडता है उसीका विचार होता है, किंतु श्रद्धान तो निरन्तर शुद्ध प्रतीतिरूप है। इसलिए अन्य ज्ञेयका विचार होने पर, शयनादि क्रिया होने पर यद्यपि तत्त्वोका विचार नही होता तथापि उसकी प्रतीति तो सदा स्थिर बनी ही रहती है, नष्ट नही होती, इसलिये उसके सम्यक्त्वका सद्भाव है। जैसे किसी रोगी पुरुषको यह प्रतीति है कि–'मै मनुष्य हूँ तिर्यच नही, मुझे अमुक कारणसे रोग हुआ है, और अब मुझे यह कारण मिटाकर रोगको कम करके निरोग होना चाहिए'। वही मनुष्य जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे ऐसा विचार नही होता, किंतु श्रद्धान तो ऐसा ही बना रहता है, इसीप्रकार इस आत्माको ऐसी प्रतीति तो है कि–'मैं आत्मा हूँ-पुद्गलादि नही। मुझे आश्रवसे बध हुआ है किंतु अब मुझे सवरके द्वारा निर्जरा करके मोक्षरूप होना है,' अब वही आत्मा जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे वैसा विचार नही होता किंतु श्रद्धान तो ऐसा ही रहा करता है।

प्रश्न—यदि उसे ऐसा श्रद्धान रहता है तो फिर वह बध होनेके कारणोमे क्यो प्रवृत्त होता है ?

उत्तर—जैसे कोई मनुष्य किसी कारणसे रोग बढनेके कारणोमे भी प्रवृत्त होता है, व्यापारादि कार्य या क्रोधादि कार्य करता है फिर भी उसके उस श्रद्धानका नाश नही होता, इसीप्रकार यह आत्मा पुरुषार्थकी अशक्तिके वशीभूत होनेसे बध होनेके कारणोमे भी प्रवृत्त होता है, विषय सेवनादि तथा क्रोधादि कार्य करता है तथापि उसके उस श्रद्धानका नाश नही होता। इस प्रकार सात तत्त्वोका विचार न होने पर भी उनमे श्रद्धान का सद्भाव है, इसलिये वहाँ अव्याप्ति दोष नही आता।

(३) **प्रश्न**—जहाँ उच्च दशामे निर्विकल्प आत्मानुभव होता है वहाँ सात तत्त्वादिके विकल्पका भी निषेध किया है। तव सम्यक्त्वके लक्षण का निषेध करना कैसे सभव है और यदि वहाँ निषेध सभव है तो अव्याप्ति दोप आ जायगा।

उत्तर—निम्नदशामे सात तत्त्वोके विकल्पमे उपयोग लगाकर प्रतीति को दृढ किया तथा उपयोगको विषयादिसे छुडाकर रागादिक कम किये, अब उस कार्यके सिद्ध होने पर उन्ही कारणोका निषेध करते हैं। क्योकि जहाँ प्रतीति भी दृढ होगई तथा रागादि भी दूर होगये वहाँ अब उपयोगको घुमानेका खेद क्यो किया जाय ? इसलिये वहाँ इन विकल्पोका निषेध किया है। और फिर सम्यक्त्वका लक्षण तो प्रतीति ही है, उसका (उस प्रतीतिका) वहाँ निषेध तो किया नही है। यदि प्रतीति छुडाई होती तो उस लक्षणका निषेध किया कहलाता, किंतु ऐसा तो है नही। तत्त्वोकी प्रतीति वहाँ भी स्थिर बनी रहती है इसलिये यहाँ अव्याप्ति दोष नही आता।

(४) **प्रश्न**—छद्मस्थके प्रतीति-अप्रतीति कहना सभवित है, इसलिये वहाँ सात तत्त्वोकी प्रतीतिको सम्यक्त्वका लक्षण कहा है,—जिसे हम मानते है किंतु केवली और सिद्ध भगवान्को तो सबका ज्ञातृत्व समानरूपसे है इसलिये वहाँ सात तत्त्वोकी प्रतीति कहना सभवित नही होती, और उनके सम्यक्त्वगुण तो होता ही है, इसलिये वहाँ इस लक्षणमे अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—जैसे छद्मस्थको श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवली और सिद्धभगवान्को केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति होती है। जिन सात तत्त्वोका स्वरूप पहिले निर्णीत किया था वही अब केवलज्ञानके द्वारा जाना है इसलिये वहाँ प्रतीतिमे परम अवगाढत्व हुआ इसीलिये वहाँ परमावगाढ सम्यक्त्व कहा है। किंतु पहिले जो श्रद्धान किया था उसे यदि झूँठ जाना हो तो वहाँ अप्रतीति होती, किन्तु जैसे सात तत्त्वोका श्रद्धान छद्मस्थको हुआ था वैसा ही केवली, सिद्ध भगवानको भी होता है, इसलिए ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक और केवली सिद्ध भगवानके सम्यक्त्वगुण तो समान ही कहा है। और पूर्वावस्था मे वह यह मानता था कि–'सवर-निर्जराके द्वारा मोक्षका उपाय करना चाहिए' और अब मुक्तावस्था होने पर यह मानने लगा कि–'सवर-निर्जराके द्वारा मुझे मुक्तावस्था प्राप्त हुई है।' पहिले ज्ञानकी हीनतासे जीवादि के थोडे भेदोको

जानता था और अब केवलज्ञान होने पर उसके सर्व भेदो को जानता है, किन्तु मूलभूत जीवादिके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली को भी होता है। यद्यपि केवली-सिद्ध भगवान् अन्य पदार्थों को भी प्रतीति सहित जानते है तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नही है इसलिये सम्यक्त्वगुणमे सात तत्त्वोका श्रद्धान ही ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नही होते और ससारावस्थाको नही चाहते सो यह श्रद्धानका ही बल समझना चाहिए।

प्रश्न—जब कि सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्ग कहा है तब फिर उसका सद्भाव मोक्षमे कैसे हो सकता है?

उत्तर—कोई कारण ऐसे भी होते हैं जो कार्यके सिद्ध होने पर भी नष्ट नही होते। जैसे किसी वृक्षकी एक शाखासे अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई हो, तो उसके होने पर भी वह एक शाखा नष्ट नही होती, इसीप्रकार किसी आत्माको सम्यक्त्वगुणके द्वारा अनेक गुणयुक्त मोक्ष अवस्था प्रगट हुई किंतु उसके होने पर भी सम्यक्त्वगुण नष्ट नही होता। इसप्रकार केवली-सिद्धभगवान्के भी तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण होता ही है। इसलिये वहाँ अव्याप्ति दोष नही आता।

अतिव्याप्ति दोष का परिहार

प्रश्न—शास्त्रोमे यह निरूपण किया गया है कि मिथ्यादृष्टिके भी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण होता है, और श्री प्रवचनसारमे आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है। इसलिए सम्यक्त्वका जो लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धान' कहा है उसमे अतिव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—मिथ्यादृष्टिको जो तत्त्वार्थश्रद्धान बताया है वह मात्र नामनिक्षेप से है। जिसमे तत्त्वश्रद्धानका गुण तो नही है किन्तु व्यवहारमे जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहते है वह मिथ्यादृष्टिके होता है, अथवा आगमद्रव्यनिक्षेपसे होता है,—अर्थात् तत्वार्थश्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रोका अभ्यास है किन्तु उसके स्वरूपका निश्चय करनेमे उपयोग नही लगाता ऐसा जानना

चाहिये। और यहाँ जो सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है सो वह तो भावनिक्षेपसे कहा है, अर्थात् गुणसहित सच्चा तत्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टिके कभी भी नही होता। और जो आत्मज्ञानशून्य तत्वार्थश्रद्धान कहा है वहाँ भी यही अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि जिसे जीव अजीवादि का सच्चा श्रद्धान होता है उसे आत्मज्ञान क्यो न होगा ? अवश्य होगा। इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टिको सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान सर्वथा नही होता, इसलिये इस लक्षणमे अतिव्याप्ति दोष नही आता।

असंभव दोषका परिहार

और जो यह 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लक्षण कहा है सो असंभवदूषणयुक्त भी नही है। क्योंकि सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है और उसका लक्षण इससे विपरीततायुक्त है।

इसप्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव दोषोसे रहित तत्त्वार्थश्रद्धान सभी सम्यग्दृष्टियो के होता है और किसी भी मिथ्यादृष्टिके नही होता, इसलिये सम्यग्दर्शनका यथार्थ लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान ही है।

विशेष स्पष्टीकरण

(१) **प्रश्न**—यहाँ सात तत्त्वोके श्रद्धानका नियम कहा है किन्तु वह ठीक नही बैठता, क्योकि कही कही परसे भिन्न अपने श्रद्धानको भी (आत्मश्रद्धानको भी) सम्यक्त्व कहा है। श्री समयसारमें 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि कलशमे यह कहा है कि—'आत्माका परद्रव्यसे भिन्न अवलोकन ही नियमत सम्यग्दर्शन है, इसलिये नवतत्त्वकी सततिको छोडकर हमे तो यह एक आत्मा ही प्राप्त हो।' और कही कही एक आत्माके निश्चयको ही सम्यक्त्व कहा है। श्री पुरुपार्थसिद्ध्युपाय मे 'दर्शनमात्मविनिश्चिति' ऐसा पद है, उसका भी यही अर्थ है, इसलिये जीव-अजीवका ही या केवल जीव का ही श्रद्धान होनेपर भी सम्यक्त्व होता है। यदि सात तत्त्वोके श्रद्धानका ही नियम होता तो ऐसा क्यो लिखते ?

उत्तर—परसे भिन्न जो अपना श्रद्धान होता है वह आश्रवादि के श्रद्धानसे रहित होता है या सहित होता है ? यदि रहित होता है तो मोक्ष के श्रद्धानके बिना वह किस प्रयोजनके लिये ऐसा उपाय करता है ? सवर-निर्जरा के श्रद्धानके बिना रागादि रहित होकर अपने स्वरूपमे उपयोग लगाने का उद्यम क्यो करता है ? आश्रव-बधके श्रद्धानके विना वह पूर्वावस्था को क्यो छोडता है ? क्योकि आश्रवादिके श्रद्धानसे रहित स्व-परका श्रद्धान करना सम्भवित नही है, और यदि आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त है तो वहाँ स्वय सातो तत्त्वोके श्रद्धानका नियम हुआ। और जहाँ केवल आत्माका निश्चय है वहाँ भी परका पर्रूप श्रद्धान हुए विना आत्माका श्रद्धान नही होता। इसलिये अजीवका श्रद्धान होते ही जीवका श्रद्धान होता है, और पहिले कहे अनुसार आश्रवादिका श्रद्धान भी वहाँ अवश्य होता है, इसलिये यहाँ भी सातो तत्त्वो के ही श्रद्धान का नियम समझना चाहिये।

दूसरे, आश्रवादिके श्रद्धान बिना स्व-परका श्रद्धान अथवा केवल आत्माका श्रद्धान सच्चा नही होता क्योकि आत्मद्रव्य शुद्ध-अशुद्ध पर्याय सहित है इसलिये जैसे ततुके अवलोकन के बिना पटका अवलोकन नही होता उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्यायको पहिले पहिचाने विना आत्मद्रव्यका श्रद्धान भी नही हो सकता, और शुद्ध-अशुद्ध अवस्थाकी पहिचान आस्रवादिकी पहिचानसे होती है। आस्रवादिके श्रद्धानके बिना स्व-परका श्रद्धान या केवल आत्माका श्रद्धान कार्यकारी नही है क्योकि ऐसा श्रद्धान करो या न करो, जो स्वय है सो स्वय ही है और जो पर है सो परही है। और आस्रवादिका श्रद्धान हो तो आस्रव-बधका अभाव करके सवर-निर्जरारूप उपायसे वह मोक्षपदको प्राप्त हो, जो स्व-परका श्रद्धान कराया जाता है वह भी इसी प्रयोजन के लिये कराया जाता है, इसलिये आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त स्व-परका जानना या स्व का जानना कार्यकारी है।

(२) **प्रश्न**—यदि ऐसा है तो शास्त्रोमे जो स्व-परके श्रद्धानको या केवल आत्माके श्रद्धानको ही सम्यक्त्व कहा है और कार्यकारी कहा है और

कहा है कि नवतत्त्वोकी सततिको छोडकर हमे तो एक आत्मा ही प्राप्त हो, सो ऐसा क्यो कहा है ?

उत्तर—जिसे स्व-परका या आत्माका सत्य श्रद्धान होता है उसे सातो तत्त्वोका श्रद्धान अवश्य होता है और जिसे सातो तत्त्वो का सत्य श्रद्धान होता है उसे स्व-परका तथा आत्माका श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध जानकर स्व-परके श्रद्धानको तथा आत्मश्रद्धान होनेको सम्यक्त्व कहा है। किन्तु यदि कोई सामान्यतया स्व-परको जानकर या आत्माको जानकर कृत-कृत्यता समझ ले तो यह उसका कोरा भ्रम है, क्योकि ऐसा कहा है कि "निर्विशेषो हि सामान्ये भवेत्खरविपाणवत्" अर्थात् विशेष रहित सामान्य गधेके सींगके समान है। इसलिये प्रयोजनभूत आश्रवादि विशेषो से युक्त स्व-परका या आत्माका श्रद्धान करना योग्य है, अथवा सातो तत्त्वार्थोके श्रद्धानसे जो रागादिको मिटाने के लिये पर द्रव्यो को भिन्न चितवन करता है या अपने आत्माका चितवन करता है उसे प्रयोजनकी सिद्धि होती है, इसलिये मुख्यतया भेद विज्ञानको या आत्मज्ञानको कार्यकारी कहा है। तत्त्वार्थश्रद्धान किये विना सव कुछ जानना कार्यकारी नही है, क्योकि प्रयोजन तो रागादिको मिटाना है, इसलिये आस्रवादि के श्रद्धानके विना जव यह प्रयोजन भासित नही होता तव केवल जाननेसे मान को वढाये और रागादिको न छोडे तो उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा ? दूसरे, जहाँ नवतत्त्वकी सतति छोडनेको कहा है वहाँ पहिले नवतत्त्वके विचारसे सम्यग्दर्शन हुआ और फिर निर्विकल्प दशा होनेके लिए नवतत्त्वोका विकल्प भी छोडनेकी इच्छा की, किन्तु जिसे पहिलेसे ही नवतत्त्वोका विचार नही है उसे उन विकल्पोको छोडनेका क्या प्रयोजन है ? इससे तो अपनेको जो अनेक विकल्प होते हैं उन्हीका त्याग करो। इसप्रकार स्व-परके श्रद्धान मे या आत्म श्रद्धानमे अथवा नवतत्त्वोके श्रद्धानमे सात तत्त्वोके श्रद्धानकी सापेक्षता होती हैं, इसलिये तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है।

(३) **प्रश्न**—तव फिर जो कही कही शास्त्रोमे अरहतदेव निर्ग्रंथ गुरु और हिंसादि रहित धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है सो कैसे ?

उत्तर—अरहत देवादि का श्रद्धान होनेसे और कुदेवादिका श्रद्धान दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है, इस अपेक्षासे उसे सम्यग्दृष्टि कहा है, किन्तु सम्यक्त्वका सर्वथा लक्षण यह नही है, क्योकि–द्रव्यलिगी मुनि आदि व्यवहार धर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोको भी ऐसा श्रद्धान होता है। अरहत देवादिका श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्व हो या न हो किन्तु अरहंतादिका श्रद्धान हुए विना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी भी नही होता। इसलिए अरहतादिके श्रद्धानको अन्वयरूप कारण जानकर कारणमे कार्यका उपचार करके इस श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। और इसीलिए उसका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है। अथवा जिसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे सच्चे अरहतादिके स्वरूपका श्रद्धान अवश्य होता है। तत्त्वार्थश्रद्धानके बिना अरहतादिका श्रद्धान पक्षसे करे तथापि यथावत् स्वरूपकी पहिचान सहित श्रद्धान नही होता, तथा जिसे सच्चे अरहन्तादिके स्वरूपका श्रद्धान हो उसे तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य ही होता है, क्योकि अरहन्तादिके स्वरूपको पहिचानने पर जीव-अजीव-आस्रवादिकी पहिचान होती है। इसप्रकार उसे परस्पर अविनाभावी जानकर कही कही अरहन्तादिके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है।

(४) **प्रश्न**—नरकादिके जीवोको देव-कुदेवादिका व्यवहार नही है फिर भी उनको सम्यक्त्व होता है, इसलिए सम्यक्त्वके होनेपर अरहन्तादि का श्रद्धान होता ही है, ऐसा नियम सभवित नही है।

उत्तर—सात तत्त्वोके श्रद्धानमे अरहन्तादिका श्रद्धान गर्भित है, क्योकि वह तत्त्वश्रद्धानमे मोक्ष तत्त्वको सर्वोत्कृष्ट मानता है। और मोक्षतत्त्व अरहत सिद्धका ही लक्षण है, तथा जो लक्षणको उत्कृष्ट मानता है वह उसके लक्ष्यको भी उत्कृष्ट अवश्य मानेगा। इसलिये उन्हीको सर्वोत्कृष्ट माना और अन्यको नही माना यही उसे देवका श्रद्धान हुआ कहलाया। और मोक्ष का कारण सवर-निर्जरा है इसलिये उसे भी वह उत्कृष्ट मानता है, तथा सवर-निर्जराके धारक मुख्यतया मुनिराज है इसलिये वह मुनिराजको उत्तम मानता है और अन्यको उत्तम नही मानता यही उसका गुरुका श्रद्धान है।

और रागादि रहित भावका नाम अहिंसा है, उसे वह उपादेय मानता है तथा अन्यको नही मानता यही उसका धर्मका श्रद्धान है। इसप्रकार तत्त्वार्थ-श्रद्धानमे अरहत देवादिका श्रद्धान भी गर्भित है। अथवा जिस निमित्तसे उसे तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है उसी निमित्तसे अरहतदेवादिका भी श्रद्धान होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनमे देवादिके श्रद्धानका नियम है।

(५) **प्रश्न**—कोई जीव अरहतादिका श्रद्धान करता है, उनके गुणोको पहिचानता है फिर भी उसे तत्त्व श्रद्धानरूप सम्यक्त्व नही होता, इसलिये जिसे सच्चे अरहन्तादिका श्रद्धान होता है उसे तत्त्व श्रद्धान अवश्य होना ही है, ऐसा नियम सभवित नही होता।

उत्तर—तत्त्वश्रद्धानके विना वह अरिहतादिके ४६ आदि गुणोको जानता है, वहाँ पर्यायाश्रित गुणोको भी नही जानता, क्योकि जीव-अजीवकी जातिको पहिचाने विना अरहन्तादिके आत्माश्रित और शरीराश्रित गुणो को वह भिन्न नही जानता, यदि जाने तो वह अपने आत्माको परद्रव्यमे भिन्न क्यो न माने ? इसलिये श्री प्रवचनसारमे कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं॥८०॥

अर्थ—जो अरहतको द्रव्यत्व, गुणत्व, और पर्यायत्वमे जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोह नाशको प्राप्त होता है इसलिये जिसे जीवादि तत्त्वोका श्रद्धान नही है उसे अरहतादिका भी सच्चा श्रद्धान नही है। और वह मोक्षादि तत्त्वोके श्रद्धानके विना अरहतादि का माहात्म्य भी यथार्थ नही जानता। मात्र लौकिक अतिशयादिसे अरहतका, तपश्चरणादिसे गुरुका और परजीवोकी अहिंसादिसे धर्मका माहात्म्य जानता है किन्तु यह तो पराश्रितभाव है और अरिहतादिका स्वरूप तो आत्माश्रित भावो द्वारा तत्त्वश्रद्धान होते ही ज्ञात होता है, इसलिये जिसे अरहतादि का सच्चा श्रद्धान होता है उसे तत्त्व श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा नियम समझना चाहिए। इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण निर्देश किया है।

प्रश्न ६—यथार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान, स्व-परका श्रद्धान, आत्मश्रद्धान, तथा देव गुरु धर्मका श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण कहा है और इन सब लक्षणो की परस्पर एकता भी बताई है सो वह तो जान लिया, किंतु इस-प्रकार अन्य अन्य प्रकारसे लक्षण करनेका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—जो चार लक्षण कहे है उनमे सच्ची दृष्टि पूर्वक कोई एक लक्षण ग्रहण करने पर चारो लक्षणोका ग्रहण होता है तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न २ समझ कर अन्य अन्य प्रकार से यह लक्षण कहे हैं।

१—जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ यह प्रयोजन है कि—यदि इन तत्त्वोको पहिचाने तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपका व हिताहित का श्रद्धान करके मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति करे।

२—जहाँ स्व-पर भिन्नताका श्रद्धानरूप लक्षण कहा है वहाँ जिससे तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन सिद्ध हो उस श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है, क्योकि जीव अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन स्व-परका भिन्न श्रद्धान करना है, और आश्रवादिके श्रद्धानका प्रयोजन रागादि छोडना है, अर्थात् स्व-परकी भिन्नता का श्रद्धान होनेपर परद्रव्योमे रागादि न करनेका श्रद्धान होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन स्व-परके भिन्न श्रद्धानसे सिद्ध हुआ जानकर यह लक्षण कहा है।

३—जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ—स्व-परके भिन्न-श्रद्धानका प्रयोजन इतना ही है कि—अपनेको अपनेरूप जानना। अपनेको अपनेरूप जाननेपर परका भी विकल्प कार्यकारी नही है ऐसे मूलभूत प्रयो-जनकी प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। तथा—

४—जहाँ देव गुरु धर्मकी श्रद्धारूप लक्षण कहा है वहाँ बाह्य साधनकी प्रधानता की है, क्योकि—अरहन्त देवादिका श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धानका कारण है तथा कुदेवादिका श्रद्धान कल्पित अतत्त्वार्थ-श्रद्धानका कारण है। इस बाह्य कारणकी प्रधानता से कुदेवादिका श्रद्धान छुडाकर सुदेवादिका श्रद्धान करानेके लिए देव गुरु धर्मके श्रद्धानको मुख्य

लक्षण कहा है। इसप्रकार भिन्न २ प्रयोजनोंकी मुख्यता से भिन्न २ लक्षण कहे है।

(७) प्रश्न—यह जो भिन्न २ चार लक्षण कहे हैं उनमेसे इस जीव को कौनसे लक्षणको अगीकार करना चाहिये ?

उत्तर—जहाँ पुरुषार्थके द्वारा सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर विपरीताभिनिवेशका अभाव होता है वहाँ यह चारो लक्षण एक साथ होते है तथा विचार अपेक्षासे मुख्यतया तत्त्वार्थोंका विचार करता है या स्व-परका भेद विज्ञान करता है, या आत्मस्वरूपको ही सँभालता है अथवा देवादिके स्वरूपका विचार करता है। इसप्रकार ज्ञानमें नाना प्रकारके विचार होते हैं किंतु श्रद्धानमे सर्वत्र परस्पर सापेक्षता होती है। जैसे तत्त्वविचार करता है तो भेद विज्ञानादिके अभिप्राय सहित करता है, इसीप्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षता है। इसलिये सम्यक्‌दृष्टिके श्रद्धानमे तो चारो लक्षणोका अगीकार है, किंतु जिसे विपरीताभिनिवेश होता है उसे यह लक्षण आभासमात्र होते है, यथार्थ नही होते। वह जिनमतके जीवादि तत्त्वोंको मानता है, अन्यके नही, तथा उनके नाम, भेदादिको सीखता है। इसप्रकार उसे तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है किन्तु उसके यथार्थभावका श्रद्धान नही होता। और वह स्व-परके भिन्नत्वकी वाते करता है तथा वस्त्रादिमे परबुद्धिका चिंतवन करता है, परन्तु उसे जैसी पर्यायमे अहबुद्धि है तथा वस्त्रादिमे परबुद्धि है वैसी आत्मामे अहबुद्धि और शरीरमे परबुद्धि नही होती। वह आत्माका जिनवचनानुसार चिंतवन करता है किंतु प्रतीतरूपसे निजको निजरूप श्रद्धान नही करता तथा वह अरहतादिके अतिरिक्त अन्य कुदेवादि को नही मानता, किंतु उनके स्वरूपको यथार्थ पहिचान कर श्रद्धान नही करता। इसप्रकार यह लक्षणाभास मिथ्यादृष्टिके होते हैं। उसमे कोई हो या न हो किंतु उसे यहाँ भिन्नत्व भी सभवित नही है।

दूसरे, इन लक्षणाभासो मे इतनी विशेषता है कि,—पहिले तो देवादिका श्रद्धान होता है, फिर तत्त्वोका विचार होता है, पश्चात् स्व-परका चिंतवन करता है और फिर केवल आत्माका चिंतवन करता है। यदि इस

क्रमसे जीव साधन करे तो परम्परासे सच्चे मोक्षमार्गको पाकर सिद्ध पदको भी प्राप्त कर ले, और **जो इस क्रमका उलंघन करता है उसे देवादिकी मान्यता का भी कोई ठिकाना नहीं रहता।** इसलिये जो जीव अपना भला करना चाहता है उसे जहाँ तक सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो वहाँ तक इसे भी क्रमशः अंगीकार करना चाहिये।

[सम्यग्दर्शनके लिये अभ्यासका क्रम] पहिले आज्ञादिके द्वारा या किसी परीक्षाके द्वारा कुदेवादिकी मान्यताको छोडकर अरहंत देवादिका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि इनका श्रद्धान होने पर ग्रहीतमिथ्यात्वका अभाव होता है, कुदेवादिका निमित्त दूर होता है और अरहंत देवादिका निमित्त मिलता है, इसलिये पहिले देवादिका श्रद्धान करना चाहिये और फिर जिनमतमें कहे गये जीवादितत्त्वोंका विचार करना चाहिये, उनके नाम–लक्षणादि सीखना चाहिये, क्योंकि इसके अभ्याससे तत्त्वश्रद्धानकी प्राप्ति होती है। इसके बाद जिससे स्व–परका भिन्नत्व भासित हो ऐसे विचार करते रहना चाहिये, क्योंकि इस अभ्याससे भेद विज्ञान होता है। इसके बाद एक निजमें निजत्व मानने के लिये स्वरूपका विचार करते रहना चाहिए। क्योंकि–इस अभ्याससे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार क्रमशः उन्हें अंगीकार करके, फिर उसमें से ही कभी देवादिके विचारमें, कभी तत्त्व विचारमें, कभी स्व–परके विचारमें तथा कभी आत्मविचारमें उपयोगको लगाना चाहिए। **इसप्रकार अभ्याससे सत्य सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।**

(८) **प्रश्न**—सम्यक्त्वके लक्षण अनेक प्रकारके कहे गये हैं, उनमेंसे यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको ही मुख्य कहा है, सो इसका क्या कारण है?

उत्तर—तुच्छ बुद्धिवालेको अन्य लक्षणोंमें उसका प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता या भ्रम उत्पन्न होता है तथा इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में प्रयोजन प्रगटरूपसे भासित होता है और कोई भी भ्रम उत्पन्न नहीं होता, इसलिये इस लक्षणको मुख्य किया है। यही यहाँ दिखाया जा रहा है—

देवगुरुधर्मके श्रद्धानमें तुच्छ बुद्धिको ऐसा भासित होता है कि अरहतदेवादिको ही मानना चाहिए और अन्यको नही मानना चाहिये, इतना ही सम्यक्त्व है, किन्तु वहाँ उसे जीव-अजीवके बंध-मोक्षके कारण-कार्यका स्वरूप भासित नही होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि नही होती है, और जीवादिका श्रद्धान हुए विना मात्र इसी श्रद्धानमे सतुष्ट होकर अपनेको सम्यक्दृष्टि माने वा एक कुदेवादिके प्रति द्वेष तो रक्खे किंतु अन्य रागादि छोडनेका उद्यम न करे, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

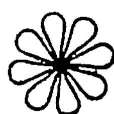
और स्व-परके श्रद्धानमें तुच्छ बुद्धिवालेको ऐसा भासित होता है कि—एक स्व-परको जानना ही कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है। किन्तु उसमे आश्रयादिका स्वरूप भासित नही होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नही होती। और आश्रवादिका श्रद्धान हुए विना मात्र इतना ही जाननेमे सतुष्ट होकर अपने को सम्यक्दृष्टि मानकर स्वच्छदी हो जाता है किन्तु रागादिके छोडनेका उद्यम नही करता, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

तथा आत्मश्रद्धान लक्षणमें तुच्छबुद्धि वालेको ऐसा भासित होता है कि—एक आत्माका ही विचार कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है, किंतु वहाँ जीव-अजीवादिके विशेष तथा आश्रवादिका स्वरूप भासित नही होता और इसलिये मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नही होती, और जीवादिके विशेषोका तथा आश्रवादिके स्वरूपका श्रद्धान हुए विना मात्र इतने ही विचारसे अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छदी होकर रागादिको छोडनेका उद्यम नही करता, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। ऐसा जानकर इन लक्षणोको मुख्य नही किया।

और तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणमें—जीव-अजीवादि व आश्रवादिका श्रद्धान हुआ वहाँ यदि उन सबका स्वरूप ठीक ठीक भासित हो तो मोक्ष-मार्गरूप प्रयोजन की सिद्धि हो। और इस श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके होनेपर भी स्वय सतुष्ट नही होता परन्तु आश्रवादिका श्रद्धान होनेसे रागादिको

छोड़कर मोक्षका उद्यम करता है। इसप्रकार उसे भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसीलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको मुख्य किया है।

अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें देवादिका श्रद्धान, स्व-परका श्रद्धान, तथा आत्मश्रद्धान गर्भित होता है, और वह तुच्छबुद्धिवाले को भी भासित होता है किन्तु अन्य लक्षणोंमें तत्त्वार्थश्रद्धान गर्भित है यह विशेष बुद्धिवान् को ही भासित होता है, तुच्छबुद्धिवालेको नहीं। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान-लक्षणको मुख्य किया है। तथा मिथ्यादृष्टि को यह आभासमात्र होता है; वहाँ तत्त्वार्थोंका विचार विपरीताभिनिवेशको दूर करनेमें शीघ्र कारणरूप होता है किन्तु अन्य लक्षण शीघ्र कारणरूप नहीं होते या विपरीताभिनिवेशके भी कारण हो जाते हैं, इसलिये वहाँ सर्वप्रकारसे प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेशरहित जीवादितत्त्वार्थोंका श्रद्धान ही सम्यक्त्वका लक्षण है ऐसा निर्देश किया है। ऐसा लक्षण जिस आत्माके स्वभावमें हो उसीको सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।



मोक्षशास्त्र प्रथम अध्यायका परिशिष्ट

[५]

केवलज्ञानका स्वरूप

(१) षट्खंडागम–धवलाटीका पुस्तक १३ सूत्र ८१–८२ द्वारा आचार्य देवने कहा है कि —

"वह केवलज्ञान सकल है, सम्पूर्ण है, और असपत्न है ॥ ८१ ॥

अखंड होनेसे वह सकल है।

शंका–यह अखंड कैसे है ?

समाधान–समस्त बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होने पर ज्ञानमें खण्डपना आता है, सो वह इस ज्ञान में सम्भव नहीं है, क्योंकि, इस ज्ञानके विषय त्रिकालगोचर अशेष बाह्य पदार्थ है।

अथवा द्रव्य, गुण और पर्यायोंके भेदका ज्ञान अन्यथा नहीं बन सकनेके कारण जिनका अस्तित्व निश्चित है ऐसे ज्ञानके अवयवोंका नाम कला है, इन कलाओंके साथ वह अवस्थित रहता है इसलिए सकल है। 'सम' का अर्थ सम्यक् है, सम्यक् अर्थात् परस्पर परिहार लक्षण विरोधके होने पर भी सहानअवस्थान लक्षण विरोधके न होने से चूंकि वह अनंतदर्शन, अनंतवीर्य विरति एवं क्षायिकसम्यक्त्व आदि अनंत गुणोंसे पूर्ण है, इसीलिये इसे सम्पूर्ण कहा जाता है। वह सकल गुणोंका निधान है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सपत्नका अर्थ शत्रु है, केवलज्ञानके शत्रु कर्म है। वे इसके नहीं रहे है, इसलिये केवलज्ञान असपत्न है। उसने अपने प्रतिपक्षि घातिचतुष्कका समूल नाश कर दिया है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यह केवलज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए और उसके विषयका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान् देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि,

स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह्कर्म, सबलोको, सब जीवो और सब भावोको सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते है, देखते है और विहार करते है ॥ ८२ ॥

ज्ञान-धर्म के माहात्म्योका नाम भग है, वह जिनके है वे भगवान् कहलाते है। उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा देखना जिसका स्वभाव है उसे उत्पन्न-ज्ञानदर्शी कहते है। स्वय उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन स्वभाववाले भगवान् सब लोक को जानते है।

शका—ज्ञानकी उत्पत्ति स्वय कैसे हो सकती है ?

समाधान—नही, क्योकि कार्य और कारणका एकाधिकरण होनेसे इनमे कोई भेद नही है।

[देवादि लोकमें जीवकी गति, आगति तथा चयन और उपपाद को भी सर्वज्ञ भगवान जानते हैं;–]

सौधर्मादिक देव, और भवनवासी असुर कहलाते है। यहाँ देवासुर वचन देशामर्शक है इसलिये इससे ज्योतिपी, व्यन्तर और तिर्यचो का भी ग्रहण करना चाहिये। देवलोक और असुरलोक के साथ मनुष्यलोक की आगतिको जानते हैं। अन्य गतिसे इच्छित गतिमे आना आगति है। इच्छित गतिसे अन्य गतिमे जाना गति है। सौधर्मादिक देवोका अपनी सम्पदासे विरह होना चयन है। विवक्षित गतिसे अन्य गतिमे उत्पन्न होना उपपाद है। जीवोके विग्रहके साथ तथा विना विग्रहके आगमन, गमन चयन और उपपाद को जानते हैं,

[पुद्गलोंके आगमन, गमन, चयन और उपपाद संबंधी]

तथा पुद्गलोके आगमन, गमन, चयन और उपपादको जानते है, पुद्गलोमे विवक्षित पर्यायका नाश होना चयन है। अन्य पर्यायरूपसे परिणमना उपपाद है।

[धर्म, अधर्म, काल और आकाशके चयन और उपपाद,]

धर्म, अधर्म, काल और आकाशके चयन और उपपादको जानते है, क्योकि, इनका गमन और आगमन नही होता। जिसमे जीवादि पदार्थ लोके जाते है अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसकी लोक सज्ञा है। यहाँ 'लोक' शब्दसे आकाश लिया गया है। इसलिये आधेयमे आधारका उपचार करने से धर्मादिक भी लोक सिद्ध होते हैं।

[बन्धको भी भगवान् जानते हैं;]

बन्धनेका नाम बन्ध है। अथवा जिसके द्वारा या जिसमे बधते हैं उसका नाम बन्ध है। वह बन्ध तीन प्रकारका है—जीवबन्ध, पुद्‌गलबन्ध और जीव–पुद्‌गल बध। एक शरीर मे रहनेवाले अनन्तानत निगोद जीवोका जो परस्पर बन्ध है वह जीवबन्ध कहलाता है। दो तीन आदि पुद्‌गलो का जो समवाय सम्बध होता है वह पुद्‌गलबन्ध कहलाता है। तथा औदारिक वर्गणाए, वैक्रियिक वर्गणाए, आहारक वर्गणाए, तैजस वर्गणाए और कार्मण वर्गणाए इनका और जीवोका जो बन्ध होता है वह जीव–पुद्‌गल-बन्ध कहलाता है। जिस कर्म के कारण अनन्तानत जीव एक शरीरमे रहते है उस कर्मकी जीवबन्ध सज्ञा है। जिस स्निग्ध और रूक्ष आदि गुणो के कारण पुद्‌गलो का बन्ध होता है उसकी पुद्‌गलबन्ध सज्ञा है। जिन मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग आदि के निमित्तसे जीव और पुद्‌गलो का बन्ध होता है वह जीव–पुद्‌गलबन्ध कहलाता है। इस बन्धको भी वे भगवान् जानते है।

[मोक्ष ऋद्धि, स्थिति तथा युति और उनके कारणोंको भी जानते हैं,]

छूटनेका नाम मोक्ष है, अथवा जिसके द्वारा या जिसमे मुक्त होते है वह मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष तीन प्रकारका है—जीवमोक्ष, पुद्‌गल-मोक्ष और जीव–पुद्‌गलमोक्ष।

इसी प्रकार मोक्षका कारण भी तीन प्रकार कहना चाहिए। बध, बन्धका कारण, बन्धप्रदेश, बद्ध एव बध्यमान जीव और पुद्‌गल, तथा मोक्ष,

मोक्षका कारण, मोक्षप्रदेश, मुक्त एव मुच्यमान जीव और पुद्गल, इन सब त्रिकाल विषयक अर्थोंको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

भोग और उपभोगरूप घोडा, हाथी, मणि व रत्न, रूप, सम्पदा तथा उस सम्पदा को प्राप्तिके कारण का नाम ऋद्धि है। तीन लोकमे रहने वाली सब सम्पदाओको तथा देव, असुर और मनुष्य भवकी सम्प्राप्ति के कारणो को भी जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। छह द्रव्योका विवक्षित भावसे अवस्थान और अवस्थानके कारणका नाम स्थिति है। द्रव्य-स्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, भवस्थिति और भावस्थिति आदि स्थिति को सकारण जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

[त्रिकाल विषयक सब प्रकारके संयोग या समीपताके सब भेद को जानते हैं:-]

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ जीवादि द्रव्यो के सम्मेलनका नाम युति है।

शका—युति और बन्धमे क्या भेद है?

समाधान—एकीभाव का नाम बन्ध है और समीपता या सयोग का नाम युति है।

यहाँ द्रव्ययुति तीन प्रकारकी है—जीवयुति, पुद्गलयुति और जीव-पुद्गलयुति। इनमेसे एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवीमे जीवो का मिलना जीवयुति है। वायुके कारण हिलनेवाले पत्तोके समान एक स्थानपर पुद्गलोका मिलना पुद्गलयुति है। जीव और पुद्गलोका मिलना जीव–पुद्गलयुति है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनके एक आदि सयोगके द्वारा द्रव्ययुति उत्पन्न करानी चाहिए। जीवादि द्रव्योका नारकादि क्षेत्रोके साथ मिलना क्षेत्रयुति है। उन्ही द्रव्योका दिन, महिना और वर्ष आदि कालो के साथ मिलाप होना कालयुति है। क्रोध, मान, माया और लोभादिक के साथ उनका मिलाप होना भावयुति है। त्रिकालविषयक इन सब युतियोके भेदको वे भगवान् जानते है।

[छह द्रव्योंके अनुभाग तथा ..घटोत्पादनरूप अनुभागको भी जानते हैं ।]

छह द्रव्योकी शक्तिका नाम अनुभाग है वह अनुभाग छह प्रकार का है—जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग, और कालद्रव्यानुभाग । इनमेसे समस्त द्रव्यो का जानना जीवानुभाग है । ज्वर, कुष्ठ और क्षयादिका विनाश करना और उनका उत्पन्न कराना इसका नाम पुद्गलानुभाग है । योनि प्राभृतमे कहे गए मत्र-तत्ररूप शक्तियोका नाम पुद्गलानुभाग है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए । जीव और पुद्गलोके गमन और आगमनमे हेतु होना धर्मास्तिकायानुभाग है । उन्हीके अवस्थानमे हेतु होना अधर्मास्तिकायानुभाग है । जीवादि द्रव्योका आधार होना आकाशास्तिकायानुभाग है । अन्य द्रव्योके क्रम और अक्रमसे परिणमनमे हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है । इसी प्रकार द्विसयोगादि रूपसे अनुभागका कथन करना चाहिए । जैसे–मृत्तिकापिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार आदिका घटोत्पादनरूप अनुभाग । इस अनुभागको भी जानते हैं ।

[तर्क, कला, मन, मानसिक ज्ञान और मनसे चिन्तित पदार्थों को भी जानते हैं ।]

तर्क, हेतु और ज्ञापक, ये एकार्थवाची शब्द हैं । इसे भी जानते हैं । चीत्रकर्म और पत्र छेदन आदिका नाम कला है । कला को भी वे जानते है । मनोवर्गणासे बने हुये हृदय-कमलका नाम मन है, अथवा मनसे उत्पन्न हुए ज्ञानको मन कहते है । मनसे चिन्तित पदार्थोका नाम मानसिक है । उन्हें भी जानते हैं ।

[भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं ।]

राज्य और महाव्रतादिका परिपालन करनेका नाम भुक्ति है । उस भुक्तको जानते हैं । जो कुछ तीनो ही कालोमे अन्यके द्वारा निप्पन्न होता है उसका नाम कृत है । पाचो इन्द्रियोके द्वारा तीनो ही कालोमे जो सेवित होता है उसका नाम प्रतिसेवित है । आद्यकर्मका नाम आदिकर्म है । अर्थ-

पर्याय और व्यजन पर्यायरूपसे सब द्रव्योकी आदि को जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। रहस् शब्दका अर्थ अतर और अरहस् शब्दका अर्थ अनन्तर है। अरहस् ऐसा जो कर्म वह अरह'कर्म कहलाता है। उनको जानते है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके विपयरूपसे सव द्रव्योकी अनादिताको जानते है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सम्पूर्ण लोकमे सब जीवो और सव भावो को जानते है।

शका—यहाँ 'सर्वजीव' पदको ग्रहण नही करना चाहिए, क्योकि, बद्ध और मुक्त पदके द्वारा उसके अर्थका ज्ञान हो जाता है।

समाधान—नही, क्योकि एक सख्या विशिष्ट बद्ध और मुक्त का ग्रहण वहाँ पर न होवे, इसलिए इमका प्रतिपेध करनेके लिए 'सर्वजीव' पदका निर्देश किया है।

जीव दो प्रकारके है—ससारी और मुक्त। इनमे मुक्त जीव अनत प्रकार के है, क्योकि, सिद्धलोकका आदि और अन्त नही पाया जाता।

शका—सिद्ध लोकके आदि और अतका अभाव कैसे है ?

समाधान—क्योकि, उसकी प्रवाह स्वरूपसे अनुवृत्ति है, तथा 'सब सिद्ध जीव सिद्धिकी अपेक्षा सादि है और सतानकी अपेक्षा अनादि है,' ऐसा सूत्र वचन भी है।

[सव जीवों को जानते हैं]

ससारी जीव दो प्रकारके है–त्रस और स्थावर। त्रस जीव चार प्रकार के है–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। पचेन्द्रियजीव दो प्रकारके हैं—सज्ञी और असज्ञी। ये सब जीव त्रस पर्याप्त और अपर्याप्तके भेद से दो प्रकार के है। अपर्याप्त जीव लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृ त्यपर्याप्त के भेदसे दो प्रकारके हैं। स्थावर जीव पाच प्रकारके है—पृथ्वीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन पाचो ही स्थावर-कायिक जीवोमे प्रत्येक दो प्रकारके है–बादर और सूक्ष्म। इनमे बादर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं–प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर। यहाँ प्रत्येक शरीर जीव दो प्रकारके है—बादर निगोद प्रतिष्ठित और बादर

ऐसा केवलज्ञान होता है ॥ ८३ ॥

इस प्रकार के गुणोंवाला केवलज्ञान होता है।

शका—गुणमे गुण कैसे हो सकता है ?

समाधान—यहाँ केवलज्ञान के द्वारा केवलज्ञानी का निर्देश किया गया है। इस प्रकारके केवली होते है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रवचनसार गाथा ३७ मे कहा है—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीण ॥ ३७ ॥

अर्थ—"उन (जीवादी) द्रव्य जातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायोंकी भाँति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप से) ज्ञानमें वर्तती हैं।"

इस श्लोक की श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका मे कहा है कि—

"टीका—(जीवादी) समस्तद्रव्य जातियो की पर्यायो की उत्पत्ति की मर्यादा तीनो कालकी मर्यादा जितनी होनेसे (वे तीनो कालमे उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये,) उनकी (-उन समस्त द्रव्य जातियोकी,) क्रम पूर्वक तपती हुई स्वरूप सम्पदावाली, (एक के वाद दूसरी प्रगट होनेवाली), विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमान कालीन) पर्यायों की भाँति, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी, सर्व पर्यायोंके विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हो इसप्रकार, एक क्षणमें ही ज्ञान मंदिरमें स्थितिको प्राप्त होती हैं।

इस गाथा की स टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—"ज्ञानमे समस्त द्रव्यो की तीनो काल की पर्यायें एकसाथ ज्ञात होने पर भी प्रत्येक पर्याय का विशिष्ट स्वरूप, प्रदेश, काल, आकारादि विशेषताएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं; सकर-व्यतिकर नही होते ."

"उनको (केवली भगवान्‌को) **समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका** अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष सवेदन की (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) **आलम्बन भूत** समस्त द्रव्य–पर्याये प्रत्यक्ष ही है।"

(प्रवचनसार गाथा २१ की टीका)

"जो (पर्याये) अभी तक भी उत्पन्न नही हुई है, तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई है, वे (पर्याये) वास्तवमे अविद्यमान होने पर भी **ज्ञानके प्रति नियत होने से** (ज्ञानमे निश्चित्–स्थिर–लगी हुई होने से, ज्ञानमे सीधे ज्ञात होनेसे) ज्ञान प्रत्यक्ष वर्तती हुई, पत्थरके स्तम्भमे अकित भूत और भावी देवो की (तीर्थकर देवोकी) भाँति अपने स्वरूपको अकप-तया (ज्ञानको) अर्पित करती हुई (वे पर्याये) विद्यमान ही है।"

(प्र सा गाथा–३८ की टीका)

(५) "टीका—क्षायिक ज्ञान वास्तवमे एक समयमे ही सर्वत (सर्व आत्म प्रदेशोसे), वर्तमान मे वर्तते तथा भूत-भविष्य काल मे वर्तते उन समस्त पदार्थो को जानता है जिनमे पृथक्‌रूप से* वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मीसे आलोकित अनेक प्रकारो के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमे परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमान जातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है उन्हे जानता है। जिनका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से) जानता है।"

(प्र सार गा ४७ की टीका)

(६) "जो एक ही साथ (-युगपत्) त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनो काल और तीनो लोक के) पदार्थो को नही जानता उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नही है।" (प्र सार गाथा ४८).

(७) " एक ज्ञायक भावका समस्त ज्ञेयको जाननेका स्वभाव होने से क्रमश प्रवर्तमान, अनत, भूत–वर्तमान–भावी विचित्र पर्याय समूह-

[* द्रव्योके भिन्न-भिन्न वर्तनेवाले निज निज लक्षण–उन द्रव्यो की लक्ष्मी–सम्पत्ति–शोभा है]

वाले अगाध स्वभाव और गभीर ❀❀ समस्त द्रव्यमात्र को–मानो वे द्रव्य ज्ञायकमे उत्कीर्ण हो गये हो, चित्रित हो गये हो भीतर घुस गये हो, कीलित हो गये हो, डूब गये हो, समा गये हो, प्रतिबिम्बित हुये हो, इस प्रकार-एक क्षण मे ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है, " (प्र सार गा २०० की टीका)

(८) "घातिकर्म का नाश होने पर अनतदर्शन, अनतज्ञान, अनत-सुख और अनतवीर्य–यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते है। वहाँ अनतदर्शन–ज्ञान से तो, छह द्रव्यो से भरपूर जो यह लोक है उसमे जीव अनतानन्त और पुद्गल उनसे भी अनतगुने है, और धर्म, अधर्म तथा आकाश यह तीन द्रव्य एव असख्य कालद्रव्य है—उन सर्व द्रव्यो की भूत–भविष्य–वर्तमान काल सम्बन्धी अनत पर्यायो को भिन्न–भिन्न एक समयमे देखते और जानते है।"

[अष्ट पाहुड–भावपाहुड गा १५० की प जयचद्रजी कृत टीका]

(९) श्री पचास्तिकायकी श्री जयसेनाचार्य कृत स टीका पृ ८७ गाथा ५ मे कहा है कि—

णाणाणाण च णत्थि केवलिणो–गाथा ५।

"केवली भगवान् को ज्ञानाज्ञान नही होता, अर्थात् उन्हे किसी विषयमे ज्ञान और किसी विषय मे अज्ञान वर्तता है–ऐसा नही होता, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही वर्तता है।"

(१०) भगवत भूतवलि आचार्य प्रणीत महाबंध प्रथम भाग प्रकृति बन्धाधिकार पृ २७–२८ मे केवलज्ञानका स्वरूप निम्नोक्त कहा है—

"केवली भगवान् त्रिकालावच्छिन्न लोक अलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण पर्यायो से समन्वित अनत द्रव्यो को जानते है।" ऐसा कोई ज्ञेय नहीं हो सकता है, जो केवली भगवान् के ज्ञानका विषय न हो।

[❀❀ जिसका स्वभाव अगाध है और गम्भीर है, ऐसे समस्त द्रव्यो को–भूत, वर्तमान तथा भावी काल का क्रम से होनेवाली अनेक प्रकार की अनन्त पर्यायोसे युक्त एक समय में ही प्रत्यक्ष जानना आत्मा का स्वभाव है।]

ज्ञानका धर्म ज्ञेय को जानना है और ज्ञेयका धर्म है ज्ञानका विषय होना। इनमे विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। जब मति और श्रुतज्ञान के द्वारा भी यह जीव वर्तमानके सिवाय भूत तथा भविष्यत काल की बातो का परिज्ञान करता है, तब केवली भगवान्के द्वारा अतीत, अनागत, वर्तमान सभी पदार्थोका ग्रहण (-ज्ञान) करना युक्तियुक्त ही है। **यदि क्रम पूर्वक केवली भगवान् अनन्तानन्त पदार्थों को जानते तो सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार न हो पाता।** अनत काल व्यतीत होने पर भी पदार्थो की अनंत गणना अनत ही रहती। आत्माकी असाधारण निर्मलता होने के कारण एक समय मे ही सकल पदार्थोका ग्रहण (-ज्ञान) होता है।

जब ज्ञान एक समय मे सम्पूर्ण जगत्का या विश्वके तत्त्वोका बोध कर चुकता है, तब आगे वह कार्यहीन हो जायगा' यह आशङ्का भी युक्त नही है, कारण कालद्रव्य के निमित्त से तथा अगुरुलघु गुणके कारण समस्त वस्तुओ मे क्षण क्षणमे परिणमन—परिवर्तन होता है। जो कल भविष्यत् था वह आज वर्तमान वन कर आगे अतीतका रूप धारण करता है। इसप्रकार परिवर्तनका चक्र सदा चलने के कारण ज्ञेयके परिणमन के अनुसार ज्ञानमे भी परिणमन होता है। **जगतके जितने पदार्थ हैं, उतनी ही केवलज्ञान की शक्ति या मर्यादा नहीं है। केवलज्ञान अनन्त है! यदि लोक अनन्त गुणित भी होता, तो केवलज्ञान सिंधु में वह बिन्दु तुल्य समा जाता।** अनन्त केवलज्ञान के द्वारा अनन्त जीव तथा अनत आकाशादि का ग्रहण होने पर भी वे पदार्थ सान्त नही होते है। अनन्तज्ञान अनन्त पदार्थ या पदार्थो को अनन्तरूप से बताता है, इस कारण ज्ञेय और ज्ञानकी अनन्तता अबाधित रहती है।

[महाबन्ध प्रथम भाग पृ २७ तथा धवला पुस्तक १३ पृ ३४६ से ३५३]

उपरोक्त आधारों से निम्नोक्त मंतव्य मिथ्या सिद्ध होते हैं—

(१) केवली भगवान् भूत और वर्तमान कालवर्ती पर्यायो को ही जानते है और भविष्यत् पर्यायो को वे हो तब जानते है।

(२) सर्वज्ञ भगवान् अपेक्षित धर्मों को नही जानते ।

(३) केवली भगवान् भूत-भविष्यत् पर्यायो को सामान्यरूप से जानते है किंतु विशेषरूप से नही जानते ।

(४) केवली भगवान् भविष्यत् पर्यायो को समग्ररूप से (समूहरूप से) जानते हैं, भिन्न भिन्नरूप से नही जानते ।

(५) ज्ञान सिर्फ ज्ञानको ही जानता है ।

(६) सर्वज्ञके ज्ञानमे पदार्थ झलकते है, किंतु भूतकाल तथा भविष्यकाल की पर्यायें स्पष्टरूप से नही झलकती ।—इत्यादिक मन्तव्य सर्वज्ञ को अल्पज्ञ मानने समान हैं ।

[केवलज्ञान (-सर्वज्ञका ज्ञान) द्रव्य-पर्यायोंका शुद्धत्व अशुद्धत्व आदि अपेक्षित धर्मों को भी जानता है ।]

(११) श्री समयसारजी मे अमृतचद्राचार्य कृत कलश न० २ मे केवलज्ञानमय सरस्वती का स्वरूप इस प्रकार कहा है, ' वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमे **अनंत धर्म** है ऐसा, और प्रत्यक्–परद्रव्यो से, परद्रव्यो के गुण पर्यायो से भिन्न तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारो मे कथचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्वको अर्थात् असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यो से विलक्षण निजस्वरूप को पश्यती–देखती है ।'

भावार्थ—××× उनमे अनन्त धर्म कौन कौन है ? उसका उत्तर कहते है—जो वस्तुमे सत्पना, वस्तुपना, प्रमेयपना, प्रदेशपना, चेतनपना, अचेतनपना, मूर्तिकपना, अमूर्तिकपना इत्यादि धर्म तो गुण है और उन गुणोका तीनो कालो मे समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, वे अनत हैं । तथा एकपना, अनेकपना, नित्यपना, अनित्यपना, भेदपना, अभेदपना, शुद्धपना, अशुद्धपना आदि अनेक धर्म है वे सामान्यरूप तो वचन गोचर हैं और विशेषरूप वचन के अविषय है, ऐसे वे अनत है सो ज्ञानगम्य है (-अर्थात् केवलज्ञान के विषय है ।)'

[श्री रायचद जैन शास्त्रमाला मु बईसे प्रकाशित स सार पत्र ४]

सर्वज्ञ व्यवहार से परको जानता है उसका अर्थ

(१२) परमात्मप्रकाश शास्त्र गा ५२ की स टीका मे (पत्र न ५५) कहा है कि "यह आत्मा व्यवहार नय से केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानता है और शरीरमे रहने पर भी निश्चयनयसे अपने आत्मस्वरूपको जानता है, इसकारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारनय से सर्वगत है, प्रदेशोकी अपेक्षा नही है। जैसे रूपवाले पदार्थो को नेत्र देखते है, परन्तु उनसे तन्मय नही होता। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि–जो व्यवहारनयसे लोकालोक को जानता है, और निश्चयनयसे नही, तो सर्वज्ञपना व्यवहारनय से हुआ निश्चयकर न हुआ ? उसका समाधान करते है–जैसे अपनी आत्माको तन्मयी होकर जानता है, उसी तरह परद्रव्यको तन्मयीपने से नही जानता, भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनय से कहा, [न च परिज्ञाना भावात्।] **कुछ परिज्ञान के अभाव से नहीं कहा।** (ज्ञानकर जानपना तो निज और परका समान है) यदि जिस तरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है, उसी तरह यदि परको भी तन्मयी होकर जाने, तो परके सुख दु ख, राग, द्वेष के ज्ञान होने पर सुखी दु खी, रागी, द्वेषी होवे, यह बडा दूषण प्राप्त हो।"

(१३) इस प्रकार समयसार जी पत्र, ४६६–६७, गाथा ३५६ से ३६५ की स टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है " यदि व्यवहारेण परद्रव्य जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह यथा स्वकीय सुखादिक तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्य न जानाति तेन कारणेन व्यवहार। यदि पुन परकीय सुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीय सवेदने सुखी भवति तथा परकीय सुख दु ख सवेदनकाले सुखी दु खी च प्राप्नोति न च तथा। व्यवहारस्तथापि–छद्मस्थ जनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति।"

केवलज्ञान नामक पर्यायका निश्चय स्वभाव

(१४) पच स्तिकाय शास्त्र की गाथा ४६ की टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि– "तथा जीवे निश्चयनयेन क्रम करण व्यव-

धान रहित त्रैलोक्योदर विवरण वर्ति **समस्त वस्तुगतानंत धर्म प्रकाशक-**मखाड प्रतिभासमय केवलज्ञान पूर्वमेव तिष्ठति" । तथा गा २६ की टीका मे भी कहा है कि " अत्र स्वय जातमिति वचनेन पूर्वोक्तमेव निरुपाधित्व समर्थित । तथा च स्वयमेव सर्वज्ञो जात सर्वदर्शी च जातो **निश्चयनये-नेति** पूर्वोक्तमेव सर्वज्ञत्व सर्वदर्शीत्व च समर्थितमिति ।" तथा गाथा १५४ की टीका मे कहा है कि "**समस्त वस्तुगतानत धर्माणां** युगपद्विशेप परिच्छित्ति समर्थ केवलज्ञान"

(५) परमात्मप्रकाश अ० २ गा १०१ की स टीका मे कहा है कि–"*जगत्त्रय कालत्रयवर्ति समस्त द्रव्यगुण पर्यायाणाक्रमकरण व्यवधान* रहित्वेन परिच्छित्ति समर्थ विशुद्ध दर्शन ज्ञान च ।"

(६) समयसारजी शास्त्रमे आत्म द्रव्यकी ४७ शक्ति कही है उनमे सर्वज्ञत्वशक्ति का स्वरूप ऐसा कहा है कि "विश्वविश्व विशेष भाव परिण-तात्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्ति । अर्थ —समस्त विश्वके (छहो द्रव्यके) विशेप भावो को जानने रूपसे परिणमित **आत्मज्ञानमयी** सर्वज्ञत्वशक्ति ॥१०॥"

नोध—सर्वज्ञ मात्र आत्मज्ञ ही है ऐसा कहना ठीक नही है कारण कि—सपूर्ण आत्मज्ञ होनेवाला, परद्रव्यो को भी सर्वथा, सर्व विशेष भावो सहित जानता है । विशेषके लिये देखो–आत्मधर्म मासिक वर्ष ६ अक न ८ सर्वज्ञत्व शक्तिका वर्णन, कोई असत् कल्पना द्वारा सर्वज्ञका स्वरूप अन्यथा मानते हैं उसका तथा सर्वज्ञ वस्तुओके अनतधर्म को नही जानते ऐसा मानते है उनका उपरोक्त कथनके आधार से निराकरण हो जाता है ।



मोक्षशास्त्र-अध्याय दूसरा

पहिले अध्यायमें सम्यग्दर्शनके विषयका उपदेश देते हुए प्रारंभमें [अ० १ सू० ४ में] जीवादिक तत्त्व कहे थे। उनमेंसे जीव तत्त्वके भाव, उनका लक्षण और शरीरके साथके संबंधका वर्णन इस दूसरे अध्यायमें है। पहिले जीवके स्वतत्त्व (निजभाव) बतानेके लिए सूत्र कहते हैं:—

जीवके असाधारण भाव

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थ—[**जीवस्य**] जीवके [**औपशमिकक्षायिकौ**] औपशमिक और क्षायिक [**भावौ**] भाव [**च मिश्रः**] और मिश्र तथा [**औदयिक-पारिणामिकौ च**] औदयिक और पारिणामिक यह पाँच भाव [**स्वतत्त्वम्**] निजभाव है अर्थात् यह जीवके अतिरिक्त दूसरेमे नही होते।

टीका

पाँच भावोंकी व्याख्या

(१) **औपशमिकभाव**—आत्माके पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धताका प्रगट न होना अर्थात् दव जाना। आत्माके इस भावको औपशमिकभाव कहते हैं, यह जीवकी एक समयमात्रकी पर्याय है, वह एक एक समय करके अंतर्मुहूर्त तक रहती है, किन्तु एक समयमे एक ही अवस्था होती है। और उसी समय आत्माके पुरुषार्थका निमित्त पाकर जड कर्मका प्रगटरूप फल जड कर्ममे न आना सो कर्मका उपशम है।

(२) **क्षायिकभाव**—आत्माके पुरुषार्थसे किसी गुण की शुद्ध अवस्थाका प्रगट होना सो क्षायिकभाव है। यह भी जीवकी एक समयमात्रकी

अवस्था है। एक एक समय करके वह सादि-अनंत रहती है तथापि एक समयमे एक ही अवस्था होती है, सादि अनंत-अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलवीर्य-युक्त-फलरूप अनत चतुष्टयके साथ रहनेवाली परम उत्कृष्ट क्षायिकभावकी शुद्ध परिणति जो कार्यशुद्धपर्याय है, उसे क्षायिकभाव भी कहते है। और उसी समय आत्माका पुरुपार्थका निमित्त पाकर कर्मावरणका नाश होना सो कर्मका क्षय है।

(३) क्षायोपशमिकभाव—आत्माके पुरुपार्थका निमित्त पाकर जो कर्मका स्वय आशिक क्षय और आशिक उपशम वह कर्मका क्षयोपशम है, और क्षायोपशमिकभाव आत्माकी पर्याय है। यह भी आत्माकी एक समय की अवस्था है, वह उसकी योग्यताके अनुसार उत्कृष्ट कालतक भी रहती है, किन्तु प्रति समय बदलकर रहती है।

(४) औदयिकभाव—कर्मोंके निमित्तसे आत्मा अपनेमे जो विकारभाव करता है सो औदयिक भाव है। यह भी आत्माकी एक समय की अवस्था है।

(५) पारिणामिकभाव—'पारिणामिक' का अर्थ है सहजस्वभाव, उत्पाद-व्यय-रहित ध्रुव-एकरूप स्थिर रहनेवाला भाव पारिणामिकभाव है। परिणामिकभाव सभी जीवोके सामान्य होता है। औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक-इन चार भावोसे रहित जो भाव है सो पारिणामिक भाव है। 'पारिणामिक' कहते ही ऐसा ध्वनित होता है कि द्रव्य-गुण का नित्य वर्तमानरूप निर्पेक्षता है, ऐसी द्रव्यकी पूर्णता है। द्रव्य-गुण और निर्पेक्ष पर्यायरूप वस्तुकी जो पूर्णता है उसे पारिणामिक भाव कहते है।

जिसका निरन्तर सद्भाव रहता है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। जिसमे सर्वभेद गर्भित हैं ऐसा चैतन्यभाव ही जीवका पारिणामिकभाव है। मतिज्ञानादि तथा केवलज्ञानादि जो अवस्थाएँ हैं वे पारिणामिक भाव नही है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान (यह अवस्थाएँ) क्षायोपशमिकभाव हैं, केवलज्ञान (अवस्था) क्षायिकभाव है। केवलज्ञान प्रगट होनेसे पूर्व ज्ञानका विकासका जितना अभाव है वह औदयिकभाव है।

ज्ञान-दर्शन, और वीर्यगुणकी अवस्थामे औपशमिकभाव होता ही नही । मोह का ही उपशम होता है, उसमे प्रथम मिथ्यात्वका (दर्शनमोहका) उपशम होने पर जो निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है वह श्रद्धागुणका औपशमिक भाव है ।

(ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुणकी पर्यायमे पूर्ण विकासका जितना अभाव है वह भी औदयिकभाव है, वह १२ वें गुणस्थान तक है)

२. यह पॉच भाव क्या बतलाते हैं ?

(१) जीवमे एक अनादि अनत शुद्ध चैतन्य स्वभाव है, यह पारिणामिकभाव सिद्ध करता है ।

(२) जीवमे अनादि अनत शुद्ध चैतन्यस्वभाव होने पर भी उसकी अवस्थामे विकार है, ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है ।

(३) जडकर्मके साथ जीवका अनादिकालीन सबध है और जीव अपने ज्ञाता स्वभावसे च्युत होकर जड़कर्मकी ओर झुकाव करता है जिससे विकार होता है किंतु कर्मके कारण विकारभाव नही होता, यह भी औदयिकभाव सिद्ध करता है ।

(४) जीव अनादिकालसे विकार करता हुआ भी जड नही हो जाता और उसके ज्ञान, दर्शन तथा वीर्यका आशिक विकास सदा बना रहता है, यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है ।

(५) आत्माका स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने पारिणामिकभावका आश्रय लेता है तब औदयिकभावका दूर होना प्रारभ होता है, और पहिले श्रद्धागुणका औदयिकभाव दूर होता है, यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है ।

(६) सच्ची समझके बाद जीव जैसे २ सत्यपुरुषार्थको बढाता है वैसे २ मोह अशत दूर होता जाता है यह क्षायोपशमिक भाव सिद्ध करता है ।

(७) यदि जीव प्रतिहतभावसे पुरुषार्थमे आगे बढता है तो चारित्रमोह स्वय दब जाता है [-उपशमको प्राप्त होता है]

यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(८) अप्रतिहत पुरुषार्थसे पारिणामिकभावका अच्छी तरह आश्रय वढाने पर विकारका नाश हो सकता है ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(९) यद्यपि कर्मोंके साथका सबध प्रवाहसे अनादिकालीन है तथापि प्रतिसमय पुराने कर्म जाते है और नये कर्मोंका सवध होता रहता है, इस अपेक्षासे कर्मोंके साथका वह सवध सर्वथा दूर हो जाता है, यह क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(१०) कोई निमित्त विकार नही करता किन्तु जीव स्वय निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जब जीव पारिणामिक भावरूप अपने द्रव्य स्वभाव सन्मुख हो करके स्वाधीनताको प्रगट करता है तव अशुद्धता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है, ऐसा औपशमिकभाव, साधकदशाका क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव तीनो सिद्ध करते हैं।

३. पाँच भावोंके संबंधमें कुछ प्रश्नोत्तर

(१) **प्रश्न**—भावनाके समय इन पाँचमे से कौनसा भाव ध्यान करने योग्य है अर्थात् ध्येय है ?

उत्तर—भावनाके समय पारिणामिकभाव ध्यान करने योग्य है अर्थात् ध्येय है। ध्येयभूत द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव त्रिकाल रहते है इसलिये वे ध्यान करने योग्य हैं।

(२) **प्रश्न**—पारिणामिकभावके आश्रयसे होनेवाला ध्यान भावना के समय ध्येय क्यो नही है ?

उत्तर—यह ध्यान स्वय पर्याय है इसलिये विनश्वर है, पर्यायके आश्रय से शुद्ध अवस्था प्रगट नही होती, इसलिये वह ध्येय नही है।

[समयसारमे, जयसेनाचार्य कृत टीकाका अनुवाद पृ ३३०-३३१]

(३) **प्रश्न**—शुद्ध और अशुद्धभेदसे पारिणामिकभावके दो प्रकार नही है किंतु पारिणामिकभाव शुद्ध ही है, क्या यह कहना ठीक है ?

उत्तर—नही, यह ठीक नही है। यद्यपि सामान्यरूपसे (द्रव्यार्थिक नयसे अथवा उत्सर्ग कथनसे) पारिणामिकभाव शुद्ध है तथापि विशेषरूपसे (पर्यायार्थिकनयसे अथवा अपवाद कथनसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव भी हैं। इसलिये 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस (सातवे सूत्र) से पारिणामिक-भावको जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व–तीन प्रकारका कहा है, उनमे से जो शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व है वह अविनाशी शुद्ध द्रव्याश्रित है, इसलिये उसे शुद्ध द्रव्याश्रित नामका शुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। और जो दश प्रकारके द्रव्य–प्राणोसे पहिचाना जाता है ऐसा जीवत्व और मोक्ष-मार्गकी योग्यता-अयोग्यतासे भव्यत्व, अभव्यत्व यह तीन प्रकार पर्याया-श्रित हैं इसलिये उन्हें पर्यायार्थिक नामके अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिये।

(४) **प्रश्न**––इन तीन भावोकी अशुद्धता किस अपेक्षासे है ?

उत्तर––यह अशुद्ध पारिणामिकभाव व्यवहारनयसे सासारिक जीवों मे हैं फिर भी "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" अर्थात् सब जीव शुद्धनय से शुद्ध हैं, इसलिये यह तीनो भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे किसी जीव को नही हैं, ससारी जीवोमे पर्यायकी अपेक्षा अशुद्धत्व है। [भव्य जीवमे अभव्यत्व गुण नही है और अभव्य जीवमे भव्यत्व गुण नही है तथा वे दोनो गुण जीवके अनुजीवी गुण हैं, तथा वे श्रद्धा गुणकी पर्याय नही, देखो "अनुजीवीगुण" जैन सि० प्रवेशिका।]

प्रश्न–––इन शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिकभावोमे से कौनसा भाव ध्यानके समय ध्येयरूप है ?

उत्तर–––द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव अविनाशी है इसलिये वह ध्येयरूप है, अर्थात् वह त्रैकालिक शुद्ध पारिणामिकभावके लक्षसे शुद्ध अवस्था को प्रगट करता है। [बृहत् द्रव्यसग्रह पृष्ठ ३४–३५]

४. औपशमिकभाव कब होता है ?

अध्याय १ सूत्र ३२ मे कहा गया है कि जीवके सत् और असत्के विवेकसे रहित जो दशा है सो उन्मत्त जैसी है। मिथ्या अभिप्रायसे अपनी

ऐसी दशा अनादिकालसे है यह अ० १ सूत्र ४ मे कथित तत्त्वोका विचार करनेपर जीवको ज्ञानमे आता है। और उसे यह भी ज्ञानमे आता है कि जीवका पुद्गलकर्म तथा शरीरके साथ प्रवाहरूपसे अनादिकालीन सबध है, अर्थात् जीव स्वय वह का वही है किंतु कर्म और शरीर पुराने जाते हैं तथा नये आते है। और यह सयोग सबध अनादिकाल से चला आ रहा है। जीव इस सयोग सबंधको एकरूप (तादात्म्यसबधरूपसे) मानता है और इसप्रकार जीव अज्ञानतासे शरीरको अपना मानता है इसलिये शरीर के साथ मात्र निमित्त नैमित्तिक सबध होने पर भी उस के साथ कर्ता-कर्म सबध मानता है, इसलिये वह यह मानता आ रहा है कि 'मै शरीरके कार्य कर सकता हूँ और जड कर्म, शरीरादि मुझको कुछ करता है।' तत्त्व विचार करते २ जीवको ऐसा लगता है कि यह मेरी भूल है मै **जीवतत्त्व** हूँ, और शरीर तथा जड कर्म, मुझसे सर्वथा भिन्न **अजीवतत्त्व** है मैअजीवमे और अजीव मुझमे नही है, इसलिये मै अजीवका कुछ नही कर सकता, मै अपने ही भाव कर सकता हूँ, तथा अजीव अपने भाव (उसीके भाव) कर सकता है, मेरे नही ।

इसप्रकार जिज्ञासु आत्मा प्रथम रागमिश्रित विचारके द्वारा जीव-अजीव तत्त्वोका स्वरूप जानकर, यह निश्चय करते हैं कि अपनेमे जो कुछ विकार होते हैं वे अपने ही दोषके कारण होते हैं। इतना जाननेपर उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि अविकारी भाव क्या है। इसप्रकार विकारभाव (**पुण्य पाप आश्रव बंध**) का तथा अविकारभाव (**संवर निर्जरा मोक्ष**) का स्वरूप वे जिज्ञासु आत्मा निश्चित करते हैं। पहिले रागमिश्रित विचारोके द्वारा इन तत्त्वोका ज्ञान करके फिर जब जीव उन भेदोकी ओर का लक्ष दूर करके अपने त्रैकालिक पारिणामिकभावका-ज्ञायकभावका यथार्थ आश्रय लेते है तब उन्हे श्रद्धागुणका औपशमिकभाव प्रगट होता है। श्रद्धागुणके औपशमिकभावको उपशम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर जीवके धर्मका प्रारभ होता है, तब जीवकी अनादिकालसे चली आनेवाली श्रद्धागुणकी मिथ्या दशा दूर

होकर सम्यक् दशा प्रगट होती है। यह औपशमिकभावसे मिथ्यात्वादिके सवर होते है।

५. औपशमिकभावकी महिमा

इस औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शनकी ऐसी महिमा है कि जो जीव पुरुषार्थके द्वारा उसे एक बार प्रगट कर लेता है उसे अपनी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट हुए बिना नही रह सकती। प्रथम—औपशमिकभावके प्रगट होने पर अ० १ सूत्र ३२ मे कथित 'उन्मत्तदशा' दूर हो जाती है अर्थात् जीवकी मिथ्याज्ञानदशा दूर होकर वह सम्यक्मति-श्रुतज्ञानरूप हो जाती है, और यदि उस जीवको पहिले मिथ्या अवधिज्ञान हो तो वह भी दूर होकर सम्यक् अवधिज्ञानरूप हो जाता है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा बतानेके लिये आचार्यदेवने अ० १ के पहिले सूत्रमे पहिला ही शब्द **सम्यग्दर्शन** कहा है, और प्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिकभावसे ही होता है इसलिये औपशमिकभावकी महिमा बतानेके लिये यहाँ भी यह दूसरा अध्याय प्रारभ करते हुए वह भाव पहिले सूत्रके पहिले ही शब्दमे बताया है।

६. पाँच भावोंके संबंधमें कुछ स्पष्टीकरण

(१) **प्रश्न**——प्रत्येक जीव मे अनादिकालसे पारिणामिकभाव है फिर भी उसे औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यो प्रगट नही हुआ?

उत्तर——जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपकी प्रतीति नही है और इसलिये वह यह नही जानता कि मै स्वय पारिणामिकभाव स्वरूप हूँ, और वह अज्ञान दशामे यह मानता रहता है कि 'शरीर मेरा है और शरीरके अनूकूल, ज्ञात होनेवाली पर वस्तुएँ मुझे लाभकारी है तथा शरीरके प्रतिकूल ज्ञान होनेवाली वस्तुएँ हानिकारी है' इसलिये उसका झुकाव पर वस्तुओ, शरीर, और विकारी भावोकी ओर बना ही रहता है। यहाँ जो किसी से उत्पन्न नही किया गया है और कभी किसीसे जिसका विनाश नही होता ऐसे पारिणामिकभावका ज्ञान कराकर, अपने गुण-पर्यायरूप भेदोको और परवस्तुओको गौण करके आचार्यदेव उन परसे लक्ष छुडवाते हैं।

भेददृष्टि मे निर्विकल्पदशा नही होती इसलिये अभेददृष्टि कराई है कि जिससे निर्विकल्पदशा प्रगट हो। औपशमिकभाव भी एक प्रकारकी निर्विकल्पदशा है।

(२) **प्रश्न**——इस सूत्रमे कथित पाँचभावोमे से किस भावकी ओर के लक्षसे धर्मका प्रारभ और पूर्णता होती है ?

उत्तर——पारिणामिकभावो के अतिरिक्त चारो भाव क्षणिक हैं,–एक समय मात्रके हैं, और उनमे भी क्षायिकभाव तो वर्तमान नही है, औपशमिकभाव भी होता है तो अल्प समय ही टिकता है, और औदयिक–क्षायोपशमिकभाव भी समय २ पर वदलते रहते है, इसलिये उन भावो पर लक्ष किया जाय तो वहाँ एकाग्रता नही हो सकती और धर्म प्रगट नही हो सकता। त्रैकालिक पूर्ण स्वभाव रूप पारिणामिकभावकी महिमाको जानकर उस ओर जीव अपना लक्ष करे तो धर्मका प्रारभ होता है और उस भावकी एकाग्रताके वलसे ही धर्मकी पूर्णता होती है।

(३) **प्रश्न**——पंचास्तिकायमें कहा है कि–

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिका भावा निःक्रियाः पारिणामिकाः॥

[गाथा ५६ जयसेनाचार्य कृत टीका]

अर्थ–मिश्र, औपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव मोक्षकर्ता हैं, औदयिकभाव वंध करते हैं और पारिणामिकभाव वध मोक्षकी क्रियासे रहित है।

प्रश्न——उपरोक्त कथनका क्या आशय है ?

उत्तर——इस श्लोकमे यह नही कहा है कि कौनसा भाव उपादेय अर्थात् आश्रय करने योग्य है किंतु इसमे मोक्ष जो कि कर्मके अभावरूप निमित्तकी अपेक्षा रखता है वह भाव जव प्रगट होता है तव जीवका कौनसा भाव होता है यह वताया है अर्थात् मोक्ष जो कि, सापेक्ष पर्याय है उसका प्रगट होते समय तथा पूर्व सापेक्ष पर्याय कौनसी थी इसका स्वरूप वताया है। यह श्लोक वतलाता है कि क्षायिकभाव मोक्षको करता है अर्थात् उस

भावका निमित्त पाकर आत्म प्रदेशसे द्रव्यकर्मका स्वय अभाव होता है। मोक्ष इस अपेक्षासे क्षायिक पर्याय है और क्षायिकभाव जडकर्मका अभाव सूचित करता है। क्षायिकभाव होनेसे पूर्व मोहके औपशमिक तथा क्षायोपशमिकभाव होना ही चाहिये और तत्पश्चात् क्षायिकभाव प्रगट होते है और क्षायिकभावके प्रगट होने पर ही कर्मोका स्वय अभाव होता है—तथा ऐसा निमित्त—नैमित्तिक सबध बतानेके लिये यह कहा है कि 'यह तीनो भाव मोक्ष करते हैं'। इस श्लोकमे यह प्रतिपादन नही किया गया है कि—किस भावके आश्रयसे धर्म प्रगट होता है। ध्यान रहे कि पहिले चारो भाव स्व अपेक्षासे पारिणामिकभाव हैं। (देखो जयधवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१९, धवला भाग ५ पृष्ठ १९७)

४. प्रश्न—ऊपरके श्लोकमे कहा गया है कि—औदयिकभाव बधका कारण है। यदि यह स्वीकार किया जाय तो गति, जाति, आदि नामकर्म सबधी—औदयिक भाव भी बधके कारण क्यो नही होगे?

उत्तर—श्लोकमे कहे गये औदयिकभावमे सर्व औदयिकभाव बधके कारण हैं ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु यह समझना चाहिये कि मात्र मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग यह चार भाव बधके कारण है। (श्री धवला पुस्तक ७ पृष्ठ ९—१०)

५. प्रश्न—'औदयिका भावाः बंधकारणम्' इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—इसका यही अर्थ है कि यदि जीव मोहके उदयमे युक्त होता है तो बध होता है। द्रव्य मोहका उदय होने पर भी यदि जीव शुद्धात्मभावना के बलसे **भाव मोहरूप** परिणमित न हो तो बध नही होता। यदि जीवको कर्मोदयके कारण बध होता हो तो ससारीके सर्वदा कर्मोदय विद्यमान है इसलिये उसे सर्वदा बध होगा, कभी मोक्ष होगा ही नही। इसलिए यह समझना चाहिए कि कर्मका उदय बधका कारण नही है, किन्तु जीवका **भावमोहरूपसे परिणमन** होना बधका कारण है।

(हिन्दी प्रवचनसार पृष्ठ ५८—५९ जयसेनाचार्य कृत टीका)

६. प्रश्न——पारिणामिकभावको कही किसी गुणस्थानमे पर्यायरूपसे वर्णन किया है ?

उत्तर—हाँ, दूसरा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्मकी उदय, उपशम, क्षयोपशम, या क्षय इन चार अवस्थाओंमे से किसी भी अवस्थाकी अपेक्षा नही रखता, इतना बतानेके लिए वहाँ श्रद्धाकी पर्याय अपेक्षासे पारिणामिकभाव कहा गया है। यह जीव जो चारित्रमोहके साथ युक्त होता है सो वह तो औदयिकभाव है, उस जीवके ज्ञानदर्शन और वीर्यका क्षायोपशमिकभाव है और सर्व जीवोके (द्रव्यार्थिकनयसे) अनादि अनत पारिणामिकभाव होता है, वह इस गुणस्थानमे रहनेवाले जीवके भी होता है।

७. प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव विकारीभावोको—अपूर्णदशाको आत्मा का स्वरूप नही मानते और इस सूत्रमे ऐसे भावोको आत्माका स्वतत्त्व कहा है इसका क्या कारण है ?

उत्तर–विकारीभाव और अपूर्ण अवस्था आत्माकी वर्तमान भूमिका मे आत्माके अपने दोषके कारण होती है, किसी जड़कर्म अथवा परद्रव्यके कारण नही, यह बतानेके लिये इस सूत्रमे उस भावको 'स्वतत्त्व' कहा है।

७. जीवका कर्तव्य

जीवको तत्त्वादिका निश्चय करनेका उद्यम करना चाहिए उससे औपशमिकादि सम्यक्त्व स्वय होता है। द्रव्यकर्मके उपशमादि पुद्गलकी शक्ति (पर्याय) है, जीव उसका कर्ता हर्ता नही है। पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करना जीवका काम है। जीवको स्वय तत्त्व निर्णय करनेमे उपयोग लगाना चाहिये। इस पुरुषार्थसे मोक्षके उपायकी सिद्धि अपने आप होती है। जब जीव पुरुषार्थके द्वारा तत्त्व निर्णय करनेमे उपयोग लगानेका अभ्यास करता है तब उसकी विशुद्धता बढती है, कर्मोका रस स्वय हीन होता है और कुछ समयमे जब अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रथम औपशमिकभावसे प्रतीति प्रगट करता है तब दर्शनमोहका स्वय उपशम हो जाता है। जीवका कर्तव्य तो तत्त्व निर्णयका अभ्यास है। जब जीव तत्त्वनिर्णयमे उपयोग लगाता है

तब दर्शनमोहका उपशम स्वयमेव हो जाता है, कर्मके उपशममे जीवका कोई भी कर्तव्य नही है।

८. पॉच भावोंके संबंधमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते है अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते है, 'वर्तमान अवस्थामे अशुद्धताके होने पर भी उसे स्वीकार नही करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनदमात्र मानते है, वर्तमान अवस्थामे दु:ख होने पर भी उसे स्वीकार नही करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी वे मान्यताएँ और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नही हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो ससार, बध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पाँच भाव बतलाते है। यदि इन पाँच भावोमे से एक भी भावका अस्तित्त्व स्वीकार न किया जाय तो आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नही होता, और उससे ज्ञानमे दोष आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्धतककी उसकी समस्त अवस्थाओको अत्यल्प शब्दोमे चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पांच भावोमे चौदह गुणस्थान तथा सिद्ध दशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमे अनादिकालसे चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नही लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है, यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमे स्वरूपको समझानेके लिये भेद बतलाये गये है तथापि भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक-भावोके आश्रयसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आने वाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोकी ओरका आश्रय छोडकर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमश शुद्धताके बढनेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

६. इस सूत्रमें नय-प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय[1] और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उस के गुणोंका सादृश्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना[2],—ऐसे २ पहलू प्रत्येक द्रव्यमे है, आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उसमे भी ऐसे दो पहलू हैं, उन मे से वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमे कथित पांच भावोमे से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप—वर्तमान अवस्थामात्रके लिये है इसलिये वे पर्यायार्थिकनयका विषय है, उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनंतगुणोका जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते है, उस भावको कारणपरमात्मा, कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है, वह त्रिकाल सादृश्यरूप होनेसे द्रव्यार्थिकनयका विषय है यह दोनो पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनो) एक होकर संपूर्ण जीव द्रव्य है, इसलिये वे दोनो पहलू प्रमाणके विषय है।

इन दोनो पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है, और वह क्रमशः स्वभावके अवलंबन से आगे बढ़कर मोक्षदशारूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थ—उपरोक्त पांच भाव [यथाक्रमम्] क्रमशः [द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः] दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदोका वर्णन आगेके सूत्रोके द्वारा करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ–[**सम्यक्त्व**] औपशमिक सम्यक्त्व और [**चारित्रे**] औपशमिक चारित्र–इसप्रकार औपशमिकभावके दो भेद है।

टीका

(१) **औपशमिकसम्यक्त्व**–जब जीवके अपने सत्यपुरुषार्थसे औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है तब जडकर्मोंके साथ निमित्त नैमित्तिक सबंध ऐसा है कि वे मिथ्यात्वकर्मका और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभका स्वयं उपशम हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवोंके तथा किसी सादिमिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वकी एक और अनंतानुबंधीकी चार–इसप्रकार कुल पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती है, और शेष सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति–यह तीन तथा अनंतानुबंधीकी चार, यो कुल सात प्रकृतियोका उपशम होता है। जीवके इस भावको औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है।

(२) **औपशमिक चारित्र**–जब जिस चारित्रभावसे उपशम श्रेणीके योग्यभाव प्रगट करता है उसे औपशमिक चारित्र कहते है। उस समय मोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियोका स्वयं उपशम हो जाता है।

प्रश्न—जडकर्म प्रकृतिका नाम 'सम्यक्त्व' क्यो है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनके साथ–सहचरित उदय होनेसे उपचारसे कर्मप्रकृतिको 'सम्यक्त्व' नाम दिया गया है ॥ ३ ॥

[श्री धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ३९]

क्षायिकभावके नव भेद

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

अर्थ—[**ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्याणि**] केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य, तथा [**च**] च कहने पर, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र–इसप्रकार क्षायिकभावके नव भेद है।

टीका

जीव जब ये केवलज्ञानादिभाव प्रगट करता है तब द्रव्यकर्म स्वयं आत्मप्रदेशोसे अत्यन्त वियोगरूप हो जाते है अर्थात् कर्म क्षयको प्राप्त होते है इसलिये इन भावोको 'क्षायिकभाव' कहा जाता है।

(१) **केवलज्ञान**—सपूर्ण ज्ञानका प्रगट होना केवलज्ञान है, तब ज्ञानावरणीय कर्मकी अवस्था क्षयरूप स्वयं होती है।

(२) **केवलदर्शन**—सपूर्ण दर्शनका प्रगट होना केवलदर्शन है, इस समय दर्शनावरणीय कर्मका स्वय क्षय होता है।

क्षायिक दानादि पाँच भाव—इसप्रकार अपने गुणकी निर्मल पर्याय अपने लिये दानादि पाँच भावरूपसे—सपूर्णतया प्रगटता होती है, उस समय दानातराय इत्यादि पाँच प्रकारके अतरायकर्मका स्वय क्षय होता है।

(३) **क्षायिकदान**—अपने शुद्ध स्वरूपका अपनेको दान देना सो उपादानरूप निश्चय क्षायिकदान है और अनत जीवोको शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति मे जो निमित्तपनाकी योग्यता सो व्यवहार क्षायिक अभयदान है।

(४) **क्षायिकलाभ**—अपने शुद्धस्वरूपका अपनेको लाभ होना सो निश्चय क्षायिक लाभ है उपादान है और निमित्तरूपसे शरीरके बलको स्थिर रखनेमे कारणरूप अन्य मनुष्यको न हो ऐसे अत्यन्त शुभ सूक्ष्म नोकर्मरूप परिणमित होनेवाले अनत पुद्गल परमाणुओका प्रतिसमय सबध होना क्षायिकलाभ है।

(५) **क्षायिक भोग**—अपने शुद्धस्वरूप का भोग क्षायिक भोग है और निमित्तारूपसे पुष्पवृष्टि आदिक विशेषोका प्रगट होना क्षायिक भोग है।

(६) **क्षायिक उपभोग**—अपने शुद्धस्वरूप का प्रतिसमय उपभोग होना सो क्षायिक उपभोग है, और निमित्तारूपसे छत्र, चमर, सिंहासनादि विभूतियो का होना क्षायिक उपभोग है।

(७) **क्षायिक वीर्य**—अपने शुद्धात्म स्वरूपमे उत्कृष्ट सामर्थ्यरूपसे प्रवृत्तिका होना सो क्षायिक वीर्य है।

(८) **क्षायिकसम्यक्त्व**—अपने मूलस्वरूप की दृढतम प्रतीतिरूप पर्याय क्षायिक सम्यक्त्व है, जब वह प्रगट होती है तब मिथ्यात्वकी तीन और अनतानुबधीकी चार, इसप्रकार कुल सात कर्म प्रकृतियोका स्वय क्षय होता है।

(९) **क्षायिकचारित्र**—अपने स्वरूपका पूर्ण चारित्र प्रगट होना सो क्षायिकचारित्र है। उस समय मोहनीय कर्मकी शेष २१ प्रकृतियो का क्षय होता है। इस प्रकार जब कर्मका स्वय क्षय होता है तब मात्र उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्मका क्षय किया है' परमार्थ से तो जीवने अपनी अवस्था मे पुरुषार्थ किया है, जड प्रकृति मे नही।

इन नव क्षायिकभावोको नव लब्धि भी कहते है ॥४॥

क्षायोपशमिकभावके १८ भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ—[**ज्ञान अज्ञान**] मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय यह चार ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान [**दर्शन**] चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन [**लब्धयः**] क्षायोपशमिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, ये पाँच लब्धियाँ [**चतुः त्रि त्रि भेदाः**] इसप्रकार ४ + ३ + ३ + ५ = (१५) भेद तथा [**सम्यक्त्व**] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व [**चारित्र**] क्षायिक चारित्र [**च**] और [**संयमासंयमाः**] सयमासयम इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके १८ भेद हैं।

टीका

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्वकी तथा अनतानुबधीकी कर्म प्रकृतियोके उदयाभावी क्षय तथा उपशमकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है और सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयकी अपेक्षासे उसीको वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षायोपशमिक चारित्र—सम्यग्दर्शन पूर्वक-चारित्रके समय जो राग है उसकी अपेक्षासे वह सराग चारित्र कहलाता है किन्तु उसमें जो राग है वह चारित्र नहीं है, जितना वीतरागभाव है उतना ही चारित्र है। इस चारित्रको क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

संयमासंयमः—इस भावको देशव्रत, अथवा विरताविरत चारित्र भी कहते हैं।

मतिज्ञान इत्यादिका स्वरूप पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है।

दान, लाभ इत्यादि लब्धिका स्वरूप ऊपरके सूत्रमें कहा गया है। वहाँ क्षायिकभावसे वह लब्धि थी और यहाँ वह लब्धि क्षायोपशमिकभावसे है ऐसा समझना चाहिए ॥ ५ ॥

औदयिकभावके २१ भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या-श्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ—[गति] तिर्यंच, नरक, मनुष्य और देव यह चार गतियाँ [कषाय] क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषायें [लिंग] स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, यह तीन लिंग [मिथ्यादर्शन] मिथ्यादर्शन [अज्ञान] अज्ञान [असंयत] असंयम [असिद्ध] असिद्धत्व तथा [लेश्या] कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल यह छह लेश्यायें इसप्रकार [चतुः चतु त्रि एक एक एक एक षड्भेदा] ४ + ४ + ३ + १ + १ + १ + १ + ६ (२१) इसप्रकार सब मिलाकर औदयिक-भावके २१ भेद हैं।

टीका

प्रश्न—गति अघातिकर्मके उदयसे होती है, जीवके अनुजीवीगुणके घातका वह निमित्त नहीं है तथापि उसे औदयिकभावमें क्यों गिना है?

उत्तर—जीवके जिस प्रकारकी गतिका संयोग होता है उसीमें वह

ममत्व करने लगता है, जैसे वह यह मानता है कि 'मै मनुष्य हूँ, मै पशु हूँ, मै देव हूँ, मै नारकी हूँ'। इसप्रकार जहाँ **मोहभाव होता** है वहाँ वर्तमान गतिमे जीव अपनेपनकी कल्पना करता है, इसलिये तथा चारित्र मोहकी अपेक्षासे गतिको औदयिक भावमे गिन लिया गया है। [सिर्फ गति को उदय भाव मे लिया जाय तो १४ गुणस्थान तक है]

लेश्या—कषायसे अनुरजित योग को लेश्या कहते हैं। लेश्याके दो प्रकार हैं–द्रव्यलेश्या तथा भावलेश्या। यहाँ भावलेश्याका विषय है। भाव-लेश्या छह प्रकारकी है। ऐसा नही समझना चाहिए कि लेश्याके समय आत्मामे उस उस प्रकारका रग होता है किंतु जीवके विकारी कार्य भावा-पेक्षासे ६ प्रकारके होते है, उस भावमे विकारका तारतम्य बतानेके लिये ६ प्रकार कहे है। लोकमे यदि कोई व्यक्ति खराब काम करता है तो कहा जाता है कि इसने काला काम किया है, वहाँ उसके कामका रग काला नही होता किंतु उस काममे उसका तीव्र बुरा भाव होनेसे उसे काला कहा जाता है, और इस भावापेक्षासे उसे कृष्णलेश्या कहते हैं। जैसे जैसे विकार की तीव्रता मे हलकापन होता है उसीप्रकार भावको 'नील लेश्या' इत्यादि नाम दिये जाते है। शुक्ललेश्या भी शुभ औदयिकभावमे होती है। शुक्ललेश्या कही धर्म नही है क्योकि वह मिथ्यादृष्टियोके भी होती है। पुण्यके तारतम्य मे जब उच्च पुण्यभाव होता है तब शुक्ललेश्या होती है। वह औदयिक-भाव है और इसलिये वह ससारका कारण है, धर्मका नही।

प्रश्न—भगवानको तेरहवे गुणस्थानमे कषाय नही होती फिर भी उनके शुक्ललेश्या क्यो कही है ?

उत्तर—भगवानके शुक्ललेश्या उपचारसे कही है। पहिले योगके साथ लेश्याका सहकारित्व था, वह योग तेरहवे गुणस्थानमे विद्यमान होनेसे वहाँ उपचारसे लेश्या भी कह दी गई है। लेश्याका कार्य कर्मबध है। भगवान के कषाय नही है फिर भी योगके होनेसे एक समयका वध है यह अपेक्षा लक्षमे रखकर उपचारसे शुक्ललेश्या कही गई है।

अज्ञान—ज्ञानका अभाव अज्ञान है, इस अर्थमे यहाँ अज्ञान लिया

गया है, कुज्ञानको यहाँ नही लिया है, कुज्ञानको क्षायोपशमिकभावमे लिया है ॥ ६ ॥

[औदयिकभाव की विशेष चर्चा देखो–पचाध्यायी भा० २ गा० ९७७ से १०५२–सि० शास्त्री प० फूलचन्द्रजी कृत टीका पृ० ३२०–२१, ३०७ से ३२१, तथा प देवकीनन्दनजी टीका गा ९८० मे १०५५, पत्र ४१५–४४४ ।]

पारिणामिकभावके तीन भेद

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ—[जीवभव्याभव्यत्वानि च] जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—इसप्रकार पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं ।

टीका

१ सूत्रके अतमे 'च' शब्दमे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणोका भी ग्रहण होता है ।

भव्यत्व–मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीवके 'भव्यत्व' होता है ।

अभव्यत्व–जो जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य नही होते उनके 'अभव्यत्व' होता है ।

भव्यत्व और अभव्यत्व गुण है, वे दोनो अनुजीवी गुण है, कर्मके सद्भाव या अभाव की अपेक्षासे वे नाम नही दिये गये है ।

जीवत्व–चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना सो जीवन है ।

पारिणामिक भावका अर्थ–कर्मोदयकी अपेक्षाके विना आत्मामे जो गुण मूलत स्वभावमात्र ही हो उन्हे 'पारिणामिक' कहते हैं । अथवा–

"द्रव्यात्म लाभमात्र हेतुक परिणाम"

अर्थ—जो वस्तुके निजस्वरूपकी प्राप्ति मात्रमे ही हेतु हो सो पारिणामिक है । (सर्वार्थसिद्धि टीका)

२. विशेष स्पष्टीकरण

(१) पाँचभावोमे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप (वर्तमानमे विद्यमान दशारूप) है और पाँचवाँ शुद्ध पारिणामिकभाव है वह त्रिकाल एकरूप ध्रुव है इसलिये वह द्रव्यरूप है। इसप्रकार आत्मपदार्थ द्रव्य और पर्याय सहित (जिस समय जो पर्याय हो उस सहित) है।

(२) जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—इन तीन पारिणामिक भावो मे जो शुद्ध जीवत्वभाव है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके आश्रित होनेसे नित्य निरावरण शुद्ध पारिणामिकभाव है और वह बध-मोक्ष पर्याय (-परिणति) से रहित है।

(३) जो दश प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व है उसे वर्तमानमे होनेवाले अवस्थाके आश्रित होनेसे (पर्यायार्थिक नयाश्रित होनेसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। जैसे सर्व ससारी जीव शुद्धनय से शुद्ध हैं उसीप्रकार यदि अवस्था दृष्टिसे भी शुद्ध है ऐसा माना जाय तो दश प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्वका अभाव ही हो जाय।

(४) भव्यत्व और अभव्यत्वमेसे भव्यत्वनामक अशुद्ध पारिणामिक भाव भव्यजीवोके होता है। यद्यपि वह भाव द्रव्यकर्मकी अपेक्षा नही रखता तथापि, जीवके सम्यक्त्वादि गुण जब मलिनतामे रुके होते है तब उसमे जड कर्म जो निमित्त है उसे भव्यत्वकी अशुद्धतामे उपचारसे निमित्त कहा जाता है। वह जीव जब अपनी पात्रताके द्वारा ज्ञानीकी देशनाको सुनकर सम्यक्-दर्शन प्रगट करता है और अपने चारित्रमे स्थिर होता है तब उसे भव्यत्व शक्ति प्रगट (व्यक्त) होती है। वह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव जिसका लक्षण है ऐसे अपने परमात्म द्रव्यमय सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और अनुचरणरूप अवस्था (पर्याय) को प्रगट करता हैं।

(देखो समयसार हिन्दी जयसेनाचार्यकृत सस्कृत टीका पृष्ठ ४२३)

(५) पर्यायार्थिक नयसे कहा जानेवाला लाभ—भव्यत्वभावका अभाव मोक्षदशामे होता है अर्थात् जीवमे जब सम्यग्दर्शनादि गुणकी पूर्णता

हो जाती है तब भव्यत्वका व्यवहार मिट जाता है।

(देखो अध्याय १० सूत्र ३)

३. अनादि अज्ञानी जीवके कौनसे भाव कभी नहीं हुए ?

(१) यह बात लक्षमे रखना चाहिए कि जीवके अनादिकालसे ज्ञान, दर्शन और वीर्य क्षायोपशमिकभावरूपमे हैं किंतु वे कही धर्मके कारण नही हैं।

(२) अपने स्वरूपकी असावधानी-जो मिथ्यादर्शनरूप मोह उसका अभावरूप औपशमिकभाव अनादि अज्ञानी जीवके कभी प्रगट नही हुआ। जब जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब दर्शनमोहका (मिथ्यात्वका) उपशम होता है। सम्यग्दर्शन अपूर्व है, क्योकि जीवके कभी भी पहले वह भाव नही हुआ था। इस औपशमिकभावके होनेके बाद मोहसे सम्बन्ध रखनेवाले क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव उस जीवके प्रगट हुये विना नही रहते, वह जीव अवश्य ही मोक्षावस्था को प्रगट करता है।

४. उपरोक्त औपशमिकादि तीन भाव किस विधिसे प्रगट होते हैं ?

(१) जब जीव अपने इन भावोका स्वरूप समझकर त्रिकाल ध्रुवरूप (सकलनिरावरण) अखंड-एक अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव की ओर अपना लक्ष स्थिर करता है तब उपरोक्त तीन भाव प्रगट होते है।

'मैं खंड-ज्ञानरूप हूँ' ऐसी भावनासे औपशमिकादिभाव प्रगट नही होते।

[श्री समयसार हिन्दी जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ ४८३]

(२) अपने अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभावकी ओरके झुकावको अध्यात्म भाषामें 'निश्चयनयका आश्रय' कहा जाता है। निश्चयनय के आश्रयसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। निश्चयका विषय अखंड अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकभाव है। व्यवहारनयके आश्रयसे शुद्धता प्रगट नही होती किन्तु अशुद्धता प्रगट होती है (श्री समयसार गाथा ११)

५. पाँच भावोंमेंसे कौनसे भाव बंधरूप हैं और कौनसे नहीं?

१ इन पाँच भावोमेसे एक औदयिकभाव (मोहके साथका सयुक्त-भाव) बधरूप है। जब जीव मोहभाव करता है तब कर्मका उदय उपचार से बधका कारण कहलाता है। द्रव्य मोहका उदय होने पर भी यदि जीव मोहभावरूपसे परिणमित न हो तो बध न हो और तब वही जडकर्मकी निर्जरा कहलाये।

(२) जिसमे पुण्य-पाप, दान, पूजा, व्रतादि भावोका समावेश होता है ऐसे आश्रव और बन्ध दो औदयिकभाव है, सवर और निर्जरा मोह के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं, वे शुद्धताके अश होने से बन्धरूप नही हैं, और मोक्ष क्षायिकभाव है, वह सर्वथा पूर्ण पवित्र पर्याय है इसलिये वह भी बन्धरूप नही है।

(३) शुद्ध त्रैकालिक पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष से निर्पेक्ष है ॥७॥

जीवका लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—[**लक्षणम्**] जीवका लक्षण [**उपयोगः**] उपयोग है।

टीका

लक्षण—बहुतसे मिले हुये पदार्थोमे से किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतु (साधन) को लक्षण कहते है।

उपयोग—चैतन्यगुण के साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीवके परिणाम को उपयोग कहते है।

उपयोगको 'ज्ञान-दर्शन' भी कहते है वह सभी जीवोमे होता है और जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमे नही होता, इसलिये उसे जीव का असाधारण गुण अथवा लक्षण कहते है। और वह सद्भूत (आत्मभूत) लक्षण है इसलिये सब जीवो मे सदा होता है। इस सूत्र मे ऐसा सामान्य

लक्षण दिया है जो सब जीवो पर लागू होता है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

जैसे सोने चाँदीका एक पिंड होने पर भी उसमे सोना अपने पीले पन आदि लक्षणसे और चादी अपने शुक्लादि लक्षणसे दोनो अलग २ हैं, ऐसा उनका भेद जाना जा सकता है, इसीप्रकार जीव और कर्म–नोकर्म (शरीर) एक क्षेत्र मे होने पर भी जीव अपने उपयोग लक्षणके द्वारा कर्म–नोकर्म से अलग है और द्रव्यकर्म–नोकर्म अपने स्पर्शादि लक्षणके द्वारा जीव से अलग है, इसप्रकार उनका भेद प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, इसलिये अज्ञानदशामे वे दोनो एकरूप भासित होते हैं। जीव और पुद्गल एक आकाश क्षेत्रमे होने पर भी यदि उनके यथार्थ लक्षणोसे निर्णय किये जांय तो वे दोनो भिन्न है ऐसा ज्ञान होता है। **बहुतसे मिले हुए पदार्थों में से किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं।** अनत परमाणुओसे बना हुआ शरीर और जीव इसप्रकार बहुतसे मिले हुए पदार्थ है उनमे अनत पुद्गल हैं और एक जीव है। उसे ज्ञानमे अलग करनेके लिये यहाँ जीवका लक्षण बताया गया है। 'जीवका लक्षण उपयोग है' इसप्रकारयहाँ कहा है।

प्रश्न—– उपयोगका अर्थ क्या है ?

उत्तर——चैतन्य आत्माका स्वभाव है, उस चैतन्य स्वभावको अनुसरण करनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। उपयोग जीवका अबाधित लक्षण है।

आठवें सूत्रका सिद्धान्त

मैं शरीरादिके कार्य कर सकता हूँ, और मैं उन्हे हिला-डुला सकता हूँ, ऐसा जो जीव मानते हैं वे चेतन और जड द्रव्यको एकरूप मानते हैं। उनकी इस मिथ्या मान्यता को छुडानेके लिये और जीवद्रव्य जडसे सर्वथा भिन्न है यह बतानेके लिये इस सूत्रमे जीवका असाधारण लक्षण उपयोग है–ऐसा बताया गया है।

नित्य उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य कभी पुद्गल द्रव्यरूप (शरीरा-

दिरूप) होता हुआ देखनेमे नही आता और नित्य जड लक्षणवाला शरीरादि पुद्‌गलद्रव्य कभी जीवद्रव्यरूप होता हुआ देखनेमे नही आता, क्योकि उपयोग और जडत्वके एकरूप होनेमे प्रकाश और अधकारकी भाँति विरोध है। जड और चैतन्य कभी भी एक नही हो सकते। वे दोनो सर्वथा भिन्न २ है, कभी भी, किसी भी प्रकारसे एकरूप नही होते, इसलिये हे जीव तू सब प्रकारसे प्रसन्न हो! अपना चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' ऐसा अनुभव कर। ऐसा श्री गुरु का उपदेश है।

जीव शरीर और द्रव्यकर्म एक आकाश प्रदेशमे बधरूप रहते है इसलिये वे वहुतसे मिले हुये पदार्थोमे से एक जीव पदार्थको अलग जाननेके लिये इस सूत्रमे जीवका लक्षण कहा गया है ॥ ८ ॥

(सर्वार्थसिद्धि भाग २ पृष्ठ २७-२८)

उपयोगके भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ६ ॥

अर्थ—[**सः**] वह उपयोग [**द्विविधः**] ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है, और वे क्रमश [**अष्ट चतुः भेदः**] आठ और चार भेद सहित है अर्थात् ज्ञानोपयोगके मति, श्रुत, अवधि, मन-पर्यय, केवल (यह पाँच सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (यह तीन मिथ्याज्ञान) इसप्रकार आठ भेद हैं। तथा दर्शनोपयोगके चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इसप्रकार चार भेद है। इसप्रकार ज्ञानके आठ और दर्शनके चार भेद मिलकर उपयोगके कुल बारह भेद है।

टीका

१ इस सूत्रमे उपयोगके भेद बताये है, क्योकि यदि भेद बताये हो तो जिज्ञासु जल्दी समझ लेता है, इसलिये कहा है कि—"सामान्य शास्त्रतोनून, विशेपो बलवान् भवेत्" अर्थात् सामान्यशास्त्रसे विशेष बलवान् है। यहाँ सामान्यका अर्थ है सक्षेपमे कहनेवाला और विशेषका अर्थ है भेद—

विस्तार करके वतानेवाला। साधारण मनुष्य विशेपसे भलीभाँति निर्णय कर सकते हैं।

(२) दर्शन शब्दके यहाँ लागू होनेवाला अर्थ—

शास्त्रोमे एक ही शब्दका कही कोई अर्थ होता है और कही कोई। 'दर्शन' शब्दके भी अनेक अर्थ हैं।

(१) अध्याय १ सूत्र १–२ मे मोक्षमार्ग सम्वन्धी कथन करते हुये 'सम्यग्दर्शन' शब्द कहा है, वहाँ दर्शन शब्दका अर्थ श्रद्धा है। (२) उपयोग के वर्णनमें 'दर्शन' शब्दका अर्थ वस्तुका सामान्य ग्रहणमात्र है। और (३) इन्द्रियके वर्णनमे 'दर्शन' शब्दका अर्थ नेत्रोंके द्वारा देखना मात्र है। इन तीन अर्थोंमे से यहा प्रस्तुत सूत्रमे दूसरा अर्थ लागू होता है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

दर्शनोपयोग—किसी भी पदार्थको जाननेकी योग्यता (लब्धि) होने पर उस पदार्थकी ओर सन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा दूसरे पदार्थोंकी ओर से हटकर विवक्षित पदार्थकी ओर उत्सुकता प्रगट होती है सो दर्शन है। वह उत्सुकता चेतना मे ही होती है। जवतक विवक्षित पदार्थको थोडा भी नही जाना जाता तवतकके चेतनाके व्यापारको 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है। जैसे एक मनुष्य का उपयोग भोजन करनेमे लगा हुआ है और उसे एकदम इच्छा हुई कि वाहर मुझे कोई बुलाता तो नही है ? मैं यह जान लूँ। अथवा किसीकी आवाज कानमे आने पर उसका उपयोग भोजनमे हट कर शब्दकी ओर लग जाता है। इसमे चेतनाके उपयोगका भोजनसे हटना और शब्दकी ओर लगना किन्तु जवतक शब्दकी ओरका कोई भी ज्ञान नही होता तवतकका व्यापार 'दर्शनोपयोग' है।

पूर्व विपय से हटना और वाद के विपय की ओर उत्सुक होना ज्ञान की पर्याय नही है इसलिये उस चेतना पर्याय को 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है।

आत्माके उपयोग का पदार्थोन्मुख होना दर्शन है।

द्रव्यसंग्रहकी ४३ वी गाथा की टीकामें 'सामान्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ 'आत्मा' है सामान्य ग्रहणका मतलब है आत्मग्रहण; और आत्मग्रहण दर्शन है।

३. साकार और निराकार

ज्ञानको साकार और दर्शनको निराकार कहा जाता है। उसमे से 'आकार' का अर्थ लम्बाई चौडाई और 'मोटाई' नही है, किन्तु जिसप्रकार का पदार्थ होता है उसी प्रकार ज्ञानमे ज्ञात हो उसे आकार कहते है। अमूर्तित्व आत्माका गुण होनेसे ज्ञान स्वय वास्तवमे अमूर्त है। जो स्वय अमूर्त हो और फिर द्रव्य न हो, मात्र गुण हो उसका अपना पृथक् आकार नही हो सकता। अपने अपने आश्रयभूत द्रव्यका जो आकार होता है वही आकार गुणोका होता है। ज्ञान गुणका आधार आत्मद्रव्य है इसलिये आत्माका आकार ही ज्ञानका आकार है। आत्मा चाहे जिस आकार के पदार्थको जाने तथापि आत्माका आकार तो (समुद्घातको छोडकर) शरीराकार रहता है, इसलिये वास्तविकतया ज्ञान ज्ञेयपदार्थके आकाररूप नही होता किन्तु आत्माके आकाररूप होता है, जैसा ज्ञेय पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञानका आकार कहा जाता है (तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३०८-३०६) दर्शन एक पदार्थ से दूसरे पदार्थको पृथक् नही करता, इसलिये उसे **निराकार** कहा जाता है।

पचाध्यायी भाग २ के श्लोक ३६१ मे आकारका अर्थ निम्नप्रकार कहा गया है —

आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥

अर्थ—अर्थ, विकल्पको आकार कहते है, स्व-पर पदार्थ को अर्थ कहा जाता है, उपयोगावस्था को विकल्प कहते है, और यही ज्ञान का लक्षण है।

भावार्थ—आत्मा अथवा अन्य पदार्थका उपयोगात्मक भेदविज्ञान

होना ही आकार है, पदार्थो के भेदाभेदके लिये होनेवाले निश्चयात्मक बोध को ही आकार कहते है अर्थात् पदार्थोका जानना ही आकार है, और वह ज्ञानका स्वरूप है ।

अर्थ=स्व और पर विषय, विकल्प=व्यवसाय, अर्थविकल्प= स्व-पर व्यवसायात्मकज्ञान । इस ज्ञानको प्रमाण कहते है। (प् देवकीनदन कृत पचाध्यायी टीका भाग १ श्लोक ६६६ का फुटनोट)

आकार सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञान अमूर्तिक आत्माका गुण है, उसमे ज्ञेय पदार्थका आकार नही उतरता । मात्र विशेष पदार्थ उसमे भासने लगते हैं—यही उसकी आकृति माननेका मतलब है । साराश–ज्ञानमे पर पदार्थकी आकृति वास्तव मे नही मानी जा सकती, किन्तु ज्ञान–ज्ञेय सम्बन्ध के कारण ज्ञेयका आकृति धर्म उपचार नयसे ज्ञानमे कल्पित किया जाता है, इस उपचारका फलितार्थ इतना ही समझना चाहिए कि पदार्थोका विशेष आकार (–स्वरूप) निश्चय करानेवाले जो चैतन्य परिणाम हैं वे ज्ञान कहलाते है, किन्तु साकार का यह अर्थ नही है कि उस पदार्थ के विशेष आकार तुल्य ज्ञान स्वय हो जाता है ।

(तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

४. दर्शन और ज्ञानके बीच का भेद

अतर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहा जाता है । सामान्य–विशेपात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करनेवाला दर्शन है ।

शंका—इसप्रकार दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मानने से शास्त्र के इस वचनके साथ विरोध आता है कि–'वस्तु के सामान्य ग्रहण को दर्शन कहते हैं' ।

समाधान—समस्त बाह्य पदार्थों के साथ साधारणता होनेसे उस

वचनमे जहाँ 'सामान्य' सज्ञा दी गई है वहाँ सामान्यपद मे आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए ।

शंका—यह किस पर से जाना जाय कि सामान्य पदसे आत्मा ही समझना चाहिए ?

समाधान—यह शका ठीक नही है, क्योकि "पदार्थ के आकार अर्थात् भेद किये विना" इस शास्त्र वचनसे उसकी पुष्टि हो जाती है । इसी को स्पष्ट कहते है—बाह्य पदार्थोका आकाररूप प्रतिकर्म व्यवस्थाको न करने पर (अर्थात् भेदरूप से प्रत्येक पदार्थको ग्रहण किये बिना) जो सामान्य ग्रहण होता है उसे 'दर्शन' कहते हैं । और इस अर्थको दृढ करने के लिये कहते है कि "यह अमुक पदार्थ है" यह कुछ है इत्यादिरूपसे पदार्थो की विशेषता किये बिना जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते है ।

शंका—यदि दर्शन का लक्षण ऊपर कहे अनुसार मानोगे तो 'अनध्यवसाय' को दर्शन मानना पडेगा ।

समाधान—नही, ऐसा नही हो सकता, क्योकि दर्शन बाह्य पदार्थो का निश्चय न करके भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला है, इसलिये अनध्यवसायरूप नही है । विषय और विषयिके योग्यदेशमे होनेसे पूर्वकी अवस्थाको दर्शन कहते है ।

[श्री धवला भाग १ पृष्ठ १४५ से १४८, ३८० से ३८३ तथा वृहत्द्रव्यसग्रह हिन्दी टीका पृष्ठ १७० से १७५ गाथा ४४ की टीका]

ऊपर जो दर्शन और ज्ञानके बीच भेद बताया गया है वह किस अपेक्षा से है ?

आत्माके ज्ञान और दर्शन दो भिन्न गुण बताकर उस ज्ञान और दर्शन का भिन्न भिन्न कार्य क्या है यह ऊपर बताया है, इसलिये एक गुण से दूसरे गुणके लक्षण भेदकी अपेक्षा से (भेद नयसे) वह कथन है ऐसा समझना चाहिए ।

५. अभेदापेक्षासे दर्शन और ज्ञानका अर्थ

दर्शन और ज्ञान दोनो आत्माके गुण हैं और वे आत्मासे अभिन्न

हैं इसलिये अभेदापेक्षासे आत्मा दर्शनज्ञानस्वरूप है अर्थात् दर्शन आत्मा है और ज्ञान आत्मा है ऐसा समझना चाहिए। द्रव्य और गुण एक दूसरे से अलग नही हो सकते और द्रव्य का एक गुण उसके दूसरे गुणसे अलग नहीं हो सकता। यह अपेक्षा लक्षमे रखकर दर्शन स्व–पर दर्शक है और ज्ञान स्व–पर ज्ञायक है। अभेददृष्टिकी अपेक्षासे इसप्रकार अर्थ होता है।

[देखो श्री नियमसार गाथा १७१ तथा श्री समयसारमे दर्शन तथा ज्ञान का निश्चयनयसे अर्थ पृष्ठ ४२० से ४२७]

९. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग केवली भगवान् को युगपत होता है

केवली भगवान् को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है और छद्मस्थको क्रमश होता है। केवली भगवान्को उपचार से उपयोग कहा जाता है ॥९॥

जीवके भेद

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—जीव [संसारिणः] ससारी [च] और [मुक्ता] मुक्त ऐसे दो प्रकारके हैं। कर्म सहित जीवोको ससारी और कर्म रहित जीवोको मुक्त कहते है।

टीका

१ जीवोकी वर्तमान दशाके ये भेद है, वे भेद पर्यायदृष्टिसे है। द्रव्यदृष्टि से सव जीव एक समान है। पर्यायोके भेद दिखानेवाला व्यवहार, परमार्थको समझानेके लिये कहा जाता है उसे पकड रखनेके लिये नही। इससे यह समझना चाहिए कि पर्यायमे चाहे जैसे भेद हो तथापि त्रैकालिक ध्रुवस्वरूपमे कभी भेद नही होता। "**सर्व जीव हैं सिद्ध सम,** जो समझे सो होय।" [आत्मसिद्धि शास्त्र गाथा १३५]

२ ससारी जीव अनतानत है। 'मुक्ता' शव्द वहुवचनसूचक है इससे यह समझना चाहिये कि मुक्त जीव अनन्त हैं। 'मुक्ता' शव्द यह भी

सूचित करता है कि पहिले उन जीवोको ससारी अवस्था थी और फिर उन्होने यथार्थ समझ करके उस अशुद्ध अवस्थाका व्यय करके मुक्तावस्था प्रगट की है।

३. **संसारका अर्थ**—'स'= भलीभाति, 'सृ+ घञ्= खिसक जाना। अपने शुद्ध स्वरूपसे भलीभाति खिसक जाना (हटजाना) सो ससार है। जीवका ससार स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, मकान इत्यादि नही है वे तो जगत् के स्वतन्त्र पदार्थ है। जीव उन पदार्थोमे अपनेपनकी कल्पना करके उन्हे इष्ट अनिष्ट मानता है इत्यादि अशुद्धभावको समार कहते है।

४ सूत्रमे 'च' शब्द है, च शब्दके समुच्चय और अन्त्राचय ऐसे दो अर्थ है, उनमेसे यहाँ अन्वाचयका अर्थ बतानेके लिये च शब्द का प्रयोग किया है। (एक को प्रधानरूपसे और दूसरेको गौणरूपसे बताना 'अन्वा-चय' शब्दका अर्थ है) ससारी और मुक्त जीवोमेसे ससारी जीव प्रधानता से उपयोगवान् है और मुक्त जीव गौणरूपसे उपयोगवान् है,—यह बतानेके लिये इस सूत्रमे 'च' शब्दका प्रयोग किया है।

(उपयोग का अनुसधान सू० ८-९ से चला आता है।

५ जीवकी ससारी दशा होनेका कारण आत्मस्वरूप सबधी भ्रम है, उस भ्रमको मिथ्यादर्शन कहते है। उस भूलरूप मिथ्यादर्शनके कारणसे जीव पाँच प्रकारके परिवर्तन किया करते है–ससार चक्र चलता रहता है।

६ जीव अपनी भूलसे अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है, वह स्वत अपनी पात्रताका विकास करके सत्समागमसे सम्यग्दृष्टि होता है। मिथ्या-दृष्टिरूप अवस्थाके कारण परिभ्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है, उस परि-भ्रमणको ससार् कहते है, जीवको परके प्रति एकत्वबुद्धि होनेसे मिथ्यादृष्टित्व है। जब तक जीवका लक्ष पर पदार्थ पर है अर्थात् वह यह मानता है कि परसे मुझे हानि–लाभ होता है, राग करने लायक है तबतक उसे परवस्तु-रूप द्रव्यकर्म और नोकर्मके साथ निमित्त नैमित्तिक सबध होता है। उस परिवर्तनके पाँच भेद होते हैं–(१) द्रव्यपरिवर्तन, (२) क्षेत्रपरिवर्तन, (३) कालपरिवर्तन, (४) भवपरिवर्तन, और(५) भावपरिवर्तन। परिवर्तनको ससरण अथवा परिवर्तन भी कहते है।

७. द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

यहाँ द्रव्यका अर्थ पुद्गलद्रव्य है। जीवका विकारी अवस्थामें पुद्गलोंके साथ जो संबंध होता है उसे द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। उसके दो भेद हैं–(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और (२) कर्मद्रव्यपरिवर्तन।

(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप—औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलस्कंध एक समय मे एक जीवने ग्रहण किये वह जीव पुन उसीप्रकारके स्निग्ध–रूक्ष स्पर्श, वर्ण रस, गंध आदिसे तथा तीव्र, मंद या मध्यमभाववाले स्कंधोंको ग्रहण करता है तब एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमे जो अन्य नोकर्मका ग्रहण किया जाता है उन्हे गणनामे नही लिया जाता।) उसमे पुद्गलोकी संख्या और जाति (Quality) बराबर उसीप्रकारके नोकर्मों की होनी चाहिये।

२. कर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक समयमे आठप्रकारके कर्मस्वभाववाले जो पुद्गल ग्रहण किये थे वैसे ही कर्मस्वभाववाले पुद्गलोको पुन ग्रहण करे तब एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमे उन भावोमे किंचित् मात्र अन्य प्रकारके दूसरे जो जो रजकण ग्रहण किये जाते हैं उन्हे गणनामे नही लिया जाता) उन आठ प्रकारके कर्म पुद्गलोकी संख्या और जाति बराबर उसीप्रकारके कर्मपुद्गलोकी होनी चाहिए।

स्पष्टीकरण—आज एक समयमे शरीर धारण करते हुए नोकर्म और द्रव्यकर्मके पुद्गलोका संबंध एक अज्ञानी जीवको हुआ, तत्पश्चात् नोकर्म और द्रव्यकर्मोंका संबंध उस जीवके बदलता रहता है। इसप्रकार परिवर्तन होनेपर वह जीव जब पुन वैसे ही शरीर धारण करके वैसे ही नोकर्म और द्रव्यकर्मोंको प्राप्त करता है तब एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा किया कहलाता है। (नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल एकसा ही होता है)।

८. क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप

जीवकी विकारी अवस्थामे आकाशके क्षेत्रके साथ होनेवाले सबध को क्षेत्रपरिवर्तन कहते है। लोकके आठ मध्य प्रदेशोको अपने शरीरके आठ मध्यप्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्मनिगोदमे अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीर वाला हुआ और क्षुद्रभव (श्वासके अठारहवे भागकी स्थिति) को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् उपरोक्त आठ प्रदेशोसे लगे हुए एक एक अधिक प्रदेशको स्पर्श करके समस्त लोकको जब अपने जन्मक्षेत्रके रूपमे प्राप्त करता है तब एक क्षेत्र परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। (बीचमे क्षेत्रका क्रम छोडकर अन्यत्र जहाँ २ जन्म लिया उन क्षेत्रोको गणनामे नही लिया जाता।)

स्पष्टीकरण—मेरुपर्वतके नीचेसे प्रारभ करके क्रमश एक २ प्रदेश आगे बढते हुये सपूर्ण लोकमे जन्म धारण करनेमे एक जीवको जितना समय लगे उतने समयमे एक क्षेत्रपरिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है।

९. कालपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक अवसर्पिणीके पहिले समयमे जन्म लिया, तत्पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके दूसरे समयमे जन्म लिया, पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके तीसरे समयमे जन्म लिया, इसप्रकार एक २ समय आगे बढते हुए नई अवसर्पिणीके अतिम समयमे जन्म लिया, तथा उसीप्रकार उत्सर्पिणी कालमे उसी भाँति जन्म लिया, और तत्पश्चात् ऊपरकी भाँति ही अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके प्रत्येक समयमे क्रमश मरण किया। इसप्रकार भ्रमण करते हुए जो काल लगता है उसे कालपरिवर्तन कहते है। (इस कालक्रमसे रहित बीचमे जिन २ समयोमे जन्म-मरण किया जाता है वे समय गणनामे नही आते।) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका स्वरूप अध्याय ३ सूत्र २७ मे कहा है।

१०. भवपरिवर्तनका स्वरूप

नरकमे सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्षकी है। उतनी आयुवाला एक जीव पहिले नरकके पहिले पटलमे जन्मा, पश्चात् किसी अन्य समय मे उतनी ही आयु प्राप्त करके उसी पटलमे जन्मा, (बीचमे अन्यगतियोमे

भ्रमण किया सो वे भव गणनामें नहीं लिये जाते) इसप्रकार दश हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार वह जीव उतनी (दश हजार वर्षकी) ही आयु सहित वहीं जन्मा (बीचमें अन्य स्थानोंमें जो जन्म लिया सो गणना में नहीं आता,) तत्पश्चात् दश हजार वर्ष और एक समयकी आयुसहित जन्मा, उसके बाद दश हजार वर्ष और दो समय,—यों क्रमशः एक एक समयकी आयु बढते २ अंतमें तेतीस सागरकी आयु सहित नरकमें जन्मा (और मरा), (इस क्रमसे रहित जो जन्म होते हैं वे गणनामें नहीं आते,) नरककी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी है उतनी आयु सहित जन्म ग्रहण करे—इसप्रकार गिनने पर जो काल होता है उतने कालमें एक नारकभवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

और फिर वहाँसे निकलकर तिर्यंचगतिमें अंतर्मुहूर्तकी आयुसहित उत्पन्न होता है अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्तकी आयु प्राप्त करके उसे पूर्ण करके उस अंतर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनी बार जघन्य आयु धारण करे, फिर क्रमशः एक एक समय अधिक आयु प्राप्त करके तीन पल्यतक सभी स्थितियों (आयु) में जन्म धारण करके उसे पूर्ण करे तब एक तिर्यंचगतिभवपरिवर्तन पूर्ण होता है। (इस क्रमसे रहित जो जन्म होता है वह गणनामें नहीं लिया जाता) तिर्यंचगतिमें जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी होती है।

मनुष्यगति भव परिवर्तनके सम्बन्धमें भी तिर्यंचगति की भाँति ही समझना चाहिये।

देवगतिमें नरकगतिकी भाँति है किन्तु उसमें इतना अन्तर है कि—देवगतिमें उपरोक्त क्रमानुसार ३१ सागर तक आयु धारण करके उसे पूर्ण करता है। इस प्रकार जब चारों गतियोंमें परिवर्तन पूर्ण करता है तब एक भवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

नोट—३१ सागरसे अधिक आयुके धारक नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर ऐसे १४ विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं।

भवभ्रमणका कारण मिथ्यादृष्टित्व है

इस सम्बन्ध मे कहा है कि—

णिरयादि जहण्णादिसु जावदु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्त संसिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व के संसर्ग सहित नरकादि की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट ग्रैवेयक (नवमे ग्रैवेयक) तकके भवोकी स्थिति (आयु) को यह जीव अनेक बार प्राप्त कर चुका है ।

११. भावपरिवर्तनका स्वरूप

(१) असख्यात योगस्थान एक अनुभागबन्ध (अध्यवसाय) स्थान को करता है । [कषायके जिसप्रकार (Degree) से कर्मोंके बन्धमे फलदानशक्तिकी तीव्रता आती है उसे अनुभागबन्धस्थान कहा जाता है ।]

(२) असख्यात × असख्यात अनुभागबन्ध अध्यवसायस्थान एक कषायभाव (अध्यवसाय) स्थानको करते है । [कषायका एक प्रकार (Degree) जो कर्मोंकी स्थितिको निश्चित करता है उसे कषायअध्यवसाय स्थान कहते है ।]

(३) असख्यात × असख्यात कषायअध्यवसायस्थान ❀ पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके कर्मोंकी जघन्यस्थितिबन्ध करते है, यह स्थिति–अत कोडाकोडीसागरकी होती है, अर्थात् कोडाकोडीसागर से नीचे और कोडीसे ऊपर उसकी स्थिति होती है ।

(४) एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये यह आवश्यक है कि–जीव असख्यात योगस्थानोमे से (एक २ योगस्थानमे से) एक अनुभागबन्धस्थान

❀ जघन्यस्थितिबन्धके कारण जो कषायभावस्थान है उनकी सख्या असख्यात लोकके प्रदेशोके बराबर है, एक २ स्थानमे अनतानत अविभाग प्रतिच्छेद हैं, जो अनतभाग हानि, असख्यातभाग हानि, सख्यातभाग हानि, सख्यातगुण हानि, असख्यातगुण हानि, अनतगुण हानि तथा अनतभाग वृद्धि, असख्यातभाग वृद्धि, सख्यातभाग वृद्धि, सख्यातगुण वृद्धि, असख्यातगुण वृद्धि और अनतगुण वृद्धि इसप्रकार छह स्थान वाली हानि वृद्धि सहित होता है ।

होनेके लिये पार हो, और तत्पश्चात् एक २ अनुभागबन्धस्थानमे मे एक कपायस्थान होनेके लिये पार होना चाहिये, और एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये एक २ कपायस्थानमे से पार होना चाहिये।

(५) तत्पश्चात् उस जघन्यस्थितिबन्ध मे एक एक समय अधिक करके (छोटेसे छोटे जघन्यबन्धसे आगे प्रत्येक अशसे) बढते जाना चाहिये। इसप्रकार आठो कर्म और (मिथ्यादृष्टिके योग्य) सभी उत्तर कर्मप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति पूरी हो तब एक भावपरिवर्तन पूर्ण होता है।

(६) उपरोक्त पैरा ३ मे कथित जघन्यस्थितिबंधको तथा पैरा २ मे कथित सर्वजघन्य कपायभावस्थानको और पैरा १ में कथित अनुभागबध-स्थानको प्राप्त होनेवाला उसके योग्य सर्वजघन्य योगस्थान होता है। अनुभाग A, कपाय B, और स्थिति C, इन तीनोका तो जघन्य ही बध होता है किंतु योगस्थान बदलकर जघन्य योगस्थानके बाद तीसरा योगस्थान होता है और अनुभागस्थान A, कपायस्थान B, तथा स्थितिस्थान C, जघन्य ही बधते है, पश्चात् चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ, आठवाँ, इत्यादि योग-स्थान होते २ क्रमश असख्यात प्रमाणतक बदले फिर भी उन्हे इसी गणना में नही लेना चाहिये, अथवा किसी दो जघन्ययोग स्थानके बीचमे अन्य कपायस्थान A- अन्य अनुभागस्थान B- या अन्य योगस्थान C आ जाय तो उसे भी गणनामे नही लेना चाहिये।❀

भाव परिवर्तनका कारण मिथ्यात्व है

इस सबंधमे कहा है कि—

> सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेस बंधठाणादि।
> मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भाव संसारे॥ १॥

अर्थ—समस्त प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभागबध, और प्रदेशबधके स्थानरूप मिथ्यात्वके संसर्गसे जीव निश्चयसे (वास्तवमे) भावसंसारमे भ्रमण करता है।

१२–संसारके भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान अर्थात् निश्चय ससार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव परिभ्रमण निमित्तमात्र है अर्थात् व्यवहार ससार है क्योकि वह परवस्तु है, निश्चयका अर्थ है वास्तविक और व्यवहारका अर्थ है कथनरूप निमित्तमात्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान–चारित्रके प्रगट होने पर भाव ससार दूर हो जाता है और तत्पश्चात् अन्य चार अघाति कर्मरूप निमित्तोका स्वय अभाव हो जाता है।

१३–मोक्षका उपदेश ससारीके लिये होता है। यदि ससार न हो तो मोक्ष, मोक्षमार्ग, या उसका उपदेश ही नही होता, इसलिये इस सूत्रमे पहिले ससारी जीव और फिर मुक्त जीवका क्रम लिया गया है।

१४–असख्यात और अनतसख्याको समझनेके लिये गणित शास्त्र उपयोगी है। उसमे १०/३ अर्थात् दशमे तीनका भाग देने पर = ३ ३ ३ ३ इसप्रकार तीनके अक चलते ही है किंतु उसका अन्त नही आता। यह 'अनन्त' का दृष्टात है। और असख्यातकी सख्या समझनेके लिये एक गोलाकारकी परिधि और व्यासका प्रमाण २२/७ होता है [व्यास करनेपर परिधि २२/७ गुणी होती है] उसका हिसाब शताश (Decimal) मे करने पर जो सख्या आती है वह असख्यात है। गणित शास्त्रमे इस सख्याको 'Irrational' कहते है।

१५ व्यवहारराशिके जीवोको यह पाँच परिवर्तन लागू होते है। प्रत्येक जीवने ऐसे अनत परिवर्तन किये हैं। और जो जीव मिथ्यादृष्टित्व बनाये रखेंगे उनके अभी भी वे परिवर्तन चलते रहेगे। नित्य-निगोदके जीव अनादि निगोदमेसे निकले ही नही हैं, उनमे इन पाँच परिवर्तनोकी शक्ति विद्यमान है इसलिए उनके भी उपचारसे यह पाँच परिवर्तन लागू होते है। व्यवहार राशिके जो जीव अभीतक सभी गतियोमे नही गये, उन्हे भी उप-

---

(२४८ वे पेज की टिप्पणी)

* योगस्थानोमें भी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं, उनमें असख्यातभाग वृद्धि, सख्यातभाग वृद्धि, सख्यातगुण वृद्धि और असख्यातगुण वृद्धि इसप्रकार चार स्थानरूप ही होते हैं।

रोक्त प्रकार से उपचारसे यह परिवर्तन लागू होते हैं। नित्यनिगोदको अव्यवहार राशिके (निश्चय राशिके) जीव भी कहते हैं।

१६. मनुष्यभव सफल करनेके लिये विशेष लक्ष्में लेने योग्य विषय:—

१ अनादिकालसे लेकर पहिले तो इस जीवको नित्य-निगोदरूप शरीरका सबंध होता था, उस शरीरकी आयु पूर्ण होने पर जीव मरकर पुन पुन नित्यनिगोद शरीरको ही धारण करता है। इसप्रकार अनतानत जीवराशि अनादिकालसे निगोदमे ही जन्म मरण करती है।

२ निगोदमेसे ६ महिना और आठ समयमे ६०८ जीव निकलते है। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायोमें अथवा दो से चार इन्द्रियरूप शरीरोमे या चार गतिरूप पचेन्द्रिय शरीरोमे भ्रमण करते हैं और फिर पुन निगोद शरीरको प्राप्त करते है, (यह इतर निगोद है)

३. जीवको त्रसमें एक ही साथ रहनेका उत्कृष्ट काल मात्र दो हजार सागर है। जीवको अधिकांश एकेन्द्रिय पर्याय और उसमें भी अधिक समय निगोदमें ही रहना होता है वहाँसे निकलकर त्रसशरीरको प्राप्त करना 'काकतालीयन्यायवत्' होता है। त्रसमें भी मनुष्यभव पाना तो क्वचित् ही होता है।

४ इसप्रकार जीवकी मुख्य दो स्थितियाँ हैं—निगोद और सिद्ध। बीचका त्रस पर्यायका काल तो बहुत ही थोडा और उसमे भी मनुष्यत्वका काल तो अत्यन्त स्वल्पातिस्वल्प है।

५ (अ) ससारमे जीवको मनुष्यभव मे रहनेका काल सबसे थोडा है। (ब) नारकी के भवो मे रहने का काल उससे असख्यातगुणा है **(क) देवके भवोंमे रहनेका काल उससे (नारकीसे) असख्यातगुणा है।** और (ड)–तिर्यचभवोमे (मुख्यतया निगोदमे) रहनेका काल उससे (देवसे) अनतगुणा है।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वदशामे शुभ

तथा अशुभभाव करता रहता है, उसमे भी जीवने नरकके योग्य तीव्र अशुभभावकी अपेक्षा देवके योग्य शुभभाव असख्यात गुणे किये है। शुभभाव करके यह जीव अनत बार स्वर्गमे देव होकर नवमे ग्रैवेयक तक जा चुका है,— यह सब पहिले पैरा १० मे कहा जा चुका है।

६ नवमे ग्रैवेयकके योग्य शुभभाव करनेवाला जीव गृहीतमिथ्यात्व छोड देता है, सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाॅच समिति आदिके उत्कृष्ट शुभभाव अतिचार रहित पालन करता है। इतना करनेपर ही जीवको नवमे ग्रैवेयकमे जानेके योग्य शुभभाव होते है। आत्मप्रतीतिके बिना **मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव** जीवने अनन्त बार किये है फिर भी मिथ्यात्व नही गया। इसलिये **शुभभाव—पुण्य करते करते धर्म-सम्यग्दर्शन हो या मिथ्यात्व दूर हो जाय, यह अशक्य है। इसलिये—**

७.—इस मनुष्य भवमें ही जीवोंको आत्माका सच्चा स्वरूप समझकर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। 'Strike the iron while it is hot' जबतक लोहा गर्म है तबतक उसे पीट लो—गढ लो, इस कहावतके अनुसार इसी मनुष्यभवमे जल्दी आत्मस्वरूपको समझ लो, अन्यथा थोडे ही समयमे त्रस काल पूरा हो जायगा और एकेन्द्रिय-निगोदपर्याय प्राप्त होगी और उसमे अनतकाल तक रहना होगा ॥ १० ॥

संसारी जीवोंके भेद—

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—ससारी जीव [**समनस्काः**] मनसहित-सैनी [**अमनस्काः**] मनरहित असैनी, यो दो प्रकारके है।

टीका

१ एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तकके जीव नियमसे असैनी ही होते है। पचेन्द्रियोमे तिर्यंच सैनी और असैनी दो प्रकारके होते है, शेष मनुष्य देव और नारकी जीव नियमसे सैनी ही होते हैं।

२ मनवाले सैनीजीव सत्य-असत्यका विवेक कर सकते है।

३ मन दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। पुद्गल द्रव्यके मनोवर्गणा नामक स्कन्धोसे बना हुआ आठ पांखुडीवाले फुल्या कमलके आकाररूप मन हृदयस्थानमे है, वह द्रव्यमन है। वह सूक्ष्मपुद्गल स्कन्ध होने से इन्द्रियग्राही नही है। आत्माकी विशेष प्रकारकी विशुद्धि भावमन है, उससे जीव शिक्षा ग्रहण करने, क्रिया (कृत्य) को समझने, उपदेश तथा आलाप (Recitation) के योग्य होता है, उसके नामसे बुलाने पर वह निकट आता है।

४ जो हितमे प्रवृत्त होने की अथवा अहितसे दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है वह सैनी है, और जो हित–अहितकी शिक्षा, क्रिया, उपदेश इत्यादि को ग्रहण नही करता वह असैनी है।

५ सैनी जीवोंके भावमनके योग्य निमित्तरूप वीर्यान्तराय तथा मन–नो इन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम स्वय होता है।

६ द्रव्यमन–जड पुद्गल है, वह पुद्गल विपाकीकर्म-उदयके फल-रूप है। जीवकी विचारादि क्रियामे भावमन उपादान है और द्रव्यमन निमित्तमात्र है। भावमनवाले प्राणी मोक्षके उपदेशके लिये योग्य हैं। तीर्थंकर भगवान या सम्यग्ज्ञानियोसे उपदेश सुनकर सैनी मनुष्य सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, सैनी तिर्यंच भी तीर्थंकर भगवानका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, देव भी तीर्थंकर भगवानका तथा सम्यग्ज्ञानियोका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं। नरकके किसी जीवके पूर्वभवके मित्रादि सम्यग्ज्ञानी देव होते हैं वे तीसरे नरक तक जाते हैं और उनके उपदेशसे तीसरे नरक तकके जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते है।

चौथेसे सातवे नरकतकके जीव पहिलेके सत्समागमके सस्कारोको याद करके सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। पहिले सत्समागमके सस्कार प्राप्त मनुष्य सैनीतिर्यंच और देव भी निसर्गज सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकते हैं ॥११॥

संसारी जीवोंके अन्य प्रकारसे भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—[**ससारिणः**] ससारीजीव [**त्रस**] त्रस और [**स्थावराः**] स्थावरके भेदसे दो प्रकारके है।

टीका

१—जीवोके यह भेद भी अवस्थादृष्टिसे किये गये है।

२—जीवविपाकी त्रस नामकर्मके उदयसे जीव त्रस कहलाता है और जीवविपाकी स्थावर नामककर्मके उदयसे जीव स्थावर कहलाता है। त्रसजीवोके दो से लेकर पाच इन्द्रियाँ तक होती है और स्थावर जीवोके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। (यह परिभाषा ठीक नही है कि—जो स्थिर रहता है सो स्थावर है और जो चलता फिरता है सो त्रस है)

३—दो इन्द्रियसे अयोग केवली गुणस्थान तकके जीव त्रस है, मुक्त-जीव त्रस या स्थावर नही है क्योकि यह भेद ससारी जीवोके है।

४—प्रश्न—यह अर्थ क्यो नही करते कि–जो डरे-भयभीत हो अथवा हलन चलन करे सो त्रस है और जो स्थिर रहे सो स्थावर है ?

उत्तर—यदि हलन चलनकी अपेक्षासे त्रसत्व और स्थिरताकी अपेक्षा से स्थावरत्व हो तो (१) गर्भमे रहनेवाले, अडेमे रहनेवाले, मूर्छित और सोये हुए जीव हलन चलन रहित होनेसे त्रस नही कहलॉयगे, और (२) वायु, अग्नि तथा जल एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते हुए दिखाई देते है तथा भूकप इत्यादिके समय पृथ्वी काँपती है और वृक्ष भी हिलते है, वृक्षके पत्ते हिलते हैं इसलिये उनके स्थावरत्व नही रहेगा, और ऐसा होनेसे कोई भी जीव स्थावर नही माना जायगा, और कोई भी जीव स्थावर नही रहेगा ॥ १२ ॥

स्थावर जीवोंके भेद

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थ—[**पृथिवी अप् तेजः वायुः वनस्पतयः**] पृथ्वीकायिक, जल-

कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पांच प्रकारके [स्थावरा] स्थावर जीव है [इन जीवोंके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है]

टीका

१—आत्मा ज्ञानस्वभाव है किंतु जब उसे अपनी वर्तमान योग्यता के कारण एक स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ज्ञान कर सकने योग्य विकास होता है तब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूपमे परिणमित रजकणों (पुद्गलस्कधो) के द्वारा बने हुए जड शरीरका सयोग होता है।

२—पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवोंके शरीरका नाप (अवगाहना) अगुलके असख्यातवें भाग प्रमाण है इसलिये वह दिखाई नही देता, हम उसके समूह (Mass) को देख सकते हैं। पानीकी प्रत्येक बून्दमे बहुतसे जलकायिक जीवोका समूह है। सूक्ष्मदर्शक यत्रके द्वारा पानी मे जो सूक्ष्म जीव देखे जाते हैं वे जलकायिक नही किन्तु त्रसजीव हैं।

३—इन पृथिवी आदिकोके चार चार भेद कहे गये हैं—

(१) तहाँ अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणाम से रचित अपने कठिनता गुणसहित, जडपनासे पृथिवीकायनामा नामकर्म के उदय न होने पर भी प्रथन-(फैलाव) आदिसे युक्त है वह पृथिवी है या पृथिवी सामान्य है।

(२) जिस कायमे से पृथिवीकायिक जीव मरकर निकल गया है सो पृथिवीकाय है।

(३) जिनने पृथिवी का शरीर धारण किया है वे पृथिवीकायिक जीव हैं।

(४) पृथिवीके शरीरको धारण करनेसे पूर्व विग्रहगति मे जो जीव है उसे पृथिवीजीव कहते है। इसप्रकार जलकायिक इत्यादि अन्य चार स्थावर जीवोके सम्बन्धमे भी समझ लेना चाहिए।

४—स्थावरजीव उसी भवमे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य नही होते क्योकि सज्ञी पर्याप्तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य होते है ।

५—पृथिवीकायिकका शरीर मसूरके दानेके आकारका लब गोल, जलकायिकका शरीर पानीकी बून्दके आकारका गोल, अग्निकायिकका शरीर सुइयोके समूहके आकारका और वायुकायिकका शरीर ध्वजाके आकार का लबा–तिरछा होता है । वनस्पतिकायिक और त्रसजीवोके शरीर अनेक भिन्न भिन्न आकारके होते हैं ।

(गोमट्टसार जीवकाड गाथा २०१) ॥ १३ ॥

त्रस जीवोंके भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—[**द्वि इन्द्रिय आदय**] दो इन्द्रिय से लेकर अर्थात् दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीव [त्रसाः] त्रस कहलाते है ।

टीका

१—एकेन्द्रिय जीव स्थावर है और उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण होते हैं।

२—दो इन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना यह दो इन्द्रियाँ ही होती है। उनके रसना और वचनबल बढनेसे कुल छह प्राण होते है।

३—तीन इन्द्रिय जीवोके स्पर्शन, रसना और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके घ्राण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल सात प्राण होते है।

४—चार इन्द्रिय जीवोके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती है। उनके चक्षु इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल आठ प्राण होते है।

५—पचेन्द्रिय जीवोके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पाँच इन्द्रिया होती है। उनके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल ९ प्राण असैनियोके होते हैं। इन पाच इन्द्रियोका ऊपर जो क्रम बताया है उससे

उल्टी मुल्टी इन्द्रिया किसी जीवके नही होती है। जैसे केवल स्पर्शन और चक्षु, यह दो इन्द्रिया किसी जीवके नही हो सकती किन्तु यदि दो होगी तो वे स्पर्शन और रसना ही होगी। सैनी जीवोके मनवल होता है इसलिये उनके दश प्राण होते है ॥ १४ ॥

इन्द्रियोंकी संख्या

पंचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ=[**इन्द्रियाणि**] इन्द्रिया [**पंच**] पाच है।

टीका

१—इन्द्रियाँ पाँच हैं। अधिक नही। 'इन्द्र' अर्थात् आत्माकी अर्थात् ससारी जीवकी पहिचान करानेवाला जो चिह्न है उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्येन्द्रिय अपने अपने विषयका ज्ञान उत्पन्न होनेमे निमित्त कारण हैं। कोई एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रियके आधीन नही है। भिन्न भिन्न एक एक इन्द्रिय परकी अपेक्षासे रहित है अर्थात् अहमिन्द्रकी भाँति प्रत्येक अपने अपने आधीन है ऐसा ऐश्वर्य धारण करती हैं।

प्रश्न—वचन, हाथ, पैर, गुदा, और लिंगको भी इन्द्रिय क्यो नही कहा ?

उत्तर—यहा उपयोगका प्रकरण है। उपयोगमे स्पर्शादि इन्द्रियाँ निमित्त हैं इसलिए उन्हे इंद्रिय मानना ठीक है। वचन इत्यादि उपयोगमे निमित्त नही हैं वे मात्र 'जड' क्रियाके साधन हैं, और यदि क्रियाके कारण होनेसे उन्हे इन्द्रिय कहा जाय तो मस्तक इत्यादि सभी आगोपाग (क्रियाके साधन) है, उन्हे भी इन्द्रिय कहना चाहिये। इसलिये यह मानना ठीक है कि जो उपयोग मे निमित्त कारण है वह इन्द्रियका लक्षण है।

२–जड इन्द्रियाँ इन्द्रियज्ञानमे निमित्त मात्र है किन्तु ज्ञान उन इंद्रियो से नही होता, ज्ञान तो आत्मा स्वत स्वत करता है। क्षायोपशमिक-ज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वह ज्ञान जिस समय जिसप्रकारका उपयोग करनेके योग्य होता है तब उसके योग्य इंद्रियादि वाह्य निमित्त स्वय स्वत

उपस्थित होते हैं, निमित्ताकी राह नही देखनी पडती । ऐसा निमित्त नैमित्तिक सबध है । 'इद्रियाँ है इसलिये ज्ञान हुआ है' ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु ज्ञानी यह मानता है कि ज्ञान स्वत हुआ है और जड इन्द्रियाँ उस समय सयोगरूप (उपस्थित) स्वय होती ही है ।

[देखो अध्याय १ सूत्र १४ की टीका] ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंके मूल भेद

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—सब इन्द्रियाँ [**द्विविधानि**] द्रव्येन्द्रिय और भाव इद्रियके भेदसे दो दो प्रकारकी है ।

नोट.—द्रव्येन्द्रिय सबधी सूत्र १७ वाँ और भावेन्द्रिय सबधी १८ वाँ है ॥ १६ ॥

द्रव्येन्द्रियका स्वरूप

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ—[**निर्वृति उपकरणे**] निर्वृति और उपकरणको [**द्रव्येन्द्रियम्**] द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ।

टीका

निर्वृति—पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत स्थानमे होनेवाली इन्द्रियरूप पुद्गलकी रचना विशेषको बाह्य निर्वृति कहते हैं, और उत्सेधागुलके असख्यातवे भागप्रमाण आत्माके विशुद्ध प्रदेशोका चक्षु आदि इन्द्रियोके आकार जो परिणमन होता है उसे आभ्यन्तर निर्वृति कहते है । इसप्रकार निर्वृतिके दो भेद हैं । [देखो अध्याय २ सूत्र ४४ की टीका]

जो आत्मप्रदेश नेत्रादि इन्द्रियाकार होते है वह–अभ्यन्तर निर्वृति हैं और उसी आत्मप्रदेशके साथ नेत्रादि आकाररूप जो पुद्गल समूह रहते है वह बाह्य निर्वृति है, कर्णेन्द्रियके आत्मप्रदेश जवकी नलीके समान और नेत्रेन्द्रियके आत्मप्रदेश मसूरके आकारके होते हैं और पुद्गल इन्द्रियाँ भी उसी आकारकी होती है ।

२. उपकरण—निर्वृतिका उपकार करनेवाला पुद्गल समूह उपकरण है। उसके वाह्य और अभ्यतर दो भेद हैं। जैसे नेत्रमे सफेद और काला मडल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा गट्टा इत्यादि वाह्य उपकरण हैं। उपकरणका अर्थ निमित्तमात्र समझना चाहिये किंतु यह नही समझना चाहिये कि वह लाभ करता है।

[देखो अर्थप्रकाशिका पृष्ट २०२-२०३] यह दोनो उपकरण जड है॥१७॥

भावेन्द्रियका स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ—[लब्धि उपयोगौ] लब्धि और उपयोगको [भावेन्द्रियम्] भावेन्द्रिय कहते है।

टीका

१. लब्धि—लब्धिका अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्माके चैतन्यगुणका क्षपोपशम हेतुक विकास लब्धि है। (देखो सूत्र ४५ की टीका)

उपयोग—चैतन्यके व्यापारको उपयोग कहते हैं। आत्माके चैतन्य गुणका जो क्षयोपशम हेतुक विकास है उसके व्यापारको उपयोग कहते हैं।

२—आत्मा ज्ञेय पदार्थ के संमुख होकर अपने चैतन्य व्यापारको उस ओर जोडे सो उपयोग है। उपयोग चैतन्यका परिणमन है। वह किसी अन्य ज्ञेय पदार्थकी ओर लग रहा हो तो, आत्माकी सुनने की शक्ति होने पर भी सुनता नही है। लब्धि और उपयोग दोनोके मिलनेसे ज्ञानकी सिद्धि होती है।

३ प्रश्न—उपयोग तो लब्धिरूप भावेन्द्रियका फल (कार्य) है, तव फिर उसे भावेन्द्रिय क्यो कहा है?

उत्तर—कार्यमे कारणका उपचार करके उपयोगको (उपचार से) भावेन्द्रिय कहा जाता है। घटाकार परिणमित ज्ञानको घट कहा जाता है, इस न्यायसे लोकमे कार्यको भी कारण माना जाता है। आत्माका लिंग इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) है, आत्मा वह स्व अर्थ है उसमे उपयोग मुख्य हैं

और वह जीव का लक्षण है, इसलिये उपयोगको भावेन्द्रियत्व कहा जा सकता है।

४ उपयोग और लब्धि दोनोको भावेन्द्रिय इसलिये कहते है कि वे द्रव्यपर्याय नही किन्तु गुणपर्याय है, क्षयोपशमहेतुक लब्धि भी एक पर्याय या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है, क्योकि वह आत्माका परिणाम है। वह उपयोग दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है।

५ धर्म, स्वभाव, भाव, गुणपर्याय और गुण शब्द एकार्थं वाचक है।

६, प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानकी क्षयोपशमलब्धि तो सभी सैनी पचेद्रिय जीवोके होती है, किन्तु जो जीव पराश्रय की रुचि छोडकर परकी ओरसे झुकाव हटाकर, निज (आत्मा) की ओर उपयोगको लगाते हैं उन्हे आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है। और जो जीव पर की ओर ही उपयोग लगाये रहते है उन्हे मिथ्याज्ञान होता है, और इससे दुःख ही होता है कल्याण नही होता।

इस सूत्रका सिद्धांत

जीवको छद्मस्थदशामे ज्ञानका विकास अर्थात् क्षयोपशमहेतुक लब्धि बहुत कुछ हो तथापि वह सब विकासका उपयोग एक साथ नही कर सकता, क्योकि उसका उपयोग रागमिश्रित है इसलिये रागमे अटक जाता है, इसलिये ज्ञान का लब्धिरूप **विकास** बहुत कुछ हो फिर भी **व्यापार** (उपयोग) अल्प ही होता है। ज्ञानगुण तो प्रत्येक जीवके परिपूर्ण है, विकारीदशामे उसकी (ज्ञानगुणकी) पूर्ण पर्याय प्रगट नही होती' इतना ही नही किंतु पर्यायमे जितना विकास होता है उतना भी व्यापार एक साथ नही कर सकता। जबतक आत्माका आश्रय परकी ओर होता है तबतक उसकी ऐसी दशा होती है। इसलिये जीवको स्व और परका यथार्थ भेदविज्ञान करना चाहिये। भेदविज्ञान होनेपर वह अपने पुरुषार्थको अपनी ओर लगाया ही करता है, और उससे क्रमश रागको दूर करके बारहवे गुणस्थानमे सर्वथा राग दूर हो जानेपर वीतरागता प्रगट हो जाती है। तत्पश्चात् थोडे ही समय मे पुरुषार्थ बढने पर ज्ञान गुण जितना परिपूर्ण है उतनी परिपूर्ण

उसकी पर्याय प्रगट होती है। ज्ञानपर्याय पूर्ण प्रगट (विकसित) हो जाने पर ज्ञानके व्यापार को एक ओरसे दूसरी ओर ले जाने की आवश्यकता नही रहती। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को यथार्थ भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिसका फल केवलज्ञान है ॥ १८ ॥

पॉच इन्द्रियोंके नाम और उनका क्रम

स्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—[स्पर्शन] स्पर्शन [रसना] रसना [घ्राण] नाक [चक्षुः] चक्षु और [श्रोत्र] कान—यह पॉच इन्द्रियाँ हैं।

टीका

१ यह इन्द्रियाँ भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय यो दोनो प्रकारकी समझना चाहिये। एकेन्द्रिय जीवके पहिली (स्पर्शन) इन्द्रिय, दो इन्द्रिय जीवके पहिली दो क्रमश होती है। इस अध्यायके चौदहवे सूत्र की टीकामे इस सवध से सविवरण कहा गया है।

(२) इन पाँच भावेन्द्रियोमें भावश्रोत्रेन्द्रियको अति लाभदायक माना गया है, क्योकि उस भावेन्द्रियके वलसे जीव सम्यग्ज्ञानी पुरुपका उपदेश सुनकर और तत्पश्चात् विचार करके—यथार्थ निर्णय करके हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग कर सकता है। जड इन्द्रिय तो सुननेमे निमित्त मात्र है।

३ (अ)—श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का आकार जव की वीचकी नाली के समान, (व)—नेत्रका आकार मसूर जैसा, (क)—नाकका आकार तिल के फूल जैसा, (ड)—रसना का आकार अर्धचन्द्रमा जैसा और (इ)—स्पर्शनेन्द्रियका आकार शरीराकार होता है,—स्पर्शनेन्द्रिय सारे शरीर मे होती है ॥ १९ ॥

इन्द्रियोंके विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—[स्पर्शरसगंधवर्णशब्दा.] स्पर्श, रस, गध, वर्ण, (रग)

और शब्द यह पाँच क्रमश [तद् अर्थाः] उपरोक्त पाँच इन्द्रियोके विषय है अर्थात् उपरोक्त पाँच इन्द्रियाँ उन उन विषयोको जानती है।

टीका

१ जाननेका काम भावेन्द्रियका है, पुद्गल इन्द्रिय निमित्त है। प्रत्येक इन्द्रियका विषय क्या है सो यहाँ कहा गया है। यह विषय जड–पुद्गल है।

२. प्रश्न—यह जीवाधिकार है फिर भी पुद्गलद्रव्यकी बात क्यो ली गई है ?

उत्तर—जीवको भावेन्द्रियसे होनेवाले उपयोगरूपज्ञानमे ज्ञेय क्या है यह जाननेके लिये कहा है। ज्ञेय निमित्त मात्र है, ज्ञेयसे ज्ञान नही होता किंतु उपयोगरूप भावेन्द्रियसे ज्ञान होता है अर्थात् ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विपय, यह बतानेके लिये यह सूत्र कहा है।

३. स्पर्श—आठ प्रकारका है शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, हलका और भारी।

रस–पाँच प्रकारका है खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, चिरपरा।

गंध–दो प्रकार की है सुगध और दुर्गन्ध।

वर्ण–पंच प्रकारका है काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

शब्द–सात प्रकारका है षडज, रिषभ, गधार, मध्यम, पचम, धैवत, निबाध।

इसप्रकार कुल २७ भेद है उनके सयोगसे असख्यात भेद हो जाते है।

४—सैनी जीवोके इन्द्रिय द्वारा होनेवाले चैतन्य व्यापारमे मन निमित्त रूप होता है।

५—स्पर्श, रस, गध और शब्द विषयक ज्ञान उस २ विषयोको जानने वाली इन्द्रियके साथ उस विषयका सयोग होनेसे ही होता है। आत्मा चक्षुके द्वारा जिस रूपको देखता है उसके योग्य क्षेत्रमे दूर रहकर उसे देख सकता है॥ २०॥

मनका विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—[अनिन्द्रियस्य] मनका विषय [श्रुतम्] श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ है अथवा, मनका प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

टीका

१—द्रव्यमन आठ पांखुड़ीवाले खिले हुए कमलके आकार है।
[देखो अध्याय २ सूत्र ११ की टीका]

श्रवण किये गये पदार्थका विचार करनेमे मन द्वारा जीवकी प्रवृत्ति होती है। कर्णेन्द्रियसे श्रवण किये गये शब्दका ज्ञान मतिज्ञान है, उस मतिज्ञानपूर्वक किये गये विचारको श्रुतज्ञान कहते है। सम्यग्ज्ञानी पुरुपका उपदेश श्रवण करनेमे कर्णेन्द्रिय निमित्त है और उसका विचार करके यथार्थ निर्णय करनेमे मन निमित्त है। हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग मनके द्वारा होता है। (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा १६ की टीका) पहिले राग सहित मनके द्वारा आत्माका व्यवहार सच्चा ज्ञान किया जा सकता है और फिर (रागको अशत अभाव करने पर) मनके अवलम्बनके बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, इसलिये सैनी जीव ही धर्म प्राप्त करनेके योग्य है। (देखो अध्याय २ सूत्र २४ की टीका)

२—मनरहित (असैनी)जीवोके भी एकप्रकारका श्रुतज्ञान होता है। (देखो अध्याय १ सूत्र ११ तथा ३० की टीका)

उन्हे आत्मज्ञान नही होता इसलिये उनके ज्ञानको 'कुश्रुत' कहा जाता है।

३—श्रुतज्ञान जिस विषयको जानता है उसमे मन निमित्त है, किसी इन्द्रियके आधीन मन नही है। अर्थात् श्रुतज्ञानमे किसी भी इन्द्रियका निमित्त नही है ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंके स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ—[**वनस्पति अंतानां**] वनस्पतिकाय जिसके अतमे है ऐसे जीवो के अर्थात् पृथ्वीकायिक जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोके [**एकम्** [एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

टीका

इस सूत्रमे कथित जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही ज्ञान करते है। इस सूत्रमे इन्द्रियोके 'स्वामी' ऐसा शीर्षक दिया है, उसमे इन्द्रियके दो प्रकार है—जड इन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जड इन्द्रियके साथ जीवका निमित्त-नैमित्तिक सबध बतानेके लिए व्यवहारसे जीवको स्वमी कहा है, वास्तवमे तो कोई द्रव्य किसी द्रव्यका स्वामी है ही नही। और भावेन्द्रिय उस आत्माकी उस समयकी पर्याय है अर्थात् अशुद्धनयसे उसका स्वामी आत्मा है ॥ २२ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ— [**कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिनाम्**] कृमि इत्यादि, चीटी इत्यादि, भ्रमर इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि के [**एकैक वृद्धानि**] क्रमसे एक एक इन्द्रिय, बढती अधिक अधिक है अर्थात् कृमि इत्यादिके दो, चीटी इत्यादिके तीन, भोरा इत्यादिके चार और मनुप्य इत्यादिके पाँच इद्रियाँ होती है।

टीका

प्रश्न—यदि कोई मनुष्य जन्मसे ही अधा और वहरा हो तो उसे तीन इन्द्रिय जीव कहना चाहिये या पचेन्द्रिय ?

उत्तर—वह पचेन्द्रिय जीव ही है, क्योकि उसके पाँचो इन्द्रियाँ है किन्तु उपयोगरूप शक्ति न होनेसे वह देख और सुन नही सकता।

नोटः—इसप्रकार ससारी जीवोके इन्द्रियद्वारका वर्णन हुआ, अब उनके मनद्वारका वर्णन २४ वें सूत्रमें किया जाता है ॥ २३ ॥

सैनी किसे कहते हैं ?

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ—[समनस्काः] मनसहित जीवोंको [संज्ञिन.] सैनी कहते हैं।

टीका

सैनी जीव पचेन्द्रिय ही होते हैं (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा २१ की टीका) जीवके हिताहितकी प्रवृत्ति मनके द्वारा होती है। पचेन्द्रिय जीवोमे सैनी और असैनी ऐसे दो भेद होते है, सैनी अर्थात् संज्ञी=सज्ञावाला प्राणी समझना चाहिये। 'सज्ञा' के अनेक अर्थ है उनमे से यहाँ 'मन' अर्थ लेना चाहिए ॥२४॥

मनके द्वारा हिताहितकी प्रवृत्ति होती है किन्तु शरीर के छूट जाने पर विग्रहगतिमें [नये शरीरकी प्राप्ति के लिये गमन करते हुए जीवको] मन नही है फिर भी उसे कर्मका आश्रव होता है, इसका क्या कारण है ?

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थ—[विग्रहगतौ] विग्रहगतिमे अर्थात् नये शरीरके लिये गमन मे [कर्मयोग.] कार्मणकाययोग होता है।

टीका

(१) विग्रहगति—एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरकी प्राप्ति के लिये गमन करना विग्रहगति है। यहाँ विग्रहका अर्थ शरीर है।

कर्मयोग—कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते है। आत्मप्रदेशोके परिस्पन्दनको योग कहते हैं इस परिस्पन्दनके समय कार्मण शरीर निमित्त-रूप है इसलिये उसे कर्मयोग अथवा कार्मणकाययोग कहते है, और इसलिये विग्रहगतिमें भी नये कर्मोंका आश्रव होता है। [देखो सूत्र ४४ की टीका]

२—मरण होने पर नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये जीव जब

गमन करता है तब मार्गमे एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। उस समयमे कार्मणयोग के कारण पुद्गलकर्मका तथा तैजसवर्गणा का ग्रहण होता है, किन्तु नोकर्म–पुद्गलोका ग्रहण नही होता ॥ २५ ॥

विग्रहगतिमें जीव और पुद्गलोंका गमन कैसे होता है ?

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

अर्थ—[गति [जीव पुद्गलोका गमन [अनुश्रेणि] श्रेणीके अनुसार ही होता है।

टीका

१. श्रेणि—लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा मे क्रमश. हारबद्ध रचनावाले प्रदेशोकी पक्ति (Line) को श्रेणि कहते है।

२—विग्रहगतिमे आकाश प्रदेशोकी सीधी पक्ति पर ही गमन होता है। विदिशामे गमन नही होता। जब पुद्गलका शुद्ध परमाणु अति शीघ्र गमन करके एक समयमे १४ राजु गमन करता है तब वह श्रेणिबद्ध सीधा ही गमन करता है।

३ उपरोक्त श्रेणिकी छह दिशाएँ होती है (१)–पूर्वसे पश्चिम, (२)–उत्तरसे दक्षिण, (३)–ऊपरसे नीचे, तथा अन्य तीन उससे उल्टेरूप मे अर्थात् (४)–पश्चिमसे पूर्व, (५)–दक्षिणसे उत्तर और (६)–नीचेसे ऊपर।

४. प्रश्न—यह जीवाधिकार है, तब फिर इसमे पुद्गलका विषय क्यो लिया गया है ?

उत्तर—जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिए तथा यह बतानेके लिये कि जीव और पुद्गल दोनो अपनी स्वतत्र योग्यतासे गमन करते हैं,–पुद्गलका भी विपय लिया गया है ॥ २६ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कैसी होती है ?

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—[**जीवस्य**] मुक्त जीवकी गति [**अविग्रहा**] वक्रता रहित सीधी होती है।

टीका

सूत्रमे 'जीवस्य' शब्द कहा गया है किंतु पिछले सूत्रमे ससारी जीव का विषय था इसलिये यहाँ 'जीवस्य' का अर्थ 'मुक्त जीव' होता है।

इस अध्यायके पच्चीसवे सूत्रमे विग्रह का अर्थ 'शरीर' किया था और यहाँ उसका अर्थ 'वक्रता' किया गया है, विग्रह शब्दके यह दोनो अर्थ होते हैं। पच्चीसवे सूत्रमे श्रेणिका विषय नही था इसलिये वहा 'वक्रता' अर्थ लागू नही होता, किन्तु इस सूत्रमे श्रेणिका विषय होनेसे 'अविग्रहा' का अर्थ वक्रता रहित (मोड रहित) होता है ऐसा समझना चाहिये। मुक्त जीव श्रेणिवद्धगति से एक समयमे सीधे सात राजू ऊपर गमन करके सिद्ध क्षेत्रमे जाकर स्थिर होते हैं ॥२७॥

संसारी जीवोंकी गति और उसका समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—[**ससारिणः**] ससारी जीवकी गति [**चतुर्भ्यः प्राक्**] चार समयसे पहिले [**विग्रहवती च**] वक्रता—मोड सहित तथा रहित होती है।

टीका

१—ससारी जीवकी गति मोडासहित और मोडारहित होती है। यदि मोडारहित होती है तो उसे एक समय लगता है, एक मोडा लेना पडे तो दो समय, दो मोडा लेना पडे तो तीन समय और तीन मोडा लेना पडे तो चार समय लगते है। जीव चौथे समयमे तो कही न कही नया शरीर नियमसे धारण कर लेता है; इसलिये विग्रहगतिका समय अधिक से अधिक चार समय तक होता है। उन गतियोके नाम यह है—१–ऋजुगति- (ईषुगति) २–पाणिमुक्तागति, ३–लागलिकागति और ४–गौमूत्रिकागति।

२—एक परमाणुको मदगतिसे एक आकाशप्रदेशसे उसीके निकट

के दूसरे आकाश प्रदेश तक जानेमे जो समय लगता है वह एक समय है। यह छोटेसे छोटा काल है।

३—लोकमे ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ जानेमे जीवको तीन से अधिक मोडा लेना पडते हो।

४—विग्रहगतिमे जीवको चैतन्यका उपयोग नही होता। जब जीव की उसप्रकारकी योग्यता नही होती तब द्रव्येन्द्रियाँ भी नही होती। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीवको भावइन्द्रियके उपयोगरूप परिणमित होनेकी योग्यता होती है तब द्रव्येन्द्रियाँ अपने कारणसे स्वय उपस्थित होती है। वह यह सिद्ध करता है कि जब जीवकी पात्रता होती है तब उसके अनुसार निमित्त स्वय उपस्थित होता है, निमित्तके लिये राह नही देखनी पडती ॥ २८ ॥

अविग्रहगतिका समय

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ—[**अविग्रहा**] मोडरहित गति [**एकसमया**] एक समय मात्र ही होती है, अर्थात् उसमे एक समय ही लगता है।

टीका

१—जिस समय जीवका एक शरीरके साथ का सयोग छूटता है उसी समय, यदि जीव अविग्रह गतिके योग्य हो तो दूसरे क्षेत्रमे रहनेवाले अन्य शरीरके योग्य पुद्गलोके साथ (शरीरके साथ) सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। मुक्त जीवोको भी सिद्धगतिमे जानेमे एक ही समय लगता है यह गति सीधी पक्ति मे ही होती है।

२—एक पुद्गलको उत्कृष्ट वेगपूर्वक गति करनेमे चौदह राजू लोक अर्थात् लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक (सीधी पक्तिमे ऊपर या नीचे) जाने मे एक समय ही लगता है ॥ २९ ॥

विग्रहगतिमें आहारक—अनाहारककी व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ—विग्रहगतिमे [एकं द्वौ वा त्रीन्] एक दो अथवा तीन समय तक [अनाहारकः] जीव अनाहारक रहता है।

टीका

१. आहार—औदारिक, वैक्रियिक, और आहारकशरीर तथा छह-पर्याप्तिके योग्य पुद्गल परमाणुओके ग्रहणको आहार कहा जाता है।

२—उपरोक्त आहारको जीव जब तक ग्रहण नही करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। ससारी जीव अविग्रहगतिमे आहारक होता है, परन्तु एक दो या तीन मोडावाली गतिमे एक दो या तीन समयतक अनाहारक रहता है, चौथे समयमे नियमसे आहारक हो जाता है।

३—यह ध्यानमे रखना चाहिये कि इस सूत्रमे नोकर्मकी अपेक्षासे अनाहारकत्व कहा है। कर्मग्रहण तथा तैजस परमाणुओका ग्रहण तेरहवे गुणस्थानतक होता है। यदि इस कर्म और तैजस परमाणुके ग्रहणको आहारकत्व माना जाय तो वह अयोगी गुणस्थानमे नही होता।

४—विग्रहगति से अतिरिक्त समयमे जीव प्रतिसमय नोकर्मरूप आहार ग्रहण करता है।

५—यहाँ आहार–अनाहार और ग्रहण शब्दोका प्रयोग हुआ है, वह मात्र निमित्त नैमित्तिक सबध बतानेके लिये है। वास्तवमे (निश्चय दृष्टिसे) आत्माके किसी भी समय किसी भी परद्रव्यका ग्रहण या त्याग नही होता, भले ही वह निगोदमे हो या सिद्धमे ॥ ३० ॥

जन्मके भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ—[सम्मूर्च्छनगर्भउपपादाः] सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद तीन प्रकारका [जन्म] जन्म होता है।

टीका

१. जन्म—नवीन शरीरको धारण करना जन्म है।

सम्मूर्च्छनजन्म—अपने शरीरके योग्य पुद्गल परमाणुओके द्वारा,

माता–पिताके रज और वीर्यके बिना ही शरीरकी रचना होना सो सम्मूर्च्छन जन्म है ।

गर्भजन्म—स्त्रीके उदरमे रज और वीर्यके मेलसे जो जन्म [Conception] होता है उसे गर्भजन्म कहते है ।

उपपादजन्म—माता पिताके रज और वीर्यके बिना देव और नारकियो के निश्चित स्थान–विशेषमे उत्पन्न होनेको उपपादजन्म कहते है । यह उपपादजन्मवाला शरीर वैक्रियिक रजकणोका बनता है ।

२—समन्तत +मूर्च्छन–से समूर्च्छन शब्द बनता है । यहाँ समन्तत· का अर्थ चारो ओर अथवा जहाँ–तहाँसे होता है और मूर्च्छन का अर्थ शरीरका बन जाना है ।

३ जीव अनादि अनत है, इसलिये उसका जन्म–मरण नही होता किन्तु जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम (मिथ्यादर्शन) बना हुआ है इसलिये उसका शरीरके साथ एक क्षेत्रावगाह सबध होता है, और वह अज्ञानसे शरीरको अपना मानता है । और अनादिकालसे जीवकी यह विपरीत मान्यता चली आ रही है कि मै शरीरकी हलन–चलन आदि क्रिया कर सकता हूँ, शरीरकी क्रियासे धर्म हो सकता है, शरीरसे मुझे सुख दु ख होते है इत्यादि जबतक यह मिथ्यात्वरूप विकारभाव जीव करता रहता है तब तक जीवका नये नये शरीरोके साथ सबध होता रहता है । उस नये शरीरके सबध [सयोग] को जन्म कहते है और पुराने शरीरके वियोगको मरण कहते हैं । सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जब तक चारित्र की पूर्णता नही होती तब तक जीवको नया शरीर प्राप्त होता है । उसमे जीवका कषायभाव निमित्त है ॥ ३१ ॥

योनियोंके भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ—[**सचित्त शीत सवृताः**] सचित्त, शीत, सवृत [**सेतरा**] उससे उल्टी तीन–अचित्त, उष्ण, विवृत [**च एकशः मिश्राः**] और क्रमसे

एक एकको मिली हुई तीन अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, और संवृत विवृत [तत् योनयः] ये नव जन्मयोनियाँ है।

टीका

१ जीवोके उत्पत्तिस्थानको योनि कहते है, योनि आधार है और जन्म आधेय है।

२. **सचित्तयोनि**—जीव सहित योनिको सचित्त योनि कहते है।

संवृत्तयोनि—जो किसीके देखनेमे न आवे ऐसे उत्पत्तिस्थानको संवृत्त (ढकी हुई) योनि कहते हैं।

विवृतयोनि—जो सबके देखनेमे आये ऐसे उत्पत्ति स्थानको विवृत (खुली) योनि कहते हैं।

१ मनुष्य या अन्य प्राणीके पेटमे जीव (कृमि इत्यादि) उत्पन्न होते हैं उनकी सचित्तयोनि है।

२ दीवालमे, मेज, कुर्सी इत्यादिमे जीव उत्पन्न हो जाते है, उनकी अचित्तयोनि है।

३ मनुष्यकी पहिनी हुई टोपी, इत्यादिमे जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी सचित्ताचित्तयोनि है।

४ सर्दीमे जीव उत्पन्न होते है उनकी शीतयोनि है। ५—गर्मीमे जीव उत्पन्न होते हैं उनकी उष्ण योनि है। ६—पानीके खड्डे मे सूर्यकी गर्मी से पानीके गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी शीतोष्ण-योनि है। ७—बंद पेटीमे रखे हुए फलोमे जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी संवृतयोनि है। ८—पानीमे जो काई इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं उनकी विवृत-योनि है और ९—थोडा भाग खुला हुआ और थोडा ढका हुआ हो ऐसे स्थानमे उत्पन्न होनेवाले जीवोकी संवृतविवृतयोनि होती है।

५ गर्भयोनिके आकारके तीन भेद हैं—१—शंखावर्त २—कूर्मोन्नत और ३—वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमे गर्भ नही रहता, कूर्मोन्नतयोनिमे तीर्थंकर चक्रवर्ती, वासुदेव प्रतिवासुदेव और बलभद्र उत्पन्न होते है, उनके अतिरिक्त

कोई उत्पन्न नही होता। वशपत्रयोनिमे शेष गर्भजन्मवाले सब जीव उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

गर्भजन्म किसे कहते हैं ?

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

अर्थ—[जरायुज अंडज पोतानां] जरायुज, अडज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोके [गर्भः] गर्भजन्म ही होता है अर्थात् उन जीवोके ही गर्भजन्म होता है।

टीका

१. **जरायुज**—जालीके समान मास और खूनसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे जरायुज कहते है। जैसे—गाय, भैस, मनुष्य इत्यादि।

अंडज—जो जीव अंडोमे जन्म लेते हैं उनको अडज कहते है, जैसे—चिडिया, कबूतर, मोर वगैरह पक्षी।

पोतज—उत्पन्न होते समय जिन जीवोके शरीरके ऊपर किसी प्रकार का आवरण नही होता उन्हे पोतज कहते है जैसे—सिंह, बाघ, हाथी, हिरण, बन्दर इत्यादि।

२—असाधारण भाषा और अध्ययनादि जरायुज जीवोमे ही होता है, चक्रधर, वासुदेवादि, महाप्रभावशाली जीव जरायुज होते है, मोक्ष भी जरायुजको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

उपपादजन्म किसे कहते हैं ?

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थ—] देवनारकाणां] देव और नारकी जीवोके [उपपादः] उपपाद जन्म ही होता है अर्थात् उपपाद जन्म उन जीवोके ही होता है।

टीका

१—देवोके प्रसूतिस्थानमे शुद्ध सुगधित कोमल सपुटके आकार शय्या होती है उसमे उत्पन्न होकर अतर्मुहूर्तमे परिपूर्ण जवान हो जाता

है, जैसे कोई जीव शय्यासे सोकर जागता है उसीप्रकार आनद सहित वह जीव बैठा होता है। यह देवोका उपपाद जन्म है।

२—नारकी जीव विलोमे उत्पन्न होते हैं मधुमक्खीके छत्तेकी भाँति ओधा मुख किये हुये इत्यादि आकारके विविध मुखवाले उत्पत्तिस्थान हैं उनमे नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और वे उल्टा सिर ऊपर पैर किये हुए अनेक कष्ट कर वेदनाओसे निकलकर विलाप करते हुए धरती पर गिरते है यह नारकीका उपपादजन्म है ॥ ३४ ॥

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—[शेषाणां] गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोके अतिरिक्त शेष जीवोके [सम्मूर्च्छनम्] सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है अर्थात् सम्मूर्च्छन जन्म शेष जीवोके ही होता है।

टीका

एकेन्द्रियसे असैनी चतुरिन्द्रिय जीवोके नियमसे समूर्च्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पचेन्द्रिय तिर्यचोके गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनो प्रकार के जन्म होते हैं अर्थात् कुछ गर्भज होते हैं और कुछ सम्मूर्च्छन होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योके भी सम्मूर्च्छनजन्म होता है ॥ ३५ ॥

शरीरके नाम तथा भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थ—[औदारिक-वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणाणि] औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्मण [शरीराणि] यह पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीर—मनुष्य और तिर्यंचोका शरीर जो कि सडता है गलता है तथा झरता है वह—औदारिक शरीर है। यह शरीर स्थूल होता है

इसलिये उदार कहलाता है, सूक्ष्म निगोदियोका शरीर इन्द्रियोके द्वारा न तो दिखाई देता है न मुडता है और न काटनेसे कटता है, फिर भी वह स्थूल है, क्योकि दूसरे शरीर उससे क्रमश मूक्ष्म है [देखो इसके बादका सूत्र]

वैक्रियिक शरीर—जिसमे हलके भारी तथा अनेक प्रकारके रूप बनानेकी शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते है वह देव और नारकियो के ही होता है।

नोट—यह वात ध्यानमे रखना चाहिये कि औदारिक शरीरवाले जीव के ऋद्धिके कारण जो विक्रिया होती है वह औदारिक शरीरका ही प्रकार है।

आहारकशरीर—सूक्ष्म पदार्थोके निर्णयके लिये अथवा सयम की रक्षा इत्यादिके लिये छठवे गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो एक हाथका पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते है। (तत्त्वोमे कोई शका होने पर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पास जानेके लिए ऐसे मुनिके मस्तकसे एक हाथका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते है।)

तैजस शरीर—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरो को काति देनेवाले तैजस वर्गणासे बने हुए शरीरको तैसज शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोके समूहको कार्मण शरीर कहते है।

नोट—पहिले तीन शरीर आहार वर्गणामे से वनते हैं।

शरीरोंकी सूक्ष्मताका वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पहिले कहे हुए शरीरोकी अपेक्षा [**परं परं**] आगे आगेके शरीर [**सूक्ष्मम्**] सूक्ष्म सूक्ष्म होते है अर्थात् औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारककी अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजसकी अपेक्षासे कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है ॥ ३७ ॥

पहिले पहिले शरीरकी अपेक्षा आगेके शरीरोंके प्रदेश थोड़े होंगे ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[प्रदेशतः] प्रदेशोंकी अपेक्षासे [तैजसात् प्राक्] तैजस शरीर से पहिलेके शरीर [असंख्येयगुणं] असंख्यातगुणे हैं।

टीका

औदारिक शरीरके प्रदेशोकी अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश, वैक्रियिक शरीरके है, और वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा, असंख्यातगुणे प्रदेश आहारक शरीरके हैं ॥ ३८ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थ—[परे] शेष दो शरीर [अनंतगुणे] अनंतगुणे परमाणु (प्रदेश) वाले हैं अर्थात् आहारक शरीर की अपेक्षा अनंतगुणे प्रदेश तैजस शरीरमे होते हैं और तैजस शरीर की अपेक्षा अनंतगुणे प्रदेश कार्मण शरीर मे होते हैं।

टीका

आगे आगेके शरीरोमे प्रदेशोकी संख्या अधिक होने पर भी उनका मिलाप लोहेके पिंडके समान सघन होता है इसलिये वे अल्परूप होते है। यहाँ प्रदेश कहनेका अर्थ परमाणु समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

तैजस और कार्मणशरीर की विशेषता

अप्रतिघाते ॥ ४० ॥

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दोनो शरीर [अप्रतिघाते] अप्रतिघात अर्थात् बाधा रहित हैं।

टीका

ये दोनो शरीर लोकके अंत तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहाँसे निकल सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर हर किसीमे प्रवेश कर सकता है, परन्तु वैक्रियिक शरीर त्रसनाली तक ही गमन कर सकता है। आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक अढाई द्वीप पर्यंत जहाँ केवली और श्रुतकेवली होते हैं वहाँ तक होता है। मनुष्यका वैक्रियिक शरीर

मनुष्यलोक (अढाई द्वीप) तक जाता है उससे अधिक नही जा सकता ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण शरीर की अन्य विशेषता

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थ—[**च**] और यह दोनो शरीर [**अनादिसम्बन्धे**] आत्मा के साथ अनादिकालसे सम्बन्धवाले है।

टीका

१ यह कथन सामान्य तैजस और कार्मणशरीर की अपेक्षासे है। विशेष अपेक्षासे इसप्रकारके पहिले पहिले शरीरो का सम्बन्ध छूटकर नये नये शरीरोके सम्बन्ध होता रहता है, अर्थात् अयोगी गुणस्थानसे पहिले –प्रति समय जीव इस तैजस और कार्मण शरीरके नये नये रजकणो को ग्रहण करता है और पुरानेको छोडता है। (१४ वाँ गुणस्थानके अन्तिम समय इन दोनो का अभाव हो जाता है उसी समय जीव सीधी श्रेणीसे सिद्धस्थानमे पहुँच जाता है) सूत्रमे 'च' शब्द दिया है उससे यह अर्थ निकलता है।

२ जीवके इन शरीरोका सवध प्रवाहरूपसे अनादि नही है परन्तु नया (सादि) है ऐसा मानना गलत है, क्योकि जो ऐसा होता तो पहिले जीव अशरीरी था अर्थात् शुद्ध था और पीछे वह अशुद्ध हुआ ऐसा सिद्ध होगा, परन्तु शुद्ध जीवके अनत पुरुषार्थ होनेसे उसके अशुद्धता आ नही सकती और जहाँ अशुद्धता नही होती है वहाँ ये शरीर हो ही नही सकते। इसप्रकार जीव के इन शरीरो का सबध सामान्य अपेक्षासे (–प्रवाहरूपसे) अनादिसे है। और यदि इन तैजस और कार्मण शरीरोका सबध अनादिसे प्रवाहरूप नही मानकर वहीका वही अनादिसे जीवसे सवधित है ऐसा माना जाय तो उनका सम्बन्ध अनतकाल तक रहेगा और तब जीवके विकार न करने पर भी उसे मोक्ष कभी भी नही होगा। अवस्थादृष्टिसे जीव अनादिकालसे अशुद्ध है ऐसा इस सूत्रसे सिद्ध होता है। (देखो इसके बादके सूत्र की टीका)

ये शरीर अनादिकालसे सब जीवोंके होते हैं

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये तैजस और कार्मण शरीर [सर्वस्य] सब संसारी जीवोंके होते हैं।

टीका

जिन जीवोंके इन शरीरोंका संबंध नहीं होता है उनके संसारी अवस्था नहीं होती है सिद्ध अवस्था होती है। यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि—किसी भी जीवके वास्तवमें (परमार्थ से) शरीर होता नहीं है। यदि जीव के वास्तव शरीर माना जाय तो जीव जडशरीररूप हो जायगा, परंतु ऐसा होता नहीं है। जीव और शरीर दोनों एक आकाशक्षेत्रमें (एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप) रहते हैं इसलिये अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानते हैं, अवस्था दृष्टिसे जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये 'अज्ञानीके इस प्रतिभास' को व्यवहार बतलाकर उसे 'जीवका शरीर' कहा जाता है।

इसप्रकार जीवके विकारीभावका और इस शरीरका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है, किंतु जीव और शरीर एक द्रव्यरूप, एक क्षेत्ररूप, एक पर्यायरूप या एक भावरूप हो जाते हैं—यह बतानेका शास्त्रोंका हेतु नहीं है, इसलिये आगेके सूत्रमें 'सम्बन्ध' शब्दका प्रयोग किया है, यदि इसप्रकार (—व्यवहार कथनानुसार) जीव और शरीर एकरूप हो जांय तो दोनों द्रव्योंका सर्वथा नाश हो जायगा ॥ ४२ ॥

एक जीवके एक साथ कितने शरीरोंका सम्बन्ध होता है ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थ—[तदादीनि] उन तैजस और कार्मण शरीरोंसे प्रारंभ करके [युगपत्] एक साथ [एकस्मिन्] एक जीवके [आचतुर्भ्यः] चार शरीर तक [भाज्यानि] विभक्त करना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

टीका

जीवके यदि दो शरीर हो तो तैजस और कार्मण, तीन हो तो

तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस कार्मण और वैक्रियिक, चार हो तो तैजस, कार्मण औदारिक और आहारक, अथवा तैजस कार्मण औदारिक और (लब्धिवाले जीवके) वैक्रियिक शरीर होते है। इसमे (लब्धिवाले जीवके) औदारिकके साथ जो वैक्रियिक शरीर होना बतलाया है वह शरीर औदारिक की जातिका है, देवके वैक्रियिक शरीरके रजकरणो की जातिका नही ॥ ४३ ॥ (देखो सूत्र ३६ तथा ४७ की टीका)

कार्मण शरीर की विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—[**अन्त्यम्**] अन्तका कार्मण शरीर [**निरुपभोगम्**] उपभोग रहित होता है।

टीका

१. **उपभोग**–इन्द्रियोके द्वारा शब्दादिकके ग्रहण करना (-जानना) सो उपभोग है।

२ विग्रहगतिमे जीवके भावेन्द्रियाँ होती है (देखो सूत्र १८) वहाँ जड इन्द्रियोकी रचनाका अभाव है [देखो सूत्र १७] उस स्थितिमे शब्द, रूप, रस, गध या स्पर्शका अनुभव (–ज्ञान) नही होता, इसलिये कार्मण शरीरको निरुपभोग ही कहा है।

प्रश्न—तैजस शरीर भी निरुपभोग ही है तथापि उसे यहाँ क्यो नही गिना है ?

उत्तर—तैजसशरीर तो किसी योगका भी कारण नही है इसलिए निरुपभोगके प्रकरणमे उसे स्थान नही है। विग्रहगतिमे कार्मण शरीर कार्मण योगका कारण है (देखो सूत्र २५) इसलिए वह उपभोगके योग्य है या नही—यह प्रश्न उठ सकता है। उसका निराकरण करनेके लिये यह सूत्र कहा है। तैजसशरीर उपभोगके योग्य है या नही यह प्रश्न ही नही उठ सकता, क्योकि वह तो निरुपभोग ही है, इसलिये यहाँ उसे नही लिया गया है।

४ जीवकी अपनी पात्रता–योग्यता (–उपादान) के अनुसार बाह्य निमित्त संयोगरूप (उपस्थितरूप) होते है, और जब अपनी पात्रता नही होती तब वे उपस्थित नही होते, यह बात इस सूत्रमें बतलाई गई है। जब जीव शब्दादिकका ज्ञान करने योग्य नही होता तब जड शरीररूप इन्द्रियां उपस्थित नही होती, और जब जीव वह ज्ञान करने योग्य होता है तब जड शरीररूप इन्द्रियां स्वयं उपस्थित होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

५ पच्चीसवां सूत्र और यह सूत्र बतलाता है कि–परवस्तु जीवको विकारभाव नही कराती, क्योंकि विग्रहगतिमे स्थूल शरीर, स्त्री, पुत्र इत्यादि कोई नही होते, द्रव्यकर्म जड है उनके ज्ञान नही होता, और वे अपना–स्वक्षेत्र छोडकर जीवके क्षेत्रमे नही जा सकते इसलिये वे कर्म जीवमे विकारभाव नही करा सकते। जब जीव अपने दोषसे अज्ञानदशामे प्रतिक्षण नया विकारभाव किया करता है तब जो कर्म अलग होते है उनपर उदयका आरोप होता है, और जीव जब विकारभाव नही करता तब पृथक् होनेवाले कर्मोंपर निर्जरा का आरोप होता है अर्थात् उसे 'निर्जरा' नाम दिया जाता है ॥ ४४ ॥

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—[गर्भ] गर्भ [सम्मूर्च्छनजम्] और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाला शरीर [आद्यं] पहिला–औदारिक शरीर कहलाता है।

टीका

प्रश्न—शरीर तो जड पुद्गल द्रव्य है और यह जीवका अधिकार है फिर भी उसमे यह विषय क्यो लिया गया है?

उत्तर—जीवके भिन्न भिन्न प्रकारके विकारीभाव होते है तब उसका किस किस प्रकारके शरीरोके साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है, यह बतानेके लिए शरीरोका विषय यहाँ (इस सूत्रमे तथा इस अध्याय के अन्य कई सूत्रोमे) लिया गया है ॥ ४५ ॥

वैक्रियिक शरीरका लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—[**औपपादिकम्**] उपपाद जन्मवाले अर्थात् देव और नारकियोके शरीर [**वैक्रियिकं**] वैक्रियिक होते है ।

नोट–उपपाद जन्मका विषय ३४वें सूत्रमे और वैक्रियिक शरीरका विषय ३६वें सूत्रमे आ चुका है, उन सूत्रोको और उनकी टीकाको यहाँ भी पढ लेना चाहिये ।

देव और नारकियोंके अतिरिक्त दूसरोंके वैक्रियिक शरीर होता है या नहीं ?

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ–वैक्रियिकशरीर [**लब्धिप्रत्ययं च**] लब्धिनैमित्तिक भी होता है।

टीका

वैक्रियिक शरीरके उत्पन्न होनेमे ऋद्धिका निमित्तहै, साधुको तपकी विशेषतासे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको 'लब्धि' कहा जाता है। प्रत्ययका अर्थ निमित्त है। किसी तिर्यंचको भी विक्रिया होती है। विक्रिया शुभभावका फल है, धर्मका नही। धर्मका फल तो शुद्ध असंगभाव है और शुभभावका फल बाह्य सयोग है। मनुष्य तथा तिर्यंचोका वैक्रियिक शरीर देव तथा नारकियोके शरीरसे भिन्न जातिका होना है, वह औदारिक शरीरका ही एक प्रकार है ॥४७॥ [देखो सूत्र ३६ तथा ४३ की टीका]

वैक्रियिकके अतिरिक्त किसी अन्य शरीरको भी लब्धिका निमित्त है ?

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ—[**तैजसम्**] तैजसशरीर [**अपि**] भी लब्धिनिमित्तक है।

टीका

१—तैजसशरीरके दो भेद है–अनि सरण और नि सरण । अनि - सरण सर्व ससारी जीवोके शरीरकी दीप्तिका कारण है, वह लब्धिप्रत्यय नही है। उसका स्वरूप सूत्र ३६ की टीकामे आ चुका है।

२—निःसरण–तैजस शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। यदि किसी क्षेत्रमे रोग, अकाल आदि पडे तो उससे लोगोको दु खी देखकर तपस्या के धारी मुनिके अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाय तो उनके दाहिने कंधेमे से एक तैजसपिड निकलकर १२ योजन तक जीवोका दु ख मिटाकर मूलशरीर मे प्रवेश करता है उसे नि सरणशुभतैजसशरीर कहते हैं। और किसी क्षेत्र मे मुनि अत्यन्त क्रोधित हो जाय तो ऋद्धिके प्रभावसे उनके बांये कंधेसे सिंदूरके समान लाल अग्निरूप कान्तिवाला विलावके आकार एक शरीर निकलकर (वह शरीर बढकर १२ योजन लबा और ९ योजन विस्तार-वाला होकर) १२ योजन तकके सब जीवोके शरीरको तथा अन्य पुद्गलो को जलाकर भस्म करके मूलशरीरमे प्रवेश करके उस मुनिको भी भस्म कर देता है, (वह मुनि नरक को प्राप्त होता है।) उसे नि सरणअशुभ-तैजसशरीर कहते है ॥ ४८ ॥

आहारक शरीरका स्वामी तथा उसका लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

अर्थ—[आहारकं] आहारक शरीर [शुभम्] शुभ है अर्थात् यह शुभ कार्य करता है [विशुद्धम्] विशुद्ध है अर्थात् वह विशुद्धकर्म (मद कषाय से बंधनेवाले कर्म) का कार्य है। [च अव्याघाति] और व्याघात–बाधारहित है तथा [प्रमत्तसयतस्यैव] प्रमत्तसयत (छठवे गुणस्थानवर्ती) मुनिके ही वह शरीर होता है।

टीका

१—यह शरीर चन्द्रकान्तमणिके समान सफेद रंगका एक हाथ प्रमाणका पुरुषाकार होता है, वह पर्वत वज्र इत्यादिसे नही रुकता इसलिये अव्याघाति है। यह शरीर प्रमत्तसंयमी मुनिके मस्तकमे से निकलता है, प्रमत्तसयत गुणस्थानमे ही यह शरीर होता है अन्यत्र नही होता, और यह शरीर सभी प्रमत्तसयत मुनियोके भी नही होता।

२—यह आहारकशरीर (१) कदाचित् लब्धि विशेषके सद्भाव जाननेके लिये, (२) कदाचित् सूक्ष्मपदार्थके निर्णयके लिये तथा (३) कदाचित् तीर्थगमनके या सयमकी रक्षाके निमित्त उसका प्रयोजन है, केवली-

भगवान् अथवा श्रुतकेवली भगवान्के पास जाते ही स्वय निर्णय करके अंतर्मुहूर्तमे वापिस आकर सयमी मुनिके शरीरमे प्रवेश करता है ।

३—जिससमय भरत–ऐरावत क्षेत्रोमे तीर्थंकर भगवानकी, केवली की, या श्रुतकेवलीकी उपस्थिति नही होती और उनके बिना मुनिका समाधान नही हो पाता तब महाविदेह क्षेत्रमे जहाँ तीर्थंकर भगवान इत्यादि विराजमान होते है वहाँ उन (भरत या ऐरावत क्षेत्रके) मुनिका आहारक शरीर जाता है और भरत–ऐरावत क्षेत्रमे तीर्थकरादि होते है तब वह निकट के क्षेत्रमे जाता है । महा विदेहमे तीर्थकर त्रिकाल होते हैं इसलिये वहाँके मुनिके ऐसा प्रसग आये तो उनका आहारक शरीर उस क्षेत्रके तीर्थंकरादिके पास जाता है ।

४–(१) देव अनेक वैक्रियिक शरीर कर सकते है, मूलशरीर सहित देव स्वर्गलोकमे विद्यमान रहते है और विक्रियाके द्वारा अनेक शरीर करके दूसरे क्षेत्रमे जाते है जैसे कोई सामर्थ्यका धारक देव अपना एक हजार रूप किये परन्तु उन हजारो शरीरोमे उस देवकी आत्माके प्रदेश होते हैं । मूल वैक्रियिक शरीर जघन्य दश हजार वर्ष तक रहता है अर्थात् अधिक जितनी आयु होती है उतने समय तक रहता है । उत्तर वैक्रियिक शरीरका काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अतर्मुहूर्त ही है । तीर्थकर भगवानके जन्मके समय और नदीश्वरादिके जिनमदिरोकी पूजाके लिये देव जाते हैं तब वारबार विक्रिया करते हैं ।

(२) प्रमत्तसयत मुनिका आहारक शरीर दूर क्षेत्र-विदेहादिमे जाता है।

(३) तैजसशरीर १२ योजन (४८ कोस) तक जाता है ।

(४) आत्मा अखड है उसके खण्ड नही होते । आत्माके असख्यात प्रदेश है वे कार्मण शरीरके साथ निकलते है मूलशरीर ज्योका त्यो वना रहता है, और उसमे भी प्रत्येक स्थलमे आत्माके प्रदेश अखण्ड रहते हैं ।

(५)–जैसे अन्नको प्राण कहना उपचार है उसीप्रकार इस सूत्रमे आहारक शरीरको उपचारसे ही 'शुभ' कहा है । दोनो स्थानोमे कारणमे कार्य का उपचार (व्यवहार) किया गया है । जैसे अन्नका फल प्राण है उसीप्रकार शुभका फल आहारक शरीर है, इसलिये यह उपचार है ॥ ४९ ॥

लिंग अर्थात् वेदके स्वामी

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ—[नारकसम्मूर्च्छिनो] नारकी और सम्मूर्च्छन जन्मवाले [नपुंसकानि] नपुंसक होते है।

टीका

१–लिंग अर्थात् वेद दो प्रकारके हैं—(१) **द्रव्यलिंग**=पुरुष स्त्री या नपुंसकत्व बतानेवाला शरीरका चिह्न और (२) **भावलिंग**=स्त्री, पुरुष अथवा स्त्री पुरुष दोनोके भोगनेकी अभिलाषारूप आत्माके विकारी परिणाम। नारकी और सम्मूर्च्छन जीवोके द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनो नपुंसक होते है।

२—नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं, क्योकि उन जीवोके स्त्री-पुरुष संबंधी मनोज्ञ शब्दका सुनना, मनोज्ञगंधका सूंघना, मनोज्ञरूपका देखना, मनोज्ञरसका चखना, या मनोज्ञस्पर्शका स्पर्शन करना इत्यादि कुछ नही होता इसलिये थोडासा कल्पित सुख भी उन जीवोके नही होता, अतः निश्चय किया जाता है कि वे जीव नपुंसक ही हैं ॥ ५० ॥

देवोंके लिंग

न देवाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—[देवाः] देव [न] नपुंसक नही होते अर्थात् देवोके पुरुषलिंग और देवियोके स्त्रीलिंग होता है।

टीका

१—देवगतिमे द्रव्यलिंग तथा भावलिंग एकसे होते हैं। २–भोगभूमि म्लेच्छखण्डके मनुष्य स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनोको धारण करते है, वहाँ नपुंसक उत्पन्न नही होते ॥ ५१ ॥

अन्य कितने लिंगवाले हैं ?

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—[**शेषाः**] शेषके गर्भज मनुष्य और तिर्यंच [**त्रिवेदाः**] तीनों वेदवाले होते है।

टीका

भाववेदके भी तीन प्रकार है–(१) पुरुषवेदकी कामाग्नि तृणकी अग्निके समान जल्दी शात हो जाती हैं, (२) स्त्रीवेदकी कामाग्नि अगारके समान गुप्त और कुछ समयके बाद शात होती है, और (३) नपु सकवेदकी कामाग्नि ईटकी आगके समान बहुत समयतक बनी रहती है ॥ ५२ ॥

किनकी आयु अपवर्तन (-अकालमृत्यु) रहित है ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

अर्थ—[**औपपादिक**] उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, [**चरम उत्तम देहाः**] चरम उत्तम देहवाले अर्थात् उसी भवमे मोक्ष जाने वाले तथा [**असंख्येयवर्ष आयुषः**] असख्यात वर्ष आयुवाले भोगभूमिके जीवोकी [**आयुषः अनपवर्ति**] आयु अपवर्तन रहित होती है।

टीका

१–आठ कर्मोंमे आयुनामका एक कर्म है। भोग्यमान (भोगी जाने-वाली) आयु कर्मके रजकण दो प्रकारके होते है–सोपक्रम और निरुपक्रम। उनमे से आयुके प्रमाणमे प्रतिसमय समान निषेक निर्जरित होते है, उस प्रकारका आयु निरुपक्रम अर्थात् अपवर्तन रहित है, और जिस आयुकर्मके भोगनेमे पहिले तो समय समयमे समान निषेक निर्जरित होते है परन्तु उसके अतिमभागमे बहुतसे निषेक एकसाथ निर्जरित हो जाये उसीप्रकारकी आयु सोपक्रम कहलाती है। आयुकर्मके बधमे ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरुपक्रम आयुका उदय हो उसके समय समय समान निर्जरा होती है इस-

लिये वह उदय कहलाता है, और सोपक्रम आयुवालेके पहिले अमुक समय तो उपरोक्त प्रकारसे ही निर्जरा होती है तब उसे उदय कहते है, परन्तु अन्तिम अतर्मुहूर्तमे सभी निषेक एक साथ निर्जरित हो जाते हैं इसलिये उसे उदीरणा कहते है वास्तवमे किसी की आयु बढती या घटती नही है परन्तु निरपक्रम आयुका सोपक्रम आयुसे भेद बतानेके लिये सोपक्रम आयु-वाले जीवकी 'अकाल मृत्यु हुई' ऐसा व्यवहार से कहा जाता है ।

२—उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट, चरमदेह उत्कृष्ट होती है, क्योकि जो जो जीव केवलज्ञान पाते है उनका शरीर केवलज्ञान प्रगट होने पर पर-मौदारिक हो जाता है । जिस शरीरसे जीवको केवलज्ञान प्राप्त नही होता वह शरीर चरम नही होता, और परमौदारिक भी नही होता । मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव का शरीरके साथ निमित्त-नैमित्तिक सबध केवलज्ञान प्राप्त होने पर कैसा होता है यह बतानेके लिये इस सूत्रमे चरम और उत्तम, ऐसे दो विशेषण दिये गये है, जब केवलज्ञान प्रगट होता है तब उस शरीर को 'चरम' सज्ञा प्राप्त होती है, और वह परमौदारिकरूप हो जाता है इसलिये उसे 'उत्तम' सज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु वज्रवृषभनाराचसहनन तथा समचतुरस्रसस्थान के कारण शरीरको 'उत्तम' सज्ञा नही दी जाती ।

३—सोपक्रम-कदलीघात अर्थात् वर्तमानके लिये अपवर्तन होने-वाली आयुवालेके बाह्यमे विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, श्वासा-वरोध, अग्नि, जल, सर्प, अजीर्णभोजन, वज्रपात, शूली, हिंसकजीव, तीव्र-भूख या प्यास आदि कोई निमित्त होते हैं । (कदलीघातके अर्थके लिये देखो अ० ४ सूत्र २६ की टीका)

४—कुछ अत कृत केवली ऐसे होते है कि जिनका शरीर उपसर्गसे विदीर्ण हो जाता है परतु उनकी आयु अपवर्तनरहित है । चरमदेहधारी, गुरुदत्त, पाडव इत्यादिको उपसर्ग हुआ था परन्तु उनकी आयु अपवर्तन-रहित थी ।

५—'उत्तम' शब्दका अर्थ त्रेसठ शलाका पुरुष, अथवा कामदेवादि ऋद्धियुक्त पुरुष ऐसा करना ठीक नही है । क्योकि सुभौमचक्रवर्ती अतिम

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा अतिम अर्धचक्रवर्ती वासुदेव आयु के अपवर्तन होने पर मरणको प्राप्त हुये थे ।

६—भरत और बाहुबली तद्भवमोक्षगामी जीव हुये है, इसलिये परस्परमे लडने पर भी उनकी आयु बिगड सकती नही–ऐसा कहा है वह बताता है कि 'उत्तम' शब्दका तद्भवमोक्षगामी जीवोके लिये ही प्रयोग किया गया है ।

७—सभी सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती, अनपवर्तन आयुवाले होते हैं ऐसा नियम नही है ।

८—सर्वार्थसिद्धि टीकामे श्री पूज्यपाद आचार्य देवने 'उत्तम' शब्दका अर्थ किया है, इसलिये मूल सूत्रमे वह शब्द है यह सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने तत्त्वार्थसारके दूसरे अध्यायकी १३५ वी गाथामे उत्तम शब्द का प्रयोग किया है, वह गाथा निम्नप्रकार है—

असंख्येय समायुक्ताश्चरमोत्तममूर्तयः
देवाश्च नारकाश्चैषाम् अपमृत्युर्नविद्यते ॥ १३५ ॥

उपसंहार

(१) इस अध्यायमे जीवतत्त्वका निरूपण है, उसमे प्रथम ही जीव के औपशमिकादि पाँच भावोका वर्णन किया है [सूत्र १] पाँच भावोके ५३ भेद सात सूत्रोमे कहे है [सूत्र ७ तक] तत्पश्चात् जीवका प्रसिद्ध लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेद कहे है [सूत्र ९] जीवके संसारी और मुक्त दो भेद कहे है [सूत्र १०] उनमेसे ससारी जीवोके भेद सैनी असैनी तथा त्रस स्थावर कहे हैं, और त्रसके भेद दो इन्द्रियसे पचेन्द्रिय तक बतलाये हैं, पाँच इन्द्रियोके द्रव्येन्द्रिय, और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद कहे है, और उसके विषय बतलाये है [सूत्र २१ तक] एकेन्द्रियादि जीवोके कितनी इन्द्रियाँ होती है इसका निरूपण किया है [सूत्र २३ तक] और फिर सैनी जीवोका तथा जीव परभवगमन करता है। उसका (गमनका)स्वरूप कहा है [सूत्र ३० तक] तत्पश्चात् जन्मके भेद, योनिके भेद, तथा गर्भज, देव, नारकी, और सम्मूर्च्छन जीव कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निर्णय

किया है। [सूत्र ३५ तक] पांच शरीरो के नाम बतलाकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलताका स्वरूप कहा है, और वे कैसे उत्पन्न होते है इसका निरूपण किया है [सूत्र ४९ तक] फिर किस जीवके कौनसा वेद होता है यह कहा है [सूत्र ५२ तक] फिर उदयमरण और उदीरणामरणका नियम बताया है [सूत्र ५३]

जबतक जीवकी अवस्था विकारी होती है तबतक ऐसे परवस्तु के सयोग होते है, यहाँ उनका ज्ञान कराया है, और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागता प्राप्त करके ससारी मिटकर मुक्त होनेके लिये बतलाया है।

२. पारिणामिकभावके संबंधमें

जीव और उसके अनन्तगुण त्रिकाल अखण्ड अभेद है इसलिये वे पारिणामिकभावसे है। प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येकगुणका प्रतिक्षण परिणमन होता है, और जीव भी द्रव्य है इसलिए तथा उसमे द्रव्यत्व नामका गुण है इसलिए प्रतिसमय उसके अनन्तगुणो का परिणमन होता रहता है, उस परिणमनको पर्याय कहते हैं। उसमे जो पर्यायें अनादिकालसे शुद्ध है वे भी पारिणामिक भावसे हैं।

जीवकी अनादिकालसे ससारी अवस्था है यह बात इस अध्यायके १० वे सूत्र मे कही है, क्योकि जीव अपनी अवस्थामे अनादिकालसे प्रतिक्षण नया विकार करता आ रहा है, किन्तु यह ध्यान रहे कि उसके सभी गुणोकी पर्यायोमे विकार नही होता किन्तु अनन्त गुणोमे से बहुत से कम गुणोकी अवस्थामे विकार होता है। जितने गुणोकी अवस्थामे विकार नही होता उतनी पर्यायें शुद्ध है।

प्रत्येक द्रव्य सत् है इसलिए उसकी पर्यायमे प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्यत्वको पर्याय अवलबन करती है। उन तीन अशोमेसे जो सदृशतारूप ध्रौव्य अश है वह अश अनादि अनत एक प्रवाहरूप है, ध्रौव्य पर्याय भी पारिणामिकभावसे है।

इससे निम्नप्रकार पारिणामिकभाव सिद्ध हुआ—

द्रव्यका त्रिकालत्व तथा अनन्तगुण और उनकी पर्यायो का एक

प्रवाहरूपसे रहनेवाला अनादि अनन्त ध्रौव्यांश यह तीनो अभेदरूपसे पारिणामिकभाव है, और उसे द्रव्यदृष्टिसे परमपारिणामिकभाव कहा जाता है।

३. उत्पाद और व्यय पर्याय—

अब उत्पाद और व्ययपर्यायके सम्बन्धमे कहते है—व्ययपर्याय अभावरूप है और वह पारिणामिक भावसे है।

द्रव्यके अनन्त गुणोकी प्रतिसमय उत्पादपर्याय होती रहती है, उसमे जिन गुणोकी पर्याय अनादिकालसे अविकारी है वह पारिणामिकभावसे है और वह पर्याय है इसलिए पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है।

परकी अपेक्षा रखनेवाले जीवके भावोके चार विभाग होते है—१—औपशमिकभाव, २—क्षायोपशमिकभाव, ३—क्षायिकभाव और ४—औदयिकभाव। इन चार भावोका स्वरूप पहिले इस अध्यायके सूत्र १ की टीका मे कहा है।

४. धर्म करनेके लिये पाँच भावोंका ज्ञान कैसे उपयोगी है?

यदि जीव इन पाँच भावोके स्वरूपको जान ले तो वह स्वय यह समझ सकता है कि—किस भावके आधारसे धर्म होता है। पाँच भावोमे से पारिणामिकभावके अतिरिक्त शेष चार भावोमेसे किसी के लक्ष्यसे धर्म नही होता, और जो पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है उसके आश्रय से भी धर्म नही होता–यह वह समझ सकता है।

जब कि अपने पर्यायार्थिकनयसे वर्तनेवाले पारिणामिकभावके आश्रय से भी धर्म नही होता तब फिर निमित्त जो कि परद्रव्य है—उसके आश्रय से या लक्ष्य से तो धर्म हो ही नही सकता, यह भी वह समझता है। और परमपारिणामिकभावके आश्रय से ही धर्म होता है ऐसा वह समझता है।

५. उपादानकारण और निमित्तकारणके सम्बन्धमें—

प्रश्न—जैनधर्मने वस्तुका स्वरूप अनेकान्त कहा है, इसलिए किसी समय उपादान (परमपारिणामिकभाव) की मुख्यतासे धर्म हो और किसी समय निमित्त (परद्रव्य) की मुख्यतासे धर्म हो, ऐसा होना चाहिए।

उपरोक्त प्रकारसे मात्र उपादान (परमपारिणामिकभाव) से धर्म होता है ऐसा कहने से एकान्त हो जायगा।

उत्तर—यह प्रश्न सम्यक्‌अनेकान्त, मिथ्याअनेकान्त, और सम्यक् और मिथ्या एकान्तके स्वरूपकी अज्ञानता बतलाना है। परमपारिणामिक भावके आश्रयसे धर्म हो और दूसरे किसी भावके आश्रयसे धर्म न हो इस प्रकार अस्तिनास्ति स्वरूप सम्यक् अनेकान्त है। प्रश्नमे बतलाया गया अनेकान्त मिथ्याअनेकान्त है। और यदि इस प्रश्नमे बतलाया गया सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तो वह मिथ्याएकान्त होता है, क्योंकि यदि किसी समय निमित्तकी मुख्यतासे (अर्थात् परद्रव्यकी मुख्यतासे) धर्म हो तो परद्रव्य और स्वद्रव्य दोनो एक हो जांय, जिसमे मिथ्याएकान्त होता है?

जिस समय उपादान कार्य परिणत होता है उसी कार्य के समय निमित्त कारण भी स्वय उपस्थित होता है, लेकिन निमित्तकी मुख्यता से किसी भी कार्य किसी भी समय नही होता, ऐसा नियम दिखाने के लिए श्री बनारसीदासजीने कहा है कि—

"उपादान निज गुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझे कोय,
उपादान बल जहँ तहाँ, नही निमित्तको दाव,
एक चक्रसो रथ चलै, रविको यहै स्वभाव,
सबै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन,
ज्यो जहाज परवाहमे, तिरै सहज विन पौन,"

प्रश्न—तब फिर शास्त्रमे यह तो कहा है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और भगवानकी दिव्यध्वनिके आश्रयसे धर्म होता है, इसलिए, कभी उन निमित्तोकी मुख्यतासे धर्म होता है ऐसा माननेमे क्या दोष है?

(१) **उत्तर**—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु आदिसे धर्म होता है ऐसा कथन व्यवहारनयका है, उसका परमार्थ तो ऐसा है कि–परमशुद्धनिश्चय-नयग्राहक परमपारिणामिकभावके आश्रयसे (अर्थात् निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य परमात्मभाव–ज्ञायकभावसे) धर्म होता है, जीव शुभभावरूप राग

का अवलम्बन लेता है उसमे सत्देव, सत्गुरु, सत्शास्त्र तथा भगवान की दिव्यध्वनि निमित्तमात्र है, तथा उस ओरका रागविकल्पको टाल करके जीव जब परमपारिणामिकभावका (ज्ञायकभावका) आश्रय लेता है तब उसके धर्म प्रगट होता है और उस समय रागका अवलम्बन छूट जाता है। धर्म प्रगट होनेके पूर्व राग किस दिशामे ढला था यह बतानेके लिए देवगुरु-शास्त्र या दिव्यध्वनि इत्यादिक निमित्त कहनेमे आते है, परन्तु निमित्त की मुख्यतासे किसी भी समय धर्म होता है यह बतानेके लिये निमित्त का ज्ञान नही कराया जाता।

(२) किसी समय उपादान कारणकी मुख्यतासे धर्म होता है और किसी समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे धर्म होता है—अगर ऐसा मान लिया जाय तो धर्म करनेके लिये कोई त्रिकालवर्ती अबाधित नियम नही रहेगा, और यदि कोई नियमरूप सिद्धान्त न हो तो धर्म किस समय उपादान कारणकी मुख्यतासे होगा और किस समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे होगा यह निश्चित् न होनेसे जीव कभी धर्म नही कर सकेगा।

(३) धर्म करनेके लिये त्रैकालिक एकरूप नियम न हो ऐसा नही हो सकता, इसलिये यह समझना चाहिये कि जो जीव पहिले धर्मको प्राप्त हुए हैं, वर्तमान मे धर्मको प्राप्त हो रहे है और भविष्यमे धर्मको प्राप्त करेगे उन सबके पारिणामिकभावका ही आश्रय है, किसी अन्यका नही।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव ही सम्यग्दर्शन होनेके बाद सच्चे देव गुरु शास्त्रका अवलबन लेते है और उसके आश्रयसे उन्हे धर्म प्राप्त होता है तो वहाँ निमित्तकी मुख्यतासे धर्मका कार्य हुआ या नही ?

उत्तर—नही, निमित्तकी मुख्यतासे कही भी कोई कार्य होता ही नही है। सम्यग्दृष्टिके जो राग और रागका अवलबन है उसका भी खेद रहता है, सच्चे देव गुरु या शास्त्रका भी कोई जीव अवलबन ले ही नही सकता, क्योकि वह भी परद्रव्य है, फिर भी जो यह कहा जाता है कि—ज्ञानीजन सच्चे देवगुरु शास्त्रका अवलबन लेते है वह उपचार है, कथनमात्र है, वास्तव मे परद्रव्यका अवलबन नही, किन्तु वहाँ अपनी अशुद्ध अवस्थारूप रागका ही अवलबन है।

अब जो उस शुभभावके समय सम्यग्दृष्टिके शुद्ध भाव बढ़ता है वह अभिप्रायमे परमपारिणामिकभावका आश्रय है उसीके बलसे बढ़ता है । अन्य प्रकारसे कहा जाय तो सम्यग्दर्शनके बलसे वह शुद्धभाव बढ़ते हैं किंतु शुभ-राग या परद्रव्यके अवलबनसे शुद्धता नही बढ़ती ।

प्रश्न—देव गुरु शास्त्रको निमित्तमात्र कहा है और उनके अवलबन को उपचारमात्र कहा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—इस विश्वमे अनन्त द्रव्य हैं, उनमेसे रागके समय छद्मस्थ जीवका झुकाव किस द्रव्यकी ओर हुआ यह बतानेके लिये उस द्रव्यको 'निमित्त' कहा जाता है । जीव अपनी योग्यतानुसार जैसा परिणाम (-कार्य) करता है वैसा अनुकूल निमित्तपनेका परद्रव्यमे उपचार किया जाता है इस-प्रकार जीव शुभरागका आलबन करे तो देव-गुरु शास्त्र निमित्तमात्र है और उसका आलबन उपचारमात्र है ।

निमित्त-नैमित्तिक सबध जीवको सच्चा ज्ञान करनेके लिये है, ऐसी मिथ्या मान्यता करनेके लिये नही कि—'धर्म करनेमे किसीसमय निमित्त की मुख्यता होती है । जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहते हैं उन्हे स्वतत्रता-रूप निमित्त नैमित्तिक सबधके स्वरूपका यथार्थज्ञान कर लेना चाहिये । उस ज्ञानकी आवश्यकता इसलिये है कि—यदि वह ज्ञान न हो तो जीवका ऐसा अन्यथा झुकाव बना रह सकता है कि–किसीसमय निमित्तकी मुख्यता से भी कार्य होता है, और इससे उसका अज्ञानपना दूर नही होगा । और इस निमित्ताधीनदृष्टि, पराधीनता स्वीकार करनेवाली सयोगदृष्टि है जो ससार का मूल है इससे उसके अपार ससार भ्रमण चलता रहेगा ।

६. इन पाँच भावोंके साथ इस अध्यायके सूत्र कैसे संबंध रखते हैं, इसका स्पष्टीकरण

सूत्र–१. यह सूत्र पाँचो भाव बतलाता है, उसमे शुद्ध द्रव्यार्थिक-नयके विषयरूप अपने पारिणामिक भावके आश्रयसे ही धर्म होता है ।

सूत्र २–६. यह सूत्र पहिले चार भावोके भेद बतलाते हैं । उनमेसे तीसरे सूत्रमे औपशमिकभावके भेदोका वर्णन करते हुए पहिले सम्यक्त्व

लिया है, क्योंकि धर्मका प्रारंभ औपशमिक सम्यक्त्वसे होता है, सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद आगे बढने पर कुछ जीवोंके औपशमिक चारित्र होता है इसलिये दूसरा औपशमिक चारित्र कहा है। इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई औपशमिक भाव नही है। [सूत्र ३]

जो जो जीव धर्मके प्रारम्भमे प्रगट होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्व को पारिणामिकभावके आश्रयसे प्राप्त करते है वे अपनेमे शुद्धिको बढाते बढाते अन्तमे सपूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेते हैं, इसलिए उन्हे सम्यक्त्व और चारित्र की पूर्णता होनेके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—गुणोकी पूर्णता प्रगट होती है। इन नौ भावोकी प्राप्ति क्षायिकभाव से पर्याय मे होती है, इसलिये फिर कभी विकार नही होता और वे जीव अनन्त काल तक प्रतिसमय सम्पूर्ण आनन्द भोगते हैं, इसलिये चौथे सूत्रमे यह नौ भाव बतलाये हैं। उन्हे नव लब्धि भी कहते है।

सम्यक्ज्ञानका विकास कम होनेपर भी सम्यग्दर्शन–सम्यग्चारित्र के बलसे वीतरागता प्रगट होती है, इसलिये उन दो शुद्ध पर्यायोके प्रगट होनेके बाद शेष सात क्षायिक पर्यायें एक साथ प्रगट होती है, तब सम्यग्ज्ञानके पूर्ण होनेपर केवलज्ञान भी प्रगट होता है। [सूत्र ४]

जीवमे अनादिकालसे विकार बना हुआ है फिर भी उसके ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुण सर्वथा नष्ट नही होते, उनका विकास कम बढ अशत. रहता है। उपशम सम्यक्त्व द्वारा अनादिकालीन अज्ञान को दूर करने के बाद साधक जीवको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, और उन्हें क्रमश. चारित्र प्रगट होता है, वे सब क्षायोपशमिकभाव हैं। [सूत्र ५]

जीव अनेक प्रकारका विकार करता है और उसके फलस्वरूप चतुर्गतिमे भ्रमण करता है, उसमे उसे स्वस्वरूपकी विपरीत श्रद्धा, विपरीतज्ञान और विपरीत प्रवृत्ति होती है, और इसीसे उसे कषाय भी होती है। और फिर सम्यग्ज्ञान होनेके बाद पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व आशिक कषाय होती है जिससे उसकी भिन्न २ लेश्याएँ होती हैं। जीव स्वरूपका आश्रय छोड कर पराश्रय करता है इसलिये रागादि विकार होते है, उसे औदयिकभाव कहते हैं। मोह सम्बन्धी यह भाव ही ससार है। [सूत्र ६]

सूत्र ७—जीवमे शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो प्रकारके पारिणामिक-भाव हैं। [सूत्र ७ तथा उसके नीचेकी टीका]

सूत्र—८–९—जीवका लक्षण उपयोग है छद्मस्थ जीवका ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्षायोपशमिक होनेसे अनेकरूप और कम वढ होता है, और केवलज्ञान क्षायिकभावसे प्रगट होनेसे एकरूप और पूर्ण होता है। [सूत्र ८–९]

सूत्र १०—जीवके दो भेद है सासारी और मुक्त। उनमेसे अनादि अज्ञानी सासारी जीवके तीन भाव (औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक) होते हैं। प्रथम धर्म प्राप्त करने पर चार (औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक) भाव होते है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेके वाद उपशमश्रेणी माडनेवाले जीव के पाँचो भाव होते हैं और मुक्त जीवो के क्षायिक तथा पारिणामिक दो ही भाव होते हैं। [सूत्र १०]

सूत्र ११—जीवने स्वय जिसप्रकारके ज्ञान, वीर्यादिके विकास की योग्यता प्राप्त की होती है उस क्षायोपशमिकभावके अनुकूल जड मनका सद्भाव या अभाव होता है। जव जीव मनकी ओर अपना उपयोग लगाते हैं तव उन्हे विकार होता है, क्योकि मन पर वस्तु है। और जव जीव अपना पुरुषार्थ मनकी ओर लगाकर ज्ञान या दर्शन का व्यापार करते है तव द्रव्यमनपर निमित्तपनेका आरोप आता है। वैसे द्रव्यमन कोई हानि या लाभ नही करता क्योकि वह परद्रव्य है। [सूत्र ११]

सूत्र १२–२०—अपने क्षायोपशमिक ज्ञानादिके अनुसार और नामकर्मके उदयानुसार ही जीव सासारमे त्रस या स्थावर दशाको प्राप्त होता है। इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके अनुसार जीवकी दशा होती है। पहिले जो नामकर्म वँधा था उसका उदय होनेपर त्रस स्थावरत्वका तथा जड इन्द्रियो और मनका सयोग होता है। [सूत्र १२ से १७ तथा १९ से २०]

ज्ञानके क्षायोपशमिकभावके लब्धि और उपयोग दो प्रकार हैं। [सूत्र १८]

सूत्र २१ से ५३—ससारी जीवोके औदयिकभाव होने पर जो कर्म एक क्षेत्रावगाहरूपसे बँधते है उनके उदयका निमित्त–नैमित्तिक सबध–जीवके क्षायोपशमिक तथा औदयिकभावके साथ तथा मन, इन्द्रिय, शरीर, कर्म, नये-भवके लिये क्षेत्रान्तर, आकाशकी श्रेणी, गति, नो कर्मका समय समय ग्रहण, तथा उनका अभाव, जन्म, योनि, तथा आयुके साथ–कैसा होता है यह बताया है। [सूत्र २१ से २६ तथा २८ से ५३]

सिद्धदशाके होनेपर जीवका आकाशकी किसी श्रेणीके साथ निमित्त–नैमित्तिक सबध है यह २७ वे सूत्रमे बताया है [सूत्र २७]

इससे यह समझना चाहिये कि जीवको विकारी या अविकारी अवस्थामे जिन परवस्तुओके साथ सबध होता है उन्हे जगतकी अन्य पर-वस्तुओ से पृथक् समझनेके लिये उतने ही समयके लिये उन्हे 'निमित्त' नाम देकर सबोधित किया जाता है, **किंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि निमित्त की मुख्यतासे किसी भी समय कार्य होता है।** इस अध्यायका २७ वाँ सूत्र इस सिद्धातको स्पष्टतया सिद्ध करता है। मुक्त जीव स्वय लोकाकाशके अग्रभागमे जानेकी योग्यता रखते है और तब आकाशकी जिस श्रेणीमेसे वे जीव पार होते हैं उस श्रेणीको–आकाशके अन्य भागों से तथा जगतके दूसरे समस्त पदार्थोसे पृथक् करके पहिचाननेके लिये 'निमित्त' नाम (आरोपित करके) दिया जाता है।

७. निमित्त–नैमित्तिक संबंध

यह सबध २६–२७ वे सूत्रमे चमत्कारिक ढगसे अत्यल्प शब्दोमें कहा गया है। वह यहाँ बतलाया जाता है—

१—जीवकी सिद्धावस्थाके प्रथम समयमें वह लोकके अग्रभागमे सीधी आकाश श्रेणीसे मोडा लिये बिना ही जाता है यह सूत्र २६–२७ मे प्रतिपादन किया गया है। जिस समय जीव लोकाग्रमे जाता है उस समय वह जिस आकाश श्रेणीमे से जाता है उसी क्षेत्रमे धर्मास्तिकायके और अधर्मास्तिकायके प्रदेश है, अनेक प्रकारकी पुद्गल वर्गणाए हैं, पृथक् परमाणु है, सूक्ष्म स्कध हैं, कालाणुद्रव्य हैं, महास्कन्धके प्रदेश है, निगोदके जीवोके तथा उनके शरीरके प्रदेश है तथा लोकान्तमे (सिद्धशिलासे ऊपर)

पहिले मुक्त हुए जीवोंके कितने ही प्रदेश है, उन सबमे से पार होकर जीव लोकके अग्रभागमे जाता है। इसलिये अब उसमे उस आकाश श्रेणीमे निमित्तत्वका आरोप आया और दूसरोमे नही आया, इसके कारणकी जांच करने पर मालूम होता है कि वह मुक्त होनेवाला जीव किस आकाशश्रेणीमे से होकर जाता है इसका ज्ञान करानेके लिए उस 'आकाशश्रेणी' को निमित्त सज्ञा दी गई है, क्योकि पहिले समयकी सिद्धदशाको आकाशके साथका सबध बतानेके लिये उस श्रेणीका भाग ही अनुकूल है, अन्य द्रव्य, गुण या पर्याय उसके लिये अनुकूल नही है।

२—सिद्धभगवानके उस समयके ज्ञानके व्यापारमे सम्पूर्ण-आकाश तथा दूसरे सब द्रव्य, उसके गुण तथा उसकी त्रिकालवर्ती पर्याये ज्ञेय होती है इसलिये उसी समय ज्ञानमात्रके लिये वे सब ज्ञेय 'निमित्त' सज्ञा को प्राप्त होते है।

३—सिद्धभगवानके उससमयके परिणमनको काल द्रव्यकी वही समय की पर्याय 'निमित्त' सज्ञाको प्राप्त होती है, क्योकि परिणमनमे वह अनुकूल है, दूसरे अनुकूल नही हैं।

४—सिद्धभगवानकी उस समयकी क्रियावतीशक्तिके गति परिणाम को तथा ऊर्ध्वगमन स्वभावको धर्मास्तिकायके किसी आकाश क्षेत्रमे रहने वाले प्रदेश उसी समय 'निमित्त' सज्ञाको प्राप्त होते है, क्योकि गतिमे वही अनुकूल हैं, दूसरे नही।

५—सिद्धभगवानके ऊर्ध्वगमनके समय दूसरे द्रव्य (जो कि आकाश क्षेत्र मे है वे तथा शेष द्रव्य) भी 'निमित्त' सज्ञाको प्राप्त होते हैं, क्योकि उनसब द्रव्योका यद्यपि सिद्धावस्थाके साथ कोई सबध नही है तथापि विश्व को सदा शाश्वत रखता है इतना बतानेके लिये वह अनुकूल निमित्त है।

६—सिद्धभगवानकी सपूर्ण शुद्धताके साथ कर्मोंका अभावसबध है, इतनी अनुकूलता बतानेके लिये कर्मोंका अभाव भी 'निमित्त' सज्ञाको प्राप्त होता है, इसप्रकार अस्ति और नास्ति दोनो प्रकारसे निमित्तपनेका आरोप

किया जाता है। किन्तु निमित्तको किसी भी प्रकारसे मुख्यरूपसे या गौण-रूप से कार्यसाधक मानना गभीर भूल है। शास्त्रीय परिभाषामे उसे मिथ्यात्व और अज्ञान कहा जाता है।

७—निमित्त जनक और नैमित्तिक–जन्य है, इसप्रकार जीव अज्ञान दशामे मानता है, इसलिये अज्ञानियोकी कैसी मान्यता होती है यह बताने के लिये व्यवहारसे निमित्तको जनक और नैमित्तिकको जन्य कहा जाता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा नही मानते। उनका वह ज्ञान सच्चा है यह उपरोक्त पाँचवाँ पैरा बतलाते है, क्योकि उसमे बताये गये अनत निमित्त या उनमेका कोई अश भी सिद्ध दशाका जनक नही हुआ। और वे निमित्त या उनमेसे किसीके अनतवे अशमे भी नैमित्तिक सिद्धदशा जन्य नही हुई।

८—ससारी जीव भिन्न २ गतिके क्षेत्रोमे जाते हैं वे भी अपनी क्रियावतीशक्तिके उस उस समयके परिणमनके कारणसे जाते है, उसमे भी उपरोक्त पैरा १ से ५ मे बताये गये अनुसार निमित्त होते है। किन्तु क्षेत्रान्तरमे धर्मास्तिकायके प्रदेशोकी उस समयकी पर्यायके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य, गुण या पर्याय निमित्त सज्ञाको प्राप्त नही होता। उस समय अनेक कर्मोंका उदय होने पर भी एक विहायोगति नामकर्मका उदय ही 'निमित्त' सज्ञा पाता है। गत्यानुपूर्वी कर्मके उदयको जीवके प्रदेशोके उस समयके आकारके साथ क्षेत्रान्तर के समय निमित्तपना है और जब जीव जिस क्षेत्रमे स्थिर हो जाता है उस समय अधर्मास्तिकायके उस क्षेत्रके प्रदेशोकी उस समयकी पर्याय 'निमित्त' सज्ञाको प्राप्त होती है।

सूत्र २५ बतलाता है कि क्रियावती शक्तिके उस समयके परिणमनके समय योग गुणकी जो पर्याय पाई जाती है उसमे कार्मण शरीर निमित्त है, क्योकि कार्मण शरीरका उदय उसके अनुकूल है। कार्मण शरीर और तैजस शरीर अपनी क्रियावतीशक्ति के उस समयके परिणमनके कारण जाता है, उसमे धर्मास्तिकाय निमित्त है।

९—इस शास्त्रमे निमित्तको किसी स्थान पर 'निमित्त' नामसे ही कहा गया है। [देखो अ० १ सू० १४] और किसी स्थान पर उपकार, उपग्रह, इत्यादि नामसे कहा गया है, [देखो अ० ५ सू० १७ से २०], भावअपेक्षामे उसका एक ही अर्थ होता है, किन्तु अज्ञानी जीव यह मानते है कि एक वस्तु से दूसरी वस्तुका भला–बुरा होता है, यह बतानेके लिये उसे 'उपकार' सहायक, बलाधान, बहिरगसाधन, बहिरगकारण, निमित्त और निमित्तकारण इत्यादि नाममे सबोधित करते है, किन्तु इससे यह नही मान लेना चाहिये कि वे वास्तविक कारण या साधन हैं। एक द्रव्य को, उसके गुणोको या उसकी पर्यायोको दूसरेसे पृथक् करके दूसरेके साथ का उसका सयोगमात्र सम्बन्ध बतानेके लिये उपरोक्त नामो से सम्बोधित किया जाता है। इन्द्रियोको, धर्मास्तिकायको, अधर्मास्तिकाय इत्यादि को, बलाधानकारणके नामसे भी पहिचाना जाता है, किन्तु वह कोई भी सच्चा कारण नही है, फिर भी 'किसी भी समय उनकी मुख्यतासे कोई कार्य होता है' ऐसा मानना निमित्तको ही उपादान माननेके बराबर अथवा व्यवहार को ही निश्चय माननेके बराबर है।

१०—उपादानकारणके योग्य निमित्त सयोगरूपसे उस उस समय अवश्य होते हैं। ऐसा सम्बन्ध उपादान कारणकी उस समयकी परिणमन शक्ति को, जिस पर निमित्तत्वका आरोप आता है उसके साथ है। उपादान को अपने परिणमनके समय उन उन निमित्तोके आनेके लिये राह देखनी पडे और वे न आये तब तक उपादान नही परिणमता, ऐसी मान्यता उपादान और निमित्त इन दो द्रव्योको एकरूप माननेके बराबर है।

११—इसीप्रकार घडेका कुम्भकारके साथ और रोटी का अग्नि, रसोइया इत्यादिके साथका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध समझ लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये जीवने स्वय अपने पुरुषार्थसे पात्रता प्राप्त की हो फिर भी उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये सद्गुरुकी राह देखनी पडे ऐसा नही होता, किन्तु वह सयोगरूपसे उपस्थित होता ही है, इसीलिये जब बहुत से जीव धर्म प्राप्त करनेके लिये तैयार होते है तब तीर्थंकर भगवान

का जन्म होता है और वे योग्य समयमे केवलज्ञानको प्राप्त करते है तथा उनकी दिव्यध्वनि स्वयं प्रगट होती है, ऐसा समझना चाहिये।

८. तात्पर्य

तात्पर्य यह है कि–इस अध्यायमे कहे गये पाँच भाव तथा उनके दूसरे द्रव्योके साथके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करके अन्य सब परसे लक्ष हटाकर परमपारिणामिकभावकी ओर अपनी पर्यायको उन्मुख करने पर सम्यग्दर्शन होता है और फिर उस ओर बल बढाने पर सम्यग्चारित्र होता है, यही धर्ममार्ग (मोक्षमार्ग) है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित
मोक्षशास्त्रके दूसरे अध्यायकी
टीका समाप्त हुई।



मोक्षशास्त्र अध्याय तीसरा

भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें निश्चय 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है' यह बतलाया है,—इसका कोई मोक्ष-मार्ग नहीं है। इसमें यह भी बतलाया है कि पुण्यसे,—शुभभावसे अथवा परवस्तु अनुकूल हो तो धर्म हो सकता है ऐसा मानना भ्रम है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्माकी शुद्ध पर्याय है। यदि इसे एक शब्दमें कहा जाय तो 'शुद्ध पुरुषार्थ' मोक्षमार्ग है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माकी अपनी अपनी शुद्ध परिणति ही धर्म है, यह बतलाकर अनेकान्त स्वरूप बतलाया है। प्रथम सूत्रमें जो पहिला शब्द 'सम्यग्दर्शन' कहा है यह सूचित करता है कि धर्मका प्रारंभ निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही होता है। उस अध्यायमें निश्चय सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा है। तत्पश्चात् तत्त्वार्थका स्वरूप समझाया है और सम्यग्ज्ञानके अनेक प्रकार बतलाकर मिथ्याज्ञानका स्वरूप भी समझाया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता (-एक ही) मोक्ष-मार्ग है,—इसप्रकार पहिले सूत्रमें स्पष्टतया बतलाकर सूचित किया है कि—किसी समय उपादानकी परिणतिकी मुख्यता से कार्य होता है और किसी समय संयोगरूप बाह्य अनुकूल निमित्तकी (जिसे उपचार कारण कहा जाता है उसकी) मुख्यता से कार्य होता है—ऐसा अनेकान्तका स्वरूप नहीं है।

दूसरे अध्यायमें जीव तत्त्वका अधिकार प्रारंभ किया है; उसमें जीवके स्वतत्त्वरूप—निजस्वरूप पाँचभाव बतलाये हैं। उन पाँच भावोंमेंसे सकल-निरावरण, अखंड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक परम-भाव, (ज्ञायकभाव) के आश्रयसे धर्म होता है यह बतलानेके लिये, औप-शमिकभाव जो कि धर्मका प्रारंभ है उसे पहिलेभावके रूपमें वर्णन किया है। तत्पश्चात् जीवका लक्षण उपयोग है यह बतलाकर उसके भेद बतलाये हैं,

और यह बतलाया है कि पाचभावोके साथ परद्रव्योका—इन्द्रिय इत्यादिका कैसा सबध होता है ।

जीवको औदयिकभाव ही ससार है । शुभभावका फल देवत्व है, अशुभभावकी तीव्रताका फल नारकीपन है, शुभाशुभभावोकी मिश्रताका फल मनुष्यत्व है, और मायाका फल तिर्यचपना है, जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये अशुद्धभावोके कारण उसका भ्रमण हुआ करता है वह भ्रमण कैसा होता है यह तीसरे और चौथे अध्यायमे बतलाया है । उस भ्रमण मे (भवोमे) शरीरके साथ तथा क्षेत्रके साथ जीवका किस प्रकारका सयोग होता है वह यहाँ बताया जा रहा है । मास, शराब, इत्यादिके खान-पानके भाव, कठोर झूठ, चोरी, कुशील, तथा लोभ इत्यादिके तीव्र अशुभ-भावके कारण जीव नरकगतिको प्राप्त करता है उसका इस अध्यायमे पहिले वर्णन किया है और तत्पश्चात् मनुष्य तथा तिर्यंचोके क्षेत्रका वर्णन किया है ।

चौथे अध्यायमे देवगतिसे सबध रखनेवाले विवरण बताये गये हैं ।

इन दो अध्यायोका सार यह है कि—जीवके शुभाशुभ विकारीभावो के कारण जीवका अनादिकालसे परिभ्रमण होरहा है उसका, मूलकारण मिथ्यादर्शन है, इसलिये भव्यजीवोको मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये । सम्यग्दर्शनका बल ऐसा है कि उससे क्रमश. सम्य-ग्चारित्र बढता जाता है और चारित्रकी पूर्णता करके परम यथाख्यात-चारित्रकी पूर्णता करके, जीव सिद्ध गतिको प्राप्त करता है । अपनी भूलके कारण जीवकी कैसी कैसी गति हुई तथा उसने कैसे कैसे दु ख पाये और बाह्य सयोग कैसे तथा कितने समय तक रहे यह बतानेके लिये अध्याय २–३–४ कहे गये है । और उस भूलको दूर करनेका उपाय पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमे बतलाया गया है ।



अधोलोकका वर्णन

सात नरक-पृथिवियाँ

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

✽अर्थः—अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, और महातमप्रभा ये सात भूमियाँ हैं और क्रमसे नीचे २ घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाशका आधार है।

टीका

१ रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। उनमें से ऊपरके पहिले दो भागोंमें व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं, और नीचेके अब्बहुलभागमें नारकी रहते हैं। इस पृथ्वीका कुल विस्तार एक लाख अस्सी हजार योजन है। [२००० कोपका एक योजन होता है।]

२. इन पृथ्वियोंके रूढिगत नाम ये हैं–१-धम्मा, २—वंशा, ३—मेघा, ४—अंजना, ५—अरिष्टा, ६—मघवी और ७—माघवी है।

३—अम्बु (घनोदधि) वातवलय=वाष्पका घना वातावरण,

घनवातवलय=घनी हवाका वातावरण।

तनुवातवलय=पतली हवाका वातावरण।

वातवलय=वातावरण।

'आकाश' कहने से यहाँ अलोकाकाश समझना चाहिए॥ १॥

✽ इस अध्यायमें भूगोल संबंधी वर्णन होने से, पहिले दो अध्यायोंकी भाँति सूत्र के शब्द पृथक् करके अर्थ नहीं दिया गया है किंतु पूरे सूत्रका सीधा अर्थ दिया गया है।

क-

।

दूसरीमे
३ लाख,
रक बिले

मानते है
त होनेसे
ही नरक
नकी यह
गति उन
र है —

खने की
जीवोको
ष्ट बुद्धिमे
र अनत
है ।

प्रमान हैं,
को मार-
मे बाधा
दा नही
इसलिये

उसका फल भी अपार अनत दु ख भोगनेका ही है, ऐसा स्थान नरक है, मनुष्यलोकमे ऐसा कोई स्थान नही है।

जो दूसरोको मारकर प्रतिकूलताको दूर करना चाहते हैं वे जितने विरोधी मालूम होते है उन सवको मारना चाहते हैं, फिर चाहे प्रतिकूलता करनेवाले दो चार हो या बहुत हो उन सवका नाश करनेकी भावनाका सेवन निरतर करता है। उसके अभिप्रायमे अनतकाल तक अनतभव धारण करने के भाव भरे पडे हैं। उस भवकी अनतसख्याके कारणमे अनन्त जीवोको मारनेका सहार करनेका अमर्यादित पाप भाव है। जिस जीवने कारणमे अनन्तकाल तक अनन्त जीवोको मारनेके, वाधा डालनेके भाव सेये है उसके फलमे उस जीवको तीव्र दु खोके सयोगमे जाना पडता है, और वह नरक-गति है। लाखो खून (—हत्या) करनेवालेको लाखो वार फाँसी मिलती हो ऐसा इस लोकमे नही होता, इसलिये उसे अपने क्रूरभावोके अनुसार पूरा फल नही मिलता, उसे अपने भावोका पूरा फल मिलनेका स्थान—बहुतकाल तक अनन्त दु ख भोगनेका क्षेत्र नरक है, वह नीचे शाश्वत है ॥ २ ॥

नारकियोंके दुःखोंका वर्णन

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम-
देहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

अर्थ—नारकी जीव सदैव ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना, और विक्रियाको धारण करते है।

टीका

१. लेश्या—यह द्रव्यलेश्याका स्वरूप है जो कि आयु पर्यंत रहती है। यहाँ शरीरके रगको द्रव्यलेश्या कहा है। भावलेश्या अतर्मुहूर्तमे वदल जाती है उसका वर्णन यहाँ नही है। अशुभलेश्याके भी तीन प्रकार हैं कापोत, नील और कृष्ण। पहिली और दूसरी पृथ्वीमे, कापोतलेश्या, तीसरी पृथ्वीमे ऊपरके भागमे कापोत और नीचेके भागमे नील, चौथीमे

नील, पांचवीमे ऊपरके भागमे नील और नीचेके भागमे कृष्ण और छटवी तथा सातवी पृथ्वीमे कृष्णलेश्या होती है ।

२. **परिणाम**—यहाँ स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्दको परिणाम कहा है ।

३. **शरीर**—पहिली पृथ्वीमे शरीरकी ऊँचाई ७ धनुष्य ३ हाथ और ६ अगुल है, वह हु डक आकारमे होता है । तत्पश्चात् नीचे २ की पृथ्वीके नारकियोके शरीर की ऊँचाई क्रमश दूनी दूनी है ।

४. **वेदना**—पहिलेसे चौथे नरक तक उष्ण वेदना है, पाचवेके ऊपरी भागमे उष्ण और नीचले भागमे शीत है, तथा छट्ठे और सातवेमे महा-शीत वेदना है । नारकियो का शरीर वैक्रियिक होनेपर भी उसके शरीरके वैक्रियिक पुद्गल मल, मूत्र, कफ, वमन, सडा हुआ मास, हाड और चमडी वाले औदारिक शरीरसे भी अत्यन्त अशुभ होता है ।

५. **विक्रिया**—उन नारकियोके क्रूर सिंह व्याघ्रादिरूप अनेक प्रकारके रूप धारण करनेकी विक्रिया होती है ॥ ३ ॥

नारकी जीव एक दूसरेको दुःख देते हैं

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थ—नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दु ख उत्पन्न करते है (–वे कुत्तेकी भाँति परस्पर लडते हैं) ॥ ४ ॥

विशेष दुःख

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ—और उन नारकियोके चौथी पृथ्वीसे पहिले पहिले (अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यत) अत्यन्त सक्लिष्ट परिणामके धारक अब अम्बरिष आदि जातिके असुरकुमार देवोके द्वारा दु ख पाते है अर्थात् अब–अबरिष असुर-कुमारदेव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवोको दु ख देते है तथा उनके

पूर्वके वैरका स्मरण करा कराके परस्परमे लडाते है। और दुःखी देख राजी होते हैं।

सूत्र ३-४-५ मे नारकियोके दुःखोका वर्णन करते हुए उनके शरीर, उनका रंग, स्पर्श इत्यादि तथा दूसरे नारकियो और देवोके दुःखका कारण कहा है वह उपचार कथन है, वास्तवमे वे कोई परपदार्थ दुःखोके कारण नही है तथा उनका संयोगसे दुःख नही होता। परपदार्थोंके प्रति जीवकी एकत्वबुद्धि ही वास्तवमे दुःख है उस दुःखके समय, नरकगतिमे निमित्त रूप बाह्यसंयोग कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यहा तीन सूत्र कहे हैं, परंतु यह नही समझना चाहिये कि—वे शरीरादि वास्तवमे दुःखके कारण है।

नारकोंकी उत्कृष्ट आयु का प्रमाण-

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रय-स्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—उन नरकोके नारकी जीवोकी उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमसे पहिलेमे एक सागर, दूसरेमे तीन सागर, तीसरेमे सात सागर, चौथेमे दश सागर, पाँचवेमे सत्रह सागर, छट्ठेमे बावीस सागर और सातवेंमे तेतीस सागर है।

टीका

१ नारक गतिमे भयानक दुःख होनेपर भी नारकियों की आयु निरुपक्रम है— उनकी अकालमृत्यु नही होती।

२. आयु का यह काल वर्तमान मनुष्योकी आयुकी अपेक्षा लम्बा लगता है परन्तु जीव अनादिकालसे है और मिथ्यादृष्टिपनके कारण यह नारकीपणा जीवने अनन्तवार भोगा है। अध्याय २ सूत्र १० की टीकामे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावपरिभ्रमण (परावर्तन) का जो स्वरूप दिया गया है उसके देखनेसे मालूम होगा कि यह काल तो महासागर की एक बूंदसे भी बहुत कम है।

३. नारकी जीवोंको जो भयानक दु ख होते है उसके वास्तविक कारण, भयानक शरीर, वेदना, मारपीट, तीव्र उष्णता तीव्र शीतलता इत्यादि नही है, परन्तु मिथ्यात्व के कारण उन सयोगोके प्रति अनिष्टपनेकी खोटी कल्पना करके जीव तीव्र आकुलता करता है उसका दु ख है। परसयोग अनुकूल-प्रतिकूल होता ही नही, परन्तु वास्तवमे जीवके ज्ञानके क्षयोपशम उपयोगके अनुसार ज्ञेय (-ज्ञानमे ज्ञात होने योग्य) पदार्थ है, उन पदार्थोंको देखकर जब अज्ञानी जीव दु खकी कल्पना करता है तब परद्रव्योपर यह आरोप होता है कि—वे दु खमे निमित्त है।

४ शरीर चाहे जितना खराब हो, खानेको भी न मिलता हो, पीनेको पानी भी न मिलता हो, तीव्र गर्मी या ठड हो, और वाह्य सयोग (अज्ञानदृष्टिसे) चाहे जितने प्रतिकूल हो परन्तु वे सयोग जीवको सम्यग्दर्शन (धर्म) करनेमे बाधक नही होते, क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे कभी बाधा नही डाल सकता, नरकगतिमे भी पहिलेसे सातवे नरकतक ज्ञानी पुरुषके सत्समागमसे पूर्वभवमे सुने गये आत्मस्वरूपके सस्कार ताजे करके नारकी जीव सम्यग्दर्शन प्रकट करते हैं। तीसरे नरकतकके नारकी जीवोको पूर्वभव का कोई सम्यग्ज्ञानी मित्र देव आत्मस्वरूप समझाता है तो उसके उपदेशको सुनकर यथार्थ निर्णय करके वे जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

५ इससे सिद्ध होता है कि—"जीवोका शरीर अच्छा हो, खाना पीना ठीक मिलता हो और वाह्य सयोग अनुकूल हो, तो धर्म हो सकता है और उनकी, प्रतिकूलता होने पर जीव धर्म नही कर सकता"—यह मान्यता ठीक नही है। परको अनुकूल करनेमे प्रथम लक्ष रोकना और उसके अनुकूल होनेपर धर्मको समझना चाहिये,—इस मान्यता मे भूल है, क्योकि धर्म पराधीन नही किन्तु स्वाधीन है और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रगट किया जा सकता है।

६. **प्रश्न**—यदि बाह्य सयोग और कर्मोका उदय धर्ममे वाधक नही है तो नारकी जीव चौथे गुणस्थानसे ऊपर क्यो नही जाते ?

उत्तर—पहिले उन जीवोने अपने पुरुषार्थ की बहुत विपरीतता की है और वे वर्तमानमे अपनी भूमिकाके अनुसार मंद पुरुषार्थ करते हैं इसलिये उन्हे ऊपर चढनेमे विलम्ब होता है।

७. प्रश्न—सम्यग्दृष्टिको नरकमे कैसा दु ख होता है ?

उत्तर—नरक या किसी क्षेत्रके कारण किसी भी जीवको सुख दु ख नही होता किंतु अपनी नासमझीके कारण दु.ख और अपनी सच्ची समझ के कारण सुख होता है किसी को पर वस्तुके कारण सुख दु ख या हानि लाभ हो ही नही सकता। अज्ञानी नारकी जीवको जो दु ख होता है वह अपनी विपरीत मान्यतारूप दोपके कारण होता है, वाह्य—सयोगके अनुसार या सयोगके कारण दु ख नही होता। अज्ञानी जीव परवस्तुको कभी प्रतिकूल मानते हैं और इसलिये वे अपनी अज्ञानताके कारण दु खी होते हैं, और कभी पर वस्तुएँ अनुकूल है ऐसा मानकर सुखकी कल्पना करते है, इसलिये अज्ञानी जीव परद्रव्योके प्रति इष्टत्व-अनिष्टत्वकी कल्पना करते हैं।

सम्यग्दृष्टि नारकी जीवोके अनत ससारका वधन करनेवाली कपाय दूर होगई है स्वरूपाचरणकी आशिक शान्ति निरन्तर है इसलिये उतना सच्चा सुख उन्हे नरकमे भी निरन्तर मिलता है। जितनी कपाय है उतना अल्प दु ख होता है किंतु वह कुछ भवोके वाद ही उस अल्प दु खका भी नाश कर देगे। वे परको दु खदायक नही मानते, किंतु अपनी असावधानी को दु खका कारण मानते है इसलिये वे अपनी असावधानीको दूर करते जाते हैं। असावधानी दो प्रकार की है—स्वरूप की मान्यताकी और स्वरूप के आचरण की। उसमे से पहिले प्रकार की असावधानी सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर दूर हो जाती है और दूसरे प्रकार की असावधानीको वे टालते जाते है।

८ सम्यग्दर्शन प्रगट करके—सम्यग्दृष्टि होनेके वाद जीव नरक आयु का वध नही करता, किंतु सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेसे पूर्व उस जीवने

नरकायुका बंध किया हो तो वह पहिले नरकमे जाता है, किंतु वहाँ उसकी अवस्था पैरा ७ मे बताये गये अनुसार होती है।

९ पहिले से चौथे नरक तक से निकलकर मनुष्य हुए जीवोमे से योग्य जीव उसी भवमे मोक्ष प्राप्त कर लेते है। पाचवे नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्रजीव सच्चा मुनित्व धारण कर सकते है, छट्ठे नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्रजीव पाचवे गुणस्थान तक जा सकते है और सातवे नरकसे निकले हुए जीव क्रूर तिर्यंचगतिमे ही जाते है। यह भेद जीवोके पुरुषार्थकी तारतम्यताके कारण होते है।

१०. प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवोका अभिप्राय नरकमे जानेका नही होता फिर भी यदि कोई सम्यग्दृष्टि नरकमे पहुँच जाय तो वहाँ तो जड कर्म का जोर है और जडकर्म जीवको नरकमे ले जाता है इसलिये जाना पडता है,—यह बात ठीक है या नही?

उत्तर—यह बात ठीक नही है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, इसलिये जडकर्म जीवको नरकमे ले जाता हो ऐसा नही होता। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि कोई जीव नरकमे जाना नही चाहता तो भी जो जो जीव नरकमे जाने लायक होते है वे वे जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनके कारण वहाँ जाते है, उस समय कार्मण और तैजस-शरीर भी उनकी अपनी (पुद्गलपरमाणुओकी) क्रियावती शक्तिके परि-णमनके कारण उस क्षेत्रमे जीवके साथ जाते है।

और अभिप्राय तो श्रद्धागुणकी पर्याय है और इच्छा चारित्रगुणकी विकारी पर्याय है। द्रव्यका हरएक गुण स्वतत्र और असहाय है। इसलिये जीवकी इच्छा अथवा अभिप्राय चाहे जैसा हो फिर भी जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन उससे (अभिप्राय और इच्छासे) स्वतत्ररूपसे और उस समयकी उस पर्यायके धर्मानुसार होता है। वह क्रियावती शक्ति ऐसी है कि—जीवको किस क्षेत्रमे ले जाना चाहिये इसका ज्ञान होने की उसे आवश्य-कता नही है। नरकमे जानेवाले वे जीव उनकी आयुपर्यंत उस क्षेत्रके सयोग

के योग्य होते है, और तब उन जीवोंके ज्ञानका विकास भी उस उस क्षेत्रमे रहनेवाले जीवो तथा पदार्थोंके जाननेके योग्य होता है। नरकगतिका भव अपने पुरुषार्थके दोष से बँधा था इसलिये योग्य समयमे उसके फलरूपसे जीवकी अपनी योग्यताके कारण नारकीका क्षेत्र संयोगरूपमे होता है, कर्म उसे नरकमे नही ले जाता। कर्मके कारण जीव नरकमें जाता है यह कहना मात्र उपचार कथन है, जीवका कर्मके साथका निमित्त नैमित्तिक संबंध बताने के लिये शास्त्रोमे वह कथन किया गया है, नही कि वास्तवमे जड़-कर्म जीवको नरकमे ले जाते है। वास्तवमे कर्म जीवको नरकमे ले जाते हैं यह मानना मिथ्या है।

११. सागर-काल का परिमाण

१—सागर = दश × करोड × करोड = अद्धापल्य ।

१ अद्धापल्य = एक गोल खड्डा जिसका व्यास (Diametre) एक योजन (= २००० कोस) और गहराई भी उतनी ही हो उसमे उत्तम भोगभूमिके सात दिन के भेडे के बच्चे के बालोसे ठसाठस भरकर के उसमें से प्रति सौ वर्षमे एक बाल निकालने पर जितने समयमे गड्ढा खाली हो जाय, उतने समयका एक व्यवहारकल्प है, ऐसे असख्यात व्यवहारकल्प = एक उद्धारपल्य। असख्यात उद्धार पल्य = एक अद्धापल्य।

इसप्रकार अधोलोकका वर्णन पूरा हुआ ॥ ६ ॥

मध्यलोकका वर्णन

कुछ द्वीप समुद्रों के नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

अर्थः—इस मध्यलोकमे अच्छे अच्छे नाम वाले जम्बूद्वीप इत्यादि द्वीप, और लवणसमुद्र इत्यादि समुद्र हैं।

ाग और
के चारो
के चारो
स तरह
स्वयभू-

॥८॥
पहिलेके

ाभिके
क लाख

ह एक
ार है।
मापमे
हये।]
से कुछ
जन ३

३—इस द्वीपके विदेह क्षेत्रमे विद्यमान उत्तरकुरु भोगभूमिमे अनादि-निधन पृथ्वीकायरूप अकृत्रिम परिवार सहित जवू वृक्ष है इसलिये इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है ।

सात क्षेत्रोंके नाम

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यव-तैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

अर्थः—इस जम्बूद्वीपमे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं ।

टीका

जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्र मे हम लोग रहते है, विदेहक्षेत्रमे वीस विहरमान तीर्थंकरमे से श्री सीमधरादि चार तीर्थंकर जम्बूद्वीपके विदेहमे विचरते हैं ॥ १० ॥

क्षेत्रोंके सात विभाग करनेवाले छह पर्वतोंके नाम

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवं-न्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

अर्थ—उन सात क्षेत्रोका विभाग करने वाले पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे १—हिमवत् २—महाहिमवत्, ३—निपध, ४—नील, ५—रुक्मि, और ६—शिखरिन् ये छह वर्षधर—कुलाचल—पर्वत है [वर्ष=क्षेत्र] ॥ ११ ॥

कुलाचलों का रंग

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

अर्थ—ऊपर कहे गये पर्वत क्रमसे १—स्वर्ण, २—चादी, ३—तपाया सोना, ४—वैडूर्य (नील) मणि, ५—चादी और ६ स्वर्ण जैसे रगके है ॥१२॥

कुलाचलों का विशेष स्वरूप

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थ—इन पर्वतोका तट चित्र-विचित्र मणियोका है और ऊपर नीचे तथा मध्यमे एक समान विस्तारवाला है ॥ १३ ॥

कुलाचलोंके ऊपर स्थित सरोवरोंके नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ—इन पर्वतोके ऊपर क्रमसे १—पद्म, २—महापद्म, ३—तिगिञ्छ, ४—केशरि, ५—महापुंडरीक और ६—पुण्डरीक नामके ह्रद-सरोवर है ॥१४॥

प्रथम सरोवर की लम्बाई-चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

अर्थ—पहिला पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा और लम्बाई से आधा अर्थात् पाँचसौ योजन चौडा है ॥ १५ ॥

प्रथम सरोवर की गहराई (ऊँडाई)

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ—पहिला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई-ऊँडाई) वाला है ॥ १६ ॥

उसके मध्यमें क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ—उसके बीचमे एक योजन विस्तारवाला कमल है ॥ १७ ॥

महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहनेवाले कमलोंका प्रमाण

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थ—आगेके सरोवर तथा कमल पहिले के सरोवर तथा कमलोंसे क्रमसे दूने २ विस्तारवाले हैं।

टीका

यह दूना २ क्रम तिगिंछनामके तीसरे सरोवर तक है, वादमे उसके आगेके तीन सरोवर तथा उनके तीन कमल दक्षिणके सरोवर और कमलोके समान विस्तारवाले हैं ॥ १८ ॥

ह्रदोंका विस्तार आदि

न.	ह्रद नाम	स्थान	लम्बाई योजन	चौड़ाई योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
१	पद्म	हिमवन्	१०००	५००	१०	१	श्री
२	महापद्म	महाहिमवन	२०००	१०००	२०	२	ह्री
३	तिगिञ्छ	निषध	४०००	२०००	४०	४	धृति
४	केशरी (केशरिन)	नील	४०००	२०००	४०	४	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	रुक्मिन्	२०००	१०००	२०	२	बुद्धि
६	पुण्डरीक	शिखरिन्	१०००	५००	१०	१	लक्ष्मी

छह कमलोंमें रहनेवाली छह देवियाँ

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

अर्थ—एक पल्योपम आयुवाली और सामानिक तथा पारिषद् जाति के देवो सहित श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी देवियाँ क्रमसे उन सरोवरोके कमलो पर निवास करती हैं।

टीका

ऊपर कहे हुए कमलोकी कर्णिकाके मध्यभागमे एक कोस लम्बे, आधा कोस चौडे और एक कोससे कुछ कम ऊंचे सफेद रगके भवन है उसमे वे देवियाँ रहती है और उन तालावोमे जो अन्य परिवार कमल है उनके ऊपर सामानिक तथा पारिषद देव रहते है ॥ १९ ॥

चौदह महा नदियोंके नाम

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा नारीनरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

अर्थ—(भरतमे) गगा, सिन्धु, (हैमवतमे) रोहित, रोहितास्या, (हरिक्षेत्रमे) हरित्, हरिकान्ता, (विदेहमे) सीता, सीतोदा, (रम्यक्मे) नारी, नरकान्ता, (हैरण्यवत्मे) स्वर्णकूला, रूप्यकूला और (ऐरावतमे) रक्ता-रक्तोदा इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात क्षेत्रोमे चौदह नदियाँ बीचमे बहती है।

टीका

पहिले पद्म सरोवरमेसे पहिली तीन, छट्ठे पुडरीक नामक सरोवरसे अतिम तीन तथा बाकीके सरोवरोमेसे दो दो नदियां निकलती है॥२०॥

नदियोंके बहनेका क्रम—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—(ये चौदह नदियाँ दो के समूहमे लेना चाहिये) हरएक दो के समूहमे से पहिली नदी पूर्वकी ओर बहती है (और उस दिशाके समुद्र मे मिलती है।) ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

अर्थ--बाकी रही सात नदियाँ पश्चिम की ओर जाती हैं (और उस तरफ के समुद्रमें मिलती हैं।) ॥ २२ ॥

इन चौदह महा नदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः॥२३॥

अर्थः—गंगा-सिन्धु आदि नदियोके युगल चौदह हजार सहायक नदियोसे घिरे हुए हैं।

टीका

सहायक नदियोकी सख्याका क्रम भी विदेह क्षेत्रतक आगे के युगलोमे पहिले पहिले युगलोसे दूना २ है, और उत्तर के तीन क्षेत्रोमे दक्षिण के तीन क्षेत्रोके समान है।

नदी युगल	सहायक नदियोकी सख्या
गंगा-सिन्धु	१४ हजार
रोहित रोहितास्या	२८ हजार
हरित-हरिकान्ता	५६ हजार
सीता-सीतोदा	१ लाख १२ हजार
नारी-नरकान्ता	५६ हजार
स्वर्णकूला-रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता-रक्तोदा	१४ हजार

भरतक्षेत्रका विस्तार

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थ---भरतक्षेत्र का विस्तार, पाँचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोमे से ६ भाग अधिक है।

टीका

१ भरत क्षेत्रका विस्तार ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है। (देखो सूत्र ३२)

२. भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमे पूर्व पश्चिम तक लबा विजयार्ध पर्वत है जिनसे गगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियोके कारण दोनों क्षेत्रोके छह छह खड हो जाते है उनमे बीचका आर्यखड और बाकी के पाँच म्लेच्छ खड हैं। तीर्थंकरादि पदवीधारी पुरुष भरत-ऐरावत के आर्यखंडमे, तथा विदेह क्षेत्रोमे ही जन्म लेते है॥ २४॥

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः॥२५॥

अर्थ--विदेहक्षेत्र तकके पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्रसे दूने २ विस्तारवाले हैं॥ २५॥

विदेह क्षेत्रके आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः॥ २६॥

अर्थ---विदेह क्षेत्रसे उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वत और क्षेत्रोके समान विस्तारवाले है।

टीका

क्षेत्रो और पर्वतोका प्रकार नीचे प्रमाण है--

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार-योजन		ऊंचाई	ऊंडाई
१. भरतक्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$	"	×	×
२. हिमवत् कुलाचल	१०५२$\frac{१२}{१९}$	"	१०० यो०	२५ यो०

३. हैमवत् क्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$	,,	×	×
४. महा हिमवत् कुलाचल	४२१०$\frac{१०}{१९}$	,,	२०० यो०	५० यो०
५ हरिक्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$	,,	×	×
६. निषध कुलाचल	१६८४२$\frac{२}{१९}$	,,	४०० यो०	१०० यो०
७. विदेहक्षेत्र	३३६८४$\frac{४}{१९}$	,,	×	×
८. नील कुलाचल	१६८४२$\frac{२}{१९}$	,,	४०० यो०	१०० यो०
९. रम्यक् क्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$	,,	×	×
१०. रुक्मिकुलाचल	४२१०$\frac{१०}{१९}$	,,	२०० यो०	५० यो०
११. हैरण्यक्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$	,,	×	×
१२. शिखरीकुलाचल	१०५२$\frac{१२}{१९}$	,,	१०० यो०	२५ यो०
१३. ऐरावतक्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$	,,	×	×

[कुलाचलका अर्थ पर्वत समझना चाहिये]

भरत और ऐरावतक्षेत्र में कालचक्रका परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थ—छह कालोसे युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रमे जीवोके अनुभवादि की वृद्धि-हानि होती रहती है।

टीका

१ वीस कोडा कोडी सागरका एक कल्पकाल होता है उसके दो भेद हैं, (१)-उत्सर्पिणी—जिसमे जीवोंके ज्ञानादि की वृद्धि होती है, और (२)-अवसर्पिणी-जिसमे जीवोके ज्ञानादिका ह्रास होता है।

अवसर्पिणीके भेद है—(छह १) सुषमसुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमदु षमा, (४) दु षमसुषमा, (५) दु षमा और (६) दु षमदु षमा, इसी तरह उत्सर्पिणीके भी दु.षमदु षमासे प्रारभ करके सुषमसुषमा तक छह भेद समझना चाहिये।

२. (१) सुषमसुषमा का काल चार कोडाकोडीसागर, (२) सुषमा तीन कोडाकोडीसागर, (३) सुषमदु षमा दो कोडाकोडीसागर, (४) दु षम-सुषमा एक कोडाकोडी सागरमे ४२ हजार वर्ष कम, (५) दु षमा २१ हजार वर्ष और (६) दुःषमदु षमा (-अतिदु षमा) २१ हजार वर्ष का है।

भरत-ऐरावत क्षेत्रमे यह छह भेद सहित परिवर्तन हुआ करता है। असख्यात अवसर्पिणी बीत जानेके बाद एक हु डावसर्पिणीकाल आता है। इस समय हु डावसर्पिणीकाल चलता है।

३ भरत ऐरावत क्षेत्रके म्लेच्छखडो तथा विजयार्धपर्वतकी श्रेणियोमे अवसर्पिणीकाल के चतुर्थ (दु षमसुषमा) कालके प्रारभसे अव-सर्पिणी कालके अततक परिवर्तन हुआ करता है और उत्सर्पिणीकालके तीसरे (दु षमसुषमा) कालके अतसे उत्सर्पिणीके अततक परिवर्तन हुआ करता है, इनमे आर्यखडोकी तरह छहो कालोका परिवर्तन नही होता और उनमे प्रलयकाल भी नही होता।

४ भरत-ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योकी आयु तथा ऊचाई।

आरा (काल)	**आयु**		**ऊँचाई**	
	प्रारभमे	अन्तमे	प्रारभमे	अन्तमे
१	३ पल्य	२ पत्य	३ कोस	२ कोस
२	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस
३	१ पल्य	१ कोटी पूर्व	१ कोस	५०० धनुष-
४	१ कोटी पूर्व	१२० वर्ष	५०० धनुष	७ हाथ

५	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ
६	२० वर्ष	१५ वर्ष	२ हाथ	१ हाथ

मनुष्यों का आहार

काल	आहार	
१	चौथे दिन बेर के बराबर	तीसरा काल तक भरत ऐरावत क्षेत्रमे भोगभूमि रहती है।
२	एक दिनके अंतरसे बहेडा (फल) के बराबर	
३	एक दिनके अंतरसे आंवला बराबर	
४	रोज एक बार	
५	कई बार	
६	अति प्रचुरवृत्ति, मनुष्य नग्न, मछली इत्यादिकें आहार, मुनिश्रावकोका अभाव, धर्मका नाश ॥ २७ ॥	

अन्य भूमियोंकी व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोडकर दूसरे क्षेत्रोमे एक ही अवस्था रहती है–उनमे कालका परिवर्तन नही होता ॥ २८ ॥

हैमवतक इत्यादि क्षेत्रोंमें आयु

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेव-कुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ—हैमवतक, हारिवर्षक और देवकुरु (विदेहक्षेत्रके अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के मनुष्य, तिर्यंच क्रमसे एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं।

टीका

इन तीन क्षेत्रोके मनुष्योकी ऊँचाई क्रमसे एक, दो और तीन कोस की होती है। शरीरका रग नील, शुक्ल और पीत होता है ॥ २९ ॥

हैरण्यवतकादि क्षेत्रोंमें आयु

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थ—उत्तरके क्षेत्रोमे रहनेवाले मनुष्य भी हैमवतकादिकके मनुष्यों के समान आयुवाले होते हैं।

टीका

१ हैरण्यवतक क्षेत्रकी रचना हैमवतकके समान, रम्यक्क्षेत्रकी रचना हरिक्षेत्रके समान और उत्तरकुरु (विदेहक्षेत्रके अतर्गत स्थान विशेष) की रचना देवकुरुके समान है।

२ भोगभूमि—इस तरह उत्तम, मध्यम, और जघन्यरूप तीन भोगभूमिके दो दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीपमे छह भोगभूमियाँ और अढाई द्वीपमे कुल ३० भोगभूमियाँ है जहाँ सर्वप्रकारकी सामग्री कल्पवृक्षोसे प्राप्त होती है उन्हे भोगभूमि कहते हैं ॥ ३० ॥

विदेहक्षेत्रमें आयु की व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—विदेहक्षेत्रोमे मनुष्य और तिर्यंचोकी आयु सख्यात वर्षकी होती है।

टीका

विदेहक्षेत्रमे ऊँचाई पाँचसौ धनुष और आयु एक करोड वर्ष पूर्वकी होती है ॥ ३१ ॥

भरतक्षेत्रका दूसरी तरहसे विस्तार

भरतस्य विष्कंभो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थ—भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपके एक सौ नब्वेवाँ (१९०) भागके बराबर है।

टीका

२४ वे सूत्रमे भरतक्षेत्रका विस्तार बताया है उसमे और इसमे कोई अंतर नही है मात्र कहनेका प्रकार भिन्न है जो एक लाखके १९० हिस्से किये जांय तो हरएक हिस्से का प्रमाण ५२६ ६/१९ योजन होता है ॥ ३२ ॥

धातकीखंडका वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥

अर्थ—धातकीखड नामके दूसरे द्वीपमे क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी इत्यादि सब पदार्थोंकी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी दूनी है।

टीका

धातकीखण्ड लवणसमुद्रको घेरे हुए है। उसका विस्तार चार लाख योजन है। उसके उत्तरकुरु प्रान्तमे धातकी (आंवले) के वृक्ष है इसलिये उसे धातकीखण्ड कहते है ॥ ३३ ॥

पुष्करार्ध द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च ॥ ३४ ॥

अर्थ—पुष्करार्द्ध द्वीपमे भी सब रचना जम्बूद्वीपकी रचनासे दूनी दूनी है।

टीका

पुष्करवरद्वीपका विस्तार १६ लाख योजन है, उसके बीचमे चूडीके आकार मानुषोत्तर पर्वत पडा हुआ है। जिससे उस द्वीपके दो हिस्से होगये

है। पूर्वार्धमे सारी रचना धातकी खडके समान है और जम्बूद्वीपसे दूनी है। इस द्वीपके उत्तरकुरुप्रान्तमे एक पुष्कर (-कमल) है। इसलिये उसे पुष्करवरद्वीप कहते है ॥ ३४ ॥

मनुष्य क्षेत्र—

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ—मानुषोत्तर पर्वत तक अर्थात् अढाई द्वीपमे ही मनुष्य होते हैं,—मानुषोत्तर पर्वतसे परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नही जा सकते।

टीका

१ जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखड, कालोदधि और पुष्करार्ध इतना क्षेत्र अढाई द्वीप है, इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

२ केवल समुद्घात और मारणातिक समुद्घातके प्रसगके अतिरिक्त मनुष्यके आत्मप्रदेश ढाई द्वीपके बाहर नही जा सकते।

३. आगे चलकर आठवां नन्दीश्वर द्वीप है उसकी चारो दिशामे चार अंजनगिरि पर्वत, सोलह दधिमुखपर्वत और बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। उनके ऊपर मध्यभागमे जिन मदिर हैं। नन्दीश्वर द्वीपमे इसप्रकार बावन जिन मदिर हैं। बारहवाँ कुन्डलवर द्वीप है उसमे चार दिशाके मिलाकर चार जिन मदिर हैं। तेरहवाँ रुचकवर नामका द्वीप है उसके बीचमे रुचक-नाम का पर्वत है, उस पर्वतके ऊपर चारो दिशामे चार जिन मदिर हैं वहाँ पर देव जिन पूजनके लिये जाते है इस पर्वतके ऊपर अनेक कूट है उनमे अनेक देवियोके निवास है। वे देविया तीर्थंकरप्रभुके गर्भ और जन्मकल्याणक मे प्रभुकी माताकी अनेक प्रकारसे सेवा करती हैं ॥ ३५ ॥

मनुष्योंके भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—आर्य और म्लेच्छ के भेदसे मनुष्य दो प्रकार के है।

टीका

१. आर्यों के दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनऋद्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धिप्राप्तआर्य = जिन आय जीवोको विशेप शक्ति प्राप्त हो।

अनऋद्धिप्राप्तआर्य = जिन आर्य जीवोको विशेप शक्ति प्राप्त नही हो।

ऋद्धिप्राप्त आर्य

२. ऋद्धिप्राप्तआर्य के आठ भेद हैं—(१) वुद्धि, (२) क्रिया, (३) विक्रिया, (४) तप, (५) वल, (६) औपध, (७) रस, और (८) क्षेत्र इन आठ ऋद्धियोका स्वरूप कहते हैं।

३. वुद्धिऋद्धि—वुद्धिऋद्धिके अठारह भेद हैं—(१) केवलज्ञान, (२) अवधिज्ञान, (३) मन पर्ययज्ञान, (४) वीजवुद्धि, (५) कोष्टवुद्धि, (६) पदानुसारिणी, (७) सभिन्न श्रोतृत्व, (८) दूरास्वादनसमर्थता, (९) दूरदर्शनसमर्थता, (१०) दूरस्पर्शनसमर्थता, (११) दूरघ्राणसमर्थता, (१२) दूरश्रोतृसमर्थता, (१३) दशपूर्वित्व, (१४) चतुर्दशपूर्वित्व, (१५) अष्टागनिमित्तता, (१६) प्रज्ञाश्रमणत्व, (१७) प्रत्येकवुद्धता, और (१८) वादीत्व इनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

(१-३) **केवलज्ञान,-अवधिज्ञान,-मनःपर्ययज्ञान** इन तीनोका स्वरूप अध्याय १, सूत्र २१ से २५ तथा २७ से ३० तक मे आ गया है।

(४) **वीजवुद्धि**—एक वीजपदके (मूलपदके) ग्रहण करनेसे अनेकपद, और अनेक अर्थोंका जानना सो वीजवुद्धि है।

(५) **कोष्टवुद्धि**—जैसे कोठारमें रखे हुए धान्य, वीज इत्यादि वहुत समय तक जैसेके तैसे वने रहते हैं घटते वढते नही हैं परस्परमे

मिलते नही है, उसीप्रकार दूसरेके उपदेशसे ग्रहण किये हुए बहुतसे शब्द, अर्थ, बीज जिस बुद्धिमे जैसेके तैसे रहते है एक अक्षर घट बढ नही होते आगे पीछे अक्षर नही होते वह कोष्टबुद्धि है।

(६) **पदानुसारिणीबुद्धि**——ग्रन्थके प्रारम्भ मध्य और अन्तका एक पद श्रवण करके समस्त ग्रन्थ तथा उसके अर्थका निश्चय करना सो पदानुसारिणीबुद्धि है।

(७) **संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धि**——चक्रवर्ती की छावनी चार योजन लम्बी और नवयोजन चौडी पडी होती है उसमे हाथी, घोडा, ऊँट, मनुष्यादिके जुदे २ प्रकारके अक्षर-अनक्षरात्मक शब्द एक समय एक साथ उत्पन्न होते है उसे तपविशेषके कारण (वीर्यान्तराय श्रुतज्ञानातरायं तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्मका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर) एक कालमे जुदे जुदे श्रवण करना सो सभिन्नश्रोतृत्वबुद्धि है।

(८) **दूरास्वादनसमर्थताबुद्धि**—तपविशेषके कारण (प्रगट होनेवाले असाधारण रसनेन्द्रिय श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम और आगोपाग नामकर्मके उदयसे) मुनिको रसका जो विषय नवयोजन प्रमाण होता है उसके रसस्वादनकी (रस जाननेकी) सामर्थ्य होना सो दूरास्वादनसमर्थताबुद्धि है।

(९-१२) **दूरदर्शन-स्पर्शन-घ्राण-श्रोतृसमर्थताबुद्धि**—ऊपर लिखे अनुसार चक्षुरिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रियके विषयके क्षेत्रसे बाहर बहुतसे क्षेत्रोके रूप, स्पर्श, गध और शब्द को जानने की सामर्थ्यका होना सो उस उस नामकी चार प्रकारकी बुद्धि है।

(१३) **दशपूर्वित्वबुद्धि**—महारोहिणी इत्यादि विद्या-देवता तीन बार आवे और हर एक अपना २ स्वरूप सामर्थ्य प्रगट करें ऐसे वेगवान विद्या-देवताओके लोभादिसे जिनका चारित्र चलायमान नही होता उसे दशपूर्वित्वबुद्धि कहते है।

(१४) **चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि**—सपूर्ण श्रुतकेवलित्वका होना चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि है ।

(१५) **अष्टांगनिमित्तताबुद्धि**—अन्तरिक्ष, भोम, अग, स्वर, व्यजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न यह आठ प्रकारका निमित्तज्ञान है, उसका स्वरूप निम्नप्रकार है —

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रके उदय,-अस्तादिको देखकर अतीत-अनागतफल को जानना सो अन्तरिक्षनिमित्तज्ञान है ॥ १ ॥

पृथ्वीकी कठोरता, कोमलता, चिकनाहट या रूखापन देखकर विचार करके अथवा पूर्वादि दिशामे सूत्र पड़ते हुए देखकर हानि-वृद्धि, जय-पराजय इत्यादि को जानना तथा भूमिगत स्वर्ण चादी इत्यादिको प्रगट जानना सो भोमनिमित्तज्ञान है ॥ २ ॥

अंगोपागादिके दर्शन-स्पर्शनादिसे त्रिकालभावी सुख दु खादि को जानना सो अगनिमित्तज्ञान है ॥ ३ ॥

अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभाशुभको सुनकर इष्टानिष्टफलको जानना सो स्वरनिमित्तज्ञान है ॥ ४ ॥

मस्तक, मुख, गर्दन इत्यादिमें तल, मूरल, लाख इत्यादि लक्षण देखकर त्रिकाल सबधी—हित—अहित को जान लेना सो व्यजननिमित्तज्ञान है ॥ ५ ॥

शरीरके ऊपर श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश इत्यादि चिह्न देखकर त्रिकाल सबधी पुरुषोके स्थान, मान, ऐश्वर्यादि विशेपका जानना सो लक्षण-निमित्तज्ञान है ॥ ६ ॥

वस्त्र-शस्त्र-आसन-शयनादिसे, देव-मनुष्य-राक्षसादिसे तथा शस्त्र-कटकादिसे छिदे हुएको देखकर त्रिकाल सबधी लाभ-अलाभ, सुख दु खका जानना सो छिन्ननिमित्तज्ञान है ॥ ७ ॥

वात, पित्त, कफ रहित पुरुपके मुखमे पिछली रात्रिमे चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत या समुद्रका प्रवेशादिका स्वप्न होना सो शुभस्वप्न है, घी तेलसे अपनी देह लिप्त और गधा ऊँट पर चढकर दक्षिण दिशामे गमन

इत्यादि स्वप्न अशुभ स्वप्न हैं, उसके दर्शनसे आगामीकालमे जीवन-मरण, सुख-दुःखादिका ज्ञान होना सो स्वप्ननिमित्तज्ञान है। इन आठ प्रकारके निमित्तज्ञानका जो ज्ञाता हो उसके अष्टांगनिमित्तबुद्धिऋद्धि है।

(१६) **प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धि**—किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थके स्वरूपका विचार जैसा का तैसा, चौदहपूर्वधारी ही निरूपण कर सकते है दूसरे नही कर सकते, ऐसे सूक्ष्म अर्थका जो सदेहरहित निरूपण करे ऐसी प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाली प्रज्ञाशक्ति प्रज्ञाश्रवणत्वबुद्धि है।

(१७) **प्रत्येकबुद्धिताबुद्धि**—परके उपदेशके विना अपनी शक्तिविशेषसे ज्ञान-सयमके विधानमे निपुण होना प्रत्येकबुद्धताबुद्धि है।

(१८) **वादित्वबुद्धि**—इन्द्र इत्यादि आकर वाद-विवाद करे उसे निरुत्तर करदे, स्वय रुके नही और सामनेवाले वादोके छिद्रको जान लेना ऐसी शक्ति वादित्वबुद्धि है।

इसप्रकार ८ ऋद्धियोमेसे पहिली बुद्धिरिद्धिके अठारह प्रकार है। यह बुद्धिरिद्धि सम्यग्ज्ञान की महान् महिमाको बताती है।

४. दूसरी क्रियाऋद्धिका स्वरूप

१ क्रियाऋद्धि दो प्रकारकी है आकाशगामित्व और चारण।

(१) चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है—जलके ऊपर पैर रखने या उठाने पर जलकायिक जीवोको बाधा न उत्पन्न हो सो जलचारणरिद्धि है। भूमिसे चार अगुल ऊपर आकाशमे शीघ्रतासे सैकडो योजन गमन करनेमे समर्थ होना सो जघाचारणरिद्धि है। उसीप्रकार ततुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, श्रेणिचारण, अग्निशिखाचारण इत्यादि चारण रिद्धियाँ है। पुष्प, फल इत्यादिके ऊपर गमन करनेसे उन पुष्प फल इत्यादिके जीवोको बाधा नही होना सो समस्तचारणरिद्धि है।

(२) **आकाशगामित्व विक्रियाऋद्धि**—पर्यकासन अथवा कायोत्सर्गासन करके पगके उठाये धरे बिना ही जो आकाशमे गमन करनेमे निपुण होना सो आकाशगामित्वक्रियाऋद्धि है।

५. तीसरी विक्रियाऋद्धिका स्वरूप

विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकारकी है—(१) अणिमा, (२) महिमा, (३) लघिमा, (४) गरिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व, (८) वशित्व, (९) अप्रतिघात, (१०) अतर्धान, (११) कामरूपित्व इत्यादि अनेक भेद हैं उनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

अणुमात्र शरीर करनेकी सामर्थ्य को अणिमाऋद्धि कहते हैं, वह कमलके छिद्रमे प्रवेश करके वहाँ बैठकर चक्रवर्ती की विभूति रचता है। १। मेरुपे भी महान शरीर करनेकी सामर्थ्यको महिमाऋद्धि कहते हैं। २। पवनसे भी हलका शरीर बनाने की सामर्थ्यको लघिमाऋद्धि कहते हैं। ३। वज्रसे भी अतिभारी शरीर करने की सामर्थ्यको गरिमा-ऋद्धि कहते हैं। ४। भूमिमे बैठकर उँगलीको आगे करके मेरुपर्वतके शिखर तथा सूर्यविमानादिको स्पर्श करने की शक्तिको प्राप्तिऋद्धि कहते हैं। ५। जलमे जमीनको उन्मज्जन (ऊपर लाना) तथा निमज्जन (डुबा देना) करनेकी शक्तिको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं। ६। त्रिलोकका प्रभुत्व रचने की सामर्थ्यको ईशित्व ऋद्धि कहते हैं। ७। देव, दानव, मनुष्य इत्यादिको वशीकरण करने की सामर्थ्यको वशित्वऋद्धि कहते हैं। ८। पर्वतादिकके अंदर आकाशकी भाति गमन-आगमन करनेकी सामर्थ्यको अप्रतिघातऋद्धि कहते हैं। ९। अदृश्य होने की सामर्थ्य को अतर्धानऋद्धि कहते है। १०। एक साथ अनेक आकाररूप शरीर करने की सामर्थ्यको कामरूपित्वऋद्धि कहते हैं। ११। इत्यादि अनेक प्रकार की विक्रिया ऋद्धि है।

नोट —यहाँ निमित्तनैमित्तिकसबध समझाया है किन्तु इससे यह नही समझना चाहिये कि जीव शरीरका या अन्य किसी द्रव्यका कुछ करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही कर सकता। शरीरादि परद्रव्यकी जब उस प्रकारकी होने योग्य अवस्था होती है तब जीवके भाव तदनुकूल अपने कारण होते है। इतना निमित्त-नैमित्तिक-सबध यहाँ बतलाया गया है।

६. चौथी तप ऋद्धि

तपऋद्धि सातप्रकार की है—(१) उग्रतप, (२) दीप्तितप, (३) निहारतप, (४) महानतप, (५) घोरतप, (६) घोरपराक्रमतप और (७) घोर ब्रह्मचर्य तप। उसका स्वरूप निम्नप्रकार है।

एक उपवास या दो-तीन-चार-पाँच इत्यादि उपवास के निमित्तसे किसी योगका आरभ हुआ तो मरणपर्यंत उपवासके उन दिनोसे कम दिनो मे पारणा नही करता, किसी कारणसे अधिक उपवास हो जाय तो मरण-पर्यंत उससे कम उपवास करके पारणा नही करता, ऐसी सामर्थ्य प्रगट होना सो उग्रतप ऋद्धि है ॥ १ ॥ महान उपवासादिक करते हुए मन-वचन-कायका बल बढता ही रहे, मुख दुर्गंध रहित रहे, कमलादिककी सुगध जैसी सुगधित श्वास निकले और शरीर को महान् दीप्ति प्रगट हो जाय सो दीप्तिऋद्धि है ॥ २ ॥ तपे हुए लोहेकी कढाईमे पानी की बूंदे पडते ही जैसे सूख जाय, तैसे आहार पच जाय सूख जाय और मल रुधिरादिरूप न परिणमे तथा निहार भी न हो सो निहारतपऋद्धि है ॥३॥ सिंहक्रीडितादि महान तप करनेमे तत्पर होना सो महानतपऋद्धि है ॥ ४ ॥ वात, पित्त, श्लेष्म इत्यादि से उत्पन्न हुए ज्वर, खासी, श्वास, शूल, कोढ, प्रमेहादिक अनेक प्रकार के रोग वाला शरीर होने पर भी अनशन, कायक्लेशादि न छूटे और भयानक स्मशान, पर्वतका शिखर, गुफा, खण्डहर, ऊजड ग्राम इत्यादि मे दुष्ट राक्षस, पिशाचादि प्रवर्तित हो और बुरे विकार धारण करे तथा गीदडोका कठोर रुदन, सिंह-व्याघ्र इत्यादि दुष्ट जीवोका भयानक शब्द जहाँ निरतर होता हो ऐसे भयकर स्थानमे भी निर्भय होकर रहे सो घोरतपऋद्धि है ॥ ५ ॥ पूर्वोक्त रोगसहित शरीर होने पर भी अति भय-कर स्थानमे रहकर योग (स्वरूप की एकाग्रता) बढाने की तत्परताका होना सो घोरपराक्रमतपऋद्धि है ॥ ६॥ बहुत समय से ब्रह्मचर्यके धारक मुनिके अतिशय चारित्रके बलसे (मोहनीयकर्मके क्षयोपशम होने पर) खोटे स्व-प्नोका नाश होना सो घोर ब्रह्मचर्यतपऋद्धि है ॥ ७ ॥ इसप्रकार सातप्रकार की तप ऋद्धि है।

नोट —सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रधारी जीवोंके कैसा उग्र पुरुपार्थ होता है सो यहाँ बताया है। तपऋद्धिके पाँचवें और छट्ठे भेदोंमे अनेक प्रकारके रोगोंवाला शरीर कहा है उससे यह सिद्ध होता है कि–शरीर परवस्तु है, चाहे जैसा खराब हो फिर भी वह आत्माको पुरुपार्थ करनेमे बाधक नही होता। 'शरीर निरोग हो और बाह्य अनुकूलता हो तो धर्म हो सकता है' ऐसी मान्यता मिथ्या है ऐसा सिद्ध होता है।

७. पाँचवीं बलऋद्धिका स्वरूप

बल ऋद्धि तीन प्रकार की है—(१) मनोबलऋद्धि (२) वचनबलऋद्धि और (३) कायबलऋद्धि, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है। प्रकर्ष पुरुपार्थसे मन श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमे सम्पूर्ण श्रुत अर्थके चितवन करनेकी सामर्थ्य सो मनोबलऋद्धि है॥ १ ॥ अतिशय पुरुपार्थसे मन-इन्द्रिय श्रुतावरण तथा जिह्वा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमे सकल श्रुत को उच्चारण करने की सामर्थ्य होना तथा निरंतर उच्च स्वरसे बोलने पर खेद नही उत्पन्न हो, कंठ या स्वरभंग नही हो सो वचनबलऋद्धि है ॥२॥ वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे असाधारण कायबल प्रगट हो और एक मास, चार मास या बारहमास प्रतिमायोग धारण करने पर भी खेदरूप नही होना सो कायबलऋद्धि है ॥ ३ ॥

८. छट्ठी औपधिऋद्धिका स्वरूप

औपधिऋद्धि आठ प्रकार की है—(१) आमर्प (२) क्ष्वेल (३) जल (४) मल (५) विट (६) सर्व (७) आस्याविप (८) दृष्टिविप उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

असाध्य रोग हो तो भी जिनके हाथ-चरणादिके स्पर्श होने से ही सब रोग नष्ट हो जाँय सो आमर्पऔपधऋद्धि है ॥ १ ॥ जिनके थूक लार कफादिकके स्पर्श होने से ही रोग नष्ट हो जाय सो क्ष्वेलऔपधऋद्धि है ॥ २ ॥ जिनके देहके पसीनाका स्पर्श होने से रोग मिट जाय सो जल-

औषधिऋद्धि है ॥ ३ ॥ जिनके कान दाँत, नाक और नेत्रका मल ही सब रोगोके निराकरण करने मे समर्थ हो सो मलऔषधिऋद्धि है ॥ ४ ॥ जिनकी बीट–टट्टी तथा मूत्र ही औषधिरूप हो सो बीटऔषधिऋद्धि है ॥ ५ । जिनका अग उपाग नख, दाँत, केशादिक के स्पर्श होने से ही सब रोगोको दूर कर देता है सो सर्वोषधिंऋद्धि है ॥ ६ ॥ तीव्र जहरसे मिला हुआ आहार भी जिनके मुखमे जाते ही विष रहित हो जाय तथा विषसे व्याप्त जीवका जहर जिनके वचन से ही उतर जाय वो आस्याविषऔषधि-ऋद्धि है ॥ ७ ॥ जिनके देखने से महान विषधारी जीवका विष जाता रहे तथा किसी के विष चढा हो तो उतर जाय ऐसी ऋद्धि सो दृष्टिविप-ऋद्धि है ॥ ८ ॥

९. सातवीं रसऋद्धिका स्वरूप

रसऋद्धि ६ प्रकार की है। (१) आस्यविष (२) दृष्टिविष (३) क्षीर (४) मधुस्रावी (५) घृतस्रावी और (६) अमृतस्रावी उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

प्रकृष्ट तपवाले योगी कदाचित् क्रोधी होकर कहे कि 'तू मर जा' तो उसी समय विष चढने से मर जाय सो आस्यविषरसऋद्धि है ॥ १ ॥ कदाचित् क्रोधरूपी दृष्टिके देखने से मर जावे सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥ २ ॥ वीतरागी मुनिके ऐसी सामर्थ्य होय कि उनके क्रोधादिक उत्पन्न न हो और उनके हाथमे प्राप्त हुआ नीरस भोजन क्षीररसरूप हो जाय तथा जिनके वचन दुर्बलको क्षीरके समान पुष्ट करे सो क्षीररसऋद्धि है ॥ ३ ॥ ऊपर कहा हुआ भोजन, मिष्ट रसरूप परिणमित हो जाय सो मधुस्रावीरसऋद्धि है ॥ ४ ॥ तथा वह भोजन, घृतरसरूप परिणमित हो जाय सो घृतस्रावीरसऋद्धि है ॥ ५ ॥ भोजन अमृत रसरूप परिण-मित हो जाय सो अमृतस्रावीरसऋद्धि है ॥ ६ ॥ इसप्रकार ६ प्रकार की रसऋद्धि है।

१०. आठवीं क्षेत्रऋद्धिका स्वरूप

क्षेत्रऋद्धि दो प्रकार की है। (१) अक्षीणमहान और (२)

अक्षीणमहालय। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है।

लाभांतरायके उत्कृष्ट क्षयोपशमसे अति संयमवान मुनिको जिस भाजनमेसे जो भोजन दे उस भाजनमेसे चक्रवर्ती की समस्त सैन्य भोजन करले तो भी उस दिन भोजन सामग्री न घटे सो अक्षीणमहानक्षेत्रऋद्धि है ॥ १ ॥ ऋद्धिसहितमुनि जिस स्थानमे बैठे वहाँ देव, राजा, मनुष्यादिक बहुतसे आकर बैठे तो भी क्षेत्रमे कमी न पडे, आपसमे बाधा न होय सो अक्षीणमहालयक्षेत्रऋद्धि है ॥ २ ॥ इसप्रकार दो प्रकारकी क्षेत्रऋद्धि है।

इसप्रकार, पहिले आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्योके दो भेद किये थे उनमे से आर्यके ऋद्धिप्राप्त और अनऋद्धिप्राप्त ऐसे दो भेद किये। उनमेसे ऋद्धिप्राप्त आर्योंके ऋद्धिके भेदोका स्वरूप वर्णन किया, अब अनऋद्धिप्राप्त आर्योका भेद वर्णन करते हैं।

११. अनऋद्धिप्राप्त आर्य

अनऋद्धिप्राप्त आर्योंके पांच भेद हैं—(१) क्षेत्रआर्य, (२) जातिआर्य, (३) कर्मआर्य, (४) चारित्रआर्य और (५) दर्शनआर्य, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है।

(१) **क्षेत्रआर्य**—जो मनुष्य आर्य देशमे उत्पन्न हो उन्हे क्षेत्रआर्य कहते हैं।

(२) **जातिआर्य**—जो मनुष्य ईक्ष्वाकुवंश, भोजवंशादिकमे उत्पन्न हो उन्हे जातिआर्य कहते हैं।

(३) **कर्मआर्य**—उनके तीन भेद होते है–सावद्यकर्मआर्य, अल्पसावद्यकर्मआर्य और असावद्यकर्मआर्य। उनमेसे सावद्यकर्मआर्योंके ६ भेद हैं–असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य।

जो तलवार इत्यादि आयुध धारण करके आजीविका करते हैं उन्हे असिकर्मआर्य कहते है। जो द्रव्य की आय तथा खर्च लिखनेमे निपुण हो उन्हे मसिकर्मआर्य कहते हैं। जो हल बखर इत्यादि खेतीके साधनोसे खूब खेती करके आजीविकामे प्रवीण हो उन्हे कृषिकर्मआर्य कहते हैं। आलेख्य, गणितादि बहत्तर कलामे प्रवीण हो उन्हे विद्याकर्मआर्य कहते है।

धोबी हजाम, कुम्हार, लुहार, सुनार इत्यादिके कार्यमे प्रवीण हो उन्हे शिल्पकर्मआर्य कहते हैं। जो चन्दनादि गध, घी इत्यादि रस, धान्य, कपास, वस्त्र, मोती-माणिक इत्यादि अनेक प्रकारकी वस्तुओका सग्रह करके व्यापार करते है उन्हे वाणिज्यकर्मआर्य कहते है।

ये ६ प्रकारके कर्म जीवकी अविरतदशामे (पहिलेसे चौथे गुण-स्थान तक) होते है इसलिये उन्हे सावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

विरताविरतरूप परिणत जो श्रावक (पाँचवें गुणस्थानवर्ती) हैं उन्हे अल्पसावद्यकर्मआर्य कहते है।

जो सकलसंयमी साधु है उन्हे असावद्यकर्मआर्य कहते है।

(असावद्यकर्मआर्य और चारित्रआर्यके बीच क्या भेद है सो बताया जायगा)

(४) **चारित्रआर्य**—के दो भेद हैं-अभिगतचारित्रआर्य और अनभिगतचारित्रआर्य।

जो उपदेशके बिना ही चारित्रमोहके उपशम तथा क्षयसे आत्माकी उज्ज्वलतारूप चारित्रपरिणामको धारण करे, ऐसे उपशातकषाय और क्षीणकषायगुणस्थानधारकमुनि अभिगतचारित्रआर्य हैं। और जो अंतरगमे चारित्रमोहके क्षयोपशमसे तथा बाह्यमे उपदेशके निमित्तसे सयमरूप परि-णाम धारण करे वे अनभिगतचारित्रआर्य है।

असावद्यआर्य और चारित्रआर्य ये दोनो साधु ही होते है, परन्तु वे साधु जब पुण्यकर्मका बध करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानमे) उन्हे असावद्य-कर्मआर्य कहते हैं, और जब कर्म की निर्जरा करते है तब (छट्ठे गुणस्थान से ऊपर) उन्हे चारित्रआर्य कहते है।

(५) **दर्शनआर्य**—के देश भेद है—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ [इन दश भेद सबधी विशेष खुलासा मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ मे से जानना चाहिये]

इसप्रकार अनऋद्धिप्राप्तआर्यके भेदोका स्वरूप कहा। इसप्रकार आर्य मनुष्योका वर्णन पूरा हुआ।

अब म्लेच्छ मनुष्योंका वर्णन करते है।

१२. म्लेच्छ

म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकारके है—कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज,(१) पांच भरतके पांच खंड, पांच ऐरावतके पांच खंड और विदेहके आठसौ खंड, इसप्रकार (२५+२५+८००) आठसौ पचास म्लेच्छ क्षेत्र है, उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं, (२) लवणसमुद्रमें अडतालीस द्वीप तथा कालोदधि समुद्रमें अडतालीस द्वीप, दोनों मिलकर छियानवे द्वीपोंमें कुभोगभूमियां मनुष्य हैं उन्हें अंतर्द्वीपज म्लेच्छ कहते हैं। उन अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ मनुष्योंके चेहरे विचित्र प्रकारके होते है, उनके मनुष्योंके शरीर (धड) और उनके ऊपर हाथी, रीछ, मछली इत्यादिकोंका सिर, बहुत लम्बे कान, एक पग, पूंछ इत्यादि होती है। उनकी आयु एक पल्यकी होती है और वृक्षो के फल मिट्टी इत्यादि उनका भोजन है ॥ ३६ ॥

कर्मभूमिका वर्णन

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ—पांच मेरु संबंधी पांच भरत, पांच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ये दोनों छोडकर पांच विदेह, इसप्रकार अढाईद्वीपमें कुल पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

टीका

१ जहां असि, मसि, कृषि, वाणिज्य विद्या और शिल्प इन छह कर्म की प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते है। विदेहके एक मेरु संबंधी बत्तीस भेद है, और पांच विदेह हैं उनके ३२×५= १६० क्षेत्र पांच विदेहके हुए, और पांच भरत तथा पांच ऐरावत ये दश मिलकर कुल पन्द्रह कर्मभूमियोंके १७० क्षेत्र है। ये पवित्रताके धर्मके क्षेत्र हैं और मुक्ति प्राप्त करनेवाले मनुष्य वहा ही जन्म लेते हैं।

एक मेरुसबधी हिमवत्, हरिक्षेत्र, रम्यक्, हिरण्यवत्, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह भोगभूमियाँ है। इसप्रकार पाँच मेरु सबधी तीस भोगभूमियाँ है। उनमेसे दश जघन्य, दश मध्यम, और दश उत्कृष्ट है। उनमे दश प्रकारके कल्पवृक्ष है। उनके भोग भोगकर जीव सक्लेश रहित—सातारूप रहते है।

२. प्रश्न—कर्मके आश्रय तो तीनलोकका क्षेत्र है तो कर्मभूमिके एकसौ सत्तर क्षेत्र ही क्यो कहते हो, तीनलोक को कर्मभूमि क्यो नही कहते ?

उत्तरः—सर्वार्थसिद्धि पहुँचनेका शुभकर्म और सातवें नरक पहुँचने का पापकर्म इन क्षेत्रोमे उत्पन्न हुए मनुष्य उपार्जन करते है। असि, मसि, कृषि आदि छहकर्म भी इन क्षेत्रोमे ही होते है, तथा देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये छह प्रकार के शुभ (प्रशस्त) कर्म भी इन क्षेत्रोमे ही उत्पन्न हुए मनुष्य करते है, इसीलिये इन क्षेत्रोको ही कर्मभूमि कहते है ॥ ३७ ॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—मनुष्यो की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त की है।

टीका

यह ध्यान रखना चाहिये कि—मनुष्यभव एक प्रकार की त्रसगति है, दो इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक त्रसगति है। उसका एक साथ उत्कृष्टकाल दो हजार सागरोपमसे कुछ अधिक है। उसमे सज्ञी पर्याप्तक मनुष्यत्वका काल तो बहुत ही थोडा है। मनुष्यभवमे जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करके धर्मका प्रारभ न करे तो मनुष्यत्व मिटने के बाद कदाचित् त्रसमे ही रहे तो भी नारकी—देव—तिर्यंच और बहुत थोड़े मनुष्यभव करके

अंतमे त्रस पर्यायका काल (–दो हजार सागरोपम) पूरा करके एकेन्द्रियत्व पावेगा। वहां अधिक से अधिक काल (उत्कृष्ट रूपसे असख्यात पुद्गलपरावर्तन काल) तक रहकर एकेन्द्रियपर्याय (शरीर) धारण करेगा ॥ ३८ ॥

तिर्यंचों की आयुस्थिति

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थ—तिर्यंचोकी आयु की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति उतनी ही (मनुष्यो जितनी) है।

टीका

तिर्यंचोकी आयुके उपविभाग निम्नप्रकार हैं:—

जीवकी जाति	उत्कृष्ट आयु
(१) पृथ्वीकाय	२२००० वर्ष
(२) वनस्पतिकाय	१०००० वर्ष
(३) अपकाय	७००० वर्ष
(४) वायुकाय	३००० वर्ष
(५) अग्निकाय	३ दिवस
(६) दो इन्द्रिय	१२ वर्ष
(७) तीन इन्द्रिय	४९ दिवस
(८) चतुरिन्द्रिय	६ मास
(९) पचेन्द्रिय	
१ कर्मभूमिके पशु असंज्ञी पचेन्द्रिय मछली इत्यादि	१ करोड़ पूर्व वर्ष
२ परिसर्प जातिके सर्प	९ पूर्वांग वर्ष
३. सर्प	४२००० वर्ष
४. पक्षी	७२००० वर्ष
५. भोगभूमिके चौपाये प्राणी	३ पल्य

भोगभूमियोको छोडकर इन सब की जघन्य आयु एक अंतर्मुहूर्तकी है ॥ ३६ ॥

क्षेत्रके नापका कोष्टक

—अ—

(१) अनंत पुद्गल × अनन्त पुद्गल = १ उत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञा,
(२) ८ उत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञा = १ सञ्ज्ञासञ्ज्ञा,
(३) ८ सञ्ज्ञासञ्ज्ञा = १ त्रटरेणु,
(४) ८ त्रटरेणु = १ त्रसरेणु,
(५) ८ त्रसरेणु = १ रथरेणु,
(६) ८ रथरेणु = १ उत्तम भोगभूमियाके बालका अग्रभाग,
(७) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग = १ मध्यम भोगभूमियाके बालका अग्रभाग,
(८) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग = १ जघन्य भोगभूमियाके बालका अग्रभाग,
(९) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग = १ कर्मभूमियाके बालका अग्रभाग,
(१०) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग = १ लीख,
(११) ८ लीख = १ जूं (यूक) सरसो,
(१२) ८ यूक = १ यव (जवके बीजका व्यास)
(१३) ८ यव = १ उत्सेध अंगुल (छोटी अंगुलीकी चौड़ाई)
(१४) ५०० उत्सेध अंगुल = १ प्रमाणअंगुल अर्थात् अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीकी अँगुलीकी चौडाई,

—ब—

(१) ६ अंगुल	=	१ पाद
(२) २ पाद (१२ अंगुल)	=	१ विलस्त
(३) २ बिलस्त	=	१ हाथ
(४) २ हाथ	=	१ गज (ईषु)

(५) २ गज	=	१ धनुष (Bow)
(६) २००० धनुष	=	१ कोष
(७) ४ कोस	=	१ योजन

जहाँ जो अंगुल लागू पडता हो वहाँ उस प्रमाण (–नाप) समझना चाहिये।

नोट—१ प्रमाणअंगुल उत्सेधागुलसे ५०० गुणा है, उससे द्वीप, समुद्र, पर्वत, द्वीप समुद्रकी वेदी विमान नरकोका प्रस्तार इत्यादि अकृत्रिम वस्तुओ की लम्बाई चौडाई नापी जाती है।

२ उत्सेध अंगुलसे देव–मनुष्य–तिर्यंच और नारकियो का शरीर तथा अकृत्रिम जिन प्रतिमाओके देहका नाप किया जाता है। देवोके नगर तथा मंदिर भी इस ही नापसे नापे जाते हैं।

३ जिस कालमे जैसा मनुष्य हो उस कालमे उसका अंगुल आत्मागुल कहलाता है। पल्यके अर्धच्छेदका असख्यातमे भागप्रमाण घनागुल माडकर गुणा करने से एक जगतश्रेणी होती है।

जगतश्रेणी=७ राजू लोककी लम्बाई जो उसके अंतमे नीचे है वह।

जगतप्रतर=७ राजु×७ राजु–४९ राजुक्षेत्र उस लोक के नीचे भागका क्षेत्रफल (लम्बाई×चौडाई) है।

जगतघन (लोक)=७^3 राजु अर्थात् ७ राजु×७ राजु×७ राजु =३४३ राजु यह सम्पूर्णलोक का नाप (लम्बाई चौडाई मोटाई) है ॥ ३९ ॥

मध्यलोकके वर्णनका संक्षिप्त अवलोकन

जम्बूद्वीप

(१) मध्यलोकके अत्यन्त वीचमे एक लाख ❀ योजन चौडा, गोल

❀ एक योजन=दो हजार कोस

(थाली जैसा) जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके बीचमे एक लाख योजन सुमेरु-पर्वत है, जिसकी एक हजार योजन जमीन के अन्दर जड है नव्वे हजार योजन जमीन के ऊपर है, और उसकी चालीस योजन की चूलिका (चोटी) है।

जम्बूद्वीपके बीचमे पश्चिम पूर्व लम्बे छह कुलाचल (पर्वत) है उनसे जम्बूद्वीपके सात खड होगये हैं, उन सातखडोके नाम भरत, हैमवत् हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत हैं।

(२) उत्तरकुरु–देवकुरु

विदेहक्षेत्रमे मेरुके उत्तरदिशामे उत्तरकुरु तथा दक्षिणदिशामे देव-कुरुक्षेत्र है।

(३) लवणसमुद्र

जम्बूद्वीपके चारो तरफ खाईके माफक घेरे हुए दो लाख योजन चौडा लवणसमुद्र है।

(४) धातकीखंडद्वीप

लवणसमुद्रके चारों ओर घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातकी-खडद्वीप है। इस द्वीपमे दो मेरु पर्वत है, इसलिये क्षेत्र तथा कुलाचल (पर्वत) इत्यादि की सभी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी है।

(५) कालोदधिसमुद्र

धातकीखण्डके चारो ओर घेरे हुए आठ लाख योजन चौडा कालो-दधिसमुद्र है।

(६) पुष्करद्वीप

कालोदधिसमुद्रके चारो ओर घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस द्वीपके बीचोबीच वलय (चूडीके) के आकार, पृथ्वी पर एक हजार बावीस (१०२२) योजन चौडा, सत्रहसौ इक्कीस योजन (१७२१) ऊँचा और चारसौ सत्तावीस (४२७) योजन जमीनके अन्दर जडवाला, मानुषोत्तर पर्वत है और उससे पुष्करद्वीपके दो खण्ड होगये हैं।

पुष्करद्वीपके पहिले अर्धभागमे जम्बूद्वीपसे दूनी अर्थात् धातकीखंड वरावर सव रचना है।

(७) नरलोक (मनुष्यक्षेत्र)

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्ध (पुष्करद्वीपका आधाभाग) लवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्र इतना क्षेत्र नरलोक कहलाता है।

(८) दूसरे द्वीप तथा समुद्र

पुष्करद्वीपसे आगे परस्पर एक दूसरेसे घिरे हुए दूने दूने विस्तार वाले मध्यलोकके अन्ततक द्वीप और समुद्र हैं।

(९) कर्मभूमि और भोगभूमिकी व्याख्या

जहाँ असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, और वाणिज्य, इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो वे कर्मभूमियाँ हैं। जहाँपर उनकी प्रवृत्ति न हो वे भोगभूमियाँ कहलाती है।

(१०) पन्द्रह कर्मभूमियाँ

पाँच मेरुसंवधी पाँच भारत, पाँच ऐरावत और (देवकुरु उत्तरकुरु को छोडकर) पाँच विदेह इसप्रकार कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

(११) भोगभूमियाँ

पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत् ये दश क्षेत्र जघन्य भोगभूमियाँ है। पाँच हरि और पाँच रम्यक् ये दश क्षेत्र मध्यम भोगभूमियाँ है, और पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु ये दश क्षेत्र उत्कृष्ट भोगभूमिया है।

(१२) भोगभूमि और कर्मभूमि जैसी रचना

मनुष्यक्षेत्रसे वाहरके सभी द्वीपोमे जघन्य भोगभूमि जैसी रचना है, परन्तु स्वयभूरमणद्वीपके उत्तरार्धमे तथा समस्त स्वयभूरमण समुद्रमे और चारो कोनेकी पृथ्वियोमे कर्मभूमि जैसी रचना है। लवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्रमे ९६ अतर्द्वीप है। वहा कुभोगभूमिकी रचना है, और वहाँ पर मनुष्य ही रहते है। उन मनुष्योकी आकृतियाँ अनेकप्रकारकी कुत्सित है।

स्वयंभूरमणद्वीपके उत्तरार्धकी, स्वयंभूरमणसमुद्रकी और चारो कोनो की रचना कर्मभूमि जैसी कही जाती है, क्योकि कर्मभूमिमे और वहा विकलत्रय (दो इन्द्रियसे चार इन्द्रिय) जीव है, और भोगभूमिमे विकलत्रय जीव नही है। तिर्यक्लोकमे पचेन्द्रिय तिर्यंच रहते है, किंतु जलचर तिर्यंच लवणसमुद्र, कालोदधिसमुद्र, और स्वयंभूरमणसमुद्रको छोडकर अन्य समुद्रोमे नही है।

स्वयंभूरमणसमुद्रके चारो ओर के कोनेके अतिरिक्त भागको तिर्यक्-लोक कहा जाता है।

उपसंहार

लोकके इन क्षेत्रोको किसीने बनाये नही है, किन्तु अनादि अनंत है। स्वर्ग-नरक और द्वीपसमुद्र आदि जो है वे अनादिसे इसीप्रकार है, और सदा ऐसे ही रहेगे। जैसे जीवादिक पदार्थ इस लोकमे अनादिनिधन है उसी प्रकार यह भी अनादिनिधन समझना चाहिये।

इसप्रकार यथार्थ श्रद्धानके द्वारा लोकमे सभी पदार्थ अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन समझना चाहिये। जो कुछ कृत्रिम घरबार आदि-इद्रिय गम्यवस्तुएँ नवीन दिखाई देती हैं वे सब अनादि निधन पुद्गलद्रव्यकी सयोगी पर्यायें है। वे पुद्गल कुछ नये नही बने है। इसलिये यदि जीव निरर्थक भ्रमसे सच्चे-झूठेका ही निश्चय न करे तो वह सच्चा स्वरूप नही जान सकता। प्रत्येक जीव अपनी श्रद्धानका फल प्राप्त करता है इसलिये योग्य जीवोको सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिये।

सात नरकभूमियो, बिल, लेश्या, आयु, द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर, नदी, मनुष्य–तिर्यंचकी आयु इत्यादिका वर्णन करके श्री आचार्यदेवने तीसरा अध्याय पूर्ण किया।

इसप्रकार तीसरे अध्यायमे अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन किया है, अब ऊर्ध्वलोकका वर्णन चौथे अध्यायमे किया जायगा इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके तीसरे अध्यायकी टीका समाप्त हुई।



मोक्षशास्त्र अध्याय चौथा

भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमे यह वतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है। तत्पश्चात् दूसरे सूत्रमे सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्वार्थ श्रद्धान' कहा गया है। पश्चात् जिन तत्वोके यथार्थ श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है उनके नाम देकर चौथे सूत्रमे सात तत्त्व वताये गये है। उन सात तत्त्वोमे पहिला जीवतत्त्व है। उस जीवका स्वरूप समझनेके लिए दूसरे अध्यायमें यह वताया गया है कि जीवके भाव, जीवका लक्षण, इन्द्रियाँ—जन्म-शरीर इत्यादिके साथ ससारी जीवोका निमित्तनैमित्तिक सवध कैसा होता है। तीसरे अध्यायमे चार प्रकारके ससारी जीवोमेसे नारकी जीवोका वर्णन किया है तथा जीवोके निवासस्थान वतलाये हैं, और यह वतलाया है कि मनुष्य तथा अन्य जीवोके रहनेके क्षेत्र कौनसे हैं तथा मनुष्य और तिर्यंचोकी आयु इत्यादिके सवंधमे कुछ वातें वताई गई हैं।

इसप्रकार समारकी चार गतियोके जोवोमेसे मनुष्य, तिर्यंच, और नरक इन तीनका वर्णन तीसरे अध्यायमे हो चुका है, अव देवाधिकार शेप रहता है, जो कि इस चौथे अध्यायमे मुख्यतासे निरूपित किया गया है। इसप्रकार अध्याय २ सूत्र १० मे जीवके दो भेद (संमारी और मुक्त) वतलाये थे उनमेसे ससारी जीवोसे सवध रखनेवाला अधिकार वर्णित हो जाने पर मुक्त जीवोका अधिकार शेष रह जाता है जो कि दशवे अध्यायमे वर्णित किया जायगा।



ऊर्ध्वलोक वर्णन

देवोंके भेद

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—देव चार समूहवाले है अर्थात् देवोके चार भेद है—१ भवनवासी, २ व्यतर, ३ ज्योतिषी और ४ वैमानिक।

टीका

देव—जो जीव देवगतिनामकर्मके उदयसे अनेक द्वीप, समुद्र तथा पर्वतादि रमणीक स्थानोमे क्रीडा करे उन्हे देव कहते ॥ १ ॥

भवनत्रिक देवोंमें लेश्याका विभाग

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—पहिलेके तीन निकायोमे पीत तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

टीका

(१) कृष्ण = काली, नील = नीले रगकी, कापोत = चितकबरी-कबूतरके रग जैसी, पीत = पीली।

(२) यह वर्णन भावलेश्याका है। वैमानिक देवोकी भावलेश्याओं का वर्णन इस अध्यायके २२ वे सूत्रमे दिया है ॥ २ ॥

चार निकायके देवोंके प्रभेद

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

अर्थ—कल्पोपपन्न (सोलहवे स्वर्गतकके देव) पर्यन्त इन चारप्रकार के देवोके क्रमसे दश, आठ, पाच, और बारह भेद है।

टीका

भवनवासियोके दश, व्यन्तरोके आठ, ज्योतिषियोके पाँच, और

कल्पोपपन्नोके वारह भेद हैं [कल्पोपपन्न देव वैमानिक जातिके ही है] ॥३॥

चार प्रकारके देवोंके सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए चार प्रकारके देवोमे हरएकके दश भेद हैं–१–इन्द्र, २–सामानिक, ३–त्रायस्त्रिंश, ४–पारिषद, ५–आत्मरक्ष, ६–लोकपाल, ७–अनीक, ८–प्रकीर्णक, ९–आभियोग्य, और १०–किल्विषिक।

टीका

१. इन्द्र—जो देव दूसरे देवोमे नही रहनेवाली अणिमादिक ऋद्धियो से सहित हो उन्हे इन्द्र कहते हैं वे देव राजाके समान होते हैं। [Like a King]

२. सामानिक–जिन देवोके आयु, वीर्य, भोग उपभोग इत्यादि इद्र समान होने हैं, तो भी आज्ञारूपी ऐश्वर्यसे रहित होते है, वे सामानिक देव कहलाते हैं। वे देव पिता या गुरुके समान होते हैं [Like father, teacher]

३. त्रायस्त्रिंश–जो देव मत्री-पुरोहितके स्थान योग्य होते है उन्हे त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्रकी सभामे ऐसे-देव तेतीस ही होते है [Ministers]

४. पारिषद–जो देव इन्द्रकी सभामे बैठनेवाले होते है उन्हे पारिषद कहते हैं। [Courtiers]

५. आत्मरक्ष–जो देव अंगरक्षकके समान होते हैं उन्हे आत्मरक्ष कहते हैं। [Body guards]

नोट–क्योकि देवोमे घात इत्यादि नही होता तो भी ऋद्धिमहिमा के प्रदर्शन आत्मरक्ष देव होते हैं।

६. लोकपाल–जो देव कोतवाल (फोजदार) की समान लोगो का पालन करे उन्हे लोकपाल कहते है। [Police]

७. **अनीक**–जो देव पैदल इत्यादि सात प्रकारकी सैनामे विभक्त रहते है उन्हें अनीक कहते है। [Army]

८. **प्रकीर्णक**–जो देव नगरवासियोंके समान होते है उन्हे प्रकीर्णक कहते है। [People]

९. **आभियोग्य**–जो देव दासो की तरह सवारी आदिके काम आते है उन्हे आभियोग्य कहते है। इसप्रकारके देव घोडा, सिंह, हस इत्यादि प्रकारके बाहनरूप (दूसरे देवोके उपयोग लिये) अपना रूप बनाते हैं। [Conveyances]

१०. **किल्बिषिक**–जो देव चाडालादिकी भाति हलके दरजेके काम करते है उन्हे किल्विषिक कहा जाता है [Servile grade [॥ ४ ॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें इन्द्र आदि भेदों की विशेषता

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

अर्थ—ऊपर जो दश भेद कहे है उनमेसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये भेद व्यन्तर और ज्योतिषी देवोमे नही होते अर्थात् उनमे दो भेदोको छोड कर बाकीके आठ भेद होते है॥ ५ ॥

देवोंमें इन्द्रोंकी व्यवस्था

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरोमे प्रत्येक भेदमे दो दो इन्द्र होते है।

टीका

भवनवासियोके दश भेद है इसलिये उनमे वीस इन्द्र होते हैं। व्यन्तरोके आठ भेद है इसलिये उनमे सोलह इन्द्र होते है, और दोनोमे इतने ही (इन्द्र जितने ही) प्रतीन्द्र होते है।

२. जो देव युवराजसमान अथवा इन्द्र समान होते हैं अर्थात् जो देव इन्द्र जैसा कार्य करते हैं उन्हे प्रतीन्द्र कहते हैं।

[त्रिलोकप्रज्ञप्ति, पृष्ठ ११८–११६]

३. श्री तीर्थंकरभगवान सौ इन्द्रोमे पूज्य होते हैं वे सौ इन्द्र निम्नलिखित हैं।

४० भवनवासियोके—वीस इन्द्र और वीस प्रतीन्द्र।

३२ व्यतरोके—सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र।

२४ सोलहस्वर्गोमे से-प्रथमके चार देवलोकोके चार, मध्यमके आठ देवलोकोके चार और अतके चार देवलोकोके चार इसप्रकार वारह इन्द्र और वारह प्रतीन्द्र।

२ ज्योतिषी देवोके—चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र।

१ मनुष्योके—चक्रवर्ती इन्द्र।

१ तिर्यंचोके—अष्टापद-सिंह इन्द्र।

१००

देवोंका काम सेवन संबंधी वर्णन

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—ऐशानस्वर्गतकके देव (अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, और पहिले तथा दूसरे स्वर्गके देव) मनुष्योकी भाँति शरीरसे काम सेवन करते हैं।

टीका

देवोमे सततिकी उत्पत्ति गर्भद्वारा नही होती, तथा वीर्य और दूसरी धातुओसे वना हुआ शरीर उनके नही होता, उनका शरीर वैक्रियिक होता है। केवल मनकी कामभोगरूप वासना तृप्त करनेके लिये वे यह उपाय करते हैं। उसका वेग उत्तरोत्तर मद होता है इसलिये थोड़े ही साधनोसे यह वेग मिट जाता है। नीचेके देवोकी वासना तीव्र होती है इसलिये वीर्य-

स्खलनका सबध नही होने पर भी शरीर सबध हुए बिना उनकी वासना दूर नही होती। उनसे भी आगे के देवोकी वासना कुछ मद होती है इसलिये वे आलिगनमात्रसे ही सतोष मानते हैं। आगे आगेके देवोकी वासना उनसे भी मद होती है इसलिये वे रूप देखनेसे तथा शब्द सुननेसे ही उनके मनकी वासना शात हो जाती है। उनसे भी आगेके देवोके चितवनमात्रसे कामशाति हो जाती है। कामेच्छा सोलहवे स्वर्गतक है उसके आगेके देवोके कामेच्छा उत्पन्न ही नही होती ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थ—शेष स्वर्गके देव, देवियोके स्पर्शसे, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मनके विचारोसे काम सेवन करते है।

टीका

तीसरे और चौथे स्वर्गके देव, देवियोके स्पर्शसे, पाँचवे से आठवे स्वर्ग तकके देव, देवियोके रूप देखनेसे, नवमे से बारहवे स्वर्ग तकके देव, देवियोके शब्द सुननेसे, और तेरहवे से सोलहवे स्वर्ग तकके देव, देवियो सबघी मनके विचारमात्रसे तृप्त हो जाते हैं–उनकी कामेच्छा शात हो जाती है ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थ—सोलहवे स्वर्गसे आगेके देव कामसेवन रहित हैं (उनके कामेच्छा उत्पन्न ही नही होती तो फिर उसके प्रतिकारसे क्या प्रयोजन ?)

टीका

१ इस सूत्रमे 'परे' शब्दसे कल्पातीत (सोलहवे स्वर्गसे ऊपरके) सब देवोका सग्रह किया गया है; इसलिये यह समझना चाहिये कि अच्युत (सोलहवे) स्वर्गके ऊपर नवग्रैवेयिकके ३०९ विमान, नव अनुदिश विमान और पाँच अनुत्तर विमानोमे बसनेवाले- अहमिन्द्र हैं, उनके कामसेवनके भाव नही है वहाँ देवागनाएँ नही हैं। (सोलहवे स्वर्गसे ऊपरके देवोमे भेद नही है, सभी समान होते हैं इसलिये उन्हे अहमिन्द्र कहते है)

दधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंके दश भेद हैं—१—असुरकुमार, २—नागकुमार, ३—विद्युत्कुमार, ४— सुपर्णकुमार, ५—अग्निकुमार, ६—वातकुमार, ७—स्तनितकुमार, ८—उदधिकुमार, ९–द्वीपकुमार और १० दिक्कुमार।

टीका

१. २० वर्षके नीचेके युवकके जैसा जीवन और आदत होती है वैसा ही जीवन और आदत इन देवोंके भी होती है इसलिये उन्हें कुमार कहते हैं।

२. उनके रहनेका स्थान निम्नप्रकार है—

प्रथम पृथ्वी–रत्नप्रभामे तीन भूमियां (Stages) हैं उसमे पहिली भूमिको 'खरभाग' कहते है उसमे असुरकुमारको छोडकर नवप्रकारके भवनवासी देव रहते हैं।

जिस भूमिमे असुरकुमार रहते है उस भागको 'पंकभाग' कहते हैं, उसमे राक्षस भी रहते हैं। 'पकभाग' रत्नप्रभा पृथ्वीका दूसरा भाग है।

रत्नप्रभाका तीसरा (सबसे नीचा) भाग 'अब्बहुल' कहलाता है वह पहिला नरक है।

३ भवनवासी देवोकी यह असुरकुमारादि दश प्रकारकी सज्ञा उन उन प्रकारके नामकर्मके उदयसे होती है ऐसा जानना चाहिये। 'जो देव युद्ध करे, प्रहार करें वे असुर है, ऐसा कहना ठीक नही है अर्थात् वह देवोका अवर्णवाद है और उससे मिथ्यात्वका बध होता है।

४ दश जातिके भवनवासी देवोके सात करोड बहत्तर लाख भवन हैं, ये भवन महासुगन्धित, अत्यत रमणीक, और अत्यत उद्योतरूप हैं, और उतनी ही सख्या (७,७२,००,०००) जिन चैत्यालयोकी है। दशप्रकारके चैत्यवृक्ष जिनप्रतिमासे विराजित होते है।

५. भवनवासी देवोंका आहार और श्वासका काल

१—असुरकुमार देवोके एक हजार वर्ष बाद आहारकी इच्छा उत्पन्न होती है और मनमे उसका विचार आते ही कठसे अमृत झरता है, वेदना व्याप्त नही होती, पन्द्रह दिन बीत जाने पर श्वास लेते है।

२-४ नागकुमार, सुपर्णकुमार और द्वीपकुमार ये तीनप्रकारके देवो के साडे बारह दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और साढे बारह मुहूर्त बीत जाने पर श्वास लेते है।

५-७ उदधिकुमार, विद्युतकुमार और स्तनितकुमार इन तीनप्रकारके देवोके बारह दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और बारह मुहूर्त बाद श्वास लेते है।

८-१० दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार इन तीनप्रकारके देवोंके साढे सात दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और साढे सात मुहूर्त बाद श्वास लेते है।

देवोके कवलाहार नही होता उनके कठमे से अमृत झरता है, और उनके वेदना व्यापती नही है।

इस अध्यायके अतमे देवोकी व्यवस्था बतानेवाला कोष्टक है उससे दूसरी बाते जान लेना चाहिये ॥ १० ॥

व्यन्तर देवोंके आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोके आठ भेद है—१–किन्नर, २–किंपुरुष, ३–महोरग, ४–गन्धर्व, ५–यक्ष, ६–राक्षस, ७–भूत और ८–पिशाच।

टीका

१. कुछ व्यन्तरदेव जम्बूद्वीप तथा दूसरे असख्यात द्वीप समुद्रोमे रहते हैं। राक्षस रत्नप्रभा पृथ्वीके 'पकभागमे' रहते है और राक्षसोको

छोड़कर दूसरे सातप्रकारके व्यन्तरदेव 'खरभागमें' रहते हैं।

२. जुदी जुदी दिशाओमे इन देवोका निवास है इसलिये उन्हे व्यन्तर कहते हैं, उपरोक्त आठ संज्ञाएँ जुदे २ नामकर्मके उदयसे होती हैं। उन संज्ञाओका कुछ लोग व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ करते है किन्तु ऐसा अर्थ गलत है अर्थात् ऐसा कहनेसे देवोका अवर्णवाद होता है और मिथ्यात्वके बंधका कारण है।

३ पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारी देव कभी भी मनुष्योके अपवित्र औदारिक शरीरके साथ कामसेवन करते ही नही, देवोके मांस भक्षण कभी होता ही नही, देवोको कंठसे झरनेवाला अमृतका आहार होता है, किन्तु कवलाहार नही होता।

४ व्यन्तर देवोके स्थानमे जिनप्रतिमासहित आठ प्रकारके चैत्य-वृक्ष होते हैं और वे मानस्थभादिक सहित होते है।

५. व्यन्तर देवोका आवास—द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, त्रिराहा, चौराहा, घर, आँगन, रास्ता, गली, पानीका घाट, बाग, वन, देवकुल इत्यादि असंख्यात स्थान हैं॥ ११॥

ज्योतिषी देवोंके पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्र-प्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थः——ज्योतिषी देवोके पाँच भेद हैं—१-सूर्य, २—चन्द्रमा, ३—ग्रह, ४—नक्षत्र,और ५, प्रकीर्णक तारे।

टीका

ज्योतिषी देवोका निवास मध्यलोकमे समधरातलसे ७९० योजनकी ऊंचाईसे लेकर ९०० योजनकी ऊंचाई तक आकाशमे है सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य हैं, सूर्यसे ८० योजनऊपर चन्द्रमा हैं,

चन्द्रमासे चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र है, नक्षत्रोसे ४ योजन ऊपर बुधका ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर वृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मगल, और उससे ३ योजन ऊपर शनि है, इस-प्रकार पृथ्वीसे ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मडल है। उनका आवास मध्यलोकमे है। [यहाँ २००० कोसका योजन जानना चाहिये] ॥१२॥

ज्योतिषी देवोंका विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोकमे हमेशा गमन करते है।

(अढाई द्वीप और दो समुद्रोको मनुष्यलोक कहते है) ॥ १३ ॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थः—घडी, घटा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकालका विभाग है वह गतिशील ज्योतिषीदेवोके द्वारा किया जाता है।

टीका

काल दो प्रकारका है—निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चय काल का स्वरूप पाँचवे अध्यायके २२ वे सूत्रमे किया जायगा। यह व्यवहार काल निश्चयकालका बतानेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थः—मनुष्यलोक (अढाई द्वीप) के बाहरके ज्योतिषी देव स्थिर है।

टीका

अढाईद्वीपके बाहर असख्यात द्वीप समुद्र है उनके ऊपर (सबसे अतिम स्वयभूरमण समुद्रतक) ज्योतिषीदेव स्थिर है ॥ १५ ॥

इसप्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन प्रकारके देवो का वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकारके–वैमानिक देवोका स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवोंका वर्णन

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—अब वैमानिक देवोका वर्णन शुरू करते हैं।

टीका

विमान—जिन स्थानोमे रहनेवाले देव अपनेको विशेष पुण्यात्मा समझें उन स्थानोको विमान कहते हैं।

वैमानिक—उन विमानोमें पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

वहां सब चौरासी लाख सतानवे हजार तेवीस विमान हैं। उनमे उत्तम मदिर, कल्पवृक्ष, वन-बाग बावडी, नगर इत्यादि अनेक प्रकारकी रचना होती है। उनके मध्यमे जो विमान हैं वे इद्रक विमान कहे जाते हैं उन की पूर्वादि चारो दिशाओमे पक्तिरूप (सीधी लाइनमे) जो विमान हैं उन्हे श्रेणिवद्ध विमान कहते हैं। चारो दिशाओके बीच अतरालमे–विदिशाओमे जहां तहां विखरे हुए फूलोकी तरह जो विमान हैं उन्हे प्रकीर्णक विमान कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रक, श्रेणिवद्ध और प्रकीर्णक ये तीनप्रकारके विमान हैं ॥१६॥

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—वैमानिक देवोके दो भेद हैं—१ कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत।

टीका

जिनमें इन्द्रादि दशप्रकारके भेदोंकी कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं, और उन कल्पोमें जो देव पैदा होते हैं उन्हे कल्पो-

पपन्न कहते है, तथा सोलहवे स्वर्गसे ऊपर जो देव उत्पन्न होते है उन्हे कल्पातीत कहते है ॥ १७ ॥

कल्पोंकी स्थिति का क्रम

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थ—सोलह स्वर्गके आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाच अनुत्तर ये सब विमान क्रमसे ऊपर ऊपर है ॥ १८ ॥

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठ-शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युत-योर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

अर्थ—सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लातव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्रार इन छह युगलो के बारह स्वर्गोमे, आनत-प्राणत ये दो स्वर्गोमे, आरण-अच्युत ये दो स्वर्गोमे, नव ग्रैवेयक विमानोमे, नव अनुदिश विमानोमे और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पॉच अनुत्तर विमानोमे वैमानिक देव रहते है।

टीका

१ नव ग्रैवेयको के नाम—(१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) विशाल, (७) सुमन, (८) सौमन और (९) प्रीतिंकर।

२ नव अनुदिशो के नाम—(१) आदित्य, (२) अर्चि, (३) अर्चिमाली, (४) वैरोचन, (५) प्रभास, (६) अर्चिप्रभ, (७) अर्चिमंध्य (८) अर्चिरावर्त और (९) अर्चिविशिष्ट।

सूत्रमे अनुदिश नाम नही है परन्तु 'नवसु' पदसे उसका ग्रहण हो जाता है। नव और ग्रैवेयक इन दोनोमे सातवी विभक्ति लगाई गई है वह बताती है कि ग्रैवेयकसे नव ये जुदे स्वर्ग है।

३ सौधर्मादिक एक एक विमानमे एक एक जिनमदिर अनेक विभूति सहित होते है। और इन्द्रके नगरके बाहर अशोकवन, आम्रवन इत्यादि होते है। उन वनमे एक हजार योजन ऊँचा और पाँचसौ योजन चौडा एक चैत्यवृक्ष है उसकी चारो दिशामे पल्यकासन जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा है।

४ इन्द्रके इस स्थानमडपके अग्रभागमे मानस्थभ होता है उस मानस्थंभमे तीर्थंकर देव जब गृहस्थदशामे होते हैं, उनके पहिनने योग्य आभरणोका रत्नमई पिटारा होता है। उसमेसे इन्द्र आभरण निकालकर तीर्थंकर देव को पहुँचाता है। सौधर्मके मानस्थंभके रत्नमई पिटारेमे भरत-क्षेत्रके तीर्थंकरोके आभरण होते हैं। ऐशान स्वर्गके मानस्थभके पिटारेमे ऐरावतक्षेत्रके तीर्थंकरोके आभरण होते है। सानत्कुमारके मानस्थभके पिटारेमे पूर्व विदेहके तीर्थंकरोके आभरण होते हैं। माहेन्द्रके मानस्थभके पिटारेमे पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोके आभरण होते हैं। इसलिये वे मान-स्थंभ देवोसे पूज्यनीय हैं। इन मानस्थभोके पास ही आठ योजन चौडा, आठ योजन लम्बा, तथा ऊचा उपपाद गृह है। उन उपपादगृहोमे एक रत्न मई शय्या होती है, वह इन्द्रका जन्म स्थान है। उस उपपादगृहके पासमे ही अनेक शिखरवाले जिनमदिर है। उनका विशेष वर्णन त्रिलोकसारादि ग्रन्थो मे से जानना चाहिये ॥ १९ ॥

वैमानिकदेवोंमें उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

अर्थ—आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकीविशुद्धि, इन्द्रियोका विषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब ऊपर ऊपरके विमानोमे (वैमानिक देवोके) अधिक हैं।

टीका

स्थिति—आयुकर्मके उदयसे जो भवमे रहना होता है उसे स्थिति कहते है।

प्रभाव —परका उपकार तथा निग्रह करनेवाली शक्ति प्रभाव है।

सुख—सातावेदनीयके उदयसे इन्द्रियोके इष्ट विषयोकी अनुकूलता सो सुख है। यहाँ पर 'सुख' का अर्थ बाहरके सयोगकी अनुकूलता किया है, निश्चयसुख (आत्मीक सुख) यहाँ नही समझना चाहिये। निश्चयसुख का प्रारभ सम्यग्दर्शनसे होता है, यहाँ सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टिके भेदकी अपेक्षा से कथन नही है किन्तु सामान्य कथन है ऐसा समझना चाहिये।

द्युति—शरीरकी तथा वस्त्र आभूषण आदिकी दीप्ति सो द्युति है।

लेश्याविशुद्धि–लेश्या की उज्ज्वलता सो विशुद्धि है, यहाँ भाव-लेश्या समझना चाहिये।

इन्द्रियविषय–इन्द्रियद्वारा (मतिज्ञानसे) जानने योग्य पदार्थोंको इन्द्रियविषय कहते है।

अवधिविषय–अवधिज्ञानसे जानने योग्य पदार्थ सो अवधिविषय है ॥ २० ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर हीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थ—गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान की अपेक्षासे ऊपर ऊपर के वैमानिक देव हीन हीन है।

टीका

१. **गति**—यहाँ 'गति' का अर्थ गमन है, एक क्षेत्रको छोडकर अन्य क्षेत्रमे जाना सो गमन (गति) है। सोलहवे स्वर्गसे आगेके देव अपने विमानोको छोड दूसरी जगह नही जाते।

शरीर—शरीरका विस्तार सो शरीर है।

परिग्रह–लोभ कपायके कारण **ममतापरिणाम** सो परिग्रह है।

अभिमान–मानकषायके कारण अहकार सो अभिमान है।

२. **प्रश्न**—ऊपर ऊपर के देवोके विक्रया आदि की अधिकताके कारण गमन इत्यादि विशेष रूपसे होना चाहिये फिर भी उसकी हीनता कैसे कही ?

उत्तर—गमनकी शक्ति तो ऊपर ऊपरके देवोमे अधिक है किन्तु अन्य क्षेत्रमे गमन करने के परिणाम अधिक नही है इसलिये गमनहीन हैं ऐसा कहा है। सौधर्म-ऐशानके देव क्रीडादिकके निमित्तसे महान् विषयानुःराग से वारम्वार अनेक क्षेत्रोमे गमन करते हैं। ऊपर के देवोंके विषय की उत्कट (तीव्र) वाच्छाका अभाव है इसलिये उनकी गति हीन है।

३ शरीरका प्रमाण चालू अध्यायके अन्तिम कोष्टकमे वताया है वहां से जानना चाहिये।

४ विमान–परिवारादिकरूप परिग्रह ऊपर ऊपरके देवोमे थोडा २ होता है। कपायकी मदतासे अवधिज्ञानादिमे विशुद्धता वढती है और अभिमान कमती होता है। जिनके मंद कपाय होती है वे ऊपर ऊपर उत्पन्न होते हैं।

५. शुभ परिणामके कारण कौन जीव किस स्वर्गमें उत्पन्न होता है उसका स्पष्टीकरण

कौन उपजे ?	कहाँ उपजे ?
(१) असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच—	भवनवासी तथा व्यन्तर ....
(२) कर्मभूमिके सज्ञी पर्याप्त तिर्यंचमिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले,	वारहवें स्वर्ग पर्यंत

(३) ऊपरके तिर्यंच-सम्यग्दृष्टि (स्वयप्रभाचलसे बाहरके भागमे रहनेवाले)	सौधर्मादिसे अच्युत स्वर्ग पर्यंत
(४) भोगभूमिके मनुष्य, तिर्यच-मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले	ज्योतिषियोमे
(५) तापसी	ज्योतिपियोमे
(६) भोगभूमिके सम्यग्दृष्टि-मनुष्य या तिर्यंच	सौधर्म और ऐशानमे
(७) कर्मभूमिके मनुष्य—मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन	भवनवासीसे उपरिम ग्रैवेयक तक
(८) कर्मभूमिके मनुष्य—जिनके द्रव्य (बाह्य) जिनलिग और भाव मिथ्यात्व या सासादन होते है ऐसे—	ग्रैवेयक पर्यन्त
(९) जो अभव्यमिथ्यादृष्टि निर्ग्रन्थलिंग धारण करके महान् शुभभाव और तप सहित हो वे—	उपरिम (नवमे) ग्रैवेयकमे ।
(१०) परिव्राजक तापसियोका उत्कृष्ट उपपाद	ब्रह्म (पंचम) स्वर्गपर्यंत
(११) आजीवक (काजीके आहारी) का उपपाद	बारहवे स्वर्ग पर्यंत
(१२) सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी प्रकर्षतावाले श्रावक	सौधर्मादिसे अच्युत तक (उससे नीचे या ऊपर नही)

(१३) भावलिंगी निर्ग्रन्थ साधु	सर्वार्थसिद्धि पर्यंत
(१४) अढाईद्वीपके अणुव्रतधारी तिर्यंच	सोधर्मसे लेकर बारहवे स्वर्ग पर्यंत ।
(१५) पाँच मेरु सबधी तीस भोगभूमिके मनुष्य-तिर्यंच मिथ्यादृष्टि	भवनत्रिकमे
(१६) „ „ सम्यग्दृष्टि	सौधर्म ऐशानमे
(१७) छ्यानवे अतर्द्वीप कुभोगभूमिके म्लेच्छ मनुष्य, मानुषोत्तर और स्वयंप्रभाचल पर्वतके वीचके असख्यात द्वीपोमे उत्पन्न हुए तिर्यंच	भवनत्रिकमे

नोट—एकेन्द्रिय, विकलत्रय, देव तथा नारकी ये देवोमे उत्पन्न नही होते क्योकि उनके देवोमे उत्पन्न होनेके योग्य शुभभाव होते ही नही ।

६. देव पर्यायसे च्युत होकर कौनसी पर्याय धारण करता है उसकी विगत

कहाँ से आता है ?	कौनसी पर्याय धारण करे ?
(१) भवनत्रिक देव और सौधर्म-ऐशानसे	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त पृथ्वी काय, अपकाय, प्रत्येकवनस्पति, मनुष्य तथा पचेन्द्रिय तिर्यंचमे उपजे (विकलत्रयमे नही जाता)
(२) सनत्कुमारादिकसे	स्थावर नही होता ।
(३) बारहवे स्वर्ग पर्यंतसे	पचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य होता है ।
(४) आनत-प्राणतादिकसे (बारहवें स्वर्गके ऊपरसे)	नियमसे मनुष्यमे ही उत्पन्न होता है तिर्यंचोमे नही होता ।

(५) सौधर्मसे प्रारभ करके नवग्रैवेयक पर्यंतके देवो मे से कोई	त्रेसठ शलाका पुरुष भी हो सकते है।
(६) अनुदिश और अनुत्तरसे आये हुये।	तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र इत्यादि मे उत्पन्न हो सकते है किंतु अर्धचक्री नही हो सकते।
(७) भवनत्रिकसे	त्रेशठ शलाका पुरुषोमे नही उत्पन्न होते।
(८) देव पर्यायसे (समुच्चयसे)	समस्त सूक्ष्मोमे, तैजसकायोमे, वातकायोमे उत्पन्न नही होते। तथा विकलत्रयोमे, असज्ञियो या लब्धिअपर्याप्तकोमे नही उत्पन्न होते और भोगभूमियोमे, देवोमे तथा नारकियोमे भी उत्पन्न नही होते।

७. इस सूत्रका सिद्धांत

(१) जब जीव मिथ्यादृष्टिके रूपमे उत्कृष्ट शुभभाव करता है तब नवमे ग्रैवेयक तक जाता है, परन्तु वे शुभभाव सम्यग्दर्शनके या धर्मके कारण नही है, मिथ्यात्वके कारण अनत ससारमे परिभ्रमण करता है इसलिये शुभ भावको धर्म या धर्मका कारण नही मानना चाहिये।

(२) मिथ्यादृष्टिको उत्कृष्ट शुभभाव होते है तब उसके गृहीत-मिथ्यात्व छूट जाता है अर्थात् देव-गुरु शास्त्र की रागमिश्रित व्यवहार श्रद्धा तो ठीक होती है, उसके विना उत्कृष्ट शुभभाव हो ही नही सकते। नवमे ग्रैवेयक जाने वाला मिथ्यादृष्टि जीव देव-गुरु शास्त्रके व्यवहारसे (राग-मिश्रित विचारसे) सच्चा निर्णय करता है किन्तु निश्चयसे अर्थात् रागसे पर हो सच्चा निर्णय नही करता है तथा उसके 'शुभ भावसे धर्म होता है'

ऐसी सूक्ष्म मिथ्यामान्यता रह जाती है इसलिये यह मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

(३) सच्चे देव-गुरु शास्त्रकी व्यवहार श्रद्धाके विना उच्च शुभभाव भी नही हो सकते, इसलिये जिन जीवोको सच्चे देव-गुरु शास्त्रका संयोग प्राप्त हो जाता है। फिर भी यदि वे उसका रागमिश्रित व्यवहारिक यथार्थ निर्णय नही करते तो गृहीतमिथ्यात्व बना रहता है, और जिसे कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रकी मान्यता होती है उसके भी गृहीतमिथ्यात्व होता ही है, और जहाँ गृहीतमिथ्यात्व होता है वहाँ अगृहीतमिथ्यात्व भी अवश्य होता है, इसलिये ऐसे जीवको सम्यग्दर्शनादि धर्म तो होता नही, प्रत्युत मिथ्यादृष्टिके होने वाला उत्कृष्ट शुभभाव भी उसके नही होता, ऐसे जीवो के जैन धर्मकी श्रद्धा व्यवहारसे भी नही मानी जा सकती।

(४) इसी कारणसे अन्यधर्मकी मान्यतावालोके सच्चे धर्मका प्रारंभ अर्थात् सम्यग्दर्शन तो होता ही नही है और मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव भी वे नही कर सकते, वे अधिकसे अधिक बारहवे देवलोक की प्राप्तिके योग्य शुभभाव कर सकते है।

(५) बहुतसे अज्ञानी लोगोकी यह मान्यता है कि 'देवगतिमे सुख है' किन्तु यह उनकी भूल है। बहुतसे देव तो मिथ्यात्वके कारण अतत्त्व–श्रद्धानयुक्त ही हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोके अति मद कषाय नही होती, उपयोग भी बहुत चचल होता है तथा कुछ शक्ति है इसलिये कौतुहल तथा विषयादि कार्योमे ही लगे रहते है और इसलिये वे अपनी उस व्याकुलतासे दु खी ही हैं। वहाँ माया–लोभ कषायके कारण होनेसे वैसे कार्योकी मुख्यता है। वहाँ विषयसामग्रीकी इच्छा करना, छल करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं किंतु वैमानिक देवोमे ऊपर ऊपरके देवोके वे कार्य अल्प होते है। वहाँ हास्य और रति कषायके कारण होनेसे वैसे कार्योकी मुख्यता होती है। इसप्रकार देवोको कषायभाव होता है और कषायभाव दुःख ही है। ऊपरके देवोके उत्कृष्ट पुण्यका उदय है और कषाय अति मद है, तथापि उनके भी इच्छाका अभाव नही है इसलिये वास्तवमे वे दु खी ही हैं।

जो देव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए है वे ही जितने दरजेमे वीतरागभावरूप रहते हैं उतने दरजेमे सच्चे सुखी हैं। सम्यग्दर्शनके विना कही भी सुखका अश प्रारभ नही होता, और इसीलिये ही इसी शास्त्रके पहिले ही सूत्रमे मोक्ष का उपाय बतलाते हुए उसमे सम्यग्दर्शन पहिला बताया है। इसलिये जीवोको प्रथम ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना आवश्यक है।

(६)—उत्कृष्ट देवत्वके योग्य सर्वोत्कृष्ट शुभभाव सम्यग्दृष्टिके ही होते है। अर्थात् शुभभावके स्वामित्वके निषेधकी भूमिकामे ही वैसे उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं, मिथ्यादृष्टिके वैसे उच्च शुभभाव नही होने ॥ २१ ॥

वैमानिक देवोंमें लेश्या का वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थ—दो युगलोमे पीत, तीन युगलोमे पद्म और बाकीके सब विमानोमे शुक्ललेश्या होती हैं।

टीका

१. पहिले और दूसरे स्वर्गमे पीतलेश्या, तीसरे और चौथेमे पीत तथा पद्मलेश्या, पाचवेंसे आठवे तक पद्मलेश्या, नववेंसे बारहवे तक पद्म और शुक्ललेश्या और बाकीके सब वैमानिक देवोके शुक्ललेश्या होती है, नव अनुदिश और पाच अनुत्तर इन चौदह विमानोके देवोके परमशुक्ल-लेश्या होती है। भवनत्रिक देवोकी लेश्याका वर्णन इस अध्यायके दूसरे सूत्रमे आगया है। यहाँ भावलेश्या समझना चाहिये।

२. **प्रश्न**—सूत्रमे मिश्रलेश्याओका वर्णन क्यो नही किया ?

उत्तर—जो मुख्य लेश्याएँ है उन्हे सूत्रमे बतलाया है जो गौण लेश्याएँ है उन्हे नही कहा है, गौण लेश्याओका वर्णन उसीमे गर्भित है। इसलिये वे उसमे अविवक्षितरूपसे हैं। इस शास्त्रमे सक्षिप्त सूत्ररूपसे मुख्य वर्णन किया है, दूसरा उसमे गर्भित है। इसलिये यह गर्भित कथन परम्परा के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥ २२ ॥

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है ?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थ—ग्रैवेयकोसे पहिलेके सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते है। उनसे आगेके विमान कल्पातीत है।

टीका

सोलह स्वर्गोंके बाद नवग्रैवेयक इत्यादिके देव एक समान वैभवके धारी होते हैं इसलिये उन्हे अहमिन्द्र कहते हैं, वहाँ इन्द्र इत्यादि भेद नही हैं, सभी समान है ॥ २३ ॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिनका निवास स्थान पांचवे स्वर्ग (ब्रह्मलोक) है उन्हे लौकान्तिक देव कहते हैं।

टीका

ये देव ब्रह्मलोकके अंतमे रहते हैं तथा एक भवावतारी (एकावतारी) हैं तथा लोकका अंत (ससारका नाश) करनेवाले है इसलिये उन्हे लौकान्तिक कहते हैं। वे द्वादशांगके पाठी होते हैं, चौदह पूर्वके धारक होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकर प्रभुके मात्र तप कल्याणकमे आते हैं। वे देवर्षि भी कहे जाते है ॥ २४ ॥

लौकान्तिक देवोंके नाम

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—लौकान्तिक देवोके आठ भेद हैं—१–सारस्वत, २–आदित्य, ३–वह्नि, ४–अरुण, ५–गर्दतोय, ६–तुषित, ७–अव्याबाध, और ८–अरिष्ट ये देव ब्रह्मलोककी ईशान इत्यादि आठ दिशाओंमें रहते हैं।

टीका

इन देवोके ये आठ मूल भेद हैं और उन आठोके रहनेके स्थानके बीच के भागमे रहनेवाले देवोके दूसरे सोलह भेद है, इसप्रकार कुल २४ भेद हैं इन देवोके स्वर्गके नाम उनके नामके अनुसार ही है। उनमे सभी समान है, उनमे कोई छोटा बड़ा नही है सभी स्वतन्त्र हैं उनकी कुल सख्या ४०७८२० है। सूत्रमे आठ नाम बतलाकर अतमे 'च' शब्द दिया है उससे यह मालूम होता है कि इन आठ के अतिरिक्त दूसरे भेद भी है ॥ २५ ॥

अनुदिश और अनुत्तरवासी देवोंके अवतारका नियम

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

अर्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानो के अहमिन्द्र द्विचरमा होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म (भव) धारण करके अवश्य ही मोक्ष जाते है (ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते है।)

टीका

१ सर्वार्थसिद्धिके देव उनके नामके अनुसार एकावतारी ही होते हैं। विजयादिकमे रहनेवाले जीव एक मनुष्यभव अथवा दो भव भी धारण करते हैं।

२ सर्वार्थसिद्धिके देव, दक्षिण इन्द्र, सौधर्मके लोकपाल, सौधर्म की 'शचि' नामकी इन्द्राणी और लौकान्तिक देव—ये सभी एक मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते है ॥ २६ ॥

[तीसरे अध्यायमे नारकी और मनुष्य सबधी वर्णन किया था और इस चौथे अध्यायमे यहाँ तक देवोका वर्णन किया। अब एक सूत्र द्वारा तिर्यंचोकी व्याख्या बतानेके बाद देवोकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु कितनी है यह बतावेगे तथा नारकियोकी जघन्य आयु कितनी है यह बतावेगे। मनुष्य तथा तिर्यंचोकी आयुकी स्थितिका वर्णन तीसरे अध्यायके सूत्र ३८–३९ मे कहा गया है।

इसप्रकार, दूसरे अध्यायके दशवे सूत्रमे जीवोके ससारी और मुक्त

ऐसे जो दो भेद कहे थे उनमे से ससारी जीवोका वर्णन चौथे अध्याय तक पूरा हुआ। तत्पश्चात् पाँचवे अध्यायमे अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे। छठवे तथा सातवे अध्यायमें आश्रव तथा आठवे अध्यायमे वध तत्त्वका वर्णन करेगे तथा नवमे अध्यायमे सवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन करेगे और मुक्त जीवो का (मोक्ष तत्त्वका) वर्णन दशवे अध्यायमे करके ग्र थ पूर्ण करेंगे।]

तिर्यंच कौन हैं ?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मवाले (देव तथा नारकी) और मनुष्योके अतिरिक्त वाकी वचे हुए तिर्यंच योनिवाले ही हैं।

टीका

देव नारकी और मनुष्योके अतिरिक्त सभी जीव तिर्यच हैं उनमे से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तो ससस्त लोकमे व्याप्त हैं। लोकका एक भी प्रदेश सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोसे रहित नही है। वादर एकेन्द्रिय जीवोको पृथ्वी इत्यादि का आधार होता है।

विकलत्रय (दो तीन और चार इन्द्रिय) और सज्ञी-असज्ञी पचेन्द्रिय जीव त्रसनालीमे कही कही होते हैं त्रसनालीके वाहर त्रसजीव नही होते। तिर्यच जीव समस्त लोकमे होनेसे उनका क्षेत्र विभाग नही है ॥ २७ ॥

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्यो-पमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

अर्थ—भवनवासी देवोमे असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और वाकी के छह कुमारो की आयु क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढाई पल्य, दो पल्य, और डेढ पल्य है ॥ २६ ॥

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवो की आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

टीका

१ भवनवासी देवोके बाद व्यतर और ज्योतिषी देवोकी आयु बताने का क्रम है तथापि वैमानिक देवोकी आयु बतानेका कारण यह है कि ऐसा करने से बादके सूत्रोमे लघुता (सक्षेपता) आ सकती है।

२ 'सागरोपमे' यह शब्द द्विवचनरूप है उसका अर्थ 'दो सागर' होता है।

३. 'अधिके' यह शब्द घातायुष्क जीवोकी अपेक्षासे है, उसका खुलासा यह है कि कोई सम्यग्दृष्टि मनुष्यने शुभ परिणामोसे दश सागर प्रमाण ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गकी आयु बाधली तत्पश्चात् उसने ही मनुष्यभव मे सक्लेश परिणामसे उस आयुकी स्थितिका घात किया और सौधर्म-ईशान मे उत्पन्न हुआ तो वह जीव घातायुष्क कहलाता है, सौधर्म ईशानके दूसरे देवो की अपेक्षा उसकी आधा सागरमे एक अतर्मुहूर्त कम आयु अधिक होती है। ऐसा घातायुष्कपना पूर्वमे मनुष्य तथा तिर्यंच भवमे होता है।

४ आयुका घात दो प्रकारका है—एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयुका घटना सो अपवर्तनघात है। और भूज्यमान (भोगनेमे आनेवाली) आयुका घटना सो कदलीघात है। देवोमे कदलीघात आयु नही होती।

५ घातायुष्क जीव का उत्पाद बारहवे देवलोक पर्यंत ही होता है॥ २९॥

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थ—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोकी आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

नोट.—इस सूत्रमे 'अधिक' शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आई है॥ ३०॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानितु ॥ ३१॥

अर्थ—पूर्व सूत्रमे कहे हुए युगलो की आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु (उसके बादके स्वर्गोमे) है।

१. ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमे दश सागरसे कुछ अधिक, लातव और कापिष्ट स्वर्गमे चौदह सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग मे सोलह सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्गमे अठारह सागर से कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्गमे बीस सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्गमे बावीस सागर उत्कृष्ट आयु है।

२ 'तु' शब्द होनेके कारण 'अधिक' शब्दका सम्बन्ध बारहवे स्वर्ग तक ही होता है क्योकि घातायुष्क जीवोकी उत्पत्ति वहाँ तक ही होती है ॥ ३१ ॥

कल्पोपपन्न देवोकी आयु कह करके अब कल्पातीत देवो की आयु कहते हैं।

कल्पातीत देवोंकी आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजया-दिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

अर्थ—आरण और अच्युत स्वर्गसे ऊपर के नव ग्रैवेयकोमे, नव अनुदिशोमे, विजय इत्यादि विमानोमे और सर्वार्थसिद्धि विमानमे देवोकी आयु-एक एक सागर अधिक है।

टीका

१ पहिले ग्रैवेयकमे २३, दूसरेमे २४, तीसरेमे २५, चौथेमे २६, पाँचवेमे २७, छठवेंमे २८, सातवेंमे २९, आठवेमे ३०, नववेंमे ३१, नव अनुदिशोमे ३२, विजय आदिमे ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थ-सिद्धिके सभी देवोकी ३३ सागर की ही स्थिति होती है इससे कम किसी की नही होती।

२ मूल सूत्रमे 'अनुदिश' शब्द नही है किन्तु 'आदि' शब्दसे अनुदिशो का भी ग्रहण हो जाता है ॥ ३२ ॥

स्वर्गोंकी जघन्य आयु

अपरा पल्योपमधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्ग मे जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

टीका

सागर और पल्य का नाप तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रकी टीका मे दिया है। वहाँ अद्धापल्य लिखा है उसे ही पल्य समझना चाहिये ॥३३॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो पहिले पहिलेके युगलोकी उत्कृष्ट आयु है वह पीछे पीछेके युगलोकी जघन्य आयु होती है।

टीका

सौधर्म और ईशानस्वर्ग की उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है, उतनी ही सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जघन्य आयु है। इसी क्रमके अनुसार आगेके देवोकी जघन्य आयु समझना चाहिये। सर्वार्थसिद्धिमे जघन्य आयु नही होती ॥ ३४ ॥

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थः—दूसरे इत्यादि नरकके नारकियोकी जघन्य आयु भी देवोकी जघन्य आयुके समान है—अर्थात् जो पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु है वही दूसरे नरककी जघन्य आयु है। इसप्रकार आगे के नरकोमे भी जघन्य आयु जानना चहिये ॥ ३५ ॥

पहिले नरककी जघन्य आयु

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थः—पहिले नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

(नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन तीसरे अध्यायके छठ्वे सूत्रमे किया है।) ॥ ३६ ॥

भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थः—भवनवासी देवोंकी भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है ॥ ३७ ॥

व्यन्तर देवोंकी जघन्य आयु

व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोकी भी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है॥३८॥

व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोकी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥ ३९ ॥

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोकी भी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥ ४० ॥

ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु एक पल्योपमके आठवे भाग है ॥ ४१ ॥

लौकान्तिक देवोंकी आयु

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

अर्थः—समस्त लौकान्तिक देवोकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु आठ सागरकी है ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस चौथे अध्याय तक सात तत्त्वोमे मे से जीव तत्त्वका अधिकार पूर्ण हुआ।

पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमे मोक्षमार्गकी व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारभ होता है ऐसा बतलाया है। दूसरे ही सूत्रमे सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए बताया है कि—तत्त्वार्थश्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है। तत्पश्चात् चौथे सूत्रमे तत्त्वोके नाम वतलाये और तत्त्व सात है यह वताया। सात नाम होने पर भी बहुवचनका प्रयोग नही करते हुए 'तत्त्व' इसप्रकार एक वचनका प्रयोग किया है—उससे यह मालूम होता है कि इन सातो तत्त्वोके राग मिश्रित विचारसे ज्ञान करने के बाद भेदका आश्रय दूर करके जीवके त्रिकालिक अभेद ज्ञायक भावका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

सूत्र ५ तथा ६ मे बताया है कि इन तत्त्वोको निक्षेप, प्रमाण तथा नयोके द्वारा जानना चाहिये, इसमे सप्तभगीका समावेश हो जाता है। इन सबको संक्षेपमे सामान्यरूपसे कहना हो तो तत्त्वोका स्वरूप जो अनेकान्तरूप है, और जिसका द्योतक स्याद्वाद है उनका स्वरूप भलीभाति समझ लेना चाहिये।

जीवका यथार्थज्ञान करने के लिये स्याद्वाद पद्धतिसे अर्थात् निक्षेप, प्रमाण, नय और सप्तभगीसे जीवका स्वरूप सक्षेपमे कहा जाता है, उसमे पहिले सप्तभगीके द्वारा जीवका स्वरूप कहा जाता है—सप्तभगीका स्वरूप जीवमे निम्नप्रकारसे लगाया जाता है।

सप्तभंगी

[स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति]

'जीव है' यह कहते ही जीव जीवस्वरूपसे है और जीव जडस्वरूपसे (अजीवस्वरूपसे) नही है—यदि यह समझा जा सके तो ही जीवको जाना कहलाता है, अर्थात् 'जीव है,' यह कहते ही यह निश्चित् हुआ कि 'जीव जीवस्वरूपसे है' और उसमे यह गर्भित होगया कि 'जीव परस्वरूपसे नही है'। वस्तु के इस धर्मको 'स्यात् अस्ति' कहा जाता है' उसमे 'स्यात्' का अर्थ किसी 'एक अपेक्षासे' है, और अस्तिका अर्थ 'है' होता है। इसप्रकार 'स्यात् अस्ति' का अर्थ 'अपनी अपेक्षासे है' यह होता है, उसमे 'स्यात् नास्ति' अर्थात् 'परकी अपेक्षासे नही है' ऐसा गर्भितरूपसे आ जाता है, जो इसप्रकार जानता है वही जीवका 'स्यात् अस्ति' भंग अर्थात् 'जीव है' इसप्रकार यथार्थ जानता है, किन्तु यदि 'परकी अपेक्षासे नही है' ऐसा उसके लक्षमे गर्भितरूपसे न आये तो जीवका 'स्यात् अस्ति' स्वरूपको भी वह जीव भलीभाँति नही समझा है और इसलिये वह अन्य छह भगोको भी नही समझा है, इसलिये उसने जीवका यथार्थ स्वरूप नही समझा है। यह ध्यान रखना चाहिये कि—'हर समय बोलनेमे 'स्यात्' शब्द बोलना ही चाहिये' ऐसी आवश्यकता नही है, किन्तु 'जीव है' ऐसा कहनेवालेके 'स्यात्' पदके भावका यथार्थ ख्याल होना चाहिये, यदि ऐसा न हो तो 'जीव है' इस पदका यथार्थ ज्ञान उस जीवके है ही नही।

'जीवका अस्तित्व पर स्वरूपसे नही है' यह पहले 'स्यात् अस्ति' भगमे गर्भित था, वह दूसरे 'स्यात् नास्ति' भगमे प्रगटरूपसे बतलाया जाता है। स्यात् नास्तिका अर्थ ऐसा है कि पर अपेक्षासे जीव नही है। 'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षासे और 'नास्ति' अर्थात् न होना। जीवका पर अपेक्षासे नास्तित्व है अर्थात् जीव परके स्वरूपसे नही है इसलिये पर-अपेक्षासे जीवका नास्तित्व है अर्थात् जीव और पर एक दूसरेके प्रति अवस्तु है—ऐसा 'स्यात् नास्ति' भंगका अर्थ समझना चाहिये।

इससे यह समझना चाहिये कि—जैसे 'जीव' शब्द कहने से जीवका अस्तित्व (जीवकी सत्ता) भासित होता है वह जीवका स्वरूप

है उसी प्रकार उसीसमय उस जीवको छोडकर दूसरेका निषेध भासित होता है वह भी जीवका स्वरूप है।

इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूपसे जीवका स्वरूप है और पररूपसे न होना भी जीवका स्वरूप है। यह जीवमे स्यात् अस्ति तथा स्यात् नास्ति का स्वरूप बतलाया है।

इसीप्रकार परवस्तुओका स्वरूप उन वस्तुरूपसे है और परवस्तुओ का स्वरूप जीवरूप से नही है,—इसप्रकार सभी वस्तुओमे अस्ति-नास्ति स्वरूप समझना चाहिये। शेष पाँच भग इन दो भगोके ही विस्तार हैं।

"आप्तमीमासाकी १११ वी कारिका की व्याख्यामे अकलकदेव कहते हैं कि-वचनका ऐसा स्वभाव है कि स्वविषयका अस्तित्व दिखानेसे वह उससे इतरका (परवस्तुका) निराकरण करता है, इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व—इन दो मूल धर्मोके आश्रयसे सप्तभगीरूप स्याद्वाद की सिद्धि होती है।" [तत्वार्थसार पृष्ठ १२५ का फुट नोट]

साधक जीवको अस्ति-नास्तिके ज्ञानसे होनेवाला फल

जीव अनादि अविद्याके कारण शरीरको अपना मानता है और इसलिये वह शरीरके उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति तथा शरीर का नाश होने पर अपना नाश होना मानता है पहिली भूल 'जीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा है और दूसरी भूल 'अजीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा है। [जहाँ एक तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा होती है वहाँ दूसरे तत्त्वोकी भी विपरीत श्रद्धा होती ही है।]

इस विपरीत श्रद्धाके कारण जीव यह मानता रहता है कि वह शारीरिक क्रिया कर सकता है, उसे हिला डुला सकता है, उठा बैठा सकता है, सुला सकता है और शरीरकी सँभाल कर सकता है इत्यादि। जीवतत्त्व सबधी यह विपरीत श्रद्धा अस्ति-नास्ति भगके यथार्थ ज्ञानसे दूर होती है।

यदि शरीर अच्छा हो तो जीवको लाभ होता है, और खराब हो तो हानि होती है, शरीर अच्छा हो तो जीव धर्म कर सकता है और खराब

हो तो धर्म नही कर सकता, इत्यादि प्रकारसे अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा किया करता है। वह भूल भी अस्ति-नास्ति भगके यथार्थज्ञानसे दूर होती है।

जीव जीवसे अस्तिरूपसे है और परसे अस्तिरूपसे नही है—किन्तु नास्तिरूपसे है, इसप्रकार जब यथार्थतया ज्ञानमे निश्चय करता है तब प्रत्येक तत्त्व यथार्थतया भासित होता है, इसीप्रकार जीव परद्रव्योके प्रति सपूर्णतया अकिंचित्कर है तथा परद्रव्य जीवके प्रति सपूर्णतया अकिंचित्कर हैं, क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपसे नास्ति है, ऐसा विश्वास होता है और इससे जीव पराश्रयी–परावलबित्वको मिटा कर स्वाश्रयी–स्वावलम्बी हो जाता है, यही धर्मका प्रारभ है।

जीवका परके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है इसका ज्ञान इन दो भगोसे किया जा सकता है। निमित्त परद्रव्य है इसलिये वह नैमित्तिक जीवका कुछ नही कर सकता, वह मात्र आकाश प्रदेशमे एक क्षेत्रावगाहरूपसे या सयोग-अवस्थारूपसे उपस्थित होता है, किन्तु नैमित्तिक-निमित्त से पर है और निमित्त-नैमित्तिकसे पर है इसलिये एक दूसरेका कुछ नही कर सकता। निमित्त तो परज्ञेयरूपसे ज्ञान मे ज्ञात होता है, इतना मात्र व्यवहार सम्बन्ध है।

दूसरेसे चौथे अध्याय तक यह अस्ति-नास्ति स्वरूप कहॉ कहाँ बताया है उसका वर्णन

अध्याय २ सूत्र १ से ७–जीवके पाचभाव अपने अस्तिरूपसे हैं और परसे नास्तिरूप हैं ऐसा बताया है।

अ० २ सू० ८-९ जीवका लक्षण अस्तिरूपसे क्या है यह बताया है, उपयोग जीवका लक्षण है ऐसा कहनेसे दूसरा कोई लक्षण जीवका नही है ऐसा प्रतिपादित हुआ। जीव अपने लक्षणसे अस्तिरूप है और इसीलिये उसमे परकी नास्ति आगई—ऐसा बताया है।

अ० २ सू० १०–जीवकी विकारी तथा शुद्ध पर्याय जीवसे अस्ति रूपसे है और परसे नास्तिरूपसे अर्थात् परसे नही है ऐसा बताया है।

अ० २ सू० ११ से १७—जीवके विकारीभावोका पर वस्तुओ से —कर्म, मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, परक्षेत्र इत्यादिके साथ—कैसा निमित्त -नैमित्तिकभाव है यह बतलाकर यह बताया है कि—जीव पराश्रयसे जीवके विकारीभाव करता है किंतु परनिमित्तसे विकारीभाव नही होते अर्थात् पर निमित्त विकारीभाव नही कराता यह अस्ति-नास्तिपन बतलाता है ।

अ० २ सू० १८—जीवकी क्षयोपशमरूप पर्याय अपने अस्तिरूपसे है, परसे नही है (नास्तिरूपसे है) अर्थात् परसे—कर्मसे जीवकी पर्याय नही होती यह बताया है ।

अ० २ सू० २७ जीवका सिद्धक्षेत्रके साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसे बताते है ।

अ० २ सू० ५० से ५२—जीवकी वेदरूप (भाववेदरूप) विकारी पर्याय अपनी योग्यतासे-अस्तिरूपसे है परसे नही है यह बताया है ।

अ० २ सू० ५३—जीवका आयुकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया है, उसमे जीवका नैमित्तिकभाव जीव की अपनी योग्यतासे है और आयुकर्मसे अथवा परसे नही है ऐसा बताया है तथा निमित्त आयुकर्मका निश्चय सबध जीव या किसी दूसरे परके साथ नही है ऐसा अस्ति-नास्ति भगसे सिद्ध होता है ।

अ० ३ सू० १ से ६ नारकीभावके भोगनेके योग्य होनेवाले जीवके किस प्रकारके क्षेत्रोका सबध निमित्तरूपसे होता है तथा उत्कृष्ट आयुका निमित्तपना किसप्रकारसे होता है यह बताकर, निमित्तरूप, क्षेत्र या आयु वह जीव नही है किन्तु जीवसे भिन्न है ऐसा सिद्ध होता है ।

अ० ३ सू० ७ से ३९ मनुष्यभाव या तिर्यचभावको भोगनेके योग्य जीव के किसप्रकार के क्षेत्रोका तथा आयु का सबध निमित्तरूपसे होता है यह बताकर जीव स्व है और निमित्त पर है ऐसा अस्ति-नास्ति स्वरूप बतलाया है ।

अ० ४ सू० १ से ४२ देवभाव और तिर्यंचभाव होनेपर तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिरूप अवस्थामे जीवके कैसे परक्षेत्रोका तथा आयुका

है और उनका त्रिकाल जाननेका स्वभाव गुण है, तथा ज्ञानकी वर्तमान पर्याय स्वज्ञेयको जानती है। स्वज्ञेयके जानने मे यदि स्व-पर का भेद विज्ञान हो तब ही ज्ञानकी सच्ची पर्याय है।

अनेकान्त

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३११-३१२ पृष्ठ ११८ से १२० के आधार से]

१—वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है। जिसमे अनेक अत अर्थात् धर्म हो उसे अनेकान्त कहते है। उन धर्मोमे अस्तित्व नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षात्व, अनपेक्षात्व, दैवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अतरगत्व, बहिरगत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, इत्यादि सामान्य धर्म है। और जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गधत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व मूर्तत्व अमूर्तत्व, ससारीत्व, सिद्धत्व, अवगाहहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं। वस्तुको समझने के लिये प्रश्न उठने पर प्रश्नके वशसे उन धर्मोके सम्बन्धमे विधिनिषेधरूप वचनोके सात भग होते है। उन सात भगोमे 'स्यात्' यह पद लगाया है। 'कथचित्' किसीप्रकार इस अर्थमे 'स्यात्' शब्द है उसके द्वारा वस्तुका अनेकान्त स्वरूप सिद्ध करना चाहिये।

सप्तभंगी और अनेकान्त

(१) १ वस्तु स्यात् अस्तिरूप है अर्थात् किसीप्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूपसे अस्तिरूप कही जाती है। २ वस्तु स्यात् नास्तिरूप है अर्थात् परवस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे नास्तित्वरूप कही जाती है। ३ वस्तु स्यात् अस्तित्व-नास्तित्वरूप है—यह वस्तुमे अस्ति-नास्ति-दोनो धर्म रहते हैं, उसे वचनके द्वारा क्रमसे कह सकते हैं। ४ और वस्तु स्यात् अवक्तव्य है, क्योकि वस्तुमे अस्ति-नास्ति दोनो धर्म एक ही समय रहते हैं किन्तु वचनके द्वारा एक साथ दोनो धर्म कहे नही जा सकते, इसलिये किसी प्रकारसे वस्तु अवक्तव्य है। ५ अस्तित्वरूपसे वस्तु स्वरूप कहा जा सकता है, किन्तु अस्ति-नास्ति दोनो धर्म वस्तुमे एक साथ

रहते हैं, इसलिये वस्तु एक साथ कही नही जा सकती इसप्रकार वस्तु वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है, इसलिये स्यात् अस्ति-अवक्तव्य है। ६ इस ही प्रकार (अस्तित्वकी भाति) वस्तुके स्यात् नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ७ और दोनो धर्मोंको क्रमसे कह सकते हैं किन्तु एक साथ नही कह सकते इसलिये वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ऊपर कहे अनुसार सात भग वस्तुमे सभव है।

(२) इसप्रकार एकत्व, अनेकत्व इत्यादि सामान्य धर्म पर सात भंग विधि-निषेधसे लगाना चाहिये। जहाँ जो अपेक्षा सभव हो उसे लगाना चाहिये और उसीप्रकारसे जीवत्व, अजीवत्व आदि विशेष धर्मोंमे वे भग लगाना चाहिये। जैसे कि—जीव नाम की वस्तु है वह स्यात् जीवत्व है स्यात् अजीवत्व है इत्यादि प्रकारसे लगाना चाहिये। वहाँ पर इसप्रकार अपेक्षा पूर्वक समझना कि जीवका अपना जीवत्वधर्म जीवमे है इसलिये जीवत्व है, पर-अजीवका अजीवत्वधर्म जीवमे नही है तो भी जीवके दूसरे (ज्ञानको छोड कर) धर्मोंकी मुख्यता करके कहा जावे तो उन धर्मोंकी अपेक्षासे अजीवत्व है, इत्यादि सात भग लगाना चाहिये। तथा जीव अनत हैं उसकी अपेक्षासे अर्थात् अपना जीवत्व अपनेमे है परका जीवत्व अपनेमे नही है इसलिये पर जीवोकी अपेक्षासे अजीवत्व है, इस प्रकार से भी अजीवत्व धर्म प्रत्येक जीव मे सिद्ध हो सकता है—कह सकते है। इसप्रकार अनादिनिधन अनत जीव अजीव वस्तुए है। उनमे प्रत्येक अपना अपना द्रव्यत्व, पर्यायत्व इत्यादि अनत धर्म हैं। उन धर्मों सहित सात भगोसे वस्तु की सिद्धि करना चाहिये।

(३) वस्तुकी स्थूल पर्याय है वह भी चिरकाल स्थाई अनेक धर्म रूप होती है। जैसे कि जीवमे ससारीपर्याय और सिद्धपर्याय। और ससारी में त्रस, स्थावर, उसमे मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि। पुद्गलमे अणु, स्कन्ध तथा घट, पट इत्यादि। वे पर्याये भी कथचित् वस्तुपना सिद्ध करती है। उन्हे भी उपरोक्त प्रकारसे ही सात भगसे सिद्ध करना चाहिये, तथा जीव और पुद्गल के सयोगसे होनेवाले आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, मोक्ष इत्यादि भावोमे भी, बहुतसे धर्मपनाकी अपेक्षासे तथा परस्पर विधि=निषेध

से, अनेक धर्मरूप कथचित् वस्तुपना सभवित है, उसे सप्त भगसे सिद्ध करना चाहिये।

(४) यह नियमपूर्वक जानना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है उन सबको अनेकान्त स्वरूप जानकर जो श्रद्धा करता है और उसी प्रमाणसे ही ससारमे व्यवहारकी प्रवृत्ति करता है सो सम्यग्दृष्टि है। जीव, अजीव, आश्रव, बध, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ है उनकी भी उसीप्रकारसे सप्त भगसे सिद्धि करना चाहिये। उसका साधन श्रुतज्ञान प्रमाण है।

नय

(१)श्रुतज्ञान प्रमाण है। और श्रुतज्ञान प्रमाणके अशको नय कहते हैं। नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। और उनके (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके) नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवभूतनय, ये सात भेद हैं, उनमें से पहिले के तीन भेद द्रव्यार्थिकके हैं और बाकीके चार भेद पर्यायार्थिकके हैं। और उनके भी उत्तरोत्तर भेद, जितने वचनके भेद हैं उतने हैं। उन्हे प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभंगीके विधानसे सिद्ध किया जाता है। इसप्रकार प्रमाण और नय के द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानकरश्रद्धान करे तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

(२) और यहाँ इतना विशेप जानना चाहिये कि नय वस्तु के एक एक धर्मका ग्राहक है। वह प्रत्येक नय अपने अपने विषयरूप धर्मके ग्रहण करने मे समान है। तथापि वक्ता अपने प्रयोजनवश उन्हे—मुख्य-गौण करके कहता है।

जैसे जीव नामक वस्तु है, उसमे अनेक धर्म हैं तथापि चेतनत्व, प्राणधारणत्व इत्यादि धर्मोको अजीवसे असाधारण देखकर जीवको अजीव से भिन्न दर्शानेके लिये उन धर्मोंको मुख्य करके वस्तुका नाम जीव रखा है, इसी प्रकार वस्तुके सर्व धर्मोंमे प्रयोजनवश मुख्य-गौण समझना चाहिये।

अध्यात्मके नय

(१) इसी आशयसे अध्यात्मकथनीमे मुख्यको निश्चय और गौण

को व्यवहार कहा है, उसमे अभेद धर्मको मुख्य करके उसे निश्चयका विषय कहा है और भेदको गौण करके उसे व्यवहार नयका विषय कहा है। द्रव्य तो अभेद है इसलिये निश्चयका आश्रय द्रव्य है, और पर्याय भेदरूप है, इस लिये व्यवहार का आश्रय पर्याय है उसमे प्रयोजन इसप्रकार है कि भेदरूप वस्तुको सर्वलोक जानता है उसके भेदरूप वस्तु ही प्रसिद्ध है इसलिये लोक पर्यायबुद्धि है। जीवकी नर-नारकादि पर्याये है तथा राग द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्याये हैं तथा ज्ञानके भेदरूप मतिज्ञानादि पर्याये है। लोग उन पर्यायोको ही जीव समझते है इसलिये (अर्थात् उस पर्यायबुद्धिको छुडानेके प्रयोजन से) उस पर्यायमे अभेदरूप अनादि अनत एक भाव जो चेतना धर्म है उसे ग्रहण करके निश्चयनयका विषय कहकर जीवद्रव्यका ज्ञान कराया है, और पर्यायाश्रित भेदनयको गौण किया है, तथा अभेद दृष्टि मे वे भेद दिखाई नही देते इसलिये अभेदनयकी दृढ श्रद्धा करानेके लिये कहा है कि जो पर्यायनय है सो व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। यह कथन भेदबुद्धिके एकातका निराकरण करनेके लिए समझना चाहिये।

(२) यहाँ यह नही समझना चाहिये कि जो भेद है उसे असत्यार्थ कहा है। इसलिये भेद वस्तुका स्वरूप ही नही है। यदि कोई सर्वथा यह माने कि 'भेद नही है' तो वह अनेकातको समझा ही नही है और वह सर्वथा एकात श्रद्धाके कारण मिथ्यादृष्टि है। अध्यात्मशास्त्रोमे जहाँ निश्चय–व्यवहार नय कहे है वहाँ भी उन दोनोके परस्पर विधि–निषेधके द्वारा सप्तभगीसे वस्तुको साधना चाहिये, यदि एक नयको सर्वथा सत्यार्थ माने और एकको सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्या-श्रद्धा होती है, इसलिये वहाँ भी 'कथचित्' जानना चाहिये।

उपचार नय

(१) एक वस्तुका दूसरी वस्तुमे आरोप करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है उसे उपचारनय कहते है। वह भी व्यवहारमे ही गर्भित है ऐसा कहा है। जहाँ प्रयोजन या निमित्त होता है वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। घीका घडा ऐसा कहनेपर मिट्टीके घडेके आश्रयसे घी भरा है उसमे व्यवहारी मनुष्योको आधार-आधेयभाव भासित होता है उसे प्रधान करके

(घीका घडा) कहनेमे आता है। जो 'घीका घडा है' ऐसा ही कहा जाय तो लोग समझ जाते हैं और 'घीका घडा' मगावे तब उसे ले आते हैं इसलिये उपचारमें भी प्रयोजन सभव है। तथा जहां अभेदनयकी मुख्यता की जाती है वहाँ अभेद दृष्टिमें भेद दिखता नही है फिर भी उस समय उसमे (अभेद-नयकी मुख्यता मे) ही भेद कहा है वह असत्यार्थ है। वहाँ भी उपचार की सिद्धि गौणरूपसे होती है।

सम्यग्दृष्टिका और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान

(१)—इस मुख्य-गौणके भेदको सम्यग्दृष्टि जानता है, मिथ्यादृष्टि अनेकात वस्तुको नही जानता और जब सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पडती है तब उस एक धर्मको ही सर्वथा वस्तु मानकर वस्तुके अन्य धर्मोको सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है अथवा अन्य धर्मोका सर्वथा अभाव ही मानता है। ऐसा माननेसे मिथ्यात्व दृढ होता है जहां तक जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को जाननेका पुरुषार्थ नही करता तब तक यथार्थश्रद्धा नही होती। इस अनेकात वस्तुको प्रमाण-नय द्वारा सातभगोसे सिद्ध करना सम्यक्त्वका कार्य है, इसलिये उसे भी सम्यक्त्व ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये। जिनमत की कथनी अनेक प्रकारसे है, उसे अनेकातरूपसे समझना चाहिये।

(२) इस सप्तभगीके अस्ति और नास्ति ऐसे दो प्रथमभेद विशेष लक्षमे लेने योग्य हैं, वे दो भेद यह सूचित करते हैं कि जीव अपनेमे उल्टे या सीधे भाव कर सकता है किंतु परका कुछ नही कर सकता, तथा पर-द्रव्यरूप अन्य जीव या जड कर्म इत्यादि सब अपने अपनेमे कार्य कर सकते हैं, किन्तु वे कोई इस जीवका भला बुरा कुछ नही कर सकते, इसलिये परवस्तुओकी ओरसे लक्ष हटाकर और अपनेमे होनेवाले भेदोको गौण करनेके लिये उन भेदोपरसे भी लक्ष हटाकर अपने त्रिकाल अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालनेसे—उसके आश्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेय की बुद्धि और वीत-रागता की प्राप्ति है।

अनेकांत क्या बतलाता है ?

(१) अनेकात वस्तुको परसे असग (भिन्न) बतलाता है। असगत्वकी (स्वतत्र की) श्रद्धा असगत्वके विकाशका उपाय है, तीनोकाल परसे भिन्नत्व वस्तुका स्वभाव है।

(२) अनेकात वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नही है' इस-प्रकार बतलाता है। पररूप आत्मा नही है इसलिये वह परवस्तुका कुछ भी करनेके लिये समर्थ नही है। और किसीका सयोग-वियोगसे मेरा कुछ भी इप्ट-अनिप्ट नही हो सकता ऐसे सच्चे ज्ञानसे आत्मा सुखी होता है।

'तू निजरूपसे है' अत पररूपसे नही है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल उसे वदलनेमे तू समर्थ नही है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शाति तेरे पास ही है।

(३) अनेकान्त वस्तुको निजरूपसे सत् बतलाता है। सत्को पर सामग्री की आवश्यकता नही है, सयोग की आवश्यकता नही है, किन्तु सत्को सत्के निर्णय की आवश्यकता है कि 'मैं स्वरूपसे हूँ और पररूपसे नही।'

(४) अनेकान्त वस्तु को एक-अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहने पर ही 'अनेक' की अपेक्षा आती है। तू अपनेमे एक है और अपनेमे ही अनेक है। तू अपने गुण-पर्याय से अनेक है और वस्तुसे एक है।

(५) अनेकात वस्तुको नित्य-अनित्यस्वरूप बतलाता है। स्वय नित्य है और स्वय ही पर्यायसे अनित्य है। उसमे जिस ओरकी रुचि होती है उसी ओर परिणमन होता है। नित्यवस्तुकी रुचि करनेपर नित्य रहने-वाली वीतरागता होती है और अनित्य पर्यायकी रुचि हो तो क्षणिक रागद्वेष होने है।

(६) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुकी स्वतत्रताको घोषित करता है। वस्तु परसे नही है और स्व से है ऐसा जो कहा है उसमे 'स्व अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तुको परकी आवश्यकता नही है वह स्वत स्वय स्वाधीन—परिपूर्ण है।

(७) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुमे अस्ति-नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियोको बतलाता है। एक वस्तुमे वस्तुत्वकी उत्पादक दो विरुद्ध शक्तियो का एक साथ रहना ही तत्त्व की पूर्णता है, ऐसी दो विरुद्ध शक्तियोका होना वस्तुका स्वभाव है।

शास्त्रोंके अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको या उसके भावोको अथवा कारण-कार्यादिको किसीको किसीमे मिलाकर निरूपण करता है इसलिए ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है अत उसका त्याग करना चाहिए। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमे नही मिलाता, अत ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिए उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमे जो दोनो नयोका ग्रहण करने को कहा है उसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिनमार्गमे कही कही निश्चयनयकी मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिए कि—'सत्यार्थ ऐसा ही है', तथा कही कही व्यवहारनयकी मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिए कि 'ऐसा नही है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है'। और इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनो नयोका ग्रहण है। किन्तु दोनो नयोके कथनको समान सत्यार्थ जानकर 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे दोनो नयोका ग्रहण करने को नही कहा है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो फिर जिनमार्गमे उसका उपदेश क्यो दिया गया है ? एक निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिए था।

उत्तर—यही तर्क श्री समयसारमे भी किया गया है, वहाँ यह उत्तर दिया गया है कि—जैसे कोई अनार्य-म्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके बिना अर्थ ग्रहण कराने मे कोई समर्थ नही है उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और इसी

सूत्रकी व्याख्या मे यह कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार कराने के लिए व्यवहारसे उपदेश देते है किन्तु व्यवहारनय अंगीकार करने योग्य नही है। —मोक्षमार्ग प्रकाशक।

मुमुक्षुओंका कर्त्तव्य

आजकल इस पंचमकालमे इस कथनको समझनेवाले सम्यग्ज्ञानी गुरुका निमित्त सुलभ नही है, किन्तु जहाँ वे मिल सके वहाँ उनके निकट से मुमुक्षुओंको यह स्वरूप समझना चाहिए और जहाँ वे न मिल सके वहाँ शास्त्रोंके समझनेका निरंतर उद्यम करके इसे समझना चाहिए। सत् शास्त्रो का श्रवण, पठन, चिंतवन करना, भावना करना, धारण करना, हेतु युक्ति के द्वारा नय विवक्षाको समझना, उपादान निमित्तका स्वरूप समझना और वस्तुके अनेकान्त स्वरूपका निश्चय करना चाहिए। वह सम्यग्दर्शन की प्राप्तिका मुख्य कारण है, इसलिये मुमुक्षु जीवो को उसका निरंतर उपाय करना चाहिये।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र के चौथे अध्यायकी टीका समाप्त हुई।



देवगति की व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
भवनवासी		१०	४०	कृष्ण, नील कापोत तथा जघन्य पीत				काय प्रवीचार
१ असुरकुमार	रत्नप्रभा के पंक भागमें			,,	२५ धनुष	१ सागर	१० हजार वर्ष	,,
२ नागकुमार	रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर खर भागमें			,,	१० ,,	३ पल्य	,,	,,
३ विद्युतकुमार				,,	१० ,,	१॥ पल्य	,,	,,
४ सुपर्णकुमार				,,	१० ,,	२॥ पल्य	,,	,,
५ अग्निकुमार				,,	१० ,,	१॥ पल्य	,,	,,
६ वातकुमार				,,	१० ,,	॥ पल्य	,,	,,
७ स्तनितकुमार				,,	१० ,,	१॥ पल्य	,,	,,
८ उदधिकुमार				,,	१० ,,	१॥ पल्य	,,	,,
९ द्वीपकुमार				,,	१० ,,	२ पल्य	,,	,,
१० दिक्कुमार				,,	१० ,,	१॥ पल्य	,,	,,

व्यन्तर		८	३२			एक पल्य से कुछ अधिक	१० हजार वर्ष	काय प्रवीचार
१ किन्नर	ऊपरके खरभागमें			,,	१० धनुष			,,
२ किंपुरुष	,,			,,	,,			,,
३ महोरग	,,			,,	,,			,,
४ गंधर्व	,,			,,	,,			,,
५ यक्ष	,,			,,	,,			,,
६ राक्षस	पंकभागमें			,,	,,			,,
७ भूत	ऊपरके खरभागमें			,,	,,			,,
८ पिशाच	,,			,,	,,			,,
ज्योतिषी		५	२			एक पल्य से कुछ अधिक	$\frac{1}{8}$ पल्य	काय प्रवीचार
१ सूर्य	समान धरातलसे ७९० योजन की ऊंचाईसे प्रारम्भ करके ९०० योजन ऊंचाई तक के मध्यलोकमें			,,	७ धनुष			,,
२ चन्द्रमा				,,	,,			,,
३ ग्रह				,,	,,			,,
४ नक्षत्र				,,	,,			,,
५ प्रकीर्णक				,,	,,			,,

देवगति की व्यवस्था [वैमानिक देव]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
कल्प								
सौधर्म-ईशान	ऊर्ध्वलोक	१२	२४	पीत	७ हाथ	२ सागर से अधिक	१ पल्यसे अधिक	काय
सानत्कुमारमाहेन्द्र	,,			पीत-पद्म	६ हाथ	७ ,, ,,	२ सागर ,,	स्पर्श
ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	,,			पद्म	५ हाथ	१० ,, ,,	७ सागर ,,	रूप
लान्तव-कापिष्ठ	,,			पद्म	५ हाथ	१४ सागर से कुछ अधिक	१० सागर से कुछ अधिक	रूप
शुक्र-महाशुक्र	,,			पद्म-शुक्ल	४ हाथ	१६ सागर ,,	१४ ,, ,,	शब्द
सतार-सहस्रार	,,			,,	४ हाथ	१८ सागर ,,	१६ ,, ,,	शब्द
आनत-प्राणत	,,			शुक्ल	३॥ हाथ	२० सागर	१८ ,, ,,	मन
आरण-अच्युत	,,			,,	३ हाथ	२२ सागर	२० ,, ,,	मन
ग्रैवेयक			अह-मिन्द्र					
सुदर्शन	,,			शुक्ल	२॥ हाथ	२३ सागर	२२ सागर	१६ स्वर्गसे ऊपरके सभी देव अप्रवीचारी हैं क्यों कि उनके काम वासना ही
अमोघ	,,			,,	२॥ हाथ	२४ सागर	२३ सागर	
सुप्रबुध	,,			,,	२॥ हाथ	२५ सागर	२४ सागर	
यशोधर	,,			,,	२ हाथ	२६ सागर	२५ सागर	
सुभद्र	,,			,,	२ हाथ	२७ सागर	२६ सागर	
विशाल	,,			,,	२ हाथ	२८ सागर	२७ सागर	

सुमन	”			”	१॥ हाथ	२९ सागर	२८ सागर	उत्पन्न नहीं होती
सौमन	”			”	”	३० सागर	२९ सागर	
प्रीतिंकर	”			”	”	३१ सागर	३० सागर	
अनुदिश			अह-मिंद्र	परमशुक्ल	”	३२ सागर	३१ सागर	”
आदित्य	”			”	”	”	”	”
अर्चि	”			”	”	”	”	”
अर्चिमाली	”				”	”	”	”
वैरोचन				”	”	”	”	”
प्रभास	”			”	”	”	”	”
अर्चिप्रभ	”			”	”	”	”	”
अर्चिमध्य	”			”	”	”	”	”
अर्चिरावर्त	”			”	”	”	”	”
अर्चिर्विशिष्ट	”			”	”	”	”	”
अनुत्तर								
विजय	”			”	१ हाथ	३३ सागर	३३ सागर	”
वैजयन्त	”			”	”	”	”	”
जयन्त	”			”	”	”	”	”
अपराजित	”			”	”	”	”	”
सर्वार्थसिद्धि				”	”	”	जघन्य आयु नहीं होती	”

नोटः—१. वैमानिक देवोके स्वर्ग १६ है, परन्तु उनके इन्द्र १२ हैं। यहाँ इन्द्रोंकी अपेक्षा से १२ भेद कहे हैं। पहिले के चार तथा अंतके चार स्वर्गोंमें प्रत्येक के एक इन्द्र है और बीचके आठ स्वर्गोंमें दो दो स्वर्गो के एक इन्द्र हैं।

२ पाँचवें स्वर्गमें जो लौकान्तिक देव रहते हैं उनके आयु ८ सागर की होती है।

मोक्षशास्त्र अध्याय पाँचवाँ

भूमिका

इस शास्त्रके प्रारभ करते ही आचार्य भगवानने प्रथम अध्यायके पहले ही सूत्रमे वतलाया है कि सच्चे सुखका एक ही मार्ग है और वह मार्ग सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता है। इसके वाद यह वताया है कि जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है। फिर सात तत्त्व वताये हैं। उन तत्त्वोमे पहला जीव तत्त्व है, उसका निरूपण पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय मे किया है।

दूसरा अजीव तत्त्व है—उसका ज्ञान इस पाँचवें अध्यायमे कराया गया है। पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये पाँच अजीव द्रव्य हैं, ऐसा निरूपण करनेके वाद उनकी पहचान करनेके लिये उनके खास लक्षण तथा उनका क्षेत्र वताया है। जीव सहित छह द्रव्य हैं यह कह कर द्रव्य, गुण, पर्याय, नित्य, अवस्थित तथा अनेकात आदिका स्वरूप वतलाया है।

यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर इस जगत्‌का कर्त्ता है। जगत्‌के सभी द्रव्य स्व की अपेक्षा सत् हैं, उन्हे किसीने नही वनाया, ऐसा वतानेके लिए 'सत् द्रव्य लक्षण' द्रव्यका लक्षण सत् है इसप्रकार २९ वे सूत्रमें कहा है। जगत्‌के सभी पदार्थ की क्षण–क्षणमे स्व मे ही स्व की अवस्था स्व से वदलती रहती है, इसी प्रकार सत्‌का स्वरूप निरूपण करनेके लिये ३० वाँ सूत्र कहा है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है, ऐसा निरूपण करनेके लिए गुण—पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा द्रव्यका दूसरा लक्षण ३८ वे सूत्रमे कहा है। प्रत्येक द्रव्य स्वय स्व से परिणमन करता है, अन्य तो निमित्तमात्र व्यवहार कारण है, इसीलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही कर सकता, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिये ४२ वाँ सूत्र कहा है। वस्तुका स्वरूप अनेकातात्मक है, किन्तु वह एक साथ नही

कहा जा सकता, इसलिए कथनमे मुख्य और गौणपनेकी अपेक्षा होती है, इसप्रकार ३२ वे सूत्र मे बताया है। इसतरह बहुतसे उपयोगी सिद्धात इस अध्यायमे लिए गए है।

इस अध्यायमे 'सद्द्रव्यलक्षण,' 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्,' 'गुण पर्ययवद्द्रव्य,' 'अर्पितानर्पित सिद्धे' और 'तद्भाव परिणाम' ये पाँच (२९, ३०, ३८, ३२ और ४२) सूत्र वस्तु स्वरूपके नीवरूप है—विश्वधर्म के नीवरूप हैं। यह अध्याय सिद्ध करता है कि सर्वज्ञके बिना दूसरा कोई, जीव और अजीवका सत्य स्वरूप नही कह सकता। जीव और दूसरे पाँच अजीव (पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल) द्रव्यो का स्वरूप जैसा इस शास्त्रमे निरूपित है वैसा ही दि० जैन शास्त्रोमे बताया है। और वह अद्वितीय है। इससे विरुद्ध मान्यता यदि जगतके किसी भी जीव की हो तो वह असत्य है-मिथ्या है। इसलिए जिज्ञासुओ को यथार्थ समझकर सत्यस्वरूप को ग्रहण करना और झूठी मान्यता तथा अज्ञान छोडना चाहिए।

धर्मके नाम पर ससारमे जैन के अतिरिक्त दूसरी भी अनेक मान्यताये प्रचलित हैं, किंतु उनमे वस्तुका यथार्थ कथन नही मिलता, वे जीव अजीव आदि तत्त्वोका स्वरूप अन्य प्रकार से कहते हैं आकाश और काल का जैसा स्वरूप वे कहते हैं वह स्थूल और अन्यथा है और धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकायके स्वरूपसे तो वे बिल्कुल अज्ञात है। इस उपरोक्त कथनसे सिद्ध होता है कि वस्तुके सत्य स्वरूपसे विरुद्ध चलती हुई वे सभी मान्यताएं मिथ्या है, तत्त्वसे विरुद्ध है।

अजीव तत्त्वका वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थः—[धर्माधर्माकाश पुद्गलाः] धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और पुद्गल ये चार [**अजीवकायाः**] अजीव तथा बहु प्रदेशी है।

टीका

(१) सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ऐसा प्रथम अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है, फिर तीसरे सूत्रमें तत्त्वोंके नाम बताये हैं, उनमें से जीवका अधिकार पूर्ण होने पर अजीव तत्त्वका कथन करना चाहिये, इसलिये इस अध्यायमें मुख्य रूपसे अजीव का स्वरूप कहा है।

(२) जीव अनादि से स्व स्वरूप नहीं जानता और इसीलिए उसे सात तत्त्व सम्बन्धी अज्ञान रहता है। शरीर जो पुद्गल पिंड है उसे वह अपना मानता है, इसलिए यहाँ यह बताया है कि यह पुद्गल तत्त्व जीवसे बिल्कुल भिन्न है और जीव रहित है अर्थात् अजीव है।

(३) जीव अनादि से यह मान रहा है कि शरीर के जन्म होने पर मैं उत्पन्न हुआ और शरीर के वियोग होने पर मेरा नाश हुआ, यह उसकी मुख्य रूपसे अजीव तत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा है। आकाश के स्वरूपका भी उसे भ्रम है और स्वयं उसका स्वामी है ऐसा भी यह जीव मानता है। यह विपरीत श्रद्धा दूर करने के लिये इस सूत्रमें यह कहा गया है कि वे द्रव्य अजीव हैं। धर्म और अधर्म द्रव्यको भी वह नहीं जानता, इसीलिए वस्तुके होते हुए भी उसे उसका निषेध है, यह दोष भी इस सूत्रसे दूर होता है। आकाश का स्वरूप ४, ६, ७, ६, १८ वे सूत्रोंमें बताया है, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का स्वरूप ४-६-७-८-१२ और १७ वे सूत्रोंमें बताया गया है। दिशा आकाशका भाग है।

(४) **प्रश्न**—'काय' का अर्थ तो शरीर है तथापि यहाँ धर्मादि द्रव्यको काय क्यों कहा है?

उत्तर—यहाँ उपचारसे उन्हें (धर्मादि द्रव्यको) काय कहा है। जैसे शरीर पुद्गल द्रव्यका समूहरूप है उसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंको भी प्रदेशोंके समूहरूप कायके समान व्यवहार है। यहाँ कायका अर्थ बहुप्रदेशी समझना चाहिये।

(५) **प्रश्न**—पुद्गल द्रव्य तो एक प्रदेशी है, उसे काय शब्द कैसे लागू होगा ?

उत्तर—उसमे दूसरे पुद्गलोके साथ मिलने की और इसलिये बहुप्रदेशी होने की शक्ति है, इसी अपेक्षासे उसे काय कहा जाता है।

(६) धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रोमे हैं। ये नाम शास्त्र रूढिसे दिए गए है ॥ १ ॥

ये अजीवकाय क्या हैं ?

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थ—ये चार पदार्थ [**द्रव्याणि**] द्रव्य है, (द्रव्यका लक्षण २९, ३०, ३८, वे सूत्रोमे आयगा)।

टीका

(१) जो त्रिकाल अपने गुण पर्यायको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते है।

(२) द्रव्य अपने गुण पर्यायको प्राप्त होता है, अर्थात् परके गुण पर्यायको कोई प्राप्त नही होता, ऐसा (अस्ति-नास्तिरूप) अनेकात दृष्टिसे अर्थ होता है। पुद्गल अपने पर्यायरूप शरीरको प्राप्त होता है, किन्तु जीव या दूसरा कोई द्रव्य शरीरको प्राप्त नही होता। यदि जीव शरीरको प्राप्त हो तो शरीर जीव की पर्याय हो जाय, इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव और शरीर अत्यन्त भिन्न पदार्थ है और इसीलिए जीव शरीरको प्राप्त न होनेसे त्रिकाल मे भी शरीरका कुछ कर नही सकता ॥ २ ॥

द्रव्यमें जीव की गिनती

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—[**जीवाः**] जीव [**च**] भी द्रव्य है।

टीका

(१) यहाँ 'जीवा.' शब्द बहुवचन है, वह यह बतलाता है कि जीव अनेक है। जीवका व्याख्यान पहले (पहले चार अध्यायोमे) हो चुका है, इसके अतिरिक्त ३९ वे सूत्रमे 'काल' द्रव्य बतलाया है, अतः सब मिलकर छह द्रव्य हुए।

(२) जीव बहुत से हैं और प्रत्येक जीव 'द्रव्य' है ऐसा इस सूत्र में प्रतिपादन किया है इसका क्या अर्थ है, यह विचार करते हैं। जीव अपने ही गुण पर्यायको प्राप्त होता है इसलिये उसे भी द्रव्य कहा जाता है। शरीर तो जीव द्रव्यकी पर्याय नही, किन्तु पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, क्योकि उसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाता है और चेतन नही। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुण पर्यायको प्राप्त ही नही होता, इसलिये पुद्गल द्रव्य या उसकी शरीरादि पर्याय चेतन रूपको (जीवत्त्वको या जीवके किसी गुण पर्यायको) कभी भी प्राप्त नही होता। इस नियमके अनुसार जीव वास्तवमे शरीरको प्राप्त होता है यह बनता ही नही। जीव प्रत्येक समय अपनी पर्यायको प्राप्त होता है और शरीरको प्राप्त नही होता। इसलिये जीव शरीरका कुछ कर नही सकता, यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तको समझे बिना जीव-अजीव तत्त्वकी अनादिसे चली आई भूल कभी दूर नही हो सकती।

(३) जीवका शरीरके साथ जो सम्बन्ध दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायोमे बताया है वह एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध मात्र बताया है, तादात्म्य सम्बन्ध नही बताया, अत यह व्यवहार कथन है। जो व्यवहार के वचनोको वास्तव मे निश्चयके वचन मानते हैं वे 'घी का घडा' ऐसा कहने से घडेको वास्तवमे घी का बना हुआ मानते हैं, मिट्टी या धातुका बना हुआ नही मानते, इसलिये वे लौकिक मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रोमे ऐसे जीवोको 'व्यवहार विमूढ' कहा है। जिज्ञासुओके अतिरिक्त जीव इस व्यवहार मूढताको नही छोडेंगे और व्यवहार विमूढ जीवो की संख्या त्रिकाल बहुत ज्यादा रहेगी। इसलिए धर्म प्रेमी जीव (दुःखको दूर करनेवाले

सच्चे उम्मेदवार) इस अध्याय के १-२-३ सूत्रोकी टीका मे जो स्वरूप बताया है उसे लक्ष्यमे लेकर इस स्वरूपको यथार्थ समझकर जीव और अजीव तत्त्वके स्वरूपकी अनादिसे चली आई भ्राति दूर करे।

पुद्गल द्रव्यमे अतिरिक्त द्रव्योंकी विशेषता

नित्यावस्थितान्य रूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थः—ऊपर कहे गये द्रव्योंमे से चार द्रव्य [**अरूपाणि**] रूप रहित [**नित्यावस्थितानि**] नित्य और अवस्थित हैं।

टीका

(१) **नित्यः**—जो कभी नष्ट न हो उसे नित्य कहते है। (देखो सूत्र ३१ और उसकी टीका)

अवस्थितः—जो अपनी सख्याको उल्लघन न करे उसे अवस्थित कहते है।

अरूपीः—जिसमे स्पर्श, रस, गध और वर्ण न पाया जाय उसे अरूपी कहते हैं।

(२) पहले दो स्वभाव समस्त द्रव्योमे होते है। ऊपर जो आसमानी रग दिखाई देता है उसे लोग आकाश कहते हैं किन्तु यह तो पुद्गल का रग है आकाश तो सर्व व्यापक, अरूपी, अजीव एक द्रव्य है।

'नित्य' और 'अवस्थित' का विशेष स्पष्टीकरण

(३) 'अवस्थित' शब्द यह वतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन करता है। परिणाम और परिणामित्व अन्य किसी तरह नही बन सकता। यदि एक द्रव्य, उसका गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यका कुछ भी करे या करावे तो वह तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाय। किंतु कोई द्रव्य परद्रव्यमय तो नही होता। यदि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्य का नाश हो जाय और द्रव्योका 'अवस्थितपन' न रहेगा। और फिर द्रव्योका नाश होने पर उनका 'नित्यत्त्व' भी न रहेगा।

(४) प्रत्येक द्रव्य अनत गुणोका पिण्ड है। द्रव्यकी नित्यतासे उसका प्रत्येक गुण नित्य रहता है पुनरपि एक गुण उसी गुणरूप रहता है, दूसरे गुणरूप नही होता। इस तरह प्रत्येक गुणका अवस्थितत्त्व है, यदि ऐसा न हो तो गुणका नाश हो जायगा, और गुणके नाश होने से सम्पूर्ण द्रव्य का नाश हो जायगा और ऐसा होने पर द्रव्यका 'नित्यत्व' नही रहेगा।

(५) जो द्रव्य अनेक प्रदेशी है उसका भी प्रत्येक प्रदेश नित्य और अवस्थित रहता है। उनमे से एक भी प्रदेश अन्य प्रदेश रूप नही होता। यदि एक प्रदेशका स्थान अन्य प्रदेशरूप हो तो प्रदेशोका अवस्थितपन न रहे। यदि एक प्रदेशका नाश हो तो सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो और ऐसा हो तो उसका नित्यत्त्व न रहे।

(६) प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट होती है और फिर तत्पश्चात् अपने अपने समय पर बाद की पर्यायें प्रगट होती हैं, और पहले पहले की पर्याय प्रगट नही होती, इस तरह पर्यायका अवस्थितपन सिद्ध होता है। यदि पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट न हो और दूसरी पर्यायके समय प्रगट हो तो पर्यायका प्रवाह अवस्थित न रहे और ऐसा होने से द्रव्यका अवस्थितपन भी न रहे।

एक पुद्गल द्रव्यका ही रूपित्त्व बतलाते हैं

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

अर्थ —[पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य [रूपिणः] रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

टीका

(१) 'रूपी' का अर्थ स्पर्श, रस, गध और वर्ण सहित है। (देखो सूत्र २३) पुद्×गल ये दो पद मिलकर पुद्गल शब्द बना है। पुद् अर्थात् इकट्ठे होना–मिलजाना और गल अर्थात् बिछुड़ जाना। स्पर्श गुणकी पर्याय की विचित्रताके कारण मिलना और बिछुडना पुद्गलमे ही होता है इसीलिए जब उसमे स्थूलता आती है तब पुद्गल द्रव्य इन्द्रियोका विषय बनता

है। रूप, रस, गध, स्पर्श का गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बे इत्यादि रूपसे जो परिणमन है सो मूर्ति है।

(२) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और द्रव्यमन ये वर्ण, गध, रस और स्पर्शवाले हैं, इसी से ये पाँचो पुद्गल द्रव्य है। द्रव्यमन सूक्ष्म पुद्गल के प्रचय रूप आठ पाँखुड़ीके खिले हुए कमलके आकारमे हृदय स्थान मे रहता है, वह रूपी अर्थात् स्पर्श, रस, गध और वर्णवाला होनेसे पुद्गल द्रव्य है। (देखो इस अध्याय के १९ वे सूत्रकी टीका)

(३) नेत्रादि इन्द्रिय सदृश मन स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाला होने से रूपी है, मूर्तिक है, ज्ञानोपयोगमे वह निमित्त कारण है।

शंका—शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगमे निमित्त है इसलिए जो ज्ञानोपयोगका निमित्त हो सो पुद्गल है ऐसा कहनेमे हेतु व्यभिचारित होता है (अर्थात् शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगका निमित्त देखा जाता है इसलिये यह हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्षमे रहने से व्यभिचारी हुआ) सो मन मूर्तिक है ऐसा किस कारण से मानना ?

समाधान—शब्द अमूर्तिक नही है। शब्द पुद्गल जन्य है अत उसमे मूर्तिकपन है, इसलिए ऊपर दिया हुआ हेतु व्यभिचारी नही है किंतु सपक्षमे ही रहनेवाला है, इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यमन पुद्गल है।

(४) उपरोक्त कथनसे यह नही समझना कि इन्द्रियोसे ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ तो पुद्गल हैं, इसलिये ज्ञान रहित है, यदि इद्रियो से ज्ञान हो तो जीव चेतन न रहकर जड-पुद्गल हो जाय, किन्तु ऐसा नही है। जीवके ज्ञानोपयोगकी जिसप्रकार की योग्यता होती है उसीप्रकार पुद्गल इन्द्रियो का सयोग होता है, ऐसा उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु निमित्त परद्रव्य होनेसे उनका आत्मामे अत्यत अभाव है और उससे वह—आत्मामे कुछ कर सकता है या सहायता कर सकता है ऐसा मानना सो विपरीतता है।

(५) सूत्रमे पुद्गला बहुवचन है वह यह बतलाता है कि पुद्गलो की सख्या बहुत है तथा पुद्गलके अणु, स्कधादि भेद के कारण कई भेद है।

(६) मन तथा सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियो द्वारा नही जाने जा सकते किन्तु जब वह सूक्ष्मता छोडकर स्थूलता धारण करते हैं तब इन्द्रियो द्वारा जाने जा सकते है और तभी उनमे स्पर्श, रस, गध, और वर्णकी अवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है इसलिए यह निश्चित होता है कि सूक्ष्म अवस्थामे भी वह स्पर्श, रस, गध और वर्णवाले हैं।

(७) पुद्गल परमाणुओका एक अवस्थामे दूसरी अवस्थामे परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मिट्टी के परमाणुओमे से जल होता है, पानी से बिजली-अग्नि होती है, वायुके मिश्रणसे जल होता है। इसलिये यह मान्यता ठीक नही कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन इत्यादि के परमाणु भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं, क्योकि पृथ्वी आदि समस्त पुद्गल के ही विकार है।

अब धर्मादि द्रव्यों की संख्या बतलाते हैं

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थः—[आ आकाशात्] आकाश पर्यन्त [एक द्रव्याणि] एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक एक हैं।

टीका

जीव द्रव्य अनन्त है, पुद्गल द्रव्य अनतानन्त है, और काल द्रव्य असख्यात् अणुरूप है। पुद्गल द्रव्य एक नही है यह बताने के लिए, इस सूत्र मे पहले सूत्रकी सधि करने के लिये 'आ' शब्दका प्रयोग किया है।

अब इनका गमन रहितत्त्व सिद्ध करते हैं

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थः—[च] और फिर यह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश

द्रव्य [**निष्क्रियाणि**] क्रिया रहित हैं अर्थात् ये एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्राप्त नही होते ।

टीका

(१) क्रिया शब्दके कई अर्थ है—जैसे–गुणकी परिणति, पर्याय, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे गमन। इन अर्थोमे से अतिम अर्थ यहाँ लागू होता है। काल द्रव्य भी क्षेत्रके गमनागमन से रहित है, किन्तु यहाँ उसके बतलाने का प्रकरण नही है, क्योकि पहिले सूत्रमे कहे गए चार द्रव्योका प्रकरण चल रहा है, जीव और कालका विषय नही चल रहा है। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कध दोनो दशाओमे गमन करता है अर्थात् एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे गमन करता है इसलिये उसे यहाँ छोड दिया है। इस सूत्रमे तीन द्रव्योमे क्रियाका अभाव बताया और बाकी रहे पुद्गल द्रव्यमे क्रिया–हलन चलनका अस्तित्व बताने को अनेकात सिद्धातके अनुसार क्रियाका स्वरूप सिद्ध किया है।

(२) उत्पाद व्ययरूप क्रिया प्रत्येक द्रव्यमे समय समय पर होती है, वह इन द्रव्योमे भी है ऐसा समझना चाहिये।

(३) द्रव्योमे दो तरह की शक्ति होती है एक भाववती और दूसरी क्रियावती, उनमे से भाववती शक्ति समस्त द्रव्योमे है और उससे उस शक्ति का परिणमन–उत्पाद व्यय प्रत्येक द्रव्यमे द्रव्यत्वको कायम रख कर होता है। क्रियावती शक्ति जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योमे होती है। यह दोनो द्रव्य एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे जाते है, किन्तु इतनी विशेषता है कि जीव जब विकारी हो तब और सिद्धगति मे जाते समय क्रियावान होता है और सिद्धगतिमे वह स्थिररूपसे रहता है। (सिद्धगतिमे जाते समय जीव एक समय मे सात राजू जाता है) सूक्ष्म पुद्गल भी शीघ्रगतिसे एक समयमे १४ राजू जाता है अर्थात् पुद्गलमे मुख्य रूपसे हलन चलनरूप क्रिया है, जब कि जीव द्रव्यमे ससारी अवस्थामे किसी किसी समय गमन-रूप क्रिया होती है।

अब धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—[धर्माधर्मैकजीवानाम्] धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के [असंख्येयाः] असख्यात [प्रदेशाः] प्रदेश हैं।

टीका

(१) प्रदेश—आकाशके जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं।

(२) ये प्रत्येक द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अखण्ड, एक, निरश हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे असख्यात प्रदेशी है। उसके असख्यात प्रदेश हैं इससे कुछ उसके असख्य खण्ड या टुकडे नही हो जाते। और पृथक् २ एक २ प्रदेश जितने टुकडोके मिलने से बना हुआ भी वह द्रव्य नही है।

(३) आकाश भी द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से अखण्ड, निरश, सर्वगत, एक और भिन्नता रहित है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जितने अंश को परमाणु रोके उतने अंशको प्रदेश कहते हैं। आकाशमे कोई टुकडे नही हैं या उसके टुकडे नही हो जाते। टुकडा तो सयोगी पदार्थ का होता है, पुद्गलका स्कंध संयोगी है इसलिये जब वह खण्ड होने योग्य हो तब वह खण्ड टुकडे रूपसे परिणमन करता है।

(४) आकाशको इस सूत्र मे नही लिया, क्योंकि उसके अनन्त प्रदेश हैं, इसलिए वह नवमे सूत्रमे कहा जायगा।

(५) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और जीवके प्रदेश असख्यात हैं और वे सख्याकी अपेक्षासे लोक प्रमाण असख्यात हैं तथापि उनके प्रदेशो की व्याप्ति अवस्था मे अन्तर है। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। यह बारहवे और तेरहवे सूत्रोंमे कहा है और जीवके प्रदेश उस उस समय के जीवके शरीरके प्रमाणसे मोटे या छोटे होते हैं (यह सोलहवें सूत्रमें कहा है) जीव जब केवलि-समुद्घात अवस्था धारण करता है तब उसके प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त होते हैं तथा समुद्घातके समय उस

उस शरीरमे प्रदेश रहकर कितने ही प्रदेश बाहर निकलते हैं, बीचमें खण्ड नही पडते ।

(६) दूसरे समुद्घातका स्वरूप अध्याय २ सूत्र ४८-४९ की टीकामे कहा जा चुका है और विशेष—बृहद् द्रव्यसग्रह गा० १० की टीका मे देखो ।

अब आकाशके प्रदेश बतलाते हैं

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अर्थः—[**आकाशस्य**] आकाशके [**अनताः**] अनन्त प्रदेश हैं ।

टीका

(१) आकाशके दो विभाग है—अलोकाकाश और लोकाकाश । उसमे से लोकाकाशके असख्यात प्रदेश है । जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके है उतने ही प्रदेश लोकाकाशके है, फिर भी उनका विस्तार एक सरीखा है । लोकाकाश छहो द्रव्योका स्थान है । इस बारेमे बारहवें सूत्रमे कहा है । आकाशके जितने हिस्सेको एक पुद्गल परमाणु रोके, उसे प्रदेश कहते हैं ।

(२) दिशा, कौना, ऊपर, नीचे ये सब आकाशके विभाग है ।

अब पुद्गलके प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—[**पुद्गलानाम्**] पुद्गलोके [**संख्येयाऽसंख्येयाः च**] संख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश है ।

टीका

(१) इसमे पुद्गलों की सयोगी पर्याय (स्कंध) के प्रदेश बताये है । प्रत्येक अणु स्वतंत्र पुद्गल है । उसके एक ही प्रदेश होता है ऐसा ११ वे सूत्रमे कहा है ।

[illegible] अनन्त परमाणुओं का होता [illegible] (बताया गया है)

[illegible] लोकाकाशके असंख्यात ही प्रदेश हैं तो [illegible] कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—[illegible] होता है, एक [illegible] होता है तब लोकाकाशके [illegible] रह सकता है। और फिर [illegible] शक्ति है, इसलिये [illegible] नहीं होती। [illegible] इसलिये [illegible] प्रदेशमें अनन्ता- [illegible] प्रकाश [illegible] प्रकाश [illegible]

अब अणुको एक प्रदेशी बतलाते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

[illegible] (न) [illegible] प्रदेश [illegible]

टीका

[illegible]

[illegible]

(४) मूर्तिक द्रव्यके सूक्ष्म और बादर इसतरह दो भेद है।

(५) सूक्ष्म मूर्तिक द्रव्य दो तरहका है एक सूक्ष्मसूक्ष्म और दूसरा सूक्ष्म।

(६) स्कध, सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकार का है।

(७) सूक्ष्म अणु दो तरहके हैं–१–पुद्गल अणु और २–कालाणु

(८) अक्रिय (गमनागमनसे रहित चार द्रव्य) और सक्रिय (गमनागमन सहित जीव और पुद्गल) के भेदसे द्रव्य दो तरहके है।

(९) द्रव्य दो तरहके है—१–एक प्रदेशी और २–बहुप्रदेशी।

(१०) बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप है सख्यात प्रदेशवाला और सख्यासे पर प्रदेशवाला।

(११) सख्यातीत बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप है, असख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी।

(१२) अनन्त प्रदेशी द्रव्य दो तरहका है ?—अखड आकाश और २—अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कध।

(१३) लोकके असख्यात प्रदेशोको रोकनेवाले द्रव्य दो तरहके हैं —अखण्ड द्रव्य (धर्म, अधर्म तथा केवल समुद्घात करनेवाला जीव) और पुद्गल महा स्कन्ध यह सयोगी द्रव्य है।

(१४) अखण्ड लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी द्रव्य दो प्रकारका है, १–धर्म तथा अधर्म (लोक व्यापक) और २—जीव (लोक-प्रमाण) सख्यासे असख्यात प्रदेशी और विस्तारमे शरीरके प्रमाणसे व्यापक है।

(१५) अमूर्त बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं—सकोच—विस्तार रहित (आकाश, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य तथा सिद्ध जीव) और सकोच विस्तार सहित (ससारी जीवके प्रदेश सकोच–विस्तार सहित है)

[सिद्ध जीव चरमशरीरसे किंचित् न्यून होते हैं]

(१६) द्रव्य दो तरहके हैं—सर्वगत (आकाश) और देशगत (अवशिष्ट पांच द्रव्य)

(१७) सर्वगत दो प्रकारसे है—क्षेत्र सर्वगत (आकाश) और भावसे सर्वगत (ज्ञानशक्ति)

(१८) देशगत दो भेद रूप है–एक प्रदेशगत (परमाणु, कालाणु तथा एक प्रदेश स्थित सूक्ष्म स्कध) और अनेक देशगत (धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल स्कध)

(१९) द्रव्योमे अस्ति दो प्रकारसे हैं–अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म, जीव तथा पुद्गल) और काय रहित अस्ति (कालाणु)

(२०) अस्तिकाय दो तरहसे है—अखण्ड अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म तथा जीव) और उपचरित अस्तिकाय (सयोगी पुद्गल स्कन्ध, पुद्गलमे ही समूहरूप—स्कधरूप होने की शक्ति है)

(२१) प्रत्येक द्रव्यके गुण तथा पर्यायमे अस्तित्व दो तरहसे है—स्व से अस्तित्व और परकी अपेक्षासे नास्तिरूपका अस्तित्व ।

(२२) प्रत्येक द्रव्यमे अस्तित्व दो तरहसे है—ध्रुव और उत्पाद-व्यय ।

(२३) द्रव्योमे दो तरहकी शक्ति है एक भाववती दूसरी क्रियावती।

(२४) द्रव्योमे सम्बन्ध दो तरहका है—विभाव सहित (जीव और पुद्गलके अशुद्ध दशामे विभाव होता है) और विभाव रहित (दूसरे द्रव्य त्रिकाल विभाव रहित है)

(२५) द्रव्योमे विभाव दो तरहसे है—१–जीवके विजातीय पुद्गलके साथ २–पुद्गलके सजातीय एक दूसरेके साथ तथा सजातीय पुद्गल और विजातीय जीव इन दोनोके साथ ।

नोट–स्याद्वाद समस्त वस्तुओके स्वरूपका साधनेवाला, अर्हंत सर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है । वह यह बतलाता है कि सभी 'अनेकान्तात्मक है' । स्याद्वाद वस्तुके यथार्थ स्वरूपका निर्णय कराता है । यह संशयवाद नही है । कितने ही लोग कहते हैं कि स्याद्वाद प्रत्येक वस्तुको नित्य और अनित्य आदि दो तरहसे बतलाता है, इसलिए सशयका कारण है,

किंतु उनका यह कथन मिथ्या है। अनेकांतमे दोनो पक्ष निश्चित हैं, इसलिए वह संशयका कारण नही है।

३ द्रव्य परमाणु तथा भाव परमाणुका दूसरा अर्थ, जो यहाँ उपयुक्त नही है।

प्रश्न—'चारित्रसार' इत्यादि शास्त्रोमे कहा है कि यदि द्रव्य परमाणु और भाव परमाणुका ध्यान करे तो केवलज्ञान हो, इसका क्या अर्थ है।

उत्तर—वहाँ द्रव्य परमाणुसे आत्म द्रव्यकी सूक्ष्मता और भाव परमाणुसे भावकी सूक्ष्मता बतलाई है। वहाँ पुद्गल परमाणुका कथन नही है। रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित आत्म द्रव्यको सूक्ष्म कहा जाता है। क्योकि निर्विकल्प समाधिका विषय आत्मद्रव्य मन और इन्द्रियोके द्वारा नही जाना जाता। भाव शब्दका अर्थ स्व संवेदन परिणाम है। परमाणु शब्द से भावकी सूक्ष्म अवस्था समझना चाहिए क्योकि वीतराग, निर्विकल्प, समरसीभाव पाँचो इन्द्रियो और मनके विषयसे परे है। (देखो परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा ३३ की टीका, पृष्ठ १६८-१६९) यह अर्थ यहाँ लागू नही होता है?

प्रश्न—द्रव्य परमाणुका यह अर्थ यहाँ क्यो लागू (उपयुक्त) नही है।

उत्तर—इस सूत्रमे जिस परमाणुका वर्णन है वह पुद्गल परमाणु है, इसलिये द्रव्य परमाणुका उपरोक्त अर्थ यहाँ लागू नही होता।

अब समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान बतलाते हैं

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थ—[अवगाहः] उपरोक्त समस्त द्रव्योका अवगाह (स्थान) [लोकाकाशे] लोकाकाशमे है।

टीका

(१) आकाश के जितने हिस्से मे जीव आदि छहो द्रव्य है उतने हिस्सेको लोकाकाश कहते हैं और अवशिष्ट आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

(२) आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। उसमे कोई भाग नही होते, किन्तु परद्रव्यके अवगाह की अपेक्षासे यह भेद होता है,—अर्थात् निश्चय से आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, व्यवहारसे परद्रव्यके निमित्त की अपेक्षासे ज्ञानमे उसके दो भाग होते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।

(३) प्रत्येक द्रव्य वास्तवमे अपने अपने क्षेत्रमे रहता है, लोकाकाश मे रहता है, यह परद्रव्यकी अपेक्षासे निमित्तका कथन है, उसमें पर क्षेत्रकी अपेक्षा आती है, इसलिये वह व्यवहार है। ऐसा नही है कि आकाश पहले हुआ हो तथा दूसरे द्रव्य उसमे बादमे उत्पन्न हुए हो क्योकि सभी द्रव्य अनादि अनन्त हैं।

(४) आकाश स्वय अपने को अवगाह देता है, वह अपने को निश्चय अवगाहरूप है। दूसरे द्रव्य आकाश से बडे नही है और न हो ही सकते हैं, इसलिये उसमे व्यवहार अवगाह की कल्पना नही हो सकती।

(५) सभी द्रव्योमे अनादि पारिणामिक, युगपदत्व हैं, आगे पीछे का भेद नही है। जैसे युतसिद्धके व्यवहारसे आधार-आधेयत्व होता है उसीप्रकार अयुतसिद्धके भी व्यवहारमे आधार-आधेयत्व होता है।

युत्सिद्ध=बादमे मिले हुए, अयुत्सिद्ध=मूलसे एकमेक। दृष्टान्त—'टोकरीमें बेर' बादमे मिले हुए का दृष्टान्त है, और 'खम्भेमे सार' मूलत एकत्वका दृष्टान्त है।

(६) एवभूत नयकी अपेक्षासे अर्थात् जिस स्वरूपसे पदार्थ है उस स्वरूपके द्वारा निश्चय करनेवाले नयकी अपेक्षासे सभी द्रव्योके निज निज का आधार है। जैसे—किसी से प्रश्न किया कि तुम कहाँ हो ? तो वह कहता है कि मैं निजमे हूँ। इसी तरह निश्चय नयसे प्रत्येक द्रव्यको स्व स्व

का आधार है। आकाशसे दूसरे कोई द्रव्य बडे नही है। आकाश सभी ओर से अनत है इसलिये व्यवहार नयसे यह कहा जा सकता है कि वह धर्मादिका आधार है। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नही हैं यही सिद्ध करने के लिये यह आधार—आधेय सम्बन्ध माना जाता है।

(७) जहाँ धर्मादिक द्रव्य देखे जाते है उस आकाशका भाग लोक कहलाता है और जहाँ धर्मादिक द्रव्य नही देखे जाते उस भागको अलोक कहते है। यह भेद—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, पुद्गल और कालके कारण होता है, क्योकि धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशमे व्याप्त है। समस्त लोकाकाशमे ऐसा कोई भी प्रदेश नही है (एक भी प्रदेश नही है) जहाँ जीव न हो। तथापि जीव जब केवल समुद्घात करता है तब समस्त लोकाकाशमे व्याप्त हो जाता है। पुद्गलका अनादि अनन्त एक महा स्कन्ध है, जो लोकाकाशव्यापी है और सारा ही लोक भिन्न २ पुद्गलोसे भी भरा हुआ है। कालाणु एक एक अलग अलग रत्नो की राशि की तरह समस्त लोकाकाशमे भरे हुए है।

अब धर्म अधर्म द्रव्यका अवगाहन बतलाते हैं

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थ—[**धर्माधर्मयोः**] धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह [**कृत्स्ने**] तिलमे तेलकी तरह समस्त लोकाकाशमे है।

टीका

(१) लोकाकाशमे द्रव्यके अवगाहके प्रकार प्रथक प्रथक हैं, ऐसा यह सूत्र बतलाता है। इस सूत्रमे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके अवगाहका प्रकार बतलाया है। पुद्गलके अवगाहका प्रकार १४ वे सूत्रमे और जीवके अवगाहका प्रकार १५ वे तथा १६ वे सूत्रमे दिया गया है। कालद्रव्य असंख्याते अलग अलग है, इसलिए उसका प्रकार स्पष्ट है अर्थात् कहनेमे नही आया, किन्तु इसी सूत्र पर से उसका गर्भित कथन समझ लेना चाहिए।

(७) यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशका अधर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित (बे रोक टोक) प्रवेश है और अधर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशका धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित प्रवेश है। यह परस्परमें प्रवेशपना धर्म–अधर्म की अवगाहन शक्तिके निमित्त से है।

(८) भेद–सघातपूर्वक आदि सहित जिसका सबंध है, ऐसे अति स्थूल स्कंधमें जैसे किसी के स्थूल प्रदेश रहने में विरोध है और धर्मादिक द्रव्योंके आदि मान सम्बन्ध नहीं है किन्तु पारिणामिक अनादि सम्बन्ध है इसलिए परस्परमें विरोध नहीं हो सकता। जल, भस्म, शक्कर आदि मूर्तिक संयोगी द्रव्य भी एक क्षेत्रमें विरोध रहित रहते हैं तो फिर अमूर्तिक-धर्म, अधर्म और आकाशके साथ रहने में विरोध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

अब पुद्गलका अवगाहन बतलाते हैं

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—[पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्यका अवगाह [एक प्रदेशादिषु] लोकाकाशके एक प्रदेशसे लेकर संख्यात और असंख्यात प्रदेश पर्यंत [भाज्य] विभाग करने योग्य है—जानने योग्य है।

टीका

समस्त लोक में सूक्ष्म और बादर अनेक प्रकार के अनन्ता-नन्त पुद्गल स्कंधोंसे भरा हुआ है। इसप्रकार सम्पूर्ण पुद्गलोंका अवगाहन समझना चाहिये। अनन्तानन्त पुद्गल लोकाकाशमें कैसे रह सकते हैं? इसका स्पष्टीकरण इस अध्यायके १० वें सूत्रकी टीकामें किया गया है वह यहाँ भी लगा लेना चाहिए।

अब जीवोंका अवगाहन बतलाते हैं

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

अर्थः—[**जीवानाम्**] जीवोका अवगाह [**असंख्येय भागादिषु**] लोकाकाशके असख्यात भागसे लेकर सपूर्ण लोक क्षेत्रमे है।

टीका

जीव अपनी छोटीसे छोटी अवगाहनरूप अवस्थामे भी असख्यात प्रदेश रोकता है। जीवोके सूक्ष्म अथवा बादर शरीर होते हैं। सूक्ष्म शरीर वाले एक निगोद जीवके अवगाहन योग्य क्षेत्र मे साधारण शरीरवाला (-निगोद) जीव अनतानत रहते है तो भी परस्पर बाधा नही करते। (-सर्वार्थसिद्धि टीका) जीवोका जघन्य अवगाहन घनागुलके असख्यातवाँ भाग कहा है। (धवला पु ४ पृ २२, सर्वा अ ८ सूत्र २४ की टीका-) सूक्ष्म जीव तो समस्त लोकमे है। लोकाकाशका कोई प्रदेश ऐसा नही है जिसमे जीव न हो।

जीवका अवगाहन लोकके असंख्यात भागमें कैसे है ?

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थः—[**प्रदीपवत्**] दीपकके प्रकाशकी भाति [**प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां**] प्रदेशोके सकोच और विस्तारके द्वारा जीव लोकाकाशके असख्यातादिक भागोमे रहता है।

टीका

जैसे एक वडे मकानमे दीपक रखनेसे उसका प्रकाश समस्त मकान मे फैल जाता है और उसी दीपकको एक छोटे घडे मे रखनेसे उसका प्रकाश उसीमें मर्यादित हो जाता है, उसीप्रकार जीव भी छोटे या वडे जैसे शरीर को प्राप्त होता है उसमे उतना ही विस्तृत या सकुचित होकर रह जाता है, परतु केवलीके प्रदेश समुद्घात—अवस्थामे सपूर्ण लोकाकाशमे व्याप्त हो जाते हैं और सिद्ध अवस्थामे अतिम शरीरसे कुछ न्यून रहता है।

(२) वडेसे बडा शरीर स्वयभूरमण समुद्रके महामत्स्यका है जो १००० योजन लम्बा है। छोटेसे छोटा शरीर (अगुलके असख्यातवे भाग

बतलाते है। उपकार, सहायकता या उपग्रहका अर्थ ऐसा नही होता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भला करता है, क्योकि २० वे सूत्रमे यह बताया है कि जीवको दु ख और मरण होनेमे पुद्गल द्रव्यका उपकार है, यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि लोक व्यवहारमे जब किसीके द्वारा किसीको कोई सुविधा दी जाती है तब व्यवहार भाषामे यह कहा जाता है कि एक जीवने दूसरेका उपकार किया–भला किया। किंतु यह मात्र निमित्त सूचक भाषा है। एक द्रव्य न तो अपने गुण पर्यायको छोड सकता है और न दूसरे द्रव्यको दे सकता है। प्रत्येकके प्रदेश दूसरे द्रव्योके प्रदेशोसे अत्यन्त भिन्न है, परमार्थसे–निश्चय से एक दूसरेके क्षेत्रमे प्रवेश नही कर सकते, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे त्रिकाल अभाव है, इसलिये कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यका वास्तवमे लाभ या हानि नही कर सकता। एक द्रव्यको अपने कारणसे लाभ या हानि हुई तब उस समय दूसरे कौन द्रव्य निमित्तरूपमे मौजूद हुए, यह बतानेके लिए १७ से २२ वे तकके सूत्रोमे 'उपकार' शब्दका प्रयोग किया है (इस सम्बन्धमे प्रथम अध्याय के १४ वे सूत्रकी जो टीका दी गई है वह तथा इस अध्यायके २२ वे सूत्रकी टीका यहाँ देखना चाहिए।)

(२) यह सूत्र धर्म और अधर्म द्रव्यका लक्षण बतलाता है।

(३) उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण, हेतु ये सभी निमित्त बताने के लिए प्रयोग किए जाते है। "उपकार शब्दका अर्थ भला करना नही लेना कछु कार्य को निमित्त होय तिसको उपकार कहिये है" अर्थात् किसी कार्यमे जो निमित्त हो उसे उपकार कहते है।

(देखो प० जयचन्दजीकृत सर्वार्थसिद्धि वचनिका पृष्ठ ४३७ अर्थप्रकाशिका सूत्र १९ की टीका प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३०१ सरस्वती प्रेससे प्रकाशित द्वितीयावृत्ति पृष्ठ २०२)

(४) **प्रश्न**—धर्म और अधर्म द्रव्य किसीको देखनेमे नही आते, इसलिये वे है ही नही

उत्तर—सर्वज्ञ वीतरागने प्रत्यक्ष देखकर कहा है इसलिये यह कहना ठीक नही है कि धर्म और अधर्म द्रव्य किसीको दिखाई नही देते। जो नेत्र से न देखा जाय इससे उसका अभाव नही किया जा सकता। ...के द्वारा

ग्रहण न किया जाय यदि उसका अभाव मानेंगे तो बहुत सी वस्तुओंका अभाव मानना पडेगा। जैसे अमुक पेढीके बुजुर्ग, दूरवर्ती देश, भूतकालमे हुए पुरुष, भविष्यमे होनेवाले पुरुष ये कोई आँखसे नही देखे जाते, इसलिए उनका भी अभाव मानना पडेगा, अत यह तर्क यथार्थ नही है। अमूर्तिक पदार्थोंका सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर सकता है और इसीलिए उसका यहाँ लक्षण कहा है।

अब आकाश और दूसरे द्रव्योंके साथका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थ—[**अवगाहः**] समस्त द्रव्योको अवकाश—स्थान देना यह [**आकाशस्य**] आकाशका उपकार है।

टीका

(१) जो समस्त द्रव्योको रहनेको स्थात देता है उसे आकाश कहते हैं। 'उपकार' शब्दका अध्याहार पहले सूत्रसे होता है।

(२) यद्यपि अवगाह गुण समस्त द्रव्योमे है तथापि आकाशमे यह गुण सबसे बडा है, क्योकि यह समस्त पदार्थोंको साधारण एक माथ अवकाश देता है। अलोकाकाशमे अवगाह हेतु है किन्तु वहाँ अवगाह लेने-वाले कोई द्रव्य नही हैं इसमे आकाश का क्या दोष है ? आकाशका अवगाह देनेका गुण इससे बिगड या नष्ट नही हो जाता, क्योकि द्रव्य अपने स्वभाव को नही छोडता।

(३) **प्रश्न**—जीव और पुद्गल क्रियावाले हैं और क्रियापूर्वक अव-गाह करनेवालोको अवकाश देना ठीक है, किंतु यह कैसे कहते हो कि धर्मा-स्तिकाय अधर्मास्तिकाय और कालाणु तो क्षेत्रातर की क्रिया रहित हैं और आकाशके साथ नित्य सबधरूप हैं फिर भी उन्हे अवकाश दान देता है ?

उत्तर—उपचारसे अवकाश दान देता है ऐसा कहा जाता है। जैसे—आकाश गति रहित है तो भी उसे सर्वगत कहा जाता है। उसीप्रकार

ऊपर कहे गये द्रव्य गति रहित है तो भी लोकाकाशमे उनकी व्याप्ति है इसलिए यह उपचार किया जाता है कि आकाश उन्हे अवकाश देता है।

(४) **प्रश्न**—आकाशमे अवगाहन हेतुत्व है तथापि वज्र इत्यादिसे गोले आदिका और भीत (दीवाल) आदिसे गाय आदिका रुकना क्यो होता है ।

उत्तर—स्थूल पदार्थोंका ही पारस्परिक व्याघात हो ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसीलिए आकाशके गुणमे कोई दूषण नही आता ।

अब पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

अर्थ—[**शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः**] शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास ये [**पुद्गलानाम्**] पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं अर्थात् शरीरादि की रचना पुद्गलसे ही होती है ।

टीका

(१) यहाँ 'उपकार' शब्दका अर्थ भला करना नही, किन्तु किसी कार्यमे निमित्त होय तिसको उपकारी कहिये है । (देखो १७ वे सूत्र की टीका)

(२) शरीरमे कार्माण शरीरका समास होता है । वचन तथा मन पुद्गल हैं, यह पाँचवे सूत्रकी टीकामे बताया गया है । प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) पुद्गल है ।

(३) भावमन लब्धि तथा उपयोग रूप है । यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीव की अवस्था है । यह भावमन जब पौद्गलिक मनकी ओर झुकाव करता है तब कार्य करता है इसलिए निश्चय (परमार्थ, शुद्ध) नयसे यह जीवका स्वरूप नही है, निश्चय नयसे वह पौद्गलिक है ।

(४) भाववचन भी जीव की अवस्था है । वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवकी अवस्था है । उसके कार्यमे पुद्गलका निमित्त होता

है इसलिए निश्चय नयसे वह जीव की अवस्था नहीं है। यह निश्चय नयसे जीवका स्वरूप नहीं है इसलिये पौद्‌गलिक है। यदि वह जीवका त्रिकाली स्वभाव हो तो वह दूर न हो, किंतु वह भाववचनरूप अवस्था जीव में से दूर हो सकती है—अलग हो सकती है—इसी अपेक्षाको लक्ष्यमें रखकर उसे पौद्‌गलिक कहा जाता है।

(५) भावमन सम्बन्धी अध्याय २ सूत्र ११ की टीका पढ़ें। वहाँ जीवकी विशुद्धिको भावमन कहा है सो वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टि से कहा है ऐसा समझना।

अब पुद्‌गलका जीवकी साथका निमित्त नैमित्तिक संबन्ध बताते हैं

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थः—[सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च] इंद्रियजन्य सुख दुःख, जीवन, मरण ये भी पुद्‌गलके उपकार हैं।

टीका

(१) उपकार (-उपग्रह) शब्दका अर्थ किसी का भला करना नहीं किन्तु निमित्त मात्र ही समझना चाहिये, नहीं तो यह नहीं कहा जा सकता कि "जीवोको दुःख मरणादिके उपकार" पुद्‌गल द्रव्य के हैं।

(२) सूत्रमे 'च' शब्दका प्रयोग यह बतलाता है कि जैसे शरीरादिक निमित्त है वैसे ही पुद्‌गल कृत इन्द्रियाँ भी जीवको अन्य उपकाररूप से है।

(३) सुख दुःखका संवेदन जीवको है, पुद्‌गल अचेतन-जड है, उसे सुख दुःखका संवेदन नहीं हो सकता।

(४) निमित्त उपादानका कुछ कर नहीं सकता। निमित्त अपने मे पूरा पूरा कार्य करता है और उपादान अपने मे पूरा पूरा कार्य करता है। यह मानना कि निमित्त पर द्रव्यका वास्तवमे कुछ असर-प्रभाव करता है सो दो द्रव्योको एक माननेरूप असत् निर्णय है।

(५) **प्रश्न**—निमित्त उपादानका कुछ भी कर नहीं सकता तो

सूई शरीरमे घुस जाने से जीवको दुःख क्यो होता है ?

समाधान—१ अज्ञानी जीवको शरीरमे एकत्व बुद्धि होने से शरीर की अवस्थाको अपनी मानता है और अपने को प्रतिकूलता हुई ऐसा मानता है, और ऐसी ममत्व बुद्धिके कारण दुःख होता है, परन्तु सूईके प्रवेशके कारण दुःख नही हुआ है ।

२ मुनिओको उपसर्ग आने पर भी निर्मोही पुरुषार्थकी वृद्धि करता है, दुःखी नही होता है और ।

३ केवली-तीर्थंकरोको कभी और किसी प्रकार उपसर्ग नही होता [त्रिलोक प्रज्ञप्ति भाग—१–पृ० ८ श्लो० ५६-६४]

४ ज्ञानीको निम्न भूमिकामे अल्प राग है वह शरीरके साथ एकत्व बुद्धिका राग नही है, परतु अपनी सहन शक्तिकी कमजोरी से जितना राग हो उतना ही दुःख होता है,–सूईसे किंचित् भी दुःख होना मानता नही है ।

५ विशेष ऐसा समझना चाहिये कि सूई और शरीर भिन्न भिन्न द्रव्य है, सूईका शरीरके परमाणुओमे प्रवेश नही हो सकता 'एक परमाणु दूसरे को परस्पर चुंबन भी नही करते' तो सूईका प्रवेश शरीरमे कैसे हो सकता है ? सचमुच तो सूईका शरीरके परमाणुओमे प्रवेश नही हुआ है, दोनो की सत्ता और क्षेत्र भिन्न २ होने से, आकाश क्षेत्रमे दोनोका सयोग हुआ कहना वह व्यवहारमात्र है ।

जीवका उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—[**जीवानाम्**] जीवोके [**परस्परोपग्रहः**] परस्परमे उपकार है ।

टीका

(१) एक जीव दूसरे को सुखका निमित्त, दुःखका निमित्त, जीवन का निमित्त, मरणका निमित्त, सेवा सुश्रुषा आदिका निमित्त होता है ।

(२) यहाँ 'उपग्रह' शब्द है । दुःख और मरणके साथ भी उसका

सम्बन्ध है, किन्तु उसका अर्थ 'भला करना' नही होता किन्तु निमित्तमात्र है ऐसा समझना चाहिये ।

(३) बीसवे सूत्रमे कहे गये सुख, दुःख, जीवन, मरणके साथ इसका संबंध बताने के लिये 'उपग्रह' शब्दका प्रयोग इस सूत्रमे किया है ।

(४) जहाँ 'सहायक' शब्दका प्रयोग हुआ है वहाँ भी निमित्त मात्र अर्थ है । प्रेरक या अप्रेरक चाहे जैसा निमित्त हो किन्तु वह परमें कुछ करता नही है ऐसा समझना चाहिए और वह भेद-निमित्तकी ओर से निमित्त के हैं, किन्तु उपादानकी अपेक्षा दोनो प्रकारके निमित्त उदासीन (अप्रेरक) माना है, श्री पूज्यपादाचार्य ने इष्टोपदेशकी गाथा ३४ मे भी कहा है कि 'जो सत् कल्याणका वाञ्छक है, वह आप ही मोक्ष सुखका वतलानेवाला तथा मोक्ष सुखके उपायोमे अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप ही (आत्मा ही) है" इसपर शिष्यने आक्षेप सहित प्रश्न किया कि "अगर आत्मा ही आत्माका गुरु है तो गुरु शिष्यके उपकार, सेवा आदि व्यर्थ ठहरेंगे" उसको आचार्य्य गाथा ३५ मे जवाव देते हैं कि—

"नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञोनाज्ञत्व मृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत ॥३५॥

अर्थः—अज्ञानी किसी द्वारा ज्ञानी नही हो सकता, तथा ज्ञानी किसी के द्वारा अज्ञानी नही किया जा सकता, अन्य सब कोई तो गति (गमन) मे धर्मास्तिकायके समान निमित्त मात्र हैं अर्थात् जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करे उस समय धर्मास्तिकायको निमित्तमात्र कारण कहा जाता है उसी प्रकार जिस समय शिष्य स्वयं अपनी योग्यतासे ज्ञानी होता है तो उस समय गुरुको निमित्तमात्र कहा जाता है उसीप्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (-कुदेवादिको) आदिको निमित्तमात्र कहा जाता है जो कि उपचार कारण है, (-अभूतार्थ कारण है) उपादान स्वयं अपनी योग्यतासे जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही उपस्थित क्षेत्र-काल-संयोग आदि में निमित्तकारणपनेका उपचार किया जाता है अन्यथा निमित्त किसका ? ऐसा किसी को

कभी नही हो सकता कि द्रव्यकी जिस समय जैसा परिणमन करने की योग्यता हो उस समय उसके अनुकूल निमित्त न हो और उसका उसरूप परिणमन होना रुक जावे, अथवा किसी क्षेत्र, काल, सयोगकी बाट (-राह) देखनी पडे अथवा निमित्त को जुटाना पडे ऐसा निमित्त नैमित्तिक सबधका स्वरूप नही है ।

उपादानके परिणमनमे सर्व प्रकारका निमित्त अप्रेरक है ऐसा समयसार नाटक सर्व विशुद्ध द्वार काव्य ६१ मे कहा है देखो इस अध्याय के सू० ३० की टीका ।

अब काल द्रव्यका उपकार बतलाते हैं

वर्तनापरिणामक्रियाःपरत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थः—[**वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च**] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [**कालस्य**] काल द्रव्यके उपकार हैं।

(१) सत् अवश्य उपकार सहित होने योग्य है और काल सत्ता स्वरूप है इसलिए उसका क्या उपकार (निमित्तात्व) है सो इस सूत्रमे बताते है । (यहाँ भी उपकारका अर्थ निमित्तमात्र होता है ।)

(२) **वर्तनाः**—सर्व द्रव्य अपने अपने उपादान कारण से अपनी पर्यायके उत्पादरूप वर्तता है, उसमे वाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है इसलिए वर्तना कालका लक्षण या उपकार कहा जाता है ।

परिणाम—जो द्रव्य अपने स्वभावको छोडे बिना पर्यायरूपसे पल्टे (बदले) सो परिणाम है । धर्मादि सर्व द्रव्योके अगुरुलघुत्व गुणके अविभाग प्रतिच्छेदरूप अनन्त परिणाम (षट्गुण हानि वृद्धि सहित) है, वह अति सूक्ष्म स्वरूप है । जीवके उपशमादि पाच भावरूप परिणाम है और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम है तथा घटादिक अनेकरूप परिणाम है । द्रव्य की पर्याय—-परिणतिको परिणाम कहते है ।

क्रिया—एक क्षेत्र अन्य क्षेत्रको गमन करना क्रिया है । वह क्रिया जीव और पुद्गल दोनोके होती है, दूसरे चार द्रव्योके क्रिया नही होती ।

परत्व—जिसे वहुत समय लगे उसे परत्व कहते हैं।

अपरत्व—जिसे थोडा समय लगे उसे अपरत्व कहते हैं।

इन सभी कार्योका निमित्त कारण काल द्रव्य है। ये कार्य कालको बताते हैं।

(३) **प्रश्न**—परिणाम आदि चार भेद वर्तनाके ही हैं इसलिए एक वर्तना कहना चाहिए ?

उत्तर—काल दो तरहका है, निश्चयकाल और व्यवहारकाल। उनमे जो वर्तना है सो तो निश्चयकालका लक्षण है और जो परिणाम आदि चार भेद हैं सो व्यवहारकालके लक्षण है। यह दोनो प्रकारके काल इस सूत्रमे बताए है।

(४) व्यवहारकाल—जीव पुद्गलके परिणाममे प्रगट होता है। व्यवहारकालके तीन भेद हैं भूत, भविष्यत्, और वर्तमान। लोकाकाशके एक एक प्रदेशमे एक एक भिन्न भिन्न असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं, वह परमार्थ काल—निश्चयकाल है। वह कालाणु परिणति सहित रहता है।

(५) उपकारके सूत्र १७ से २२ तकका सिद्धांत

कोई द्रव्य परद्रव्यकी परिणतिरूप नही वर्तता, स्वयं अपनी परिणतिरूप ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है। परद्रव्य तो बाह्य निमित्तमात्र है, कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमे प्रवेश नही करता (अर्थात् निमित्त परका कुछ कर नही सकता) ये सूत्र निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और कालके परके साथके निमित्त सम्बन्ध बताने वाले लक्षण यहाँ पर कहे हैं।

(६) **प्रश्न**—"काल वर्तानेवाला है" ऐसा कहनेसे उसमे क्रियावानपना प्राप्त होता है ? (अर्थात् काल पर द्रव्यको परिणमाता है, क्या ऐसा उसका अर्थ हो जाता है ?)

उत्तर—यह दूषण नही आता। निमित्तमात्रमे सहकारी हेतुका कथन (व्यपदेश) किया जाता है, जैसे यह कथन किया जाता है कि जाडोमे

कडोकी अग्नि शिष्यको पढाती है, वहाँ शिष्य स्वयं पढता है किंतु अग्नि (ताप) उपस्थित रहती है इसलिए उपचारसे यह कथन किया जाता है कि 'अग्नि पढाती है।' इसी तरह पदार्थोंके वर्तने मे कालका प्रेरक हेतुत्व कहा है वह उपचारसे हेतु कहा जाता है। और अन्य पाँचो द्रव्य भी वहाँ उपस्थित है किन्तु उनको वर्तनामे निमित्त नही कहा जा सकता, क्योकि उनमे उसतरहका हेतुत्व नही है।

अब पुद्गल द्रव्यका लक्षण कहते हैं

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

अर्थः—[**स्पर्श रस गंध वर्णवंतः**] स्पर्श, रस, गध और वर्णवाले [**पुद्गलाः**] पुद्गल द्रव्य है।

टीका

(१) सूत्रमे 'पुद्गला' यह शब्द बहुवचनमे है, इससे यह कहा है कि बहुतसे पुद्गल है और प्रत्येक पुद्गलमे चार लक्षण हैं, किसीमे भी चारसे कम नही है, ऐसा समझाया गया है।

(२) सूत्र १९ वे, २० वे मे पुद्गलोका जीवके साथका निमित्तत्व बताया था और यहाँ पुद्गलका तद्भूत (उपादान) लक्षण बताते हैं। जीवका तद्भूत लक्षण उपयोग, अध्याय २ सूत्र आठमे बताया गया था और यहाँ पुद्गलके तद्भूत लक्षण कहे है।

(३) इन चार गुणोंकी पर्यायोके भेद निम्नप्रकार हैं,—स्पर्श गुण की आठ पर्यायें हैं १—स्निग्ध, २—रूक्ष, ३—शीत, ४—उष्ण, ५—हल्का, ६—भारी, ७—मृदु और ८—कर्कश।

रस गुणकी दो पर्यायें हैं १—खट्टा, २—मीठा, ३—कडुवा, ४—कषायला और ५—चर्परा। इन पाँचोमेसे परमाणुमे एक कालमे एक रस पर्याय प्रगट होती है।

गध गुणकी दो पर्यायें हैं:—१—सुगध और २—दुर्गंध। इन दोनो मे से एक कालमे एक गंध पर्याय प्रगट होती है।

वर्ण गुणकी पांच पर्यायें हैं—१–काला, २–नीला, ३–पीला, ४–लाल और ५–सफेद। इन पाचोमेसे परमाणुके एक कालमे एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।

इस तरह चार गुणके कुल २० भेद–पर्याय हैं। प्रत्येक पर्यायके दो, तीन, चारसे लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

(४) कोई कहता है कि 'पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्निके परमाणुओ मे जाति भेद है' किंतु यह कथन यथार्थ नही है। पुद्गल सव एक जातिका है। चारो गुण प्रत्येकमे होते है और पृथ्वी आदि अनेकरूपसे उसका परिणाम है। पाषाण और लकडी रूपसे जो पृथ्वी है वह अग्निरूपसे परिणमन करती है। अग्नि, काजल, राखादि पृथ्वीरूपमे परिणमते हैं। चन्द्रकात मणि पृथ्वी है उसे चन्द्रमाके सामने रखने पर वह जलरूपमे परिणमन करती है। जल, मोती, नमक आदि पृथ्वीरूपसे उत्पन्न होते हैं। जौ नामका अनाज (जो पृथ्वी की जातिका है) खानेसे वायु उत्पन्न होती है, क्योकि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु पुद्गल द्रव्यके ही विकार हैं (पर्याय हैं)।

(५) **प्रश्न**—इस अध्यायके ५ वे सूत्रमें पुद्गलका लक्षण रूपित्व कहा है तथापि इस सूत्रमे पुद्गलका लक्षण क्यो कहा ?

उत्तर—इस अध्यायके चौथे सूत्रमे द्रव्योकी विशेषता वतानेके लिये नित्य, अवस्थित और अरूपी कहा था और उसमें पुद्गलोको अमूर्तिकत्व प्राप्त होता था, उसके निराकरणके लिए पांचवां सूत्र कहा था और यह सूत्र तो पुद्गलोका स्वरूप वतानेके लिए कहा है।

(६) इस अध्यायके पाँचवें सूत्रकी टीका यहाँ पढनी चाहिए।

(७) विदारणादि कारणसे जो टूट फूट होती है तथा सयोगके कारणसे मिलना होता है—उसे पुद्गलके स्वरूपको जाननेवाले सर्वज्ञदेव पुद्गल कहते हैं। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ५५)

(८) **प्रश्न**—हरा रग कुछ रगोके मेलसे बनता है, इसलिए रग के जो पाँच भेद बताये हैं वे मूल भेद कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—मूल सत्ताकी अपेक्षासे ये भेद नही कहे गये किंतु परस्पर के स्थूल अन्तर की अपेक्षासे कहे है। रसादि के सम्बन्धमे यही बात समझनी चाहिए। रगादि की नियत सख्या नही है। (तत्त्वार्थ सार पृष्ठ १५८)

अब पुद्गलकी पर्याय बतलाते हैं

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

अर्थः—उक्त लक्षणवाले पुद्गल [**शब्द बंध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योत वतः च**] शब्द, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान (आकार), भेद, अधकार, छाया, आतप और उद्योतादिवाले होते हैं, अर्थात् ये भी पुद्गलकी पर्याये है।

टीका

(१) इन अवस्थाओमे से कितनी तो परमाणु और स्कध दोनोमे होती है और कई स्कधमे ही होती है।

(२) शब्द दो तरह का है–१-भाषात्मक और २-अभाषात्मक। इनमे से भाषात्मक दो तरह का है—१–अक्षरात्मक और २–अनक्षरात्मक। उनमे अक्षरात्मक भाषा सस्कृत और देशभाषा रूप है। यह दोनो शास्त्रोको प्रगट करनेवाली और मनुष्यके व्यवहारका कारण है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रियसे लेकर चार इद्रियवालो तथा कितनेक पचेन्द्रिय जीवोके होती है और अतिशय रूप ज्ञानको प्रकाशित करने की कारण केवली भगवान की दिव्य ध्वनि—ये सभी अनक्षरात्मक भाषा है। यह पुरुष निमित्तक है, इसलिए प्रायोगिक है।

अभाषात्मकशब्द भी दो भेद रूप हैं। एक प्रायोगिक दूसरा वैस्रसिक। जिस शब्दके उत्पन्न होने मे पुरुप निमित्त हो वह प्रायोगिक है और जो पुरुष की बिना अपेक्षाके स्वभावरूप उत्पन्न हो वह वैस्रसिक है, जैसे मेघ गर्जनादि। प्रायोगिक भाषा चार तरह की है—१–तत २–वितत ३–घन और ४–सुपिर। जो चमडे के ढोल, नगाडे आदि से उत्पन्न हो वह तत

है। तारवाली वीणा, सितार तम्बूरादि से उत्पन्न होनेवाली भाषाको **वितत** कहते है। घटा आदि के बजाने से उत्पन्न होनेवाली भाषा **घन** कहलाती है और जो बांसुरी शखादिक से उत्पन्न हो उसे सुषिर कहते हैं।

जो कानसे सुना जाय उसे **शब्द** कहते है। जो मुख से उत्पन्न हो सो भाषात्मक शब्द है। जो दो वस्तुके आघातसे उत्पन्न हो उसे अभाषात्मक शब्द कहते है। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होने मे प्राणी तथा जड पदार्थ दोनो निमित्त है। जो केवल जड पदार्थोंके आघातसे उत्पन्न हो उसे वैस्र-सिक कहते हैं, जिसके प्राणियोका निमित्त होता है उसे प्रायोगिक कहते है।

मुख से निकलने वाला जो शब्द अक्षर, पद, वाक्य रूप है उसे साक्षर भाषात्मक कहते है, उसे वर्णात्मक भी कहते है।

तीर्थंकर भगवान के सर्व प्रदेशोसे जो निरक्षर ध्वनि निकलती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहा जाता है,—ध्वन्यात्मक भी कहा जाता है।

बंध दो तरह का है—१–वैस्रसिक और दूसरा प्रायोगिक। पुरुष की अपेक्षासे रहित जो बध होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। यह वैस्रसिक दो तरह का है १–आदिमान २–अनादिमान। उसमे स्निग्ध रूक्षादि के कारण से जो बिजली, उल्कापात, बादल, आग, इन्द्रधनुष आदि होते है उसे आदिमान वैस्रसिक-बध कहते हैं। पुद्गलका अनादिमान बध महास्कध आदि है। (अमूर्तिक पदार्थोंमे भी वैस्रसिक अनादिमान बध उपचारसे कहा जाता है। यह धर्म, अधर्म तथा आकाशका है एव अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थका अनादिमान बध–धर्म, अधर्म, आकाश और जगद्व्यापी महा-स्कधका है)

जो पुरुष की अपेक्षा सहित हो वह प्रायोगिक बध है। उसके दो भेद है—१–अजीव विषय २–जीवाजीव विषय। लाखका लकडीका जो बध है सो अजीव विषयक प्रायोगिक बध है। जीवके जो कर्म और नोकर्म बध है सो जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बध है।

सूक्ष्म—दो तरह का है—१–अत्य २–आपेक्षिक। परमाणु अत्य सूक्ष्म है। आंवले से बेर सूक्ष्म है, वह आपेक्षिक सूक्ष्म है।

स्थूल—दो तरह का है (१) अन्त्य, (२) आपेक्षिक। जो जगद्-व्यापी महास्कध है सो अन्त्य स्थूल है, उससे बडा दूसरा कोई स्कध नही है। बेर' आँवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं।

संस्थान—आकृतिको सस्थान कहते हैं उसके दो भेद हैं (१) इत्थ लक्षरण सस्थान और (२) अनित्थलक्षरण सस्थान। उसमे गोल, त्रिकोरण, चौरस, लम्बा, चौडा, परिमडल ये इत्थलक्षरण सस्थान है। बादल आदि जिसकी कोई आकृति नही वह अनित्थलक्षण सस्थान है।

भेद—छह तरहका है। (१) उत्कर, (२) चूर्ण, (३) खड, (४) चूर्णिका, (५) प्रतर और (६) अनुचटन। आरे आदिसे लकडी आदिका विदारण करना सो उत्कर है। जौ, गेहूँ, बाजरा आदिका आटा चूर्ण है। घडे आदिके टुकडे खण्ड है। उडद, मू ग चना, चोला आदि दालको चूर्णिका कहते है। तप्त्यमान लोहेको घन इत्यादिसे पीटने पर जो स्फुलिंग (चिन्गा-रियाँ) निकलते है उसे अनुचटन कहते हैं।

अन्धकार—जो प्रकाशका विरोधी है सो अन्धकार है।

छाया—प्रकाश (उजेले) को ढकनेवाली छाया है। वह दो प्रकारकी है (१) तद्वर्णपरिणति (२) प्रतिबिम्बस्वरूप। रगीन काँचमेसे देखनेपर जैसा काँचका रग हो वैसा ही दिखाई देता है यह तद्वर्णपरिणति कह-लाती है। और दर्पण, फोटो आदिमे जो प्रतिबिंब देखा जाता है उसे प्रति-बिम्ब स्वरूप कहते है।

आतप—सूर्य विमानके द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है उसे आतप कहते है।

उद्योत—चन्द्रमा, चन्द्रकान्त मणि, दीपक आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

सूत्रमे जो 'च' शब्द कहा है उसके द्वारा प्रेरणा, अभिघात (मारना) आदि जो पुद्गलके विकार हैं उनका समावेश किया गया है।

उपरोक्त भेदोमे 'सूक्ष्म' तथा 'सस्थान' (ये दो भेद) परमाणु और स्कध दोनोमे होते हैं और अन्य सब स्कधके प्रकार हैं।

(३) दूसरी तरहसे पुद्गलके छह भेद हैं १-सूक्ष्म-सूक्ष्म, २-सूक्ष्म, ३-सूक्ष्मस्थूल, ४-स्थूलसूक्ष्म, ५-स्थूल और ६-स्थूलस्थूल।

१–सूक्ष्म–सूक्ष्म—परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है।

२–सूक्ष्म—कार्माणवर्गणा सूक्ष्म है।

३–सूक्ष्म-स्थूल स्पर्श, रस, गध और शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं। क्योकि ये आंखसे दिखाई नही देते इसलिए सूक्ष्म हैं और चार इन्द्रियोमे जाने जाते हैं इसलिये स्थूल हैं।

४—स्थूल–सूक्ष्म–छाया, परछाँई, प्रकाश आदि स्थूलसूक्ष्म हैं क्योकि वह आंखसे दिखाई देती हैं इसलिये स्थूल हैं और उसे हाथमे पकड़ नही सकते इसलिए सूक्ष्म हैं।

५—स्थूल–जल, तेल आदि सब स्थूल हैं क्योकि छेदन, भेदनसे ये अलग हो जाते हैं और इकट्ठे करने से मिल जाते हैं।

६–स्थूल–स्थूल–पृथ्वी, पर्वत, काष्ठ आदि स्थूल-स्थूल हैं वे पृथक करनेसे पृथक तो हो जाते हैं किंतु फिर मिल नही सकते।

परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नही है तो इन्द्रिय ग्राह्य होनेकी उसमे योग्यता है। इसीतरह सूक्ष्म स्कधको भी समझना चाहिए।

(४) शब्दको आकाशका गुण मानना भूल है, क्योकि आकाश अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है, इसलिए शब्द आकाश का गुण नही हो सकता। शब्दका मूर्तिकत्व साक्षात् है क्योकि शब्द कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण होता है, हस्तादिसे तथा दीवाल आदिसे रोका जाता है और हवा आदि मूर्तिक वस्तुसे उसका तिरस्कार होता है, दूर जाता है। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसलिए मूर्तिक है। यह प्रमाणसिद्ध है। पुद्गलस्कधके परस्पर भिड़नेसे–टकरानेसे शब्द प्रगट होता है॥ २४॥

अब पुद्गलके भेद बतलाते हैं

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थः—पुद्गल द्रव्य [**अणवः स्कन्धाः च**] अणु और स्कध के भेद से दो प्रकार के है।

टीका

(१) **अणु**—जिसका विभाग न हो सके ऐसे पुद्गलको अणु कहते है। पुद्गल मूल (Simple) द्रव्य है।

स्कंध—दो तीन से लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त परमाणुओके पिण्डको स्कध कहते है।

(२) स्कध पुद्गल द्रव्यकी विशेषता है। स्पर्श गुणके कारणसे वे स्कंध रूपसे परिणमते है। स्कध रूप कब होता है यह इस अध्यायके २६, ३३, ३६ और ३७ वे सूत्रोमे कहा है और वह कब स्कधरूपमे नही होता यह सूत्र ३४ व ३५ मे बताया है।

(३) ऐसी विशेषता अन्य किसी द्रव्यमे नही है, क्योकि दूसरे द्रव्य अमूर्तिक हैं। यह सूत्र मिलापके सबधमे द्रव्योका अनेकान्तत्व बतलाता है।

(४) परमाणु स्वय ही मध्य और स्वय ही अत है, क्योकि वह एक प्रदेशी और अविभागी है ॥ २५ ॥

अब स्कंधोंकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थः—परमाणुओके [**भेदसंघातेभ्यः**] भेद (अलग होने से) सघात (मिलने से) अथवा भेद सघात दोनो से [**उत्पद्यन्ते**] पुद्गल स्कधो की उत्पत्ति होती है।

टीका

(१) पिछले सूत्रोमे (पूर्वोक्त सूत्रोमे) पुद्गलद्रव्यकी विशिष्टता बत-

लाते हुए अणु और स्कध ये दो भेद वताए, तब प्रश्न यह उठता है कि स्कधो की उत्पत्ति किस तरह होती है ? उसके स्पष्ट रूपसे तीन कारण वतलाए हैं। सूत्रमे द्विवचनका प्रयोग न करते हुए वहुवचन (सघातेभ्य) प्रयोग किया है, इससे भेद-सघातका तीसरा प्रकार व्यक्त होता है।

(२) दृष्टान्त——१०० परमाणुओका स्कध है, उसमेंसे दस परमाणु अलग हो जाने से ९० परमाणुओका स्कध वना, यह भेद का दृष्टान्त है। उसमे (सौ परमाणुके स्कधमें) दस परमाणुओके मिलने से एक सौ दस परमाणुओंका स्कध हुआ, यह सघातका दृष्टान्त है। उसी मे ही एक साथ दस परमाणुओके अलग होने और पन्द्रह परमाणुओके मिल जाने से एक सौ पाँच परमाणुओका स्कध हुआ, यह भेद संघातका उदाहरण है ॥२६॥

अब अणुकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थः—[अणुः] अणुकी उत्पत्ति [भेदात्] भेदसे होती है ॥२७॥

दिखाई देने योग्य स्थूल स्कन्धकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थः—[चाक्षुषः] चक्षुइन्द्रियसेदेखनेयोग्यस्कध [भेदसंघाताभ्याम्] भेद औरसघात दोनो के एकत्र रूप होने से उत्पन्न होता है, अकेले भेद से नही।

टीका

(१) प्रश्न——जो चक्षुइन्द्रियके गोचर न हो ऐसा स्कध चक्षु गोचर कैसे होता है ?

उत्तर——जिस समय सूक्ष्म स्कधका भेद हो उसी समय चक्षु इद्रिय गोचर स्कधमें वह सघात रूप हो तो वह चक्षु गोचर हो जाता है। सूत्रमे 'चाक्षुष' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ चक्षु इन्द्रिय गोचर होता है। चक्षु इन्द्रिय गोचर स्कध अकेले भेद से या अकेले सघातसे नही होता।

(देखो राजवार्तिक सूत्र २८ की टीका, पृष्ठ ३९१, अर्थ प्रकाशिका पृष्ठ २१०)

(२) Marsh-gas treated with chlorine gives Methyl Chloride and Hydrochloric acid the formula is:— CH 4 + cl2= CH3 cl + H+ cl.

अर्थः—सडे पानीमे उत्पन्न गैसको मार्श गैस' कहते है। उसकी गध नही आती, रग भी मालूम नही होता, किन्तु वह जल सकता है। उसे एक क्लोरीन नामक गैस जो हरिताभ पीले रगका है उसके साथ मिलाने पर वह नेत्र इन्द्रियसे दिखाई देनेवाला एक तीसरा एसिड पदार्थ होता है, उसे मैथील क्लोराइड और हाइड्रोक्लोरिक एसिड कहते है। (इँग्लिश तत्त्वार्थ-सूत्रके इस सूत्रके नीचेकी टीका)

(३) ओक्सीजन और हाइड्रोजन दो वायु है, दोनो नेत्र इन्द्रिय से अगोचर स्कध है। दोनोके मिलाप होनेपर नेत्र इन्द्रिय गोचर जल हो जाता है। इसलिये नेत्रइन्द्रियगोचर स्कध होनेके लिए जिसमे मिलाप हो वह नेत्रइन्द्रियगोचर होना ही चाहिए ऐसा नियम नही है और सूत्रमे भी नेत्रइन्द्रियगोचर स्कध चाहिए ही ऐसा कथन नही है। सूत्रमे सामान्य कथन है ॥ २८ ॥

इसतरह छहों द्रव्योंके विशेष लक्षणोंका कथन किया जा चुका।

अब द्रव्योंका सामान्य लक्षण कहते हैं

सद्द्रव्य लक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थः—[द्रव्यलक्षणम्] द्रव्यका लक्षण [सत्] सत् (अस्तित्व) है।

टीका

(१) वस्तु स्वरूपके वतलानेवाले ५ महासूत्र इस अध्यायमे दिए गएहै। वे २९-३०-३२-३८ और ४२ वें सूत्र है। उनमे भी यह सूत्र मूल—नीवरूप है, क्योकि किसी भी वस्तुके विचार करनेके लिए सवसे पहले यह

निश्चय होना चाहिए कि वह वस्तु है या नही। इसलिए जगत्मे जो जो वस्तु हो वह सत्रूपसे होनी ही चाहिए। जो वस्तु है उसीका विशेष विचार किया जाता है।

(२) इस सूत्रमे 'द्रव्य' शब्दका प्रयोग किया है, वह ऐसा भी वतलाता है कि उसमें द्रव्यत्व गुण है, 'कि जिस शक्तिके कारण द्रव्य सदा एक रूपसे न रहने पर उसकी अवस्था (-पर्याय) हमेशा बदलती रहती है।''

(३) अब प्रश्न यह उठता है कि जब कि द्रव्य हमेशा अपनी पर्याय बदलता है तब क्या वह द्रव्य बदलकर दूसरे द्रव्यरूप हो जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्रमे प्रयोग किया गया 'सत्' शब्द देता है 'सत्' शब्द बतलाता है कि द्रव्यमे अस्तित्व गुण है और इस शक्तिके कारण द्रव्य का कभी नाश नही होता।

(४) इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यकी पर्याय समय समय पर बदलती है तो भी द्रव्य त्रिकाल कायम (मौजूद) रहता है। यह सिद्धान्त सूत्र ३० और ३८ मे दिया गया है।

(५) जिसके 'है' पन (अस्तित्व) हो वह द्रव्य है। इसतरह 'अस्तित्व' गुणके द्वारा द्रव्यकी रचना की जा सकती है। इसलिए इस सूत्रमे द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा है। यह सूत्र बतलाता है कि जिसका अस्तित्व हो वह द्रव्य है।

(६) अत यह सिद्ध हुआ कि 'सत्' लक्षण द्वारा द्रव्य पहचाना जा सकता है। उपरोक्त कथनसे दो सिद्धात निकले कि द्रव्यमे 'प्रमेयत्व' (ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य—Knowable) गुण है और यह द्रव्य स्वय स्व को जाननेवाला हो अथवा दूसरे द्रव्य उसे जाननेवाला हो। यदि ऐसा न हो तो निश्चित ही नही होता कि 'द्रव्य' है। इसलिए यह भी सिद्ध होता है कि द्रव्यमे 'प्रमेयत्व' गुण है और द्रव्य या तो जाननेवाला (चेतन) अथवा नही जाननेवाला (अचेतन) है। जाननेवाला द्रव्य 'जीव' है और नही जाननेवाला 'अजीव' है।

(७) प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया (Functionality) करता ही है। यदि द्रव्य अर्थ क्रिया न करे तो वह कार्य रहित हो जाय अर्थात् व्यर्थ हो जाय किंतु व्यर्थका (अपने कार्य रहित) कोई द्रव्य

होता ही नही। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्यमे 'वस्तुत्व' नामका गुण है।

(८) और वस्तुत्व गुणके कारण जो स्वय अपनी क्रिया करे वही वस्तु कही जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नही सकता।

(९) पुनरपि जो द्रव्य है उसका 'द्रव्यत्व'—'गुणत्व' जिस रूपमे हो वैसा कायम रहकर परिणमन करता है किन्तु दूसरे मे प्रवेश नही कर सकता, इस गुणको 'अगुरुलघुत्व' गुण कहते हैं। इसी शक्तिके कारण द्रव्य का द्रव्यत्व रहता है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमित नही होता, और एक गुण दूसरे गुणरूप परिणमित नही होता, तथा एक द्रव्यके अनेक (अनन्त) गुण विखर कर अलग अलग नही हो जाते।

(१०) इस तरह प्रत्येक द्रव्यमे सामान्य गुण बहुत से होते है किंतु मुख्य रूपसे छह सामान्य गुण है १-अस्तित्व (जो इस सूत्रमे 'सत्' शब्द के द्वारा स्पष्ट रूपसे बतलाया है), २-वस्तुत्व ३-द्रव्यत्व ४-प्रमेयत्व ५-अगुरुलघुत्व और ६-प्रदेशत्व।

(११) प्रदेशत्व गुणकी ऐसी व्याख्या है कि जिस शक्ति के कारण द्रव्यका कोई न कोई आकार अवश्य हो।

(१२) इन प्रत्येक सामान्य गुणोमे 'सत्' (अस्तित्व) मुख्य है क्योकि उसके द्वारा द्रव्यका अस्तित्व (होने रूप—सत्ता) निश्चित होता है। यदि द्रव्य हो तो ही दूसरे गुण हो सकते है, इसलिए यहाँ 'सत्' को द्रव्यका लक्षण कहा है।

(१३) प्रत्येक द्रव्यके विशेष लक्षण पहले कहे जा चुके हैं वे निम्न प्रकार है—(१) जीव—अध्याय २, सूत्र १ तथा ८ (२) अजीवके पाँच भेदोमेसे पुद्गल—अध्याय ५ सूत्र २३। धर्म और अधर्म—अध्याय ५ सूत्र १७ आकाश—अध्याय ५, सूत्र १८ और काल—अध्याय ५ सूत्र २२।

जीव तथा पुद्गलकी विकारी अवस्थाका निमित्त नैमित्तिक सबध इस अध्यायके सूत्र १९, २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, ३२, ३५,

३६, ३८ मे दिया है, उनमे जीव का एक दूसरे का सम्बन्ध सूत्र २० मे बताया। जीवका पुद्गलके साथ का सम्बन्ध सूत्र १६, २० मे बताया और पुद्गलका परस्परका सबध बाकी के सूत्रोमे बताया गया है।

(१४) 'सत्' लक्षण कहने से यह सिद्ध हुआ कि स्व की अपेक्षासे 'द्रव्य सत्' है। इसका यह अर्थ हुआ कि वह स्वरूप से है पर रूपसे नही। 'अस्तित्व' प्रगट रूपसे और 'नास्तित्व' गर्भित रूपसे (इस सूत्रमे) कहकर यह बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वय स्व से है और पर रूपसे न होने से एक द्रव्य अपना सब कुछ कर सकता है, किंतु दूसरे द्रव्यका कभी कुछ नही कर सकता। इस सिद्धान्त का नाम 'अनेकात' है और वह इस अध्यायके ३२ वे सूत्रमे बतलाया गया है ॥ २९ ॥

अब सत्का लक्षण बताते हैं

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थः—[उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त] जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हो [सत्] सो सत् है।

टीका

(१) जगत् मे सत्के सम्बन्धमे कई असत् मान्यताये चल रही है। कोई 'सत्' को सर्वथा कूटस्थ—जो कभी न बदले ऐसा मानते हैं, कोई ऐसा कहते है कि सत् ज्ञान गोचर नही है, इसलिए 'सत्' का यथार्थ त्रिकाली अबाधित स्वरूप इस सूत्रमे कहा है।

(२) प्रत्येक वस्तुका स्वरूप 'स्थायी रहते हुये बदलता है' उसे इग्लिश मे Permanancy with a change (बदलने के साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह यो भी कहते हैं कि–No substance is destroyed, every substance changes its form. (कोई वस्तु नाश नही होती, प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है)।

(३) उत्पाद—चेतन अथवा अचेतन द्रव्यमें नवीन अवस्था का प्रगट होना सो उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद होने पर पूर्वकालसे चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नही सकती।

व्यय—स्वजाति यानी मूल स्वभावके नष्ट हुए बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्यमे पूर्व अवस्थाका विनाश (उत्पादके समय ही) होना सो व्यय है।

ध्रौव्य—अनादि अनन्तकाल तक सदा बना रहनेवाला मूल स्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नही होता उसे ध्रौव्य कहते हैं (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ६ से ८)

(४) सर्वार्थसिद्धि मे ध्रौव्यकी व्याख्या इस सूत्र की टीकामें पृष्ठ १०५ मे सस्कृतमे निम्नप्रकार दी है—

"अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरी-
भवतीति ध्रुवः ।"

अर्थः—जो अनादि पारिणामिक स्वभाव के द्वारा व्यय तथा उत्पाद के अभावसे ध्रुव रहता है—स्थिर रहता है वह ध्रुव है।

(५) इस सूत्रमे 'सत्' का अनेकान्त रूप बतलाया है। यद्यपि त्रिकालापेक्षा से सत् 'ध्रुव' है तो भी समय समय पर नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट होती है अर्थात् द्रव्यमे समा जाती है, वर्तमान काल की अपेक्षा से अभावरूप होता है—इस तरह कथचित् नित्यत्व और कथचित् अनित्यत्व द्रव्यका अनेकातपन है।

(६) इस सूत्रमे पर्यायका भी अनेकान्तपन बतलाया है। जो उत्पाद है सो अस्तिरूप पर्याय है और जो व्यय है सो नास्तिरूप पर्याय है। स्व की पर्याय स्व से होती है पर से नही होती ऐसा 'उत्पाद' से बताया। स्व पर्यायकी नास्ति—अभाव भी स्व से ही होता है, परसे नही होता। "प्रत्येक द्रव्यका उत्पाद व्यय स्वतत्र उस द्रव्यसे है" ऐसा बताकर द्रव्य, गुण तथा पर्यायकी स्वतत्रता बतलाई—परका असहायकपन बतलाया।

(७) धर्म (शुद्धता) आत्मामे द्रव्यरूप से त्रिकाल भरपूर है, अनादि से जीव के पर्याय रूपमे धर्म प्रगट नही हुआ, किंतु जीव जब पर्याय मे धर्म व्यक्त करे तब व्यक्त होता है, ऐसा उत्पाद शब्दका प्रयोग बताया और उसी समय विकारका व्यय होता है ऐसा व्यय शब्दको कहकर बताया।

उस अविकारी भावके प्रगट होने और विकारीभावके व्ययका लाभ त्रिकाल मौजूद रहनेवाले ऐसे ध्रुव द्रव्यके प्राप्त होता है ऐसा ध्रौव्य शब्द अन्त मे देकर बतलाया है।

(८) **प्रश्न**—"युक्त" शब्द एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका पृथकत्व बतलाता है–जैसे—दण्ड युक्त दडी। ऐसा होनेसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का द्रव्यसे भिन्न होना समझा जाता है अर्थात् द्रव्यके उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका द्रव्यमे अभावका प्रसग आता है उसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तर—'युक्त' शब्द जहाँ अभेदकी अपेक्षा हो वहाँ भी प्रयोग किया जाता है जैसे—सार युक्तस्तभ। यहाँ युक्त शब्द अभेदनयसे कहा है। यहाँ युक्त शब्द एकमेकतारूप अर्थमे समझना।

(९) सत् स्वतत्र और स्व सहायक है अत उत्पाद और व्यय भी प्रत्येक द्रव्यमे स्वतंत्ररूपसे होते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्र० सार गा० १०७ में पर्यायको भी सत्पना कहा है—"सद्द्रव्य सच्च गुण. सच्चेव च पर्याय इति विस्तार।"

प्रश्न—जीवमे होनेवाली विकारी पर्याय पराधीन कही जाती है इसका क्या कारण है ?

उत्तर—पर्याय भी एक समय स्थायी अनित्य सत् होनेसे विकारी पर्याय भी जीव जब स्वतत्ररूपसे अपने पुरुषार्थके द्वारा करे तब होती है। यदि वैसा न माना जाय तो द्रव्यका लक्षण 'सत्' सिद्ध न हो और इसलिए द्रव्यका नाश हो जाय। जीव स्वय स्वतत्ररूपसे अपने भावमे परके आधीन होता है इसलिए विकारी पर्यायको पराधीन कहा जाता है। किंतु ऐसा मानना न्याय सगत नही है कि 'परद्रव्य जीवको आधीन करता है इसलिये विकारी पर्याय होती है।'

प्रश्न—क्या यह मान्यता ठीक है कि "जब द्रव्य कर्मका बल होता है तब कर्म जीवको आधीन कर लेते हैं क्योकि कर्ममे महान शक्ति है ?"

उत्तर—नही ऐसा नही है। प्रत्येक द्रव्यका प्रभाव और शक्ति उसके

क्षेत्रमे रहती है। जीवमे कर्मकी शक्ति नही जा सकती इसलिए कर्म जीवको कभी भी आधीन नही कर सकता। यह नियम श्रीसमयसार नाटकमे दिया गया है वह उपयोगी होनेसे यहाँ दिया जाता है:—

१—अज्ञानियोके विचारमे रागद्वेषका कारण—

—दोहा—

कोई मूरख यो कहै, राग द्वेष परिणाम।
पुद्गल की जोरावरी, वरतै आतमराम ॥ ६२ ॥
ज्यो ज्यो पुद्गल बल करे धरि धरि कर्मज भेष।
रागदोषको परिणमन, त्यौ त्यौ होइ विशेष ॥ ६३ ॥

अर्थः—कोई कोई मूर्ख ऐसा कहते है कि आत्मामे राग-द्वेष भाव पुद्गलकी जबरदस्तीसे होता है ॥ ६२ ॥ पुद्गल कर्मरूप परिणमनके उदयमे जितना जितना बल करता है उतनी उतनी बाहुल्यतासे राग-द्वेष परिणाम होते है ॥ ६३ ॥

—अज्ञानीको सत्य मार्गका उपदेश—

—दोहा—

इहि विध जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोइ।
सो नर राग विरोध सो, कबहूँ भिन्न न होइ ॥ ६४ ॥
सुगुरु कहैं जगमे रहै, पुद्गल सग सदीव।
सहज शुद्ध परिणमनिकौ, औसर लहै न जीव ॥ ६५ ॥
तातैं चिद्भावनि विपै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यातमे, समकितमे सिव भाउ ॥ ६६ ॥

(देखो समयसार नाटक पृष्ठ ३५३)

अर्थ—ऊपर जो रीति कही हैं वह तो विपरीत पक्ष है। जो कोई उसे ग्रहण करता है या श्रद्धान करता है उस जीवके राग द्वेष और मोह कभी पृथक होते ही नही। श्री गुरु कहते हैं कि जीवके पुद्गलका साथ सदा (अनादिका) रहता है तो फिर सहज शुद्ध परिणमनका अवसर जीवको कभी मिले ही नही। इसलिये चैतन्यका भाव करनेमे चेतन राजा ही समर्थ

है, वह मिथ्यात्वदशामे स्व से राग द्वेषरूप होता है और सम्यक्त्वदशामे— शिव भाउ अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप होता है।

२—जीवको कर्मका उदय कुछ असर नही कर सकता अर्थात् निमित्त उपादानको कुछ कर नही सकता। इन्द्रियोके भोग, लक्ष्मी, सगे सम्बन्धी या मकान आदिके सम्बन्धमे भी यही नियम है। यह नियम श्री समयसार नाटकके सर्वविशुद्धि द्वारमे निम्नरूपसे दिया है—

—सवैया—

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग रोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ?
पुद्गल करम जोग किधो इन्द्रिनिकौ भोग,
किधौ धन किधौ परिजन किधौ भौन है॥
गुरु कहै छहो दर्व अपने अपने रूप,
सवनिकौ सदा असहाई परिनौन है।
कोउ दरव काहुको न प्रेरक कदाचि तातै,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६१॥

अर्थः—शिष्य कहता है—हे स्वामी! राग द्वेष परिणामका मूल प्रेरक कौन है सो आप कहो, पुद्गल कर्म या इन्द्रियोके भोग या धन या घरके मनुष्य या मकान? श्री गुरु समाधान करते है कि छहो द्रव्य अपने अपने स्वरूपमे सदा असहाय परिणमते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कभी भी प्रेरक नही है। राग द्वेषका कारण मिथ्यात्वरूपी मदिराका पान है।

(१०) पचाध्यायी अ० १ गा० ८९ मे भी वस्तुकी हरएक अवस्था- (-पर्याय भी) "स्वत सिद्ध" एव 'स्वसहाय' है ऐसा कहा है—

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थिति भंगमयं तत् सदेतदिह नियमात्॥८९॥

अर्थ—जैसे वस्तु स्वत सिद्ध है वैसे ही यह "स्वत परिणमनशील" भी है, इसलिये यहाँ पर यह सत् नियमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। इस प्रकार किसी भी वस्तुकी कोई भी अवस्था, किसी भी

समय, परके द्वारा नही की जा सकती, वस्तु सदा स्वत परिणमनशील होनेसे अपनी पर्याय यानी अपने हरएक गुणके वर्तमान (अवस्था विशेष) का वह स्वय ही सृष्टा-रचयिता है ॥ ३० ॥

अब नित्य का लक्षण कहते हैं

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थः—[तद्भावाव्ययं] तद्भावसे जो अव्यय है-नाश नही होना सो [नित्यम्] नित्य है ।

टीका

(१) जो पहले समयमे हो वही दूसरे समयमे हो उसे तद्भाव कहते हैं, वह नित्य होता है—अव्यय=अविनाशी होता है ।

(२) इस अध्यायके चौथे सूत्रमे कहा है कि द्रव्यका स्वरूप नित्य है । उसकी व्याख्या इस सूत्रमे दी गई है ।

(३) प्रत्यभिज्ञानके हेतु को तद्भाव कहते है । जैसे कि द्रव्य को पहले समयमे देखनेके बाद दूसरे आदि समयोमे देखनेसे "यह वही है जिसे मैने पहले देखा था" ऐसा जो जोडरूप ज्ञान है वह द्रव्यका द्रव्यत्व बतलाता है, परन्तु यह नित्यता कथञ्चित् है क्योकि यह सामान्य स्वरूप की अपेक्षासे होती है । पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्य अनित्य है । इसतरह जगत मे समस्त द्रव्य नित्यानित्यरूप है । यह प्रमाण दृष्ट है ।

(४) आत्मामे सर्वथा नित्यता मानने से मनुष्य, नरकादिकरूप ससार तथा ससार से अत्यन्त छूटनेरूप मोक्ष नही बन सकता । सर्वथा नित्यता माननेसे ससार स्वरूपका वर्णन और मोक्ष-उपायका कथन करने मे विरोधता आती है, इसलिये सर्वथा नित्य मानना न्याय संगत नही है ॥ ३१ ॥

एक वस्तुमें दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति बतलाते हैं

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—[अर्पितानर्पितसिद्धेः] प्रधानता और गौणता से पदार्थों की सिद्धि होती है।

टीका

(१) प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूप है यह सिद्धान्त इस सूत्र मे स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म हैं, तथापि वे वस्तुको वस्तुपनमे निष्पन्न (सिद्ध) करनेवाले है, इसीलिये वे प्रत्येक द्रव्यमे होते ही है। उनका कथन मुख्य गौणरूप से होता है, क्योंकि सभी धर्म एक साथ नही कहे जा सकते। जिस समय जिस धर्म को सिद्ध करना हो उस समय उसकी मुख्यता ली जाती है। उस मुख्यता–प्रधानता को 'अर्पित' कहा जाता है, और उस समय जिस धर्मको गौण रखा हो उसे अनर्पित कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि अनर्पित किया हुआ धर्म यद्यपि उस समय कहनेमे नही आया तो भी वह धर्म रहते ही हैं।

(२) जिस समय द्रव्य को द्रव्य की अपेक्षासे नित्य कहा है उसी समय वह पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। सिर्फ उस समय 'अनित्यता' कही नही गई किन्तु गर्भित रखी है। इसी प्रकार जब पर्याय की अपेक्षासे द्रव्यको अनित्य कहा है उसी समय वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है सिर्फ उस समय नित्यता कही नही है, क्योकि दोनो धर्म एक साथ कहे नही जा सकते।

(३) अर्पित और अनर्पित के द्वारा अनेकान्त स्वरूप का कथन—

अनेकान्त की व्याख्या निम्न प्रमाण है—

"एक वस्तुमे वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोका एक ही साथ प्रकाशित होना सो अनेकान्त है।" जैसे कि जो वस्तु सत् है वही असत् है अर्थात् जो अस्ति है वही नास्ति है, जो एक है वही अनेक है, जो नित्य है वही अनित्य है इत्यादि। (स० सार सर्व विशुद्धिज्ञानाधिकार पृ० ५६५)

अर्पित और अनर्पितका स्वरूप समझने के लिये यहाँ कितने ही

दृष्टान्तोकी जरूरत है, वे नीचे दिये जाते है---

(१) 'जीव चेतन है' ऐसा कहने से 'जीव अचेतन नही है' ऐसा उसमे स्वयं गर्भितरूपसे आगया। इसमे 'जीव चेतन है' यह कथन अर्पित हुआ और 'जीव अचेतन नही है' यह कथन अनर्पित हुआ।

(२) 'अजीव जड है' ऐसा कहने से 'अजीव चेतन नही है' ऐसा उसमे स्वयं गर्भित रूपसे आगया। इसमे पहला कथन अर्पित है और उसमे 'अजीव चेतन नही है' यह भाव अनर्पित–गौणरूपसे आगया, अर्थात् बिना कहे भी उसमे गर्भित है ऐसा समझ लेना चाहिये।

(३) 'जीव अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है' ऐसा कहने पर 'जीव पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत् है' ऐसा बिना कहे भी आगया। पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(४) 'जीव द्रव्य एक है' ऐसा कहने पर उसमे यह आगया कि 'जीव गुण और पर्यायसे अनेक है।' पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(५) 'जीव द्रव्य-गुणसे नित्य है' ऐसा कहने से उसमे यह कथन आगया कि 'जीव पर्याय से अनित्य है।' पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(६) 'जीव स्व से तत् (Identical) है' ऐसा कहनेसे उसमे यह कथन आगया कि 'जीव परसे अतत् है।' इसमे पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(७) 'जीव अपने द्रव्य–गुण–पर्यायसे अभिन्न है' ऐसा कहनेसे उसमे यह कथन आगया कि 'जीव परद्रव्य–उसके गुण और पर्यायसे भिन्न है। पहला कथन अर्पित और दूसरा कथन अनर्पित है।

(८) 'जीव अपनी पर्यायका कर्ता हो सकता है' ऐसा कहने पर 'जीव परद्रव्यका कुछ कर नही सकता' यह आगया। इसमे पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(९) 'प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का भोक्ता हो सकता है' ऐसा

स्लोकमे जाता है, उस समय उसे अनुकूल आनुपूर्वी नाम कर्मका उदय सयोग-रूपसे होता है। कर्म परद्रव्य है इसलिये वह जीवको किसी जगह नही ले जा सकता' इसमे पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

उपरोक्त दृष्टात ध्यानमे रखकर शास्त्रमे कैसा भी कथन किया हो उसका निम्नलिखित अनुसार अर्थ करना चाहिये—

पहले यह निश्चय करना चाहिये कि शब्दार्थके द्वारा यह कथन किस नयसे किया है। उसमे जो कथन जिस नयसे किया हो वह कथन अर्पित है ऐसा समझना। और सिद्धान्तके अनुसार उसमें गौणरूपसे जो दूसरे भाव गर्भित है, यद्यपि वे भाव जो कि वहाँ शब्दोमे नही कहे तो भी ऐसा समझ लेना चाहिये कि वे गर्भितरूपसे कहे है, यह अनर्पित कथन है। इसप्रकार अर्पित और अनर्पित दोनो पहलुओको समझकर यदि जीव अर्थ करे तो ही जीवको प्रमाण और नयका सत्य ज्ञान हो। यदि दोनो पहलुओ को यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान अज्ञानरूपसे परिणमा है इसलिये उसका ज्ञान अप्रमाण और कुनयरूप है। प्रमाणको सम्यक् अनेकात भी कहा जाता है।

जहाँ जहाँ निमित्त और औदयिक भाव की सापेक्षताका कथन हो, वहाँ औदयिकभाव जीवका स्वतत्त्व होनेसे—निश्चयसे निरपेक्ष ही है सापेक्ष नही है इस मुख्य बातका स्वीकार होना चाहिये। एकान्त सापेक्ष मानने मे शास्त्रका सच्चा अर्थ नही होगा।

(४) अनेकान्तका प्रयोजन

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसा निजपदकी प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य दूसरे हेतुसे उपकारी नही है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सकता है इस मान्यता में आनेवाले दोषोंका वर्णन

जगतमे छहो द्रव्य अत्यत निकट एक क्षेत्रावगाह रूपसे रहे हुये है, वे स्वयं निजमे अतर्मग्न रहते हुए अपने अनत धर्मोके चक्रको चूमते है,— स्पर्श करते है, तो भी वे परस्परमे एक दूसरे को स्पर्श नही करते। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको स्पर्श करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाय और यदि

पररूप हो जाय तो निम्नलिखित दोष आवे —

१—संकर दोष

दो द्रव्य एक रूप हो जायें तो सकर दोप आता है।

"सर्वेषाम् युगपत्प्राप्ति सकर"—जो अनेक द्रव्योके एक रूपताकी प्राप्ति है सो सकर दोप है। जीव अनादि से अज्ञान दशामे शरीरको, शरीरकी क्रियाको, द्रव्य इन्द्रियोको, भाव इन्द्रियोको तथा उनके विषयोको स्व से एकरूप मानता है यह ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष है। इस सूत्रमे कहे हुये अनेकात स्वरूपको समझने पर—अर्थात् जीव जीवरूपसे है कर्मरूपसे नही इसलिये जो कर्म, इन्द्रियाँ, शरीर, जीवकी विकारी और अपूर्ण दशा है सो ज्ञेय है किंतु वे जीवका स्वरूप (-ज्ञान) नही है ऐसा समझकर भेद विज्ञान प्रगट करे तब ज्ञेय ज्ञायक सकर दोष दूर होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही सकर दोष टलता—दूर होता है।

जीव जितने अशोमे मोहकर्मके साथ युक्त होकर दु ख भोगता है वह भाव्य भावक सकर दोष है। उस दोषको दूर करनेका प्रारभ सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर होता है और अकषायज्ञानस्वभावभावका अच्छी तरह आलबन करनेमे सर्वथा कषायभाव दूर होनेपर वह सकर दोष सर्वथा दूर होता है।

२—व्यतिकर दोष

यदि जीव जड़का कुछ कार्य करे और जड कर्म या शरीर जीवका कुछ भला–बुरा करे तो जीव जडरूप हो जाय और जड चेतनरूप हो जाय तथा एक जीवके दूसरे जीव कुछ भला बुरा करे तो एक जीव दूसरे जीवरूप हो जाय। इस तरह एकका विपय दूसरेमे चला जायगा इससे व्यतिकर दोष आवेगा—"परस्परविषयगमन व्यतिकर।"

जडकर्म हलका हो और मार्ग दे तो जीवके धर्म हो और जडकर्म बलवान हो तो जीव धर्म नही कर सकता—ऐसा माननेमे सकर और व्यतिकर दोनो दोष आते हैं।

जीव मोक्षका—धर्मका पुरुपार्थ न करे और अशुभभावमे रहे तब उसे बहुकर्मी जीव कहा जाता है, अथवा यो कहा जाता है कि–'उसके कर्म

का तीव्र उदय है इसलिये वह धर्म नही करता। इस जीवका लक्ष्य स्व-सन्मुख नही है किन्तु परवस्तु पर है, इतना बतानेके लिए यह व्यवहार कथन है। परन्तु ऐसे उपचार कथनको सत्यार्थ माननेमे दोनो दोष आते हैं कि जड कर्म जीवको नुकसान करता है या जीव जडकर्मका क्षय करता है। और ऐसा माननेमे दो द्रव्यके एकत्वकी मिथ्या श्रद्धा होती है।

३—अधिकरण दोष

यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता, उसे हला-चला सकता या दूसरे जीवका कुछ कर सकता तो वह दोनो द्रव्योका अधिकरण (स्वक्षेत्र-रूप आधार) एक होजाय और इससे 'अधिकरण' दोष आवेगा।

४—परस्पराश्रय दोष

जीव स्व की अपेक्षासे सत् है और कर्म परवस्तु है उस अपेक्षासे जीव असत् है, तथा कर्म उसकी अपनी अपेक्षासे सत् है और जीवकी अपेक्षा से कर्म असत् है। ऐसा होनेपर भी जीव कर्मको बाँधे-छोडे-उसका क्षय करे वैसे ही कर्म कमजोर हो तो जीव धर्म कर सकता है—ऐसा माननेमे 'परस्परा-श्रय' दोष है। जीव कर्म इत्यादि समस्त द्रव्य सदा स्वतत्र हैं और स्वयं स्व से स्वतत्ररूपसे कार्य करते हैं ऐसा माननेसे 'परस्पराश्रय' दोष नही आता।

५—संशय दोष

जीव अपने रागादि विकार भावको जान सकता है, स्वद्रव्यके आलबनसे रागादि दोषका अभाव हो सकता है परन्तु उसे टालनेका प्रयत्न नही करता और जो जडकर्म और उसके उदय हैं उसको नही देख सकता तथापि ऐसा माने कि 'कर्मका उदय पतला पडे, कमजोर हो, कर्मके आवरण हटे तो धर्म या सुख हो सकता है जडकर्म बलवान हो तो जीव गिर जाय, अधर्मी या दुःखी होजाय, (जो ऐसा माने) उसके संशय- (-भय) दूर नही होता अथवा निज आत्माश्रित निश्चय रत्नत्रयसे धर्म होगा या पुण्यमे—व्यवहार करते २ धर्म होगा ? ऐसा संशय दूर किये विना जीव स्व-तत्रताकी श्रद्धा और सच्चा पुरुषार्थ नही कर सकता और विपरीत अभिप्राय रहितपनेका सच्चा पुरुषार्थ विना, किसी जीवको कभी धर्म या सम्यग्दर्शन

नही हो सकता। किसी भी द्रव्य दूसरोंका कुछ कर सकता है या नही ऐसी मान्यतामे संशय दोष आता है वह सच्ची समझसे दूर करना चाहिये।

६—अनवस्था दोष

जीव अपने परिणामका ही कर्ता है और अपना परिणाम उसका कर्म है। सर्व द्रव्योके अन्य द्रव्योके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है, इसीलिये अजीवके साथ जीवके कार्य—कारणत्व सिद्ध नही होता। यदि एक द्रव्य दूसरेका कार्य करे, दूसरा तीसरेका कार्य करे—ऐसी परपरा मानने पर अनन्त द्रव्य है उसमे कौन द्रव्य किस द्रव्यका कार्य करे इसका कोई नियम न रहेगा और इसीलिये अनवस्था दोष आवेगा। परन्तु यदि ऐसा नियम स्वीकार करे कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही कार्य करता है परका कार्य नही कर सकता तो वस्तुकी यथार्थ व्यवस्था ज्यो की त्यो बनी रहती है और उसमे कोई अनवस्था दोष नही आता।

७—अप्रतिपत्ति दोष

प्रत्येक द्रव्यका द्रव्यत्व—क्षेत्रत्व—कालत्व (-पर्यायत्व) और भावत्व (-गुण) जिस प्रकारसे है उसीप्रकार से उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। जीव क्या कर सकता और क्या नही कर सकता वैसे ही जड द्रव्य क्या कर सकते और क्या नही कर सकते—इसका ज्ञान न करना और तत्त्वज्ञान करने का प्रयत्न नही करना सो अप्रतिपत्ति दोष है।

८—विरोध दोष

यदि ऐसा माने कि एक द्रव्य स्वय स्व से सत् है और वही द्रव्य पर से भी सत् है तो 'विरोध' दोष आता है। क्योकि जीव जैसे अपना कार्य करे वैसे पर द्रव्यका—कर्म अर्थात् पर जीव आदिका—भी कार्य करे तो विरोध दोष लागू होता है।

९—अभाव दोष

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करे तो उस द्रव्यका नाश हो और एक द्रव्यका नाश हो तो क्रम क्रमसे सर्व द्रव्योका नाश होगा, इस तरह उसमे 'अभाव' दोष आता है।

इन समस्त दोषोको दूरकर वस्तुका अनेकात स्वरूप समझनेके लिये आचार्य भगवानने यह सूत्र कहा है।

अर्पित (मुख्य) और अनर्पित (गौण) का विशेष

समझमे तथा कथन करने के लिये किसी समय उपादानको मुख्य किया जाता है और किसी समय निमित्तको, (कभी निमित्तकी मुख्यतासे कार्य नही होता मात्र कथनमे मुख्यता होती है) किसी समय द्रव्यको मुख्य किया जाता है तो किसी समय पर्यायको, किसी समय निश्चयको मुख्य कहा जाता है और किसी समय व्यवहारको। इस तरह जब एक पहलूको मुख्य करके कहा जावे तब दूसरे गौण रहनेवाले पहलुओका यथायोग्य ज्ञान कर लेना चाहिये। यह मुख्य और गौणता ज्ञानकी अपेक्षासे समझनी।

—परन्तु सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे हमेशा द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके उपदेश दिया जाता है द्रव्यदृष्टि की प्रधानतामे कभी भी व्यवहार की मुख्यता नही होती, वहाँ पर्यायदृष्टिके भेदको गौण करके उसे व्यवहार कहा है। भेद दृष्टिमे रुकने पर निर्विकल्प दशा नही होती और सरागीके विकल्प रहा करता है, इसलिये जबतक रागादिक दूर न हो तबतक भेदको गौण कर अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया जाता है। द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे व्यवहार, पर्याय या भेद हमेशा गौण रखा जाता है, उसे कभी मुख्य नही किया जाता ॥ ३२ ॥

अब परमाणुओंमें बंध होने का कारण बतलाते हैं

स्निग्धरूक्षत्वादुबन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थ—[स्निग्धरूक्षत्वात्] चिकने और रूखे के कारण [बध] दो, तीन इत्यादि परमाणुओका बध होता है।

टीका

(१) पुद्गल मे अनेक गुण है किन्तु उनमेसे स्पर्श गुणके अतिरिक्त दूसरे गुणोका पर्यायोसे बन्ध नही होता, वैसे ही स्पर्श की आठ पर्यायोमे से भी स्निग्ध और रूक्ष नामके पर्यायो के कारण से ही बध होता है और दूसरे

छह प्रकार के पर्यायोसे बन्ध नही होता; ऐसा यहाँ बताया है। किस तरह की स्निग्ध और रूक्ष अवस्था हो तब बध-हो यह ३६ वे सूत्रमे कहेगे और किस तरह के हो तब बन्ध नही होता यह ३४–३५ वे सूत्र मे कहेगे। बध होने पर किस जातिका परिणमन होता है यह ३७ वे सूत्रमे कहा जायगा।

(२) बध—अनेक पदार्थोंमे एकत्वका ज्ञान करानेवाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते है।

(३) बध तीन तरहका होता है—१–स्पर्शों के साथ पुद्गलो का बन्ध, २–रागादि के साथ जीव का बन्ध, और ३–अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक बन्ध। (प्रवचनसार गाथा १७७) उनमे से पुद्गलोका बध इस सूत्र मे बताया है।

(४) स्निग्ध और रूक्षत्वके जो अविभाग प्रतिच्छेद है उसे गुण * कहते है। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह इत्यादि तथा सख्यात, असख्यात या अनत स्निग्ध गुण रूपसे तथा रूक्ष गुणरूपसे एक परमाणु और प्रत्येक परमाणु स्वत. स्वय परिणमता है।

(५) स्निग्ध स्निग्ध के साथ, रूक्ष रूक्ष के साथ तथा एक दूसरे के साथ बंध होता है।

बंध कब नहीं होता ?

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थः— [जघन्यगुणानाम्] जघन्य गुण सहित परमाणुओका [न] बन्ध नही होता।

टीका

(१) गुणकी व्याख्या सूत्र ३३ की टीका दी गई है। 'जघन्य गुण परमाणु' अर्थात् जिस परमाणुमे स्निग्धता या रूक्षता का एक अविभागी अश हो उसे जघन्य गुण सहित परमाणु कहते हैं। जघन्यगुण अर्थात् एक गुण समझना।

---

* यहाँ द्रव्य गुण पर्यायमे आनेवाला गुण नही समझना परन्तु गुणका अर्थ 'स्निग्ध-रूक्षत्वकी शक्तिका नाप करने का साधन' समझना चाहिये।

(२) परम चैतन्य स्वभावमे परिणति रखनेवाले के परमात्मस्वरूप के भावनारूप धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बल से जब जघन्य चिकने के स्थान मे राग क्षीण हो जाता है तब जैसे जल और रेतीका बन्ध नही होता वैसे ही जघन्य स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसी के साथ बन्ध नही होता। (प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७२, श्री जयसेन आचार्य की सस्कृत टीका, हिन्दी पुस्तक पृष्ठ २२७) जल और रेती के दृष्टातमे जैसे जीवोके परमानन्दमय स्व सवेदन गुणके बलसे रागद्वेष हीन हो जाता है और कर्मके साथ बन्ध नही होता उसीप्रकार जिस परमाणु मे जघन्य स्निग्ध या रूक्षता होती है उसके किसी से बध नही होता।

(हिन्दी प्रवचनसार गाथा ७३ पृ० २२८)

(३) श्री प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७१ से ७६ तक तथा गोम्मटसार जीवकाड गाथा ६१४ तथा उसके नीचेकी टीकामे यह बतलाया है कि पुद्गलोमे बध कब नही होता और कब होता है, अत वह बांचना।

(४) चौतीसवें सूत्रका सिद्धांत

(१) द्रव्यमे अपने साथ जो एकत्व है वह बधका कारण नही होता किंतु अपनेमे–निजमे च्युतिरूप द्वैत–द्वित्व हो तब बन्ध होता है। आत्मा एकभावस्वरूप है, परन्तु मोह राग-द्वेपरूप परिणमनसे द्वैतभावरूप होता है और उससे बन्ध होता है। (देखो प्रवचनसार गाथा १७५ की टीका) आत्मा अपने त्रिकाली स्वरूपसे शुद्ध चैतन्य मात्र है। यदि पर्यायमे वह त्रिकाली शुद्ध चैतन्यके प्रति लक्ष्य करके अतर्मुख हो तो द्वैतपन नही होता, बन्ध नही होता अर्थात् मोह-राग-द्वेपमे नही रुकता। आत्मा मोहरागद्वेप मे अटकता है वही बन्ध है। अज्ञानतापूर्वकका रागद्वेषही वास्तवमे स्निग्ध और रूक्षत्वके स्थानमे होनेसे बन्ध है (देखो प्रवचनसार गाथा १७६ की टीका) इसप्रकार जब आत्मामे द्वित्व हो तब बन्ध होता है और उसका निमित्त पाकर द्रव्यबन्ध होता है।

(२) यह सिद्धात पुद्गलमे लागू होता है। यदि पुद्गल अपने स्पर्शमे एकगुणरूप परिणमे तो उसके अपनेमें ही बन्धकी शक्ति (भावबन्ध) प्रगट न

होनेसे दूसरे पुद्गलके साथ बन्ध नही होता। किन्तु यदि उस पुद्गलके स्पर्शमे दो गुणरूप अधिकपन आवे तो बन्ध की शक्ति (भावबन्धकी शक्ति) होनेसे दूसरे चार गुणवाले स्पर्शके साथ बन्ध हो जाता है, यह द्रव्यबध है। बन्ध होनेमे द्वित्व-द्वैत अर्थात् भेद होना ही चाहिए।

(३) दृष्टान्त—दशमे गुणस्थान मे सूक्ष्मसापराय—जघन्य लोभ कषाय है तो भी मोहकर्मका बन्ध नही होता। सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पुरुषवेद जो नवमे बन्धको प्राप्त थे उनकी वहाँ व्युच्छित्ति हुई उनका बन्ध वहाँ रुक गया। (देखो अध्याय ६ सूत्र १४ की टीका)

दृष्टांतपरसे सिद्धांत—जीवका जघन्य लोभकपाय विकार है किंतु वह जघन्य होनेसे कार्माण-वर्गणाको लोभरूपसे बन्धने मे निमित्त नही हुआ। (२) उस समय सज्वलन लोभकर्मकी प्रकृति उदयरूप है तथापि उसकी जघन्यता नवीन मोह कर्मके बन्धका निमित्त कारण नही होती (३) यदि जघन्य विकार कर्म बन्धका कारण हो तो कोई जीव बध रहित नही हो सकता ॥ ३४ ॥

बंध कब नहीं होता इसका वर्णन करते हैं

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

अर्थः—[**गुणसाम्ये**] गुणोकी समानता हो तब [**सदृशानाम्**] समान जातिवाले परमाणुके साथ बन्ध नही होता। जैसे कि-दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुका दूसरे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता अथवा वैसे स्निग्ध परमाणुका उतने ही गुणवाले रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध नही होता। 'न—(बन्ध नही होता)' यह शब्द इस सूत्र मे नही कहा परन्तु ऊपरके सूत्रमे कहा गया 'न' शब्द इस सूत्रमे भी लागू होता है।

टीका

(१) सूत्रमे 'सदृशानाम्' पदसे यह प्रगट होता है कि गुणो की विषमतामे समान जातिवाले तथा भिन्न जातिवाले पुद्गलोका बन्ध होता है।

(२) दो गुण या अधिक गुण स्निग्धता और वैसे ही दो या अधिक गुण रूक्षता समानरूप से हो तब बन्ध नही होता, ऐसा बतानेके लिये 'गुणसाम्ये' पद इस सूत्रमें लिया है ॥ ३५ ॥

(देखो सर्वार्थसिद्धि, संस्कृत हिन्दी टीका, अध्याय ५ पृष्ठ १२३)

बन्ध कब होता है ?

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थः—[द्व्यधिकादिगुणानां तु] दो अधिक गुण हो इस तरहके गुण वाले के साथ ही बन्ध होता है ।

टीका

जब एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमे दो अधिक गुण हो तब ही बंध होता है । जैसे कि दो गुणवाले परमाणुका बंध चार गुणवाले परमाणुके साथ हो; तीन गुणवाले परमाणुका पांच गुणवाले परमाणुके साथ बंध हो परन्तु उससे अधिक या कम गुणवाले परमाणु के साथ बंध नही होता* । यह बन्ध स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, स्निग्धका रूक्षके साथ तथा रूक्षका स्निग्धके भी बंध होता है ॥ ३६ ॥

दो गुण अधिकके साथ मिलने पर नई व्यवस्था कैसी होती है ?

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

अर्थः—[च] और [बन्धे] बंधरूप अवस्थामे [अधिकौ] अधिक गुणवाले परमाणुओ अपने रूपमे [पारिणामिकौ] (कम गुणवाले परमाणुओका) परिणमानेवाले होता है । (यह कथन निमित्तका है)

टीका

जो अल्पगुणधारक परमाणु हो वह जब अधिक गुणधारक परमाणु के साथ बंध अवस्थाको प्राप्त होता है तब वह अल्पगुण धारक परमाणु अपनी पूर्व अवस्थाको छोडकर दूसरी अवस्था प्रगट करता है और

* श्वेताम्बर मत में इस व्यवस्थाको नही माना है ।

एक स्कध हो जाता है अर्थात् अधिक गुणधारक परमाणु की जातिका और उतने गुणवाला स्कध होता है ॥ ३७ ॥

द्रव्य का दूसरा लक्षण

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थः—[**गुणपर्ययवत्**] गुण पर्यायवाला [**द्रव्यम्**] द्रव्य है।

टीका

(१) गुण—द्रव्यकी अनेक पर्याय बदलने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् नही हो, निरन्तर द्रव्यके साथ सहभावी रहे वह गुण कहलाता है।

(२) जो द्रव्यके पूरे हिस्से मे तथा उसकी सभी हालतमे रहे उसे गुण कहते है। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न ११३) (३) जो द्रव्यमे शक्ति की अपेक्षासे भेद किया जावे वह गुण शब्दका अर्थ है(तत्त्वार्थसार—अध्याय ३, गाथा ९ पृष्ठ १३१) सूत्रकार गुणकी व्याख्या ४१ वे सूत्रमे देंगे।

(२) पर्याय—१–क्रमसे होनेवाली वस्तुकी—गुणकी अवस्थाको पर्याय कहते है, २–गुणके विकारको (विशेष कार्यको) पर्याय कहते है, (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न १४८) ३–द्रव्यमे जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले वह पर्याय कहलाती है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ९ पृष्ठ १३१)

सूत्रकार पर्यायकी व्याख्या ४२ वे सूत्रमे देगे।

(३) पहले सूत्र २९–३० मे कहे हुए लक्षणसे यह लक्षण पृथक् नही है, शब्द भेद है, किंतु भावभेद नही। पर्यायसे उत्पाद-व्यय की और गुणसे ध्रौव्यकी प्रतीति हो जाती है।

(४) गुणको अन्वय, सहवर्ती पर्याय या अक्रमवर्ती पर्याय भी कहा जाता है तथा पर्यायको व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती कहा जाता है। द्रव्यका स्वभाव गुण-पर्यायरूप है, ऐसा सूत्रमे कहकर द्रव्यका अनेकान्तत्व सिद्ध किया।

(५) द्रव्य, गुण और पर्याय वस्तुरूपसे अभेद-अभिन्न है। नाम,

संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से द्रव्य, गुण और पर्यायमे भेद है परन्तु प्रदेश से अभेद है, ऐसा वस्तुका भेदाभेद स्वरूप समझना।

(६) सूत्रमे 'वत्' शब्दका प्रयोग किया है वह कथंचित् भेदाभेद-रूप सूचित करता है।

(७) जो गुणके द्वारा यह बतलावे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे द्रव्यान्तर है' उसे विशेष गुण कहते हैं। उसके द्वारा उस द्रव्यका विधान किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो द्रव्यो की संकरता-एकताका प्रसंग हो और एक द्रव्य बदलकर दूसरा हो जाय तो व्यतिकर दोषका प्रसंग होगा। इसलिये इन दोषोसे रहित वस्तुका स्वरूप जैसा का तैसा समझना ॥३८॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च ॥ ३९ ॥

अर्थः—[**कालः**] काल [**च**] भी द्रव्य है।

टीका

(१) 'च' का अन्वय इस अध्यायके दूसरे सूत्र 'द्रव्याणि' के साथ है।

(२) काल उत्पाद-व्यय-ध्रुव तथा गुण-पर्याय सहित है, इसलिये वह द्रव्य है।

(३) काल द्रव्योकी संख्या असंख्यात है। वे रत्नो की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक् लोकालोकके समस्त प्रदेशो पर स्थित हैं। वह प्रत्येक कालाणु जड, एक प्रदेशी और अमूर्तिक है। उनमे स्पर्श गुण नही है इसलिये एक दूसरे के साथ मिलकर स्कंध रूप नही होता। कालमे मुख्य रूप से या गौणरूपसे प्रदेश-समूहकी कल्पना नही हो सकती, इसलिये उसे अकाय भी कहते है। वह निष्क्रिय है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमे नही जाता।

(४) सूत्र २२ मे वर्तना मुख्य कालका लक्षण कहा है और उसी सूत्र मे व्यवहार कालका लक्षण परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व कहा

है। इस व्यवहार कालके अनत समय हैं ऐसा अब इसके बादके सूत्रमे कहते हैं ॥ ३९ ॥

व्यवहार काल प्रमाण बताते हैं

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थः—[**सः**] वह काल द्रव्य [**अनन्त समयः**] अनन्त समय वाला है। कालका पर्याय यह समय है। यद्यपि वर्तमानकाल एक समयमात्र ही है तथापि भूत-भविष्य की अपेक्षा से उसके अनन्त समय है।

टीका

(१) **समय**—मदगतिसे गमन करनेवाले एक पुद्गल परमाणु को आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमे जितना समय लगता है वह एक समय है। यह कालकी पर्याय होनेसे व्यवहार है। आवलि, (—समयों के समूहसे ही जो हो) घडी, घटा आदि व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है।

निश्चयकालद्रव्य—लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोकी राशि की तरह कालाणु के स्थित होनेका ३९ वे सूत्र की टीकामे कहा है, वह प्रत्येक निश्चयकालद्रव्य है। उसका लक्षण वर्तना है, यह सूत्र २२ मे कहा जा चुका है।

(२) एक समयमे अनन्त पदार्थोंकी परिणति—पर्याय—जो अनन्त सख्यामे है, उसके एक कालाणुकी पर्याय निमित्त होती है, इस अपेक्षा से एक कालाणुको उपचारसे 'अनन्त' कहा जाता है। मुख्य अर्थात् निश्चय-कालाणु द्रव्य की सख्या असख्यात है।

(३) समय यह सबसे छोटे से छोटा काल है उसका विभाग नही हो सकता ॥ ४० ॥

इस तरह छह द्रव्योका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दो सूत्रो द्वारा गुण का और पर्यायका लक्षण बताकर यह अधिकार पूर्ण हो जायगा।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थः—[द्रव्याश्रयाः] जो द्रव्यके आश्रयमें हों और [निर्गुणाः] स्वयं दूसरे गुणोंसे रहित हों [गुणाः] वे गुण हैं।

टीका

(१) ज्ञानगुण जीवद्रव्यके आश्रित रहता है तथा ज्ञान में और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उनमें गुण रहें तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाय किन्तु ऐसा नहीं होता। 'आश्रयाः' शब्द भेद अभेद दोनों बतलाता है।

(२) प्रश्न—पर्याय भी द्रव्यके आश्रित रहती है और गुण रहित है इसलिये पर्याय में भी गुणत्व आजायगा और इसीसे इस सूत्र में अति-व्याप्ति दोष लगेगा।

उत्तर—'द्रव्याश्रया' पद होनेसे जो नित्य द्रव्यके आश्रित रहता है, उसकी बात है, वह गुण है, पर्याय नहीं है। इसीलिए 'द्रव्याश्रया' पदमें पर्याय उसमें नहीं आती। पर्याय एक समयवर्ती ही है।

कोई गुण दूसरे गुणके आश्रित नहीं है और एक गुण दूसरे गुण की पर्यायका कर्ता नहीं हो सकता है।

(३) इस सूत्रका सिद्धांत

प्रत्येक गुण अपने अपने द्रव्यके आश्रित रहता है इसलिये एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, तथा दूसरे द्रव्यको प्रेरणा, असर या मदद नहीं कर सकता, पर द्रव्य निमित्तरूपसे होता है परन्तु एक द्रव्य पर द्रव्यमें अकिंचित्कर है (समयसार गाथा २६७ की टीका) प्रेरणा, सहाय, मदद, उपकार आदि का कथन उपचारमात्र है अर्थात् निमित्तका मात्र ज्ञान कराने के लिये है ॥ ४१ ॥

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थः—[**तद्भाव**] जो द्रव्यका स्वभाव (निजभाव, निजतत्त्व) है [**परिणामः**] सो परिणाम है।

टीका

(१) द्रव्य जिस स्वरूपसे होता है तथा जिस स्वरूपसे परिणमता है वह तद्भाव परिणाम है।

(२) **प्रश्न**—कोई ऐसा कहते है कि द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नही, गुण और द्रव्य कथचित् भिन्न है कथचित् अभिन्न है अर्थात् भिन्नाभिन्न है। सज्ञा-सख्या-लक्षण-विषयादि भेद से भिन्न है वस्तु-रूपसे प्रदेशरूपसे अभिन्न है, क्योकि गुण द्रव्यका ही परिणाम है।

(३) समस्त द्रव्योके अनादि औद आदिमान परिणाम होता है। प्रवाहरूपसे अनादि परिणाम है, पर्याय उत्पन्न होती है—नष्ट होती है इस-लिये वह सादि है। धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इन चार द्रव्योके अनादि तथा आदिमान परिणाम आगम गम्य है तथा जीव और पुद्गलके अनादि परिणाम आगम गम्य हैं किंतु उसके आदिमान परिणाम कथचित् प्रत्यक्ष भी हैं।

(४) गुणको सहवर्ती अथवा अक्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है और पर्यायको क्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है।

(५) क्रमवर्ती पर्यायके स्वरूप नियमसार गाथा १४ की टीकामे कहा है "जो सर्व तरफ से भेदको प्राप्त हो–परिणमन करे–सो पर्याय है।"

द्रव्य—गुण और पर्याय—ये वस्तुके तीन भेद कहे है, परन्तु नय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही कहे हैं, तीसरा 'गुणार्थिक' नय नही कहा, इसका क्या कारण है ? तथा गुण क्या नयका विषय है ? इसका खुलासा पहले प्रथम अध्यायके सूत्र ६ की टीका पृष्ठ ३१–३२ मे दिया है।

(५) इस सूत्रका सिद्धान्त

सूत्र ४१ मे जो सिद्धात कहा है उसी प्रमाणमे वह यहाँ भी लाग

होता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने भावसे परिणमता है, परके भावसे नही परिणमता, अत यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपना काम कर सकता है किंतु दूसरे का नही कर सकता ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस पाँचवें अध्यायमे मुख्यरूप से अजीवतत्त्वका कथन है। अजीव तत्त्वका कथन करते हुए, उसका जीवतत्त्वके साथ सबध बताने की आवश्यकता होने पर जीवका स्वरूप भी यहाँ बताया गया है। पुनरपि छहो द्रव्योका सामान्य स्वरूप भी जीव और अजीवके साथ लागू होने के कारण कहा है इस तरह इस अध्यायमे निम्न विषय आये हैं—

(१) छहो द्रव्योके एक समान रीतिसे लागू होनेवाले नियमका स्वरूप, (२) द्रव्योकी सख्या और उनके नाम, (३) जीवका स्वरूप, (४) अजीवका स्वरूप, (५) स्याद्वाद सिद्धात और (६) अस्तिकाय।

(१) छहों द्रव्योंको लागू होनेवाला स्वरूप)

(१) द्रव्यका लक्षण अस्तित्व (होनेरूप-विद्यमान) सत् है (सूत्र-२९) (२) विद्यमान- (सत्का) का लक्षण यह है कि त्रिकाल कायम रहकर प्रत्येक समय मे जूनी अवस्थाको दूर (व्यय) कर नई अवस्था उत्पन्न करना। (सूत्र ३०) (३) द्रव्य अपने गुण और अवस्था वाला होता है, गुण द्रव्य के आश्रित रहता है और गुणमे गुण नही होता। वह निजका जो भाव है, उस भावसे परिणमता है (सूत्र ३८, ४२) (४) द्रव्यके निज भाव का नाश नही होता इसलिये नित्य है और परिणमन करता है इसलिये अनित्य है। (सूत्र ३१, ४२)

(२) द्रव्यों की संख्या और उनके नाम

१—जीव अनेक हैं (सूत्र ३), प्रत्येक जीवके असख्यात प्रदेश हैं (सूत्र ८) वह लोकाकाशमे ही रहता है (सूत्र १२), जीव के प्रदेश सकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं इसीलिये लोकके असख्यातवें भाग से लेकर समस्त लोकके अवगाह रूपसे है (सूत्र ५, १५), लोकाकाशके जितने प्रदेश

हैं उतने ही जीवके प्रदेश हैं। एक जीवके, धर्मद्रव्यके और अधर्मद्रव्यके प्रदेशोकी सख्या समान है (सूत्र ८), परन्तु जीवके अवगाह और धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्यके अवगाहमे अतर है। धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश मे व्याप्त हैं जब कि जीवके प्रदेश सकोच और विस्तारको प्राप्त होते है। (सूत्र १३, १६)

(२) जीवको विकारी अवस्थामे, सुख-दुख तथा जीवन–मरणमे पुद्गल द्रव्य निमित्त है, जीव द्रव्य भी परस्पर उन कार्योमे निमित्त होता है। ससारी जीवके सयोग रूपसे कार्मणादि शरीर, वचन मन और श्वासो-च्छ्वास होता है (सूत्र १९, २०, २१)।

(३) जीव क्रियावान है, उसकी क्रियावती शक्तिकी पर्याय कभी गतिरूप और कभी स्थितिरूप होती है, जब गतिरूप होती है तब धर्मद्रव्य और जब स्थितिरूप होती है, तब अधर्मद्रव्य निमित्त है। (सूत्र १७)

(४) जीव द्रव्यसे नित्य है, उसकी सख्या एक सदृश रहनेवाली है और वह अरूपी है (सूत्र ४)

नोट —छहो द्रव्योका जो स्वरूप ऊपर न० (१) मे चार पहलुओसे बतलाया है वही स्वरूप प्रत्येक जीवद्रव्य के लागू होता है। अ० २ सूत्र ८ मे जीवका लक्षण उपयोग कहा जा चुका है।

(४) अजीवका स्वरूप

जिनमे ज्ञान नही है ऐसे अजीव द्रव्य पाँच है—१–एक धर्म, २–एक अधर्म, ३–एक आकाश, ४–अनेक पुद्गल तथा ५–असख्यात कालाणु (सूत्र १, ३९)। अत्र पाँच उपविभागो द्वारा उन पाँचो द्रव्योका स्वरूप कहा जाता है।

(अ) धर्मद्रव्य

धर्मद्रव्य एक, अजीव, बहुप्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६) वह नित्य, अवस्थित, अरूपी और हलन चलन रहित है (सूत्र ४, ७)। इसके लोका-काश जितने असख्य प्रदेश है और वह समस्त लोकाकाशमे व्याप्त है (सूत्र ८, १३) वह स्वय हलन चलन करनेवाले जीव तथा पुद्गलोको गति

मे निमित्त है (सूत्र १७)। उसे अवकाश देने मे आकाश निमित्त है और परिणमनमे काल निमित्त है (सूत्र १८, २२) अरूपी (सूक्ष्म) होने से धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाशमे एक समान (एक दूसरे को व्याघात पहुँचाये बिना) व्याप्त हो रहे है। (सूत्र १३)

(ब) अधर्म द्रव्य

उपरोक्त समस्त वाते अधर्मद्रव्य के भी लागू होती हैं इतनी विशेपता है कि धर्मद्रव्य जीव–पुद्गलोको गतिमे निमित्त है तब अधर्मद्रव्य ठहरे हुये जीव–पुद्गलो को स्थितिमे निमित्त है।

(क) आकाशद्रव्य

आकाशद्रव्य एक, अजीव, अनन्त प्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६, ९) नित्य अवस्थित, अरूपी और हलन चलन रहित है। (सूत्र ४, ७) अन्य पाँचो द्रव्योको अवकाश देनेमे निमित्त है। (सूत्र १८) उसके परिणमनमे कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र २२)। आकाश का सब से छोटा भाग प्रदेश है।

(ड) कालद्रव्य

कालद्रव्य प्रत्येक अणुरूप, अरूपी, अस्तिरूपसे किन्तु कायरहित, नित्य और अवस्थित अजीव पदार्थ है (सूत्र २, ३९, ४) वह समस्त द्रव्यो के परिणमनमे निमित्त है (सूत्र २२) कालद्रव्यको स्थान देनेमे आकाश द्रव्य निमित्त है (सूत्र १८) एक आकाशके प्रदेशमे रहे हुये अनन्त द्रव्यो के परिणमनमे एक कालाणु निमित्त होता है, इस कारणसे उसे उपचार से अनन्त समय कहा जाता है तथा भूत भविष्यकी अपेक्षासे अनन्त है। काल की एक पर्यायको समय कहते हैं। (सूत्र ४०)

(इ) पुद्गलद्रव्य

(१) यह पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं, वह प्रत्येक एक प्रदेशी है (सूत्र १, २, १०, ११)। उसमे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि विशेष गुण है अत वह रूपी है (सूत्र २३, ५) उन विशेष गुणोमे से स्पर्श गुणकी

स्निग्ध या रूक्षकी जब अमुक प्रकारकी अवस्था होती है तब बन्ध होता है (सूत्र ३३) बन्ध प्राप्त पुद्गलोको स्कध कहा जाता है। उनमेसे जीवके सयोगरूप होनेवाले स्कध शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूपसे परिणमते है (सूत्र २५, १९)। कितनेक स्कध जीवके सुख, दुःख, जीवन और मरणमे निमित्त होते है (सूत्र २०)।

(२) स्कन्धरूपसे परिणमे हुये परमाणु सख्यात असख्यात और अनत होते है। तथा बन्धकी ऐसी विशेषता है कि एक प्रदेशमे अनेक रहते हैं, अनेक स्कन्ध सख्यात प्रदेशोको और असख्यात प्रदेशोको रोकते हैं तथा एक महास्कध लोक प्रमाण असंख्यात आकाश के प्रदेशो को रोकता है (सू० १०, १४, १२)

(३) जिस पुद्गलकी स्निग्धता या रूक्षता जघन्यरूपसे हो वह बन्ध के पात्र नही तथा एक समान गुणवाले पुद्गलोका बन्ध नही होता (सू० ३४, ३५)। जघन्य गुणको छोडकर दो अश ही अधिक हो वहाँ स्निग्धका स्निग्ध के साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, तथा स्निग्ध रूक्षका परस्पर मे बन्ध होता है और जिसके अधिक गुण हो उसरूपसे समस्त स्कध हो जाता है (सू० ३६, ३७) स्कधकी उत्पत्ति परमाणुओके भेद (छूट पडनेसे—अलग होनेसे) सघात (मिलनेसे) अथवा एक ही समय दोनो प्रकारसे (भेद-सघातसे) होती है (सू० २६) और अणुकी उत्पत्ति भेदसे होती है (सू० २७) भेद सघात दोनोसे मिलकर उत्पन्न हुआ स्कध चक्षुइन्द्रियगोचर होता है (सू० २८) ।

(४) शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गलकी पर्यायें हैं।

(५) पुद्गल द्रव्यके हलन चलनमे धर्मद्रव्य और स्थितिमे अधर्मद्रव्य निमित्त है (सूत्र १७), अवगाहनमे आकाशद्रव्य निमित्त है और परिणमनमे कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र १८, २२) ।

(६) पुद्गल स्कधोको शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास रूप से परिणमाने मे जीव निमित्त है (सूत्र १९), बन्धरूप होने मे परस्पर निमित्त है (सूत्र ३३)।

नोट—स्निग्धता और रूक्षताके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते है। एक अविभागी अंशको गुण कहते हैं ऐसा यहाँ गुण शब्द का अर्थ है।

(५) स्याद्वाद सिद्धांत

प्रत्येक द्रव्य गुण–पर्यायात्मक है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् है, सप्त भंगस्वरूप है। इस तरह द्रव्यमे त्रिकाली अखंड स्वरूप और प्रत्येक समयमे प्रवर्तमान अवस्था–ऐसे दो पहलू होते हैं। पुनरपि स्वयं स्व से अस्ति-रूप है और परसे नास्तिरूप है। इसीलिये द्रव्य, गुण और पर्याय सब अनेकांतात्मक* (अनेक धर्मरूप) हैं। अल्पज्ञ जीव किसी भी पदार्थका विचार क्रम-पूर्वक करता है, परन्तु समस्त पदार्थको एक साथ विचारमे नही ले सकता, विचार मे आनेवाले पदार्थके भी एक पहलूका विचार कर सकता है और फिर दूसरे पहलूका विचार कर सकता है। इसप्रकार उसके विचार और कथनमे क्रम पडे विना नही रहता। इसीलिये जिस समय त्रिकाली ध्रुव पहलूका विचार करे तब दूसरे पहलू विचारके लिये मुल्तवी रहे। अत जिसका विचार किया जावे उसे मुख्य और जो विचारमे बाकी रहे उन्हे गौण किया जावे। इसप्रकार वस्तुके अनेकातस्वरूपका निर्णय करनेमे क्रम पडता है। इन अनेकातस्वरूप का कथन करनेके लिये तथा उसे समझनेके लिये उपरोक्त पद्धति ग्रहण करना, इसीका नाम 'स्याद्वाद' है। और वह इस अध्यायके ३२ वें सूत्रमे बताया है। जिससमय जिस पहलू (अर्थात् धर्म) को ज्ञानमे लिया जावे उसे 'अर्पित' कहा जाता है और उसी समय जो पहलू अर्थात् धर्म ज्ञानमे गौण रहे हो वह 'अनर्पित' कहलाता है। इस तरह समस्त स्वरूपकी सिद्धि–प्राप्ति–निश्चित–ज्ञान हो सकता है। उस निखिल पदार्थके ज्ञानको प्रमाण और एक धर्मके ज्ञानको नय कहते है, और 'स्यात् अस्ति-नास्ति' के भेदो द्वारा उसी पदार्थके ज्ञानको 'सप्तभंगी' स्व-रूप कहा जाता है।

(६) अस्तिकाय

छह द्रव्योमे से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये पांच

* अनेकात=अनेक + अन्त (धर्म)=अनेक धर्म।

अस्तिकाय है (सूत्र १, २, ३), और काल अस्ति है (सूत्र २, ३९) किंतु काय–बहुप्रदेशी नही है (सूत्र १)

(७) जीव और पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि १–२

(१) 'जीव' एक पद है और इसीलिये वह जगत् की किसी वस्तु को–पदार्थको बतलाता है, इसलिये अपने को यह विचार करना है कि वह क्या है। इसके विचारनेमे अपने को एक मनुष्यका उदाहरण लेना चाहिये जिससे विचार करने मे सुगमता हो।

(२) हमने एक मनुष्यको देखा, वहाँ सर्व प्रथम हमारी दृष्टि उसके शरीर पर पडेगी तथा यह भी ज्ञात होगा कि वह मनुष्य ज्ञान सहित पदार्थ भी है। ऐसा जो निश्चित् किया कि शरीर है वह इन्द्रियोसे निश्चित किया किंतु उस मनुष्य के ज्ञान है ऐसा जो निश्चय किया वह इन्द्रियोसे निश्चित् नही किया, क्योकि अरूपी ज्ञान इद्रियगम्य नही है, किन्तु उस मनुष्य के वचन, या शरीर की चेष्टा परसे निश्चय किया गया है। उनमे से इन्द्रियो द्वारा शरीरका निश्चय किया, इस ज्ञानको अपन इन्द्रियजन्य कहते है और उस मनुष्यमे ज्ञान होने का जो निश्चय किया सो अनुमानजन्य ज्ञान है।

(३) इसप्रकार मनुष्यमे हमे दो भेद मालूम हुए—१-इन्द्रियजन्य ज्ञानसे शरीर, २-अनुमान जन्य ज्ञानसे ज्ञान। फिर चाहे किसी मनुष्य के ज्ञान अल्पमात्रमे प्रगट हो या किसी के ज्यादा—विशेष ज्ञान प्रगट हो। हमे यह निश्चय करना चाहिये कि उन दोनो बातो के जानने पर वे दोनो एक ही पदार्थ के गुण है या भिन्न २ पदार्थों के वे गुण है ?

(४) जिस मनुष्यको हमने देखा उसके सम्बन्धमे निम्न प्रकार मे दृष्टात दिया जाता है।

(१) उस मनुष्यके हाथमे कुछ लगा और शरीर मे से खून निकलने लगा।

(२) उस मनुष्य ने रक्त निकलता हुआ जाना और वह रक्त तुरत ही बद हो जाय तो ठीक, ऐसी तीव्र भावना भाई।

(३) किन्तु उसी समय रक्त ज्यादा निकलने लगा और कई उपाय किये, किन्तु उसके वद होने मे वहुत समय लगा।

(४) रक्त वद होने के वाद हमे जल्दी आराम हो जाय ऐमी उस मनुष्य ने निरन्तर भावना करना जारी रखी।

(५) किन्तु भावना के अनुसार परिणाम निकलने के वदले मे वह भाग सडता गया।

(६) उस मनुष्यको शरीरमे ममत्वके कारण वहुत दु ख हुआ और उसे उस दुःखका अनुभव भी हुआ।

(७) दूसरे सगे सम्वन्धियोने यह जाना कि उस मनुष्यको दु ख होता है, किन्तु वे उस मनुष्यके दु ख के अनुभवका कुछ भी अश न ले सके।

(८) अतमे उसने हाथ के सडे हुए भागको कटवाया।

(९) वह हाथ कटा तथापि उस मनुष्यका ज्ञान उतना ही रहा और विशेष अभ्याससे ज्यादा वढ गया और वाकी रहा हुआ शरीर वहुत कमजोर होता गया तथा वजनमे भी घटता गया।

(१०) शरीर कमजोर हुआ तथापि उसके ज्ञानाभ्यासके वलसे धैर्य रहा और शाति वढी।

५—हमे यह जानना चाहिये कि ये दश वाते क्या सिद्ध करती है। मनुष्यमे विचार शक्ति (Reasoning Faculty) है और वह तो प्रत्येक मनुष्य के अनुभवगम्य है। अव विचार करने पर निम्न सिद्धात प्रगट होते हैं.—

(१) शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनो पृथक् २ पदार्थ हैं, क्योकि उस ज्ञान धारण करनेवाली वस्तुने 'खून तत्क्षण ही वद हो जाय तो ठीक हो' ऐसी इच्छा की तथापि खून वद नही हुआ, इतना ही नही किन्तु इच्छा से विरुद्ध शरीर की और खूनकी अवस्था हुई। यदि शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनो एक ही हो तो ऐसा न हो।

(२) यदि वह दोनो वस्तुये एक ही होती तो जव ज्ञान करनेवाले

ने इच्छा की उसी समय खून बन्द हो जाता।

(२) यदि वह दोनो एक ही वस्तु होती तो रक्त तुरत ही बंद हो जाता, इतना ही नही किन्तु ऊपर न० (४-५) मे बताये गये माफिक भावना करने के कारण शरीरका वह भाग भी नही सडता, इसके विपरीत जिस समय इच्छा की उस समय तुरन्त ही आराम हो जाता। किंतु दोनो पृथक् होने से वैसा नही होता।

(४) ऊपर न० (६-७) मे जो हकीकत बतलाई है वह सिद्ध करती है कि जिसका हाथ सडा है वह और उसके सगे सम्बन्धी सब स्वतत्र पदार्थ है। यदि वे एक ही होते तो वे उस मनुष्यका दु ख एक होकर भोगते और वह मनुष्य अपने दु खका भाग उनको देता अथवा घनिष्ठ सम्बन्धीजन उसका दु ख लेकर वे स्वय भोगते, किंतु ऐसा नही वन सकता, अत यह सिद्ध हुआ कि वे भी इस मनुष्यसे भिन्न स्वतत्र ज्ञानरूप और शरीर सहित व्यक्ति है।

(५) ऊपर न० (८-९) मे जो वृत्त बतलाया है यह सिद्ध करता है कि शरीर सयोगी पदार्थ है, इसीलिये हाथ जितना भाग उसमे से अलग हो सका। यदि वह एक अखड पदार्थ होता तो हाथ जितना टुकडा काटकर अलग न किया जा सकता। पुनश्च वह यह सिद्ध करता है कि शरीर से ज्ञान स्वतत्र है क्योकि शरीरका अमुक भाग कटाया तथापि उतने प्रमाणमे ज्ञान कम नही होता किन्तु उतना ही रहता है, और यद्यपि शरीर कमजोर होता जाय तथापि ज्ञान बढता जाता है अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि शरीर और ज्ञान दोनो स्वतत्र वस्तुऐ है।

(६) उपरोक्त न (१०) से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि ज्ञान वढा तो भी वजन नही वढा परन्तु ज्ञानके साथ सम्बन्ध रखनेवाले धैर्य, शाति आदिमे वृद्धि हुई, यद्यपि शरीर वजनमे घटा तथापि ज्ञानमे घटती नही हुई, इसलिये ज्ञान और शरीर ये दोनो भिन्न, स्वतत्र, विरोधी गुणवाले पदार्थ है। जैसे कि–(अ) शरीर वजन सहित और ज्ञान वजन रहित है (व) शरीर घटा, ज्ञान वढा, (क) शरीरका भाग कम हुआ, ज्ञान उतना ही रहा और फिर वढा, (ड) शरीर इन्द्रिय गम्य है, सयोगी है और अलग हो

सकता है, किसी दूसरी जगह उसका भाग अलग होकर रह सकता है, ज्ञान-वस्तु इन्द्रियगम्य नही किन्तु ज्ञानगम्य है उसके टुकडे या हिस्से नही हो सकते क्योकि वह असयोगी है, और सदा अपने द्रव्य-क्षेत्र (आकार) काल और भावोसे अपनेमे अखडित रहता है। और इसलिये उसका कोई भाग अलग होकर अन्यत्र नही रह सकता तथा किसी को दे नही सकता, (ङ) यह सयोगी पदार्थ से शरीर बना है, उसके टुकडे हिस्से हो सकते है, परतु ज्ञान नही मिलता, किसी सयोगसे कोई अपना ज्ञान दूसरे को दे नही सकता किन्तु अपने अभ्यास से ही ज्ञान बढा सकनेवाला, असयोगी और निजमें से आनेवाला होने से ज्ञान स्व के ही—आत्मा के ही आश्रित रहनेवाला है।

(७) 'ज्ञान' गुण वाचक नाम है', वह गुणी विना नही होता इसलिये ज्ञान गुणकी धारण करनेवाली ऐसी एक वस्तु है। उसे जीव, आत्मा, सचेतन पदार्थ, चैतन्य इत्यादि नामोसे पहिचाना जा सकता है। इस तरह जीव पदार्थ ज्ञान सहित, असयोगी, अरूपी और अपने ही भावोका अपनेमे कर्त्ता—भोक्ता सिद्ध हुआ और उससे विरुद्ध शरीर ज्ञान रहित, अजीव, सयोगी रूपी पदार्थ सिद्ध हुआ, वह पुद्‌गल नामसे पहचाना जाता है। शरीर के अतिरिक्त जो जो पदार्थ दृश्यमान होते है वे सभी शरीर की तरह पुद्‌गल ही है। और वे सव पुद्‌गल सदा अपने ही भावोका अपने मे कर्त्ता— भोक्ता हैं जीवसे सदा भिन्न होनेपर भी अपना कार्य करनेमे सामर्थ्यवान है।

(८) पुनश्च ज्ञानका ज्ञानत्व कायम रहकर उसमे हानि वृद्धि होती है। उस कमावेशीको ज्ञानकी तारतम्यतारूप अवस्था कहा जाता है। शास्त्रकी परिभाषामे उसे 'पर्याय' कहते है। जो नित्य ज्ञानत्व स्थिर रहता है सो 'ज्ञानगुण' है।

(९) शरीर सयोगी सिद्ध हुआ इसलिए वह वियोग सहित ही होता है। पुनश्च शरीरके छोटे २ हिस्से करें तो कई हो और जलाने पर राख हो। इसीलिये यह सिद्ध हुआ कि शरीर अनेक रजकणोका पिंड है। जैसे जीव और ज्ञान इंद्रियगम्य नही किंतु विचार (Reasoning) गम्य है उसी तरह पुद्‌गलरूप अविभागी रजकण भी इंद्रियगम्य नही किंतु ज्ञानगम्य है।

(१०) शरीर यह मूल वस्तु नही किन्तु अनेक रजकणोका पिंड है

और रजकरण स्वतत्र वस्तु है अर्थात् असयोगी पदार्थ है। और स्वयं परिणमनशील है।

(११) जीव और रजकण असयोगी है अत यह सिद्ध हुआ कि वे अनादि अनन्त हैं, क्योकि जो पदार्थ किसी सयोगसे उत्पन्न न हुआ हो उसका कदापि नाश भी नही होता।

(१२) शरीर एक स्वतत्र पदार्थ नही है किंतु अनेक पदार्थोंकी सयोगी अवस्था है। अवस्था हमेशा प्रारभ सहित ही होता है इसलिये शरीर शुरुआत–प्रारम्भ सहित है। वह सयोगी होनेसे वियोगी भी है।

६—जीव अनेक और अनादि अनन्त है तथा रजकरण अनेक और अनादि अनन्त है। एक जीव किसी दूसरे जीवके साथ पिंडरूप नही हो सकता, परन्तु स्पर्शके कारण रजकण पिंडरूप होता है। अत यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यका लक्षरण सत्, अनेक द्रव्य, रजकण, उसके स्कध, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य इत्यादि विषय इस अध्यायमे कहे गये है।

७—इस तरह जीव और पुद्गलका पृथक्त्व तथा अनादि अनन्तत्व सिद्ध होने पर निम्न लौकिक मान्यतायें असत्य ठहरती है—

(१) अनेक रजकणोके एकमेक रूप होनेपर उनमेसे नया जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता असत्य है क्योकि रजकरण सदा ज्ञान रहित जड हैं इसीलिये ज्ञान रहित कितने भी पदार्थोका सयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नही होता। जैसे अनेक अंधकारोके एकत्रित करने पर उनमेसे प्रकाश नही होता उसी तरह अजीवमेसे जीवकी उत्पत्ति नही होती।

(२) ऐसी मान्यता असत्य है कि जीवका स्वरूप क्या है वह अपने को मालुम नही होता, क्योकि ज्ञान क्या नही जानता? ज्ञानकी रुचि बढानेपर आत्माका स्वरूप बराबर जाना जा सकता है। इसलिये यह विचार से गम्य है (Reasoning—दलीलगम्य) है ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

(३) कोई ऐसा मानते है कि जीव और शरीर ईश्वरने बनाये, किंतु यह मान्यता असत्य है, क्योकि दोनो पदार्थ अनादि अनत है, अनादि अनन्त पदार्थोंका कोई कर्ता हो ही नही सकता।

सकता है, किसी दूसरी जगह उसका भाग अलग होकर रह सकता है, ज्ञान-वस्तु इन्द्रियगम्य नही किन्तु ज्ञानगम्य है उसके टुकडे या हिस्से नही हो सकते क्योकि वह असयोगी है, और सदा अपने द्रव्य-क्षेत्र (आकार) काल और भावोसे अपनेमे अखडित रहता है। और इसलिये उसका कोई भाग अलग होकर अन्यत्र नही रह सकता तथा किसी को दे नही सकता, (इ) यह सयोगी पदार्थ से शरीर बना है, उसके टुकडे हिस्से हो सकते है, परतु ज्ञान नही मिलता, किसी सयोगसे कोई अपना ज्ञान दूसरे को दे नही सकता किन्तु अपने अभ्यास से ही ज्ञान बढा सकनेवाला, असयोगी और निजमे से आनेवाला होने से ज्ञान स्व के ही—आत्मा के ही आश्रित रहनेवाला है।

(७) 'ज्ञान' गुण वाचक नाम है', वह गुणी बिना नही होता इसलिये ज्ञान गुणकी धारण करनेवाली ऐसी एक वस्तु है। उसे जीव, आत्मा, सचेतन पदार्थ, चैतन्य इत्यादि नामोसे पहिचाना जा सकता है। इस तरह जीव पदार्थ ज्ञान सहित, असयोगी, अरूपी और अपने ही भावोका अपने मे कर्त्ता—भोक्ता सिद्ध हुआ और उससे विरुद्ध शरीर ज्ञान रहित, अजीव, सयोगी रूपी पदार्थ सिद्ध हुआ, वह पुद्गल नामसे पहचाना जाता है। शरीर के अतिरिक्त जो जो पदार्थ दृश्यमान होते है वे सभी शरीर की तरह पुद्गल ही है। और वे सब पुद्गल सदा अपने ही भावोका अपने मे कर्त्ता—भोक्ता हैं जीवसे सदा भिन्न होनेपर भी अपना कार्य करनेमे सामर्थ्यवान है।

(८) पुनश्च ज्ञानका ज्ञानत्व कायम रहकर उसमे हानि वृद्धि होती है। उस कमावेशीको ज्ञानकी तारतम्यतारूप अवस्था कहा जाता है। शास्त्रकी परिभाषामे उसे 'पर्याय' कहते हैं। जो नित्य ज्ञानत्व स्थिर रहता है सो 'ज्ञानगुण' है।

(९) शरीर सयोगी सिद्ध हुआ इसलिए वह वियोग सहित ही होता है। पुनश्च शरीरके छोटे २ हिस्से करें तो कई हो और जलाने पर राख हो। इसीलिये यह सिद्ध हुआ कि शरीर अनेक रजकणोका पिंड है। जैसे जीव और ज्ञान इद्रियगम्य नही किंतु विचार (Reasoning) गम्य है उसी तरह पुद्गलरूप अविभागी रजकण भी इद्रियगम्य नही किंतु ज्ञानगम्य है।

(१०) शरीर यह मूल वस्तु नही किन्तु अनेक रजकणोका पिंड है

और रजकण स्वतत्र वस्तु है अर्थात् असयोगी पदार्थ है। और स्वयं परिणामनशील है।

(११) जीव और रजकण असयोगी है अत यह सिद्ध हुआ कि वे अनादि अनन्त हैं, क्योकि जो पदार्थ किसी सयोगसे उत्पन्न न हुआ हो उसका कदापि नाश भी नही होता।

(१२) शरीर एक स्वतत्र पदार्थ नही है किंतु अनेक पदार्थोंकी सयोगी अवस्था है। अवस्था हमेशा प्रारभ सहित ही होता है इसलिये शरीर शुरुआत–प्रारम्भ सहित है। वह सयोगी होनेसे वियोगी भी है।

६—जीव अनेक और अनादि अनन्त है तथा रजकण अनेक और अनादि अनन्त है। एक जीव किसी दूसरे जीवके साथ पिडरूप नही हो सकता, परन्तु स्पर्शके कारण रजकण पिडरूप होता है। अत यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यका लक्षण सत्, अनेक द्रव्य, रजकण, उसके स्कध, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य इत्यादि विषय इस अध्यायमे कहे गये है।

७—इस तरह जीव और पुद्गलका पृथक्त्व तथा अनादि अनन्तत्व सिद्ध होने पर निम्न लौकिक मान्यतायें असत्य ठहरती है—

(१) अनेक रजकणोके एकमेक रूप होनेपर उनमेसे नया जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता असत्य है क्योकि रजकण सदा ज्ञान रहित जड हैं इसीलिये ज्ञान रहित कितने भी पदार्थोंका सयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नही होता। जैसे अनेक अंधकारोके एकत्रित करने पर उनमेसे प्रकाश नही होता उसी तरह अजीवमेसे जीवकी उत्पत्ति नही होती।

(२) ऐसी मान्यता असत्य है कि जीवका स्वरूप क्या है वह अपने को मालुम नही होता, क्योकि ज्ञान क्या नही जानता ? ज्ञानकी रुचि बढानेपर आत्माका स्वरूप बराबर जाना जा सकता है। इसलिये यह विचार से गम्य है (Reasoning—दलीलगम्य) है ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

(३) कोई ऐसा मानते है कि जीव और शरीर ईश्वरने बनाये, किंतु यह मान्यता असत्य है, क्योकि दोनो पदार्थ अनादि अनत है, अनादि अनन्त पदार्थोंका कोई कर्ता हो ही नही सकता।

८—उपरोक्त पैरा ४ के पैरेमें जो १० उप पैरा दिया है उस परसे यह सिद्ध होता है कि यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता है अथवा शरीर जीवका कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता मिथ्या है। इस विषयका सिद्धान्त इस अध्यायके सूत्र ४१ की टीकामें भी दिया है।

(८) उपादान-निमित्त संबंधी सिद्धांत

जीव, पुद्गलके अतिरिक्त दूसरे चार द्रव्योंकी सिद्धि करनेसे पहले हमें उपादान निमित्तके सिद्धांतको और उसकी सिद्धिको समझ लेना आवश्यक है। उपादान अर्थात् वस्तुकी सहज शक्ति—निजशक्ति और निमित्तका अर्थ है संयोगरूप परवस्तु।

इसका दृष्टांत—एक मनुष्यका नाम देवदत्त है, उसका यह अर्थ है कि देवदत्त स्वयं स्व से स्व-रूप है किंतु वह यज्ञदत्त इत्यादि किसी दूसरे पदार्थ रूप नहीं है, ऐसा समझनेसे दो पदार्थ भिन्नरूपसे सिद्ध होते हैं.१—देवदत्त स्वयं २—यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ। देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें दो कारण हुये—(१) देवदत्त स्वयं (२) यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ जो जगत्में सद्भावरूप हैं किन्तु उनका देवदत्तमें अभाव। इन दो कारणोंमें देवदत्तका स्वयंका अस्तित्व निजशक्ति होने से मूलकारण अर्थात् उपादान-कारण है और जगत्के यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंका अपने-अपनेमें सद्भाव और देवदत्तमें अभाव वह देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें निमित्त कारण है। यदि इस तरह न माना जाये और यज्ञदत्त आदि अन्य किसी भी पदार्थका देवदत्तमें सद्भाव माना जावे तो वह भी देवदत्त हो जायगा। ऐसा होनेसे देवदत्तकी स्वतंत्रसत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी।

पुनश्च यदि यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंकी सत्ता ही—सद्भाव ही न मानें तो देवदत्तका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक मनुष्यको दूसरेसे भिन्न बतानेके लिये उसे देवदत्त कहा, इसलिये देवदत्तके सत्ता-रूपमें देवदत्त मूल उपादानकारण और जिससे उसे पृथक् बतलाया वैसे अन्य पदार्थ सो निमित्त कारण है—इससे ऐसा नियम भी सिद्ध हुआ कि निमित्त-कारण उपादानके लिये अनुकूल होता है किन्तु प्रतिकूल नहीं होता। देव-दत्तके देवदत्तपनेमें परद्रव्य उसके अनुकूल हैं, क्योंकि वे देवदत्तरूप नहीं

होते। यदि वे देवदत्तरूप मे हो जाये तो प्रतिकूल हो जाये और ऐसा होने पर दोनोका (देवदत्त और परका) नाश हो जाए ।

इसतरह दो सिद्धात निश्चित हुए—(१) प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की जो स्व से अस्ति है सो उपादानकारण है और परद्रव्य-गुण-पर्याय की जो उसमे नास्ति है सो निमित्तकारण है, निमित्तकारण तो मात्र आरोपित कारण है, यथार्थ कारण नही है, तथा वह उपादानकारणको कुछ भी नही करता। जीवके उपादानमे जिस जातिका भाव हो उस भावको अनुकूलरूप होनेका निमित्तमे आरोप किया जाता है। सामने सत् निमित्त हो तथापि कोई जीव यदि विपरीत भाव करे तो उस जीवके विरुद्धभावमे भी उपस्थित वस्तुको अनुकूल निमित्त बनाया—ऐसा कहा जाता है। जैसे कोई जीव तीर्थंकर भगवानके समवशरणमे गया और दिव्यध्वनिमे वस्तुका जो यथार्थस्वरूप कहा गया वह सुना, परन्तु उस जीवके गलेमे बात नही उतरी अर्थात् स्वय समझा नही इसलिये वह विमुख हो गया तो कहा जाता है कि उस जीवने अपने विपरीत भावके लिये भगवान की दिव्यध्वनिको अनुकूल निमित्त बनाया।

(६) उपरोक्त सिद्धांतके आधारसे जीव, पुद्गलके अतिरिक्त चार द्रव्यों की सिद्धि

दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोमे चार बाते देखनेमे आती है, (१) ऐसा देखा जाता है कि वह पदार्थ ऊपर, नीचे, यहाँ, वहाँ है। (२) वही पदार्थ अभी, फिर, जब, तब, तभीसे अभीतक—इसतरह देखा जाता है (३) वही पदार्थ स्थिर, स्तब्ध, निश्चल इस तरहसे देखा जाता है और (४) वही पदार्थ हिलता–डुलता, चचल, अस्थिर देखा जाता है। यह चार बाते पदार्थों को देखनेपर स्पष्ट समझमे आती है, तो भी इन विषयो द्वारा पदार्थोंकी किंचित् आकृति नही बदलती। उन उन कार्योंका उपादान कारण तो वह प्रत्येक द्रव्य है, किन्तु उन चारो प्रकारकी क्रिया भिन्न भिन्न प्रकार की होनेसे उस क्रियाके सूचक निमित्त कारण पृथक् ही होते है।

इस सम्बन्धमे यह ध्यान रखना कि किसी पदार्थमे पहली, दूसरी

और तीसरी अथवा पहली, दूसरी और चौथी बाते एक साथ देखी जाती हैं। किन्तु तीसरी, चौथी और पहली अथवा तीसरी चौथी और दूसरी यह बाते कभी एक साथ नही होती।

अब हमे एक एक बारेमे क्रमश देखना चाहिये।

अ. आकाश की सिद्धि—२

जगत् की प्रत्येक वस्तुको अपना क्षेत्र होता है अर्थात् उसे लम्बाई-चौडाई होती है यानी उसे अपना अवगाहन होता है। वह अवगाहन अपना उपादान कारण हुआ और उसमे निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु होती है।

निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि उसके साथ उपादान वस्तु अवगाहनमे एकरूप न हो जाय। उपादान स्वय अवगाहनरूप है तथापि अवगाहनमे जो परद्रव्य निमित्त है, उससे वह विभिन्नरूपमे कायम रहे, अर्थात् परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य स्व-स्व के अवगाहनमे ही है।

पुनश्च, वह वस्तु जगत्के समस्त पदार्थोंको एक साथ निमित्त कारण चाहिये, क्योकि जगत्के समस्त पदार्थ अनादि हैं और सभी के अपना-अपना क्षेत्र है, वह उसका अवगाहन है। अवगाहनमे निमित्त होने वाली वस्तु समस्त अवगाहन लेनेवाले द्रव्योसे वडी चाहिये। जगत्मे ऐसी एक वस्तु अवगाहनमे निमित्तकारणरूप है, उसे 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है।

और फिर जगत्मे सूक्ष्म, स्थूल ऐसे दो प्रकारके तथा रूपी और अरूपी ऐसे दो प्रकार के पदार्थ हैं। उन उपादानरूप पदार्थोंके निमित्त रूप से अनुकूल कोई परद्रव्य होना चाहिये और उसका उपादानसे अभाव चाहिये, और फिर अवाधित अवगाहन देनेवाला पदार्थ अरूपी ही हो सकता है। इस तरह आकाश एक, सर्व व्यापक, सबसे बडा, अरूपी और अनादि द्रव्यरूप सिद्ध होता है।

यदि आकाश द्रव्यको न माना जावे तो द्रव्यमे स्व क्षेत्रत्व नही रहेगा और ऊपर नीचे—यहाँ—वहाँ ऐसा निमित्तका ज्ञान करानेवाला स्थान नही रहेगा। अल्पज्ञानवाले मनुष्यको निमित्त द्वारा ज्ञान कराये बिना वह उपादान

और निमित्त दोनो का यथार्थ ज्ञान नही कर सकता इतना ही नही किन्तु यदि उपादानको न माने तो निमित्तको भी नही मान सकेगे और निमित्तको न माने तो वह उपादानको नही मान सकेगा। दोनो के यथार्थ रूपसे माने विना यथार्थ ज्ञान नही हो सकेगा, इस तरह उपादान और निमित्त दोनो को शून्यरूपसे अर्थात् नही होने रूपसे मानना पडेगा और इस तरह समस्त पदार्थोंको शून्यत्व प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा बन ही नही सकता।

ब. काल की सिद्धि—४

द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था छोडकर दूसरी अवस्था रूपसे होता है, उसे वर्तना कहते है। इस वर्तनामे उस वस्तुकी निज शक्ति उपादान कारण है, क्योकि यदि निजमे वह शक्ति न हो तो स्वय न परिणमे। पहिले यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्यके लिये दो कारण स्वतत्र रूपसे होते है, इसीलिये निमित्त कारण सयोगरूपसे होना चाहिये। अत उस वर्तनामे निमित्त कारण एक वस्तु है उस वस्तुको 'काल द्रव्य' कहा जाता है और फिर निमित्त अनुकूल होता है। सबसे छोटा द्रव्य एक रजकण है, इसलिये उसे निमित्त कारण भी एक रजकण बराबर चाहिये। अत. यह सिद्ध हुआ कि कालाणु एक प्रदेशी है।

प्रश्न—यदि काल द्रव्यको अणुप्रमाण न माने और वडा माने तो क्या दोष लगेगा?

उत्तर—उस अणुके परिणमन होने मे छोटे से छोटा समय न लगकर अधिक समय लगेगा और परिणमन शक्ति के अधिक समय लगेगा तो निज शक्ति न कहलायगी। पुनश्च अल्पसे अल्प काल एक समय जितना न होने से काल द्रव्य वडा हो तो उसकी पर्याय वडी होगी। इस तरह दो समय, दो घटे, क्रमश न होकर एक साथ होगे जो बन नही सकते। एक एक समय करके कालको वडा माने तो ठीक हे किन्तु एक साथ लम्बा काल (अधिक समय) नही हो सकता। यदि ऐसा हो तो किसी भी समय की गिनती न हो सके।

प्रश्नः—यह सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य एक प्रदेशी है उससे वडा

नही, परन्तु ऐसा किस लिये मानना कि कालाणु समस्त लोकमे हैं ?

उत्तरः—जगतमे आकाशके एक २ प्रदेश पर अनेक पुद्गल परमाणु और उतने ही क्षेत्रको रोकनेवाले सूक्ष्म अनेक पुद्गल स्कंध है और उनके परिणमनमे निमित्त कारण प्रत्येक आकाशके प्रदेशमे एक एक कालाणु होना सिद्ध होता है।

प्रश्नः—एक आकाशके प्रदेशमे अधिक कालाणु स्कंधरूप मानने मे क्या विरोध आता है ?

उत्तरः—जिसमे स्पर्श गुण हो उसीमे स्कंधरूप बंध होता है और वह तो पुद्गल द्रव्य है। कालाणु पुद्गल द्रव्य नही, अरूपी है, इसलिये उसका स्कंध ही नही होता।

क. अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकाय की सिद्धि ५-६

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे क्रियावती शक्ति होने से उनके हलन चलन होता है, किन्तु वह हलन चलन रूप क्रिया निरन्तर नही होती। वे किसी समय स्थिर होते और किसी समय गतिरूप होते हैं, क्योंकि स्थिरता या हलन चलन रूप क्रिया गुण नही है किन्तु क्रियावती शक्तिकी पर्याय है। उस क्रियावती शक्तिकी स्थिरता रूप परिणमनका मूलकारण द्रव्य स्वयं है, उसका निमित्तकारण उससे अन्य चाहिये। यह पहले बताया गया है कि जगतमे निमित्तकारण होता ही है। इसीलिये जो स्थिरतारूप परिणमन का निमित्त कारण है उस द्रव्यको अधर्मद्रव्य कहते हैं। क्रियावती शक्तिके हलन-चलनरूप परिणमनका मूलकारण द्रव्य स्वयं है और हलन चलनमे जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। हलन चलनका निमित्त कारण अधर्मद्रव्यसे विपरीत चाहिये और वह धर्मद्रव्य है।

(१०) इन छह द्रव्योंके एक ही जगह होने की सिद्धि

हमने पहले जीव-पुद्गल की सिद्धि करने मे मनुष्यका दृष्टांत लिया था उस परसे यह सिद्धि सरल होगी।

(१) जीव ज्ञानगुण धारक पदार्थ है।

(२) यह शरीर यह सिद्ध करता है कि शरीर सयोगी, जड, रूपी पदार्थ है, यह भी उसी जगह है, इसका मूल अनादि-अनत पुद्गल द्रव्य है।

(३) वह मनुष्य आकाश के किसी भागमे हमेशा होता है, इसीलिये उसी स्थान पर आकाश भी है।

(४) उस मनुष्यकी एक अवस्था दूर होकर दूसरी अवस्था होती है। इस अपेक्षासे उसी स्थानपर काल द्रव्य के अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

(५) उस मनुष्यके जीवके असख्यात प्रदेशमे समय समय पर एक क्षेत्रावगाह रूपसे नोकर्म वर्गणाए और नवीन-नवीन कर्म बँधकर वहाँ स्थिर होते है, इस दृष्टिमे उसी स्थान पर अधर्मद्रव्य की सिद्धि होती है।

(६) उस मनुष्यके जीवके असख्यात प्रदेश की साथ प्रतिसमय अनेक परमाणु आते जाते है, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर धर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

इस तरह छहो द्रव्योका एक क्षेत्रमे अस्तित्व सिद्ध हुआ।

(११) अन्य प्रकार से छह द्रव्यों के अस्तित्वकी सिद्धि

१–२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य

जो स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं ऐसे शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकडी इत्यादि मे ज्ञान नही है अर्थात् वे अजीव हैं, इन पदार्थोंको तो अज्ञानी भी देखता है। उन पदार्थों मे वृद्धि-ह्रास होता रहता है अर्थात् वे मिल जाते हैं और बिछुड जाते है। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थो को पुद्गल कहा जाता है। वर्ण, गध, रस और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्यके गुण हैं, इसी-लिये पुद्गल द्रव्य काला-सफेद, सुगन्ध-दुर्गंध, खट्टा-मीठा, हल्का-भारी, इत्यादि रूपसे जाना जाता है, यह सब पुद्गलकी ही अवस्थाये है। जीव तो काला-सफेद, सुगधित-दुर्गंधित, इत्यादि रूपसे नही है, जीव तो ज्ञान-वाला है। शब्द सुनाई देता है या बोला जाता है वह भी पुद्गलकी ही हालत है। उन पुद्गलोसे जीव अलग है। जगतमे किसी अचेत मनुष्यको देखकर कहा जाता है कि इसका चेतन कहाँ चला गया? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है, वह तो जानता नही, किन्तु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया? अर्थात् जीव कहाँ गया? इसमे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यो की सिद्धि हुई।

३—आकाशद्रव्य

लोग अव्यक्तरूपसे यह तो स्वीकार करते है कि 'आकाश' नामका द्रव्य है। दस्तावेजोमे ऐसा लिखते है कि "अमुक मकान इत्यादि स्थानका आकाशसे पाताल पर्यंत हमारा हक है" अर्थात् यह निश्चय हुआ कि आकाश से पाताल रूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाश से पाताल पर्यंत कोई वस्तु ही न हो तो ऐसा क्यो लिखा जाता है कि 'आकाशसे पाताल तक का हक (-दावा) है? वस्तु है इसलिये उसका हक माना जाता है। आकाशसे पाताल तक अर्थात् सर्वव्यापी रही हुई वस्तुको 'आकाश द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञान रहित और अरूपी है, उसमे रग, रस वगैरह नही है।

४—कालद्रव्य

जीव, पुद्गल और आकाश द्रव्यको सिद्ध किया, अब यह सिद्ध किया जाता है कि 'काल' नामकी एक वस्तु है। लोग दस्तावेज कराते और उसमे लिखाते है कि "यावत् चद्रदिवाकरौ जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तब तक हमारा हक है।" इसमे काल द्रव्य को स्वीकार किया। इसी समय ही हक है ऐसा नही किन्तु काल जैसा बढता जाता है उस समस्त काल मे हमारा हक है, इस प्रकार कालको स्वीकार करता है। "हमारा वैभव भविष्यमे ऐसा ही बना रहो"—इस भावनामे भी भविष्यत कालको भी स्वीकार किया, और फिर ऐसा कहते हैं कि 'हम तो सात पैढीसे सुखी है, वहाँ भी भूतकाल स्वीकार करता है। भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यतकाल ये समस्त भेद निश्चय कालद्रव्यकी व्यवहार पर्याय के हैं। यह काल द्रव्य भी अरूपी है और उसमे ज्ञान नही है।

इसतरह जीव, पुद्गल, आकाश और काल द्रव्यकी सिद्धि हुई। अब धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य शेष रहे।

५—धर्मद्रव्य

जीव इस धर्म द्रव्यको भी अव्यक्तरूपसे स्वीकार करता है। छहो द्रव्योके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नही चल सकता। आना, जाना, रहना इत्यादि सभीमे छहो द्रव्योकी अस्ति सिद्ध हो जाती है।

चार द्रव्य तो सिद्ध हो चुके है अब बाकीके दो द्रव्य सिद्ध करना है। यह कहनेमे धर्म द्रव्य सिद्ध हो जाता है कि 'एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया।' एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया इसका क्या अर्थ है ? यानि जीव और शरीरके परमाणुओकी गति हुई, एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलनेके कार्यमे किस द्रव्यको निमित्त कहेगे ? क्योकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य मे उपादान और निमित्त कारण होता ही है। यह विचार करते है कि जीव और पुद्गलोको एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आनेमे निमित्त कौनसा द्रव्य है। प्रथम तो 'जीव और पुद्गल ये उपादान है' उपादान स्वय निमित्त नही कहलाता। निमित्त तो उपादानसे भिन्न ही होता है, इसलिये जीव या पुद्गल ये क्षेत्रातर के निमित्त नही। काल द्रव्य तो परिणमनमे निमित्त है अर्थात् पर्याय बदलनेमे निमित्त है कितु काल द्रव्य क्षेत्रातरका निमित्त नही है, आकाश द्रव्य समस्त द्रव्योको रहनेके लिये स्थान देता है जब ये पहले क्षेत्रमे थे तब भी जीव और पुद्गलोको आकाश निमित्त था और दूसरे क्षेत्रमे भी वही निमित्त है, इसलिए आकाशको भी क्षेत्रातरका निमित्त नही कह सकते। तो फिर यह निश्चित होता है कि क्षेत्रातररूप जो कार्य हुआ उसका निमित्त इन चार द्रव्यो के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करनेमे कोई एक द्रव्य निमित्तरूपसे है किन्तु वह कौनसा द्रव्य है इसका जीवने कभी विचार नही किया, इसीलिये उसकी खबर नही है। क्षेत्रातर होनेमे निमित्तरूप जो द्रव्य है उस द्रव्यको 'धर्म-द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

६—अधर्मद्रव्य

जिस तरह गति करनेमे धर्म द्रव्य निमित्त है उसीतरह स्थितिमे उससे विरुद्ध अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। "एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे आकर स्थिर रहा" यहाँ स्थिर रहनेमे निमित्त कौन है ? आकाश स्थिर रहनेमे निमित्त नही है, क्योकि आकाशका निमित्त तो रहनेके लिये है, गति के समय भी रहनेमे आकाश निमित्त था, इसीलिये स्थितिका निमित्त कोई अन्य द्रव्य चाहिये वह द्रव्य 'अधर्म द्रव्य' है। यह भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

इसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यो की सिद्धि की। इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य है ही नही, और इन छहमेसे एक भी न्यून नही है, बराबर छह ही द्रव्य है और ऐसा माननेसे ही यथार्थ वस्तुकी सिद्धि होती है। यदि इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य हो तो यह बताओ कि उसका क्या कार्य है? ऐसा कोई कार्य नही है जो इन छह से बाहर हो, इसलिये सातवाँ द्रव्य है ही नही। यदि इन छह द्रव्यो मेसे एक भी कम हो तो यह बताओ कि उसका कार्य कौन करेगा? छह द्रव्योमे से एक भी द्रव्य ऐसा नही कि जिसके बिना विश्व नियम चल सके।

छह द्रव्य संबंधी कुछ जानकारी

१—**जीव**—इस जगतमे अनन्त जीव हैं। ज्ञातृत्व चिह्नके (विशेष गुणके) द्वारा जीव पहचाना जाता है। क्योकि जीवके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमे ज्ञातृत्व नही है। जीव अनन्त है, वे सभी एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न है। सदैव जाननेवाले हैं।

२—**पुद्गल**—इस जगतमे अनन्तानन्त पुद्गल है। वह अचेतन है, स्पर्श, रस, गध और वर्णके द्वारा पुद्गल पहचाना जाता है, क्योकि पुद्गल के सिवाय अन्य किसी पदार्थमे स्पर्श, रस, गन्ध या वर्ण नही है। जो इन्द्रियोके द्वारा जाने जाते हैं वे सब पुद्गलके बने हुए स्कध हैं।

३—**धर्म**—यहाँ धर्म कहनेसे आत्माका धर्म नही किन्तु 'धर्म' नामका द्रव्य समझना चाहिए। यह द्रव्य एक अखण्ड और समस्त लोकमे व्याप्त है। जीव और पुद्गलोके गमन करते समय यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है।

४—**अधर्म**—यहाँ अधर्म कहनेसे आत्माका दोष नही किंतु अधर्म नामका द्रव्य समझना चाहिए। यह एक अखण्ड द्रव्य है जो समस्त लोकमे व्याप्त है। जीव और पुद्गल गमन करके जब स्थिर होते हैं तब यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है।

५—**आकाश**—यह एक अखड सर्वव्यापक द्रव्य है। समस्त पदार्थोंको स्थान देनेमे यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता हैं। इस द्रव्यके

जितने भागमे अन्य पाँचो द्रव्य रहते हैं उतने भागको 'लोकाकाश' कहा जाता है और जितना भाग अन्य पाँचों द्रव्योसे रिक्त है उसे 'अलोकाकाश' कहा जाता है। खाली स्थानका अर्थ होता है 'अकेला आकाश।'

६—**काल**–असख्य काल द्रव्य है। इस लोकके असख्य प्रदेश है, उस प्रत्येक प्रदेशपर एक एक काल द्रव्य रहा हुआ है। असख्य कालाणु है वे सब एक दूसरेसे अलग है। वस्तुके रूपान्तर (परिवर्तन) होनेमे यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है। [जीव द्रव्य के अतिरिक्त यह पाँचो द्रव्य सदा अचेतन है,] उनमे ज्ञान, सुख-या दु ख कभी नही है।

इन छह द्रव्योको सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नही जान सकता। सर्वज्ञदेवने ही इन छह द्रव्योको जाना है और उन्हीने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है, इसीलिये सर्वज्ञके सत्यमार्गके अतिरिक्त अन्य कोई मतमे छह द्रव्योका स्वरूप हो ही नही सकता, क्योकि दूसरे अपूर्ण (अल्पज्ञ) जीव उन द्रव्योको नही जान सकते, इसलिए छह द्रव्योके स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करना चाहिए।

टोपीके दृष्टांतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१) देखो यह कपडेकी टोपी है, यह अनन्त परमाणुओसे मिलकर बनी है और इसके फट जाने पर परमाणु अलग हो जाते हैं। इसतरह मिलना और बिछुडना पुद्गलका स्वभाव है। पुनश्च यह टोपी सफेद है, दूसरी कोई काली, लाल आदि रगकी भी टोपी होती है, रग पुद्गल द्रव्य का चिह्न है, इसलिये जो दृष्टिगोचर होता है वह पुद्गल द्रव्य है।

(२) 'यह टोपी है पुस्तक नही' ऐसा जाननेवाला ज्ञान है और ज्ञान जीवका चिह्न है, अत जीव भी सिद्ध हुआ।

(३) अब यह विचारना चाहिये कि टोपी कहाँ रही हुई है? यद्यपि निश्चय से तो टोपी टोपीमे ही है, किन्तु टोपी टोपीमे ही है यह कहनेसे टोपी का बराबर ख्याल नही आ सकता, इसलिए निमित्तरूपसे यह पहचान कराई जाती है कि "अमुक स्थानमे टोपी रही हुई है।" जो स्थान कहा जाता है वह आकाश द्रव्यका अमुक भाग है, अत आकाशद्रव्य सिद्ध हुआ।

(४) अब यह टोपी दुहरी मुड जाती है जब टोपी सीधी थी तब आकाशमे थी और जब मुड गई तब भी आकाशमे ही है, अत आकाश के निमित्त द्वारा टोपीका दुहरापन नही जाना जा सकता। तो फिर टोपीकी दुहरे होनेकी क्रिया हुई अर्थात् पहले उसका क्षेत्र लम्बा था, अब वह थोडे क्षेत्र मे रही हुई है—इस तरह टोपी क्षेत्रान्तर हुई है और क्षेत्रांतर होने मे जो वस्तु निमित्त है वह धर्मद्रव्य है।

(५) अब टोपी टेढी मेढी स्थिर पडी है। तो यहाँ स्थिर होनेमे उसे निमित्त कौन है ? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान देनेमे निमित्त है। टोपी चले या स्थिर रहे इसमे आकाशका निमित्त नही है। जब टोपीने सीधी दशा मे से टेढी अवस्थारूप होनेके लिये गमन किया तब धर्मद्रव्यका निमित्त था, तो अब स्थिर रहनेकी क्रियामे उसके विरुद्ध निमित्त चाहिए। गतिमे धर्म-द्रव्य निमित्त था तो अब स्थिर रहनेमे अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है।

(६) टोपी पहले सीधी थी इस समय टेढी है और वह अमुक समय तक रहेगी—ऐसा जाना, वहाँ 'काल' सिद्ध हो गया। भूत, वर्तमान, भविष्य अथवा पुराना-नया, दिवस घटा इत्यादि जो भेद होते हैं वे भेद किसी एक मूल वस्तुके विना नही हो सकते, अत भेद—पर्यायरूप व्यवहारकालका आधार—कारण-निश्चय कालद्रव्य सिद्ध हुआ। इसतरह टोपी परसे छह द्रव्य सिद्ध हुए।

इन छह द्रव्योमेसे एक भी द्रव्य न हो तो जगत्का व्यवहार नही चल सकता। यदि पुद्गल न हो तो टोपी ही न हो। यदि जीव न हो तो टोपीके अस्तित्वका निश्चय कौन करे ? यदि आकाश न हो तो यह पहचान नही हो सकती कि टोपी कहाँ है ? यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न हो तो टोपीमे हुआ फेरफार (क्षेत्रांतर और स्थिरता) मालूम नही हो सकता और यदि काल द्रव्य न हो तो पहले जो टोपी सीधी थी वही इस समय टेढी है, ऐसा पहले और पीछे टोपीका अस्तित्व निश्चित नही हो सकता, अत टोपीको सिद्ध करनेके लिए छहो द्रव्योको स्वीकार करना पडता है। जगतकी किसी भी एक वस्तुको स्वीकार करनेसे व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे छहो द्रव्योका स्वीकार हो जाता है।

मनुष्य शरीरके दृष्टांतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१-२) यह शरीर जो दृष्टिगोचर होता है, यह पुद्गलका बना हुआ है और शरीरमे जीव रहा हुआ है। यद्यपि जीव और पुद्गल एक आकाश की जगहमे रहते है तथापि दोनो पृथक् है। जीवका स्वभाव जानने का है और पुद्गलका यह शरीर कुछ जानता नही। शरीरका कोई भाग कट जाने पर भी जीवका ज्ञान नही कट जाता, जीव पूर्ण ही रहता है, क्योकि शरीर और जीव सदा पृथक् ही है। दोनो का स्वरूप पृथक् है और दोनोका काम पृथक् ही है यह जीव और पुद्गल तो स्पष्ट है। (३) जीव और शरीर कहाँ रह रहे हैं ? अमुक ठिकाने, पाच फुट जगहमे, दो फुट जगहमे रह रहे है, अत 'जगह' कहनेसे आकाश द्रव्य सिद्ध हुआ।

यह ध्यान रहे कि यह जो कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाश मे रहे हुए है वहाँ यथार्थ मे जीव, शरीर और आकाश तीनो स्वतत्र पृथक्-पृथक् ही है, कोई एक दूसरेके स्वरूपमे नही घुस गया। जीव तो ज्ञानत्व स्वरूपसे ही रहा है, रग, गध इत्यादि शरीरमे ही है, वे जीव या आकाश आदि किसीमे नही हैं, आकाशमे वर्ण, गध इत्यादि नही है तथा ज्ञान भी नही, वह अरूपी-अचेतन है, जीवमे ज्ञान है किंतु वर्ण गध इत्यादि नही अर्थात् वह अरूपी—चेतन है, पुद्गलमे वर्ण-गध इत्यादि हैं किंतु ज्ञान नही अर्थात् वह रूपी-अचेतन है, इसतरह तीनो द्रव्य एक दूसरेसे भिन्न-स्वतत्र है। प्रत्येक वस्तु स्वतत्र होनेसे **कोई दूसरी वस्तु किसीका कुछ कर नहीं सकती, यदि एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ कुछ करता हो तो वस्तुको स्वतंत्र कैसे कहा जायगा?**

(४) जीव, पुद्गल और आकाश निश्चित किये अब कालका निश्चय करते है। ऐसा पूछा जाता है कि "तुम्हारी आयु कितनी है ?" (यहाँ 'तुम्हारी' अर्थात् शरीरके सयोगरूप आयुकी बात समझना) शरीरकी उम्र ४०-५० वर्ष आदि की कही जाती है और जीव अनादि अनन्त अस्तिरूप से है। यह कहा जाता है कि यह मेरी अपेक्षा पाच वर्ष छोटा है, यह पाँच वर्ष बडा है, यहाँ शरीरके कदसे छोटे बडेपनकी बात नही है किन्तु कालेकी अपेक्षासे छोटे बडेपनकी बात है, यदि काल द्रव्यकी अपेक्षा न लें तो यह नही कह सकते कि यह छोटा, यह बडा, यह बालक,

यह युवा या वह वृद्ध है। पुरानी नई अवस्था वदलती रहती है इसी परसे कालद्रव्यका अस्तित्व निश्चित होता है ॥ ४ ॥

कही जीव और शरीर स्थिर होता है और कही गति करता है। स्थिर होते समय तथा गमन करते समय दोनो समय वह आकाशमे ही है, अर्थात् आकाश परसे उसका गमन या स्थिर रहनेरूप निश्चित नही हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहनेरूप दशा इन दोनोकी पृथक् पृथक् पहचान करनेके लिए उन दोनो दशामे भिन्न २ निमित्तरूप ऐसे दो द्रव्योको पहचानना होगा। धर्मद्रव्यके निमित्तद्वारा जीव-पुद्गलका गमन पहचाना जा सकता है और अधर्मद्रव्यके निमित्त द्वारा स्थिरता पहचानी जा सकती है। यदि ये धर्म और अधर्मद्रव्य न हो तो गमन और स्थिरताके भेदको नही जाना जा सकता।

यद्यपि धर्म–अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलको कही गति या स्थिति करने मे मदद करते नही हैं, परन्तु एक द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यकी अपेक्षाके विना पहचाना नही जा सकता। जीवके भावको पहचाननेके लिये अजीवकी अपेक्षा की जाती है, जो जाने सो जीव-ऐसा कहनेसे ही "ज्ञानत्वसे रहित जो अन्य द्रव्य हैं वे जीव नही है" इसप्रकार अजीव की अपेक्षा आ जाती है व ऐसा वताने पर आकाशकी अपेक्षा हो जाती है कि 'जीव अमुक जगह है'। इस प्रकार छहो द्रव्योमे समझ लेना। एक आत्मद्रव्यका निर्णय करनेपर छहो द्रव्य मालूम होते हैं, यह ज्ञानकी विशालता है और इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वद्रव्योको जान लेना ज्ञानका स्वभाव है। एक द्रव्यको सिद्ध करनेसे छहो द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं, इसमे द्रव्यकी पराधीनता नही है, परन्तु ज्ञानकी महिमा है। जो पदार्थ होता है वह ज्ञानमे अवश्य जाना जाता है। पूर्ण ज्ञान मे जितना जाना जाता है इस जगतमे उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। पूर्ण ज्ञानमे छह द्रव्य वतलाये है, छह द्रव्यसे अधिक अन्य कुछ नही है।

कर्मोंके कथनसे छहों द्रव्योंकी सिद्धि

कर्म यह पुद्गलकी अवस्था है, जीवके विकारी भावके निमित्तसे वह जीवके साथ रहे हुए है, कितनेक कर्म वधरूपसे स्थिर हुए है उनको

अधर्मास्तिकायका निमित्त है, प्रतिक्षण कर्म उदयमे आकर झड जाते है, झड जानेमे क्षेत्रांतर भी होता है उसमे, उसे धर्मास्तिकायका निमित्त है। यह कहा जाता है कि कर्मकी स्थिति ७० कोडा कोडि सागर और कममे कम अन्तर्मुहूर्त की है, इसमे काल द्रव्यकी अपेक्षा हो जाती है, बहुतसे कर्म परमाणु एक क्षेत्रमे रहते है, इसमे आकाशद्रव्यकी अपेक्षा है। इस तरह छह द्रव्य सिद्ध हुए।

द्रव्योंकी स्वतंत्रता

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य(-कर्म) दोनो एकदम पृथक् पृथक् पदार्थ है और दोनो अपने अपनेमे स्वतत्र है, कोई एक दूसरेका कुछ ही नही करते। यदि जीव और कर्म एक हो जाय तो इस जगत्मे छहद्रव्य ही नही रह सकते, जीव और कर्म सदा पृथक् ही है। द्रव्यो का स्वभाव अपने अमर्यादित अनन्त गुणोमे अनादि अनन्त रहकर प्रतिसमय बदलनेका है। सभी द्रव्य अपनी शक्तिसे स्वतत्ररूपसे अनादि अनन्त रहकर स्वय अपनी अवस्था बदलते है। जीवकी अवस्था जीव बदलाता है, पुद्गलकी हालत पुद्गल बदलाता है। पुद्गलका जीव कुछ नही करता और न पुद्गल जीवका कुछ करता है। व्यवहारसे भी किसीका परद्रव्यमे कर्तापना नही है घीका घडाके समान व्यवहारसे कर्तापनेका कथन होता है जो सत्यार्थ नही है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव

द्रव्यका और द्रव्यकी अवस्थाओका कोई कर्ता नही है। यदि कोई कर्ता हो तो उसने द्रव्योको किस तरह बनाया ? किसमेसे बनाया ? वह कर्ता स्वय किसका बना ? जगत्मे छहो द्रव्य स्व स्वभावसे ही है, उनका कोई कर्ता नही है। किसी भी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही नही होती। किसी भी प्रयोगसे नये जीवकी या नये परमाणुकी उत्पत्ति नही हो सकती, किन्तु जैसा पदार्थ हो वैसा ही रहकर उनमे अपनी अवस्थाओका रूपातर होता है। यदि द्रव्य हो तो उसका नाश नही होता, जो द्रव्य नही वह उत्पन्न नही होता और जो द्रव्य होता है वह स्वशक्तिसे प्रतिक्षण अपनी

अवस्था बदलता ही रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धांतको उत्पाद-व्यय-ध्रुव अर्थात् नित्य रहकर बदलना कहा जाता है।

द्रव्य कोई बनानेवाला नही है इसलिये सातवा कोई नया द्रव्य नहीं हो सकता, और किसी द्रव्यका कोई नाश करनेवाला नही है इसलिये छह द्रव्योंमे कभी कमी नही होती। शाश्वतरूपमे छह ही द्रव्य है। सर्वज्ञ भगवानने सपूर्ण ज्ञानके द्वारा छह द्रव्य जाने और वही उपदेश मे दिव्य-ध्वनि द्वारा निरूपित किये। सर्वज्ञ वीतराग देव प्रणीत परम सत्यमार्ग के अतिरिक्त इन छह द्रव्योका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कही है ही नही।

द्रव्यकी शक्ति (गुण)

द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति (चिह्न, विशेष गुण) पहले सक्षिप्तरूपमे कही जा चुकी है, एक द्रव्य की जो विशिष्ट शक्ति है वह अन्य द्रव्यमे नही होती। इसीलिये विशिष्ट शक्तिके द्वारा द्रव्यको पहचाना जा सकता है। जैसे कि ज्ञान जीव द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति है। जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमे ज्ञान नही है, इसीलिए ज्ञान शक्तिके द्वारा जीव पहचाना जा सकता है।

यहां अब द्रव्योकी सामान्य शक्ति सबधी कुछ कथन किया जाता है। जो शक्ति सभी द्रव्योंमे हो उसे सामान्य शक्ति कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये मुख्य सामान्य ६ गुण है, ये सभी द्रव्योंमे है।

३—द्रव्यत्वगुणके कारण द्रव्य निरतर एक अवस्थामे से दूसरी अवस्थामे द्रवा करता है—परिणमन किया करता है। द्रव्य त्रिकाल अस्ति रूप है तथापि वह सदा एक सदृश (कूटस्थ) नही है, परन्तु निरतर नित्य बदलनेवाला–परिणामी है। यदि द्रव्यमे परिणमन न हो तो जीवके ससार दशाका नाश होकर मोक्षदशा की उत्पत्ति कैसे हो ? शरीर की बाल्यदशा मे से युवकदशा कैसे हो ? छहो द्रव्योमे द्रव्यत्व शक्ति होने से सभी स्वतत्र-रूपसे अपनी अपनी पर्यायमे परिणाम रहे है, कोई द्रव्य अपनी पर्याय परि-णमाने के लिये दूसरे द्रव्य की सहायता या अपेक्षा नही रखता।

४—प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य ज्ञानमे ज्ञात होते हैं। छहो द्रव्यो मे इस प्रमेयशक्ति के होने से ज्ञान छहो द्रव्यके स्वरूपका निर्णय कर सकता है। यदि वस्तु मे प्रमेयत्व गुण न हो तो वह स्वयको किस तरह बतला सकता है कि 'यह वस्तु है'। जगतका कोई पदार्थ ज्ञान अगोचर नही है, आत्मामे प्रमेयत्व गुण होने से आत्मा स्वय निजको जान सकता है।

५—अगुरुलघुत्व गुणके कारण प्रत्येक वस्तु निज २ स्वरूप से ही कायम रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणुरूप नही हो जाता, परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नही हो जाता, जड सदा जडरूपसे और चेतन सदा चेतनरूपसे ही रहता है ज्ञानका विकास विकार दशामे चाहे जितना स्वल्प हो तथापि जीवद्रव्य बिलकुल ज्ञान शून्य हो जाय ऐसा कभी नही होता। इस शक्तिके कारण द्रव्यके एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे तथा एक द्रव्यके अनेक या–अनन्त गुण अलग अलग नही हो जाते, तथा कोई दो पदार्थ एक रूप होकर तीसरा नई तरहका पदार्थ उत्पन्न नही होता, क्योकि वस्तु का स्वरूप अन्यथा कदापि नही होता।

६—प्रदेशत्व गुणके कारण प्रत्येक द्रव्यके अपना अपना आकार अवश्य होता है। प्रत्येक अपने अपने स्वाकारमे ही रहता है। सिद्धदशा होने पर एक जीव दूसरे जीवमे नही मिल जाता किंतु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकार मे स्वतत्र रूपसे कायम रहता है।

ये छह सामान्यगुण मुख्य है इनके अतिरिक्त भी दूसरे सामान्य गुण है। इस तरह गुणो द्वारा द्रव्यका स्वरूप विशेप स्पष्टता से जाना जा सकता है।

छह कारक (-कारण) [लघु जैन सि० प्रवेशिका से]

(१) **कर्त्ता:**—जो स्वतत्रतासे (-स्वाधीनतासे) अपने परिणाम को करे सो कर्त्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनेमे स्वतत्र व्यापक होने से अपने ही परिणामोका कर्त्ता है।

(२) **कर्म (-कार्य);**—कर्ता जिस परिणामको प्राप्त करता है वह परिणाम उसका कर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्य लक्षण-वाला प्रत्येक द्रव्यका परिणामरूप कर्म होता है। [उस कर्म (-कार्य) मे प्रत्येक द्रव्य स्वय अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमे व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ, और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस परिणामके कर्ता है।]

(३) **करण:**—उस परिणामका साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन को करण कहते है।

(४) **संप्रदान**—कर्म (-परिणाम-कार्य) जिसे दियां जाय या जिसके लिये किया जाता है उसे सप्रदान कहते है।

(५) **अपादान**—जिसमे से कर्म किया जाता है वह ध्रुव वस्तुको अपादान कहते है।

(६) **अधिकरण**—जिसमे या जिसके आधारसे कर्म किया जाता है उसे अधिकरण कहते है।

सर्व द्रव्योकी प्रत्येक पर्यायमें यह छहो कारक एक साथ वर्तते है, इसलिये आत्मा और पुद्गल शुद्धदशामे या अशुद्धदशामे स्वय ही छहो कारकरूप परिणमन करते हैं और अन्य किसी कारको (-कारणो) की अपेक्षा नही रखते हैं। (पचास्तिकाय गाथा ६२ स० टीका)

प्रश्न—कार्य कैसे होता है ?

उत्तर—'कारणानुविधायित्वादेव कार्याणि' कारणानुविधायीनि कार्याणी'—कारण जैसे ही कार्य होनेसे कारण जैसा ही कार्य होता है। कार्यको—क्रिया, कर्म, अवस्था, पर्याय, हालत, दशा, परिणाम, परिणमन

और परिणति भी कहते है [यहाँ कारणको उपादान कारण समझना क्योकि उपादान कारण वही सच्चा कारण है]

प्रश्न—कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर—कार्यकी उत्पादक सामग्रीको कारण कहते है ?

प्रश्न—उत्पादक सामग्रीके कितने भेद हैं ?

उत्तर—दो है—उपादान और निमित्त। उपादानको निजशक्ति अथवा निश्चय और निमित्तको परयोग अथवा व्यवहार कहते है।

प्रश्न—उपादान कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) जो द्रव्य स्वय कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे–घटकी उत्पत्तिमे मिट्टी। (२) अनादिकालसे द्रव्यमे जो पर्यायोका प्रवाह चला आ रहा है, उसमे अनन्तर पूर्वक्षणवर्ति पर्याय उपादान कारण है और अनतर उत्तर क्षणवर्त्ति पर्याय कार्य है। (३) उस समयकी पर्यायकी योग्यता वह उपादान कारण है और वह पर्याय कार्य है। उपादान वही सच्चा (-वास्तविक) कारण है।

[न० १ ध्रुव उपादान द्रव्यार्थिकनयसे है, न० २–३ क्षणिक-उपादान पर्यायार्थिकनयसे है।]

प्रश्न—योग्यता किसे कहते है ?

उत्तर—(१) "योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति" (न्याय दि० पृ० २७) योग्यता ही विषयका प्रतिनियामक कारण है [यह कथन ज्ञान की योग्यता (-सामर्थ्य) के लिये है परन्तु योग्यताका कारणपना सर्वमे सर्वत्र समान है]

(२) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत वे 'योग्यता' शब्द के अर्थ है।

प्रश्न—निमित्त कारण किसे कहते है ?

उत्तर—जो पदार्थ स्वय कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्य की

उत्पत्ति मे अनुकूल होनेका जिसमें आरोप आ सके उस पदार्थको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे—घटकी उत्पत्तिमे कुम्भकार, दंड, चक्र आदि। (निमित्त वह सच्चा कारण नहीं है—अकारणवत् है क्योंकि वह उपचार-मात्र अथवा व्यवहारमात्र कारण है)

उपादान कारण और निमित्तकी उपस्थितिका क्या नियम है ?

(बनारसी विलासमे कथित दोहा—)

प्रश्न—(१) गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन,
ज्यो नर दूजे पाव बिन, चलवेको आधीन ॥ १ ॥

प्रश्न—(२) हौं जाने था एक ही, उपादान सो काज,
थकै सहाई पौन बिन, पानीमाहि जहाज ॥ २ ॥

प्रथम प्रश्न का उत्तर—

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार,
उपादान निश्चय जहाँ, तहँ निमित्त व्यौहार ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप नेत्र और ज्ञानमे चरण अर्थात् लीनता-रूप क्रिया दोनो मिलकर मोक्षमार्ग जानो। उपादानरूप निश्चय कारण जहाँ हो वहाँ निमित्तरूप व्यवहार कारण होता ही है ॥ ३ ॥

भावार्थ—(१) उपादान वह निश्चय अर्थात् सच्चा कारण है, निमित्त तो मात्र व्यवहार अर्थात् उपचार कारण है, सच्चा कारण नही है, इसलिए तो उसे अकारणवत् कहा है। और उसे उपचार (-आरोप) कारण क्यो कहा कि वह उपादानका कुछ कार्य करते कराते नही, तो भी कार्यके समय उनकी उपस्थिति के कारण उसे उपचारमात्र कारण कहा है।

(२) सम्यग्ज्ञान और ज्ञानमे लीनताको मोक्षमार्ग जानो ऐसा कहा उसीमे शरीराश्रित उपदेश उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहारको मोक्षमार्ग न जानो वह बात आ जाती है।

प्रथम प्रश्नका समाधान—

उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान प्रमाण विधि, विरला बूझे कोय ॥ ४ ॥

अर्थ—जहाँ निजशक्तिरूप उपादान तैयार हो वहाँ पर निमित्त होते ही है, ऐसी भेदज्ञान प्रमाणकी विधि (-व्यवस्था) है, यह सिद्धात कोई विरला ही समझता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जहाँ उपादानकी योग्यता हो वहाँ नियम से निमित्त होता है, निमित्त की राह देखना पडे ऐसा नही है, और निमित्त को हम जुटा सकते ऐसा भी नही है। निमित्त की राह देखनी पडती है या उसे मै ला सकता हूँ ऐसी मान्यता—परपदार्थ मे अभेद बुद्धि अर्थात् अज्ञानसूचक है। **निमित्त और उपादान दोनों असहायरूप है यह तो मर्यादा है ॥४॥**

उपादान बल जहँ तहाँ, नही निमित्तको दाव,
एक चक्रसो रथ चलै, रविको यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

अर्थः—जहाँ देखो वहाँ सदा उपादानका ही बल है निमित्त होते है परन्तु निमित्तका कुछ भी दाव (-बल) नही है जैसे एक चक्रसे सूर्यका रथ चलता है इस प्रकार प्रत्येक कार्य उपादानकी योग्यता (सामर्थ्य) से ही होता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—कोई ऐसा समझता है कि—निमित्त उपादान के ऊपर सचमुच असर करते है, प्रभाव पडते है, सहाय-मदद करते है, आधार देते है तो वे अभिप्राय गलत हैं ऐसा यहाँ दोहा ४-५-६ ७ मे स्पष्टतया कहा है। अपने हितका उपाय समझनेके लिये यह बात बडी प्रयोजनभूत है।

शास्त्रमे जहाँ परद्रव्यको (निमित्तको) सहायक, साधन, कारण, कारक आदि कहे हो तो वह "व्यवहार नयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है, **ताकौं ऐसैं है नाहीं निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है ऐसा जानना।"**

(देहली से प्र० मोक्षमार्ग प्र० पृ० ३६६)

दूसरे प्रश्नका समाधान—

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन,
ज्यो जहाज परवाहमे, तिरै सहज विन पौन ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रत्येक वस्तु स्वतत्रतासे अपनी अवस्थाको (-कार्यको) प्राप्त करती है वहाँ निमित्त कौन? जैसे जहाज प्रवाहमे सहज ही पवन बिना ही तैरता है।

भावार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामे स्वतंत्रपनेसे ही अपने परिणामको करते हैं, अज्ञानी जीव भी स्वतंत्रपनेसे निमित्ताधीन परिणमन करता है, कोई निमित्त उसे आधीन नही बना सकता ॥६॥

उपादान विधि निर्वचन, है निमित्त उपदेश,

वसे जु जैसे देशमे, करे सु तैसे भेद ॥ ७ ॥

अर्थ—उपादानका कथन एक "योग्यता" शब्द द्वारा ही होता है, उपादान अपनी योग्यता से अनेक प्रकार परिणमन करता है तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न २ कारणपनेका आरोप (-भेष) आता है उपादानकी विधि निर्वचन होनेमे निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

भावार्थ—उपादान जब जैसे कार्यको करता है तब वैसे कारणपने का आरोप (-भेष) निमित्तपर आता है जैसे—कोई वज्रकायवान मनुष्य नर्कगति योग्य मलिन भाव करता है तो वज्रकाय पर नर्कका कारणपनेका आरोप आता है, और यदि जीव मोक्षयोग्य निर्मलभाव करता है तो उसी निमित्तपर मोक्षकारणपनेका आरोप आता है। इस प्रकार उपादान के कार्यानुसार निमित्तमे कारणपनेका भिन्न भिन्न आरोप दिया जाता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्तसे कार्य नही होता परंतु कथन होता है। अतः उपादान सच्चा कारण है, और निमित्त आरोपित कारण है।

प्रश्न—पुद्गलकर्म, योग, इन्द्रियोके भोग, धन, घरके लोग, मकान इत्यादि इस जीवको राग-द्वेष परिणामके प्रेरक है ?

उत्तर—नही, छहो द्रव्य, सर्व अपने २ स्वरूपसे सदा असहाय (-स्वतंत्र) परिणमन करते है, कोई द्रव्य किसीका प्रेरक कभी नही है, इसलिये किसी भी परद्रव्य राग-द्वेषके प्रेरक नही है परन्तु मिथ्यात्वमोहरूप मदिरापान है वही (अनन्तानुबंधी) राग-द्वेषका कारण है।

प्रश्न—पुद्गलकर्मकी जोरावरीसे जीवको राग-द्वेष करना पड़ता है, पुद्गलद्रव्य कर्मोका भेष धर धर कर ज्यो २ बल करते है त्यो त्यो जीव को राग-द्वेष अधिक होते हैं यह बात सत्य है ?

उत्तर—नही, क्योंकि जगतमे पुद्गलका सग तो हमेशा रहता है, यदि उनकी जोरावरीसे जीवको रागादि विकार हो तो शुद्धभावरूप होनेका कभी अवसर नही आसकता, इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करनेमे चेतन स्वय समर्थ है।

(स० सार नाटक सर्वविशुद्धद्वार काव्य ६१ से ६६)

[निमित्तके कही प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद कहे हो तो वहाँ वे गमनक्रियावान् या इच्छाआदिवान् है या नही ऐसा समझानेके लिये है, परन्तु उपादानके लिये तो सर्व प्रकारके निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन ही कहे है। [देखो श्री पूज्यपादाचार्यकृत इष्टोपदेश गा० ३५]

प्रश्न—निमित्तनैमित्तिक सबध किसे कहते है ?

उत्तर—उपादान स्वत कार्यरूप परिणमता है उस समय, भावरूप या अभावरूप कौन उचित (-योग्य) ❀निमित्त कारणका उसके साथ सम्बन्ध है वह बतानेके लिये उस कार्यको नैमित्तिक कहते है। इस तरहसे भिन्न भिन्न पदार्थोंके स्वतत्र सम्बन्धको निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कहते है।

(❀ देखो प्रश्न 'निमित्त')

[निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध परतत्रताका सूचक नही है, किन्तु नैमित्तिकके साथमे कौन निमित्तरूप पदार्थ है उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्यको नैमित्तिक कहा है उसीको उपादानकी अपेक्षा उपादेय भी कहते है।]

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके दृष्टांत:—

(१) केवलज्ञान नैमित्तिक है और लोकालोकरूप सब ज्ञेय निमित्त है, (प्रवचनसार गा० २६ की टीका)

(२) सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है और सम्यग्ज्ञानीका उपदेशादि निमित्त है, (आत्मानुशासन गा० १० की टीका)

(३) सिद्धदशा नैमित्तिक है और पुद्गलकर्मका अभाव निमित्त है, (समयसार गा० ८३ की टीका)

(४) "जैसे अध:कर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत

(आहारादि) पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (-मुनि) नैमित्तिकभूत बधसाधक भावका प्रत्याख्यान (-त्याग) नही करता, इसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नही त्यागता" इसमे जीवका बधसाधक भाव नैमित्तिक है और उस परद्रव्य निमित्त है। (स० सार गाथा २८६-८७ की टीका)

पचाध्यायी शास्त्रमे नयाभासोके वर्णनमे 'जीव शरीरका कुछ कर सकता नही है-परस्पर बध्य-बधकभाव नही है' ऐसा कहकर शरीर और आत्माको निमित्तनैमित्तिक भावका प्रयोजन क्या है उसके उत्तरमे 'प्रत्येक द्रव्य स्वय और स्वत परिणमन करता है वहाँ निमित्तपनेका कुछ प्रयोजन ही नही है ऐसा समाधान श्लोक ५७१ मे कहा है।

श्लोक—अथचेदवश्यमेतन्निमित्त नैमित्तिकत्वमास्ति मिथ ।
न यत स्वय स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥५७१

अन्वयार्थः—[अथ चेत्] यदि कदाचित् यह कहा जाय कि [मिथ.] परस्पर [एतन्निमित्तनैमित्तिकत्व] इन दोनोमे निमित्त और नैमित्तिकपना [अवश्यअस्ति] अवश्य है तो इसप्रकार कहना भी [न] ठीक नही है, [यत] क्योकि [स्वय] स्वय [वा] अथवा [स्वत] स्वत [परिणममानस्य] परिणमन करनेवाली वस्तुको [निमित्ततया] निमित्तपनेसे [किं] क्या फायदा है अर्थात् स्वत परिणमनशील वस्तुको निमित्त कारणसे कुछ भी प्रयोजन नही है। इस विषयमे स्पष्टताके लिये पचाध्यायी भाग १ श्लो० ५६५ से ५८५ तक देखना चाहिये।

प्रयोजनभूत

इसतरह छह द्रव्यका स्वरूप अनेक प्रकारसे वर्णन किया। इन छह द्रव्योमे प्रतिसमय परिणमन होता है उसे, 'पर्याय' (हालत, अवस्था Condition) कहते है। धर्म-अधर्म-आकाश और काल इन चार द्रव्यो की पर्याय तो सदा शुद्ध ही है, अवशिष्ट जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे शुद्ध पर्याय होती है अथवा अशुद्ध पर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे से भी पुद्गल द्रव्यमे ज्ञान नही है, उसमें जानपना (ज्ञानत्व) नही इसीसे उसमे ज्ञानकी विपरीतरूप भूल

नही, अतएव पुद्गलको सुख या दु ख नही होता । यथार्थ ज्ञानके द्वारा सुख और विपरीतज्ञानके द्वारा दु ख होता है, परन्तु पुद्गल द्रव्यमे ज्ञान गुण ही नही, इसीलिये उसके सुख दु ख नही, उसमे सुख गुण ही नही। ऐसा होने से तो पुद्गल द्रव्यके शुद्ध दशा हो या अशुद्धदशा, दोनो समान हैं। शरीर पुद्गल द्रव्य की अवस्था है इसलिये शरीरमे सुख दु ख नही होते शरीर चाहे निरोग हो या रोगी, उसके साथ सुख दु खका सम्बन्ध नही है।

अब शेष रहा जाननेवाला जीवद्रव्य

छहो द्रव्योमे यह एक ही द्रव्य ज्ञानशक्तिवाला है। जीवमे ज्ञानगुण है और ज्ञानका फल सुख है, इसलिये जीवमे सुखगुण है। यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभावको नही पहचानता और ज्ञानसे भिन्न अन्य वस्तुओमे सुखकी कल्पना करता है। यह उसके ज्ञानकी भूल है और उस भूलको लेकर ही जीवके दु ख है। जो अज्ञान है सो जीव की अशुद्ध पर्याय है, जीव की अशुद्ध पर्याय दु खरूप है अत उस दशाको दूर कर यथार्थ ज्ञानके द्वारा शुद्ध दशा करने का उपाय समझाया जाता है, क्योकि सभी जीव सुख चाहते है और सुख तो जीव की शुद्धदशामे ही है, इसलिये जो छह द्रव्य जाने उनमे से जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योके गुण पर्यायके साथ तो जीवको प्रयोजन नही है किन्तु जीवके अपने गुण पर्यायके साथ ही प्रयोजन है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र के
पाँचवें अध्याय की गुजराती टीका का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।



मोक्षशास्त्र अध्याय छट्ठा

भूमिका

१—पहले अध्यायके चौथे सूत्रमे सात तत्त्व कहे है और यह भी पहले अध्यायके दूसरे सूत्रमे कहा है कि उन तत्त्वो की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है। दूसरे से पाँचवे अध्याय पर्यंत जीव और अजीव तत्त्व का वर्णन किया है। इस छट्ठे अध्याय और सातवे अध्यायमे आस्रव तत्त्व का स्वरूप समझाया गया है। आस्रवकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, जो यहाँ लागू होती है।

२—सात तत्त्वोंकी सिद्धि

(वृहद्द्रव्यसग्रहके ७१–७२ वें पृष्ठ के आधार से)

इस जगतमे जीव और अजीव द्रव्य है और उनके परिणमनसे आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व होते हैं। इस प्रकार जीव,अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व है।

अब यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! (१) यदि जीव तथा अजीव ये दोनो द्रव्य एकात से (—सर्वथा) परिणामी ही हो तो उनके सयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है, और (२) यदि वे सर्वथा अपरिणामी हो तो जीव और अजीव द्रव्य ऐसे दो ही पदार्थ सिद्ध होते है। यदि ऐसा है तो आस्रवादि तत्त्व किस तरह सिद्ध होते हैं?

श्री गुरु इसका उत्तर देते है—जीव और अजीव द्रव्य 'कथचित् परिणामी' होने से अवशिष्ट पांच तत्त्वोका कथन न्याययुक्त सिद्ध होता है।

(१) अब यह कहा जाता है कि कथचित् परिणामित्व' का क्या अर्थ है? जैसे स्फटिक यद्यपि स्वभावसे निर्मल है तथापि जपा-पुष्प आदि के सामीप्यसे अपनी योग्यताके कारण से पर्यायान्तर परिणति ग्रहण करती है। यद्यपि स्फटिकमणि पर्यायमे उपाधिका ग्रहण करती है तो भी निश्चयसे

अपना जो निर्मल स्वभाव है उसे वह नही छोडती । इसी प्रकार जीव का स्वभाव भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे तो सहज शुद्ध चिदानन्द एकरूप है, परतु स्वय अनादि कर्मबन्धरूप पर्याय के वशीभूत होने से वह रागादि परद्रव्य उपाधि पर्यायको ग्रहण करता है । यद्यपि जीव पर्याय मे परपर्यायरूपसे (पर द्रव्यके आलबन से हुई अशुद्ध पर्यायरूपसे) परिणमता है तथापि निश्चय नयसे शुद्ध स्वरूपको नही छोडता । ऐसा ही पुद्गल द्रव्यका भी होता है । इस कारणसे जीव-अजीवका परस्पर सापेक्ष परिणमन होना वही 'कथचित् परिणामित्व' शब्दका अर्थ है ।

(२) इसप्रकार 'कथचित् परिणामित्व' सिद्ध होने पर जीव और पुद्गलके सयोग की परिणति (–परिणाम) से बने हुये बाकी के आस्रवादि पाच तत्त्व सिद्ध होते है । जीवमे आस्रवादि पाँच तत्त्वोके परिणमनके समय पुद्गलकर्मरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है और पुद्गलमे आस्रवादि पाँच तत्त्वो के परिणमनमे जीवके भावरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है । इसी से ही सात तत्त्वोको 'जीव और पुद्गलके सयोगकी परिणतिसे रचित' कहा जाता है । परन्तु ऐसा नही समझना चाहिये कि जीव और पुद्गलकी एकत्रित परिणति होकर बाकीके पाँच तत्त्व होते है ।

पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्योको इन पाँच तत्त्वोमे मिलाने पर कुल सात तत्त्व होते है, और उसमे पुण्य-पापको यदि अलग गिना जावे तो नव पदार्थ होते है । पुण्य और पाप नामके दो पदार्थोंका अतर्भाव (समावेश) अभेद नयसे यदि जीव आस्रव-बध पदार्थमे किया जावे तो सात तत्त्व कहे जाते है ।

३—सात तत्त्वोंका प्रयोजन

(वृहत् द्रव्यसह पृष्ठ ७२-७३ के आधार मे)

शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! यद्यपि जीव-अजीव के कथचित् परिणामित्व मानने पर भेद प्रधान पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सात तत्त्व सिद्ध होगये, तथापि उनसे जीवका क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? क्योकि जैसे अभेद नयसे पुण्य-पाप इन दो पदार्थोंका पहले मात तत्त्वोमे

४. तत्त्व की श्रद्धा कब हुई कही जाय ?

(१) जैन शास्त्रोमे कहे हुए जीवके त्रस-स्थावर आदि भेदो को, गुणस्थान मार्गणा इत्यादि भेदो को तथा जीव पुद्गल आदि भेदो को तथा वर्णादि भेदोको तो जीव जानता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रोमे भेदविज्ञान के कारणभूत और वीतरागदशा होने के कारणभूत वस्तुका जैसा निरूपण किया है वैसा जो नही जानता, उसके जीव और अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नही है।

(२) पुनश्च, किसी प्रसग से भेद विज्ञानके कारणभूत और वीतरागदशाके कारणभूत वस्तुके निरूपणका जाननामात्र शास्त्रानुसार हो, परन्तु निजको निजरूप जानकर उसमे परका अश भी (मान्यतामे) न मिलाना तथा निजका अश भी (मान्यतामे) परमे न मिलाना, जहाँतक जीव ऐसा श्रद्धान न करे वहाँतक उसके जीव और अजीव तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं।

(३) जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि बिना निश्चय के (निर्णय रहित) पर्याय बुद्धिसे (-देहदृष्टिसे) ज्ञानत्वमे तथा वर्णादिमे अहबुद्धि धारण करता है, उसी प्रकार जो जीव आत्माश्रित ज्ञानादिमे तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रियामे निजत्व मानता है तो उसके जीव-अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नही है। ऐसा जीव किसी समय शास्त्रानुसार यथार्थ बात भी कहे परन्तु वहाँ उसके अतरग निश्चयरूप श्रद्धा नही है, इसीलिये जिस तरह नशा युक्त-मनुष्य माता को माता कहे तो भी वह समझदार नही है, उसी तरह यह जीव भी सम्यग्दृष्टि नही।

(४) पुनश्च, यह जीव जैसे किसी दूसरे की ही बात करता हो वैसे ही आत्माका कथन करता है, परन्तु 'यह आत्मा मै ही हूँ' ऐसा भाव उसके प्रतिभासित नही होता। और फिर जैसे किसी दूसरे को दूसरे से भिन्न बतलाता हो वैसे ही वह इस आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है, परन्तु 'मै इन शरीरादिकसे भिन्न हूँ' ऐसा भाव उसके नही भासता, इसीलिये उसके जीव-अजीव की यथार्थ श्रद्धा नही।

(५) पर्यायमे (-वर्तमान दशामे, जीव-पुद्गलके परस्पर के निमित्त

से अनेक क्रियायें होती हैं, उन सबको वह उसीके मिलापसे अपनी मानता है, किंतु उसके ऐसा भिन्न भिन्न भाव नहीं भासता कि 'यह जीवकी क्रिया है और यह पुद्गलकी क्रिया है।' ऐसा भिन्न भाव भासे बिना इसको जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव-अजीव के जानने का प्रयोजन तो यही था, सो हि इसे हुआ नहीं।

(देखो देहली सस्ती ग्रन्थमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृ० ३३१)

(६) पहले अध्यायके ३२ वें सूत्रमें सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् कहा है वह समझकर विपरीत अभिप्राय रहित होकर सत् असत्का भेदज्ञान करना चाहिये जहाँतक ऐसी यथार्थ श्रद्धा न हो वहाँ तक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। उसमें 'सत्' शब्दसे यह समझने के लिये कहा है कि जीव स्वयं त्रिकाली शुद्ध चैतन्य स्वरूप सत् है और 'असत्' शब्दसे यह बताया है कि जीवमें होनेवाला विकार जीवमें से दूर किया जा सकता है, इसलिये वह पर है। पर पदार्थ और आत्मा भिन्न होने से कोई परका कुछ कर नहीं सकता; आत्माकी अपेक्षा से पर पदार्थ असत् है—नास्तिरूप है। जब ऐसा यथार्थ समझे तभी जीवके सत्-असत के विशेष का यथार्थ ज्ञान होता है। जीवके जहाँ तक ऐसा ज्ञान न हो वहाँ तक आस्रव दूर नहीं होता, जहाँतक जीव अपना और आस्रवका भेद नहीं जानता वहाँ तक उसके विकार दूर नहीं होता। इसीलिये यह भेद समझाने के लिये छट्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रव का स्वरूप कहा है।

यह आस्रव अधिकार है; इसमें प्रथम योगके भेद और उसका स्वरूप कहते हैं

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥ १ ॥

अर्थः—[कायवाङ्मनः कर्म] शरीर, वचन और मनके अवलंबनसे आत्मा के प्रदेशोंका सकंप होना सो [योग] योग है।

टीका

१—आत्माके प्रदेशोंका सकंप होना सो योग है, सूत्रमें जो योग के तीन भेद कहे हैं वे निमित्त की अपेक्षासे है। उपादान रूप योगमें तीन

भेद नहीं है, किन्तु एक ही प्रकार है। दूसरी तरह से—योग के दो भेद किये जा सकते है—१—भाव योग और—२—द्रव्य योग। कर्म,नोकर्मके ग्रहण करने मे निमित्तरूप आत्माकी शक्ति विशेषको भावयोग कहते है और उस शक्तिके कारणसे जो आत्माके प्रदेशोका सकप होना सो द्रव्य योग है (यहा 'द्रव्य' का अर्थ 'आत्म द्रव्यके प्रदेश' होता है)

२—यह आस्रव अधिकार है। जो योग है सो आसृव है,—ऐसा दूसरे सूत्रमे कहेगे। इस योग के दो प्रकार है—१—सकषाययोग और २ अकषाययोग। (देखो सूत्र ४ था)

३—यद्यपि भावयोग एक ही प्रकारका है तो भी निमित्त की अपेक्षा से उसके १५ भेद होते है, जब यह योग मन की ओर झुकता है तब उसमे मन निमित्त होने से, योग और मनका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाने के लिये, उस योगको मनोयोग कहा जाता है। इसी प्रकार से जब वचन की ओर झुकाव होता है तब वचनयोग कहा जाता है और जब कायकी ओर झुकाव होता है तब काययोग कहा जाता है। इसमे मनोयोग के४,वचनयोगके ४ और काययोग के ७ भेद हैं, इस तरह निमित्त की अपेक्षासे भावयोग के कुल १५ भेद होते है।

(जैन सिद्धात प्रवेशिका प्रश्न २२०, ४३२, ४३३)

४—आत्मा के अनतगुणोमे एक योग गुण है, यह अनुजीवी गुण है। इस गुणकी पर्याय मे दो भेद होते है १—परिस्पदरूप अर्थात् आत्म प्रदेशोका कपनरूप और २—आत्म प्रदेशो की निश्चलतारूप—निष्कपरूप। प्रथम प्रकार योगगुण की अशुद्ध पर्याय है और दूसरा भेद योगगुण की शुद्ध पर्याय है।

इस सूत्रमे योगगुण की कपनरूप अशुद्ध पर्यायको 'योग' कहा है।

अब आसृवका स्वरूप कहते हैं

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थ—[सः] वह योग [आसृवः] आस्रव है।

टीका

१—आगे चौथे सूत्रमे यह कहेगे कि सकषाययोग और अकषाय-योग आस्रव अर्थात् आत्मा का विकारभाव है।

२—कितने ही जीव कषायका अर्थ क्रोध-मान-माया-लोभ करते हैं किन्तु यह अर्थ पर्याप्त नही है। मोह के उदयमे युक्त होने पर जीव के मिथ्यात्व क्रोधादि भाव होता है सामान्यरूपसे उस सबका नाम 'कषाय' है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४०) सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वभाव नही अर्थात् उसके जो क्रोधादि भाव हो सो कषाय है।

३—योग की क्रिया नवीन कर्मके आस्रवका निमित्त कारण है। इस सूत्रमे कहे हुये 'आस्रव' शब्दमे द्रव्यास्रव का समावेश होता है। योग की क्रिया तो निमित्त कारण है, इसमे पर द्रव्यके द्रव्यास्रव रूप कार्यका उपचार करके इस सूत्रमे योग की क्रिया को ही आस्रव कहा है।

एक द्रव्यके कारणको दूसरे द्रव्य के कार्य मे मिलाकर व्यवहारनय से कथन किया जाता है। यह पद्धति यहाँ ग्रहण करके जीवके भावयोगकी क्रियारूप कारणको द्रव्यकर्मके कार्यमे मिलाकर इस सूत्रमे कथन किया है, ऐसे व्यवहार नयको इस शास्त्रमे नैगमनयसे कथन किया कहा जाता है, क्योकि योग की क्रियामे द्रव्यकर्मरूप कार्यका सकल्प किया गया है।

४—**प्रश्न**—आस्रवको जानने की आवश्यकता क्या है ?

उत्तर—दुःखका कारण क्या है यह जाने बिना दुःख दूर नही किया जा सकता, मिथ्यात्वादिक भाव स्वय ही दुःखमय है, उसे जैसा है यदि वैसा न जाने तो जीव उसका अभाव भी न करेगा और इसीलिये जीव के दुःख ही रहेगा, इसलिये आस्रवको जानना आवश्यक है।

(मो० प्र० पृ० ११२)

५—**प्रश्न**—जीवकी आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा अनादि से क्यो है ?

उत्तर—मिथ्यात्व और शुभाशुभ रागादिक प्रगटरूपसे दुःखके देने

वाले है तथापि उनके सेवन करने से मुख होगा ऐसा मानना सो आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

६—**प्रश्न**—सूत्र १-२ मे योग को आस्रव कहा है और अन्यत्र तो मिथ्यात्वादिको आस्रव कहा है,—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—चौथे सूत्रमे यह स्पष्ट कहा है कि योग दो प्रकारका है—सकपाययोग और अकपाययोग, इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि सकपाय योगमे मिथ्यात्वादि का समावेश हो जाता है।

७—इन दोनो प्रकार के योगोमे से जिस पदमे जो योग हो वह जीव की विकारी पर्याय है, उसके अनुसार आत्म प्रदेशमे नवीन द्रव्यकर्म आते है, इसीलिये यह योग द्रव्यास्रवका निमित्त कारण कहा जाता है।

८—**प्रश्न**—पहले योग दूर होता है या मिथ्यात्वादि दूर होते है ?

उत्तर—सबसे पहले मिथ्यात्वभाव दूर होता है। योग तो चौदहवे अयोग-केवली गुणस्थानमे दूर होता है। यद्यपि तेरहवे गुणस्थानमे ज्ञान वीर्यादि सपूर्ण प्रगट होते है तथापि योग होता है, इसलिये पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये और मिथ्यात्व दूर होनेपर उसके सम्बन्धित योग सहज ही दूर होता है।

९—सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनतानुबधी कपाय नही होने से उसके उस प्रकार का भाव-आस्रव होता ही नही। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व दूर हो जाने से अनतानुबधी कपायका तथा अनतानुबधी कपाय के साथ सबध रखनेवाले अविरति और योगभाव का अभाव हो जाता है (देखो समयसार गा० १७६ का भावार्थ)। और फिर मिथ्यात्व दूर हो जाने से उसके साथ रहनेवाली प्रकृतियो का बध नही होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य ससार का कारण नही हैं। जडसे काटे गये वृक्षके हरे पत्तोकी तरह वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य है। ससारका मूल अर्थात् ससार का कारण मिथ्यात्व ही है। (पाटनी ग्रन्थमाला समयसार गा १९८ पृ २५८)

अब योगके निमित्त से आस्रव के भेद बतलाते है

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—[शुभः] शुभयोग [पुण्यस्य] पुण्यकर्मके आस्रवमे कारण है और [अशुभः] अशुभ योग [पापस्य] पापकर्म के आस्रवमे कारण है ।

टीका

१—योगमे शुभ या अशुभ ऐसा भेद नही, किन्तु आचरणरूप उपयोगमे (-चारित्र गुण की पर्यायमे) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है, इसीलिये शुभोपयोग के साथ के योगको उपचार मे शुभयोग कहते है और अशुभोपयोगके साथ के योग को उपचार मे अशुभयोग कहा जाता है ।

२—पुण्यास्रव और पापास्रवके संबंधमें होनेवाली विपरीतता

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीव की आस्रव सबधी क्या विपरीतता है ?

उत्तर—आस्रव तत्त्वमे जो हिंसादिक पापास्रव है उसे तो हेय जानता है किंतु जो अहिंसादिकरूप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है, भला मानता है, अब ये दोनो आस्रव होने से कर्म बन्धके कारण हैं, उनमे उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है । सो ही बात समयसार गा० २५४ से ५६ मे कही है सर्व जीवो के जीवन-मरण, सुख-दुःख, अपने अपने कर्मोदयके निमित्तसे होता है तथापि जहां ऐसा मानना कि अन्य जीव अन्य जीवके कार्योंका कर्त्ता होता है, यही मिथ्याध्यवसाय बध का कारण है । अन्य जीवके जिलाने या सुखी करने का जो अध्यवसाय हो सो तो पुण्य बधके कारण है और जो मारने या दुःखी करने का अध्यवसाय होता है वह पाप बन्धके कारण है । यह सब मिथ्या-अध्यवसाय है वह त्याज्य है, इसलिये हिंसादिक की तरह अहिंसादिक को भी बन्ध के कारणरूप जानकर हेय समझना । हिंसामे जीवके मारने की बुद्धि हो किंतु उसकी आयु पूर्ण हुये बिना वह नही मरता और अपनी द्वेष परिणतिसे स्वय ही पाप बन्ध करता है, तथा अहिंसामे पर की रक्षा करने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयुके अवशेष न होने से वह नही जीता, मात्र अपनी शुभराग परिणति से स्वय ही पुण्य बांधता है । इस तरह ये दोनो हेय है ।

किन्तु जहाँ जीव वीतराग होकर दृष्टा ज्ञाता रूप होवे वहाँ ही निर्बंधता है, इसलिये वह उपादेय है।

जहाँ तक ऐसी दशा न हो वहाँतक शुभरागरूप प्रवर्ते परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखना चाहिये कि यह भी बन्धका कारण है–हेय है। यदि **श्रद्धानमें उसे मोक्ष का मार्ग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।**

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३१-३३२)

३—शुभयोग तथा अशुभयोग के अर्थ

शुभयोग—पंच परमेष्ठी की भक्ति, प्राणियोके प्रति उपकारभाव, रक्षाभाव, सत्य बोलने का भाव, परधन हरण न करने का भाव,–इत्यादि शुभ परिणाम से निर्मित योगको शुभयोग कहते है।

अशुभयोग—जीवो की हिंसा करना, असत्य बोलना, परधन हरण करना, ईर्ष्या करना,—इत्यादि भावोरूप अशुभ परिणाम से बने हुये योग को अशुभयोग कहते है।

४—आस्रवमें शुभ और अशुभ भेद क्यों ?

प्रश्नः—आत्माके पराधीन करने मे पुण्य और पाप दोनो समान कारण है—सोने की साँकल और लोहे की साँकल की तरह पुण्य और पाप दोनो आत्मा की स्वतत्रता का अभाव करने में समान हैं, तो फिर उसमे शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद क्यो कहे हैं ?

उत्तरः—उनके कारणसे मिलनेवाली इष्ट–अनिष्ट गति, जाति इत्यादि की रचना के भेदका ज्ञान कराने के लिये उसमे भेद कहे हैं–अर्थात् ससार की अपेक्षा से भेद है, धर्म की अपेक्षा से भेद नही, अर्थात् दोनो प्रकारके भाव 'अधर्म' हैं। प्रवचनसार गाथा ७७ मे कहा है कि–इसप्रकार पुण्य और पापमे भेद (–अतर) नही है, ऐसा जो जीव नही मानता है वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार ससार मे परिभ्रमण करता है।

५—शुभ तथा अशुभ दोनो भावोंसे सात या आठ कर्म बँधते हैं तथापि यहाँ ऐसा क्यों नहीं कहा ?

प्रश्न—रागी जीवके आयुके अतिरिक्त सातो कर्मका निरंतर आसृव होता है तथापि इस सूत्रमे शुभ परिणामको पुण्यासृवका ही कारण और अशुभ परिणामको पापासृवका ही कारण क्यो कहा ?

उत्तर:—यद्यपि ससारी रागी जीवके सातो कर्मका निरतर आसृव होता है, तथापि सक्लेश (–अशुभ) परिणाम से देव, मनुष्य और तिर्यच आयुके अतिरिक्त १४५ प्रकृतियो की स्थिति वढ जाती है और मद (शुभ) परिणामसे उन समस्त कार्यों की स्थिति घट जाती है और उपरोक्त तीन आयुकी स्थिति वढ जाती है।

और फिर तीव्र कपायसे शुभ प्रकृतिका रम तो घट जाता है और असातावेदनीयादिक अशुभ प्रकृतिका रस अधिक हो जाता है। मद कपाय से पुण्य प्रकृतिमे रस वढता है और पाप प्रकृतिमे रस घटता है, इसलिये स्थिति तथा रस (–अनुभाग) की अपेक्षासे शुभ परिणामको पुण्यासृव और अशुभ परिणामको पापासृव कहा है।

६—शुभ अशुभ कर्मोंके बँधने के कारण से शुभ–अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं

प्रश्न—शुभ परिणामके कारणसे शुभयोग और अशुभ परिणाम के कारणसे अशुभयोग है ऐसा मानने के स्थानपर यह माननेमे क्या वाधा है कि शुभ अशुभ कर्मों के वन्धके निमित्तसे शुभ–अशुभ भेद होता है ?

उत्तर—यदि कर्मके वन्धके अनुसार योग माना जायगा तो शुभ-योग ही न रहेगा, क्योकि शुभयोगके निमित्तमे ज्ञानावरणादि अशुभ कर्म भी वँधते है, इसीलिये शुभ–अशुभ कर्म वन्धनेके कारणसे शुभ–अशुभयोग–ऐसे भेद नही हैं। परन्तु ऐसा मानना न्याय सगत है कि मद कपायके कारण से शुभयोग और तीव्र कषाय के कारण से अशुभयोग है।

७—शुभभाव से पापकी निर्जरा नहीं होती

प्रश्न—यह तो ठीक है कि शुभभावसे पुण्यका वन्ध होता है, किंतु ऐसा मानने मे क्या दोष है कि उससे पापकी निर्जरा होती है ?

उत्तर—इस सूत्रमे कही हुई तत्त्वदृष्टिसे देखने पर यह मान्यता भूल भरी है। शुभभावसे पुण्यका बन्ध होता है, बन्ध ससारका कारण है, और जो सवर पूर्वक निर्जरा है सो धर्म है। यदि शुभभावसे पापकी निर्जरा माने तो वह (शुभभाव) धर्म हुआ और धर्मसे बन्ध कैसे होगा ? इसलिये यह मान्यता ठीक नही कि शुभभावसे पुराने पाप कर्मकी निर्जरा होती है (-आत्म प्रदेशमे पापकर्म खिर जाता है), निर्जरा शुद्धभावसे ही होती है अर्थात् तत्त्वदृष्टिके विना सवर पूर्वक निर्जरा नही होती। विशेष समाधान के लिये देखो अ० ७ सू० १ की टीका मे शास्त्राधार।

८—तीसरे सूत्रका सिद्धांत

शुभभाव और अशुभभाव दोनो कषाय है, इसीलिये वे ससारके ही कारण है। शुभभाव बढते २ उससे शुद्धभाव नही हो सकता। जब शुद्धके अभेद आलबनसे शुभको दूर करे तब शुद्धता हो। जितने अशमे शुद्धता प्रगट होती है उतने अशमे धर्म है। ऐसा मानना ठीक है कि शुभ या अशुभ मे धर्मका अश भी नही है। ऐसी मान्यता किये बिना सम्यग्दर्शन कभी नही होता। कितनेक ऐसा मानते हैं कि—जो शुभयोग है सो सवर है, यह यथार्थ नही है, -ऐसा बताने के लिये इस सूत्रमे स्पष्ट रूपसे दोनो योगोको आस्रव कहा है ॥ ३ ॥

अब इसका खुलासा करते हैं कि आस्रव सर्व संसारियोंके समान फलका कारण होता है या इसमें विशेषता है

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थ—[**सकषायस्य साम्परायिकस्य**] कषाय सहित जीवके ससार के कारण रूप कर्मका आस्रव होता है और [**अकषायस्य ईर्यापथस्य**] कषायरहित जीवके स्थितिरहित कर्मका आस्रव होता है।

टीका

१—कषायका अर्थ मिथ्यादर्शन—क्रोधादि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवो के मिथ्यादर्शनरूप कषाय नही होती अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवो के लागू होने वाला कषायका अर्थ 'चारित्रमे अपनी कमजोरीसे होनेवाले क्रोध-मान

माया-लोभ इत्यादि' ऐसा समझना। मिथ्यादर्शनका अर्थ है आत्माके स्वरूप की मिथ्या मान्यता–विपरीत मान्यता।

२—साम्परायिक आस्रव—यह आस्रव संसारका ही कारण है। मिथ्यात्व-भावरूप आस्रव अनंत संसारका कारण है, मिथ्यात्वका अभाव होने के बाद होनेवाला आस्रव अल्प संसारका कारण है।

३—ईर्यापथ आस्रव—यह आस्रव स्थिति और अनुभागरहित है और यह अकषायी जीवोंके ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें होता है। चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिये वहाँ आस्रव है ही नहीं।

४—कर्मबंधके चार भेद

कर्मबंधके चार भेद हैं, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग। इनमें पहले दो प्रकारके भेदोंका कारण योग है और अंतिम दो भेदोंका कारण कषाय है। कषाय, संसारका कारण है और इसीलिये जहाँतक कषाय हो वहाँतक के आस्रवको साम्परायिक आस्रव कहते हैं, और कषाय दूर होने के बाद अकेला योग रहता है। कषाय रहित योग से होनेवाले आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। आत्माके उस समयका प्रगट होनेवाला जो भाव है सो भाव-ईर्यापथ है और द्रव्यकर्मका जो आस्रव है सो द्रव्य-ईर्यापथ है। इसी तरह भाव और द्रव्य ऐसे दो भेद साम्परायिक आस्रवमें भी समझ लेना। ११ से १३ वें गुणस्थान पर्यंत ईर्यापथ आस्रव होता है, उससे पहले के गुणस्थानोंमें सांपरायिक आस्रव होता है।

जिसप्रकार वडका फल आदि वस्त्रके कषायले रंगमें निमित्त होता है उसीतरह मिथ्यात्व, क्रोधादिक आत्माके कर्म–रंग लगने का निमित्त है, इसीलिये उन भावों को कषाय कहा जाता है। जैसे कोरे घडेको रज लगकर चली जाती है उसी तरह कषाय–रहित आत्माके कर्म-रज उडकर उसी समय चली जाती है,—इसीको ईर्यापथ आस्रव कहा जाता है।

साम्परायिक आस्रवके ३६ भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थः—[**इन्द्रियाणि पंच**] स्पर्शन आदि पाँच इद्रियाँ, [**कषायाः-चतुः**] क्रोधादि चार कषाय, [**अव्रतानि पंच**] हिंसा इत्यादि पाच अव्रत और [**क्रिया पचविंशतिः**] मम्यक्त्व आदि पच्चीस प्रकार की क्रियाये [**संख्याभेदाः**] इस तरह कुल ३६ भेद [**पूर्वस्य**] पहले (सापरायिक) आस्रवके हैं, अर्थात् इन सर्व भेदो के द्वारा सापरायिक आस्रव होता है।

टीका

१—**इन्द्रिय**—दूसरे अध्यायके १५ से १६ वे सूत्र मे इद्रियका विषय आ चुका है। पुद्गल-इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं, उससे आत्माको लाभ या हानि नही होती, मात्र भावेन्द्रियके उपयोगमे वह निमित्त होता है। इद्रिय का अर्थ होता है भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इद्रियका विषय, ये तीनो ज्ञेय है, ज्ञायक आत्माके साथ उनके जो एकत्वकी मान्यता है सो (मिथ्यात्व-भाव) ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष है। (देखो श्री समयसार गाथा ३१ टीका)

कषाय—रागद्वेषरूप जो आत्मा की प्रवृत्ति है सो कषाय है। यह प्रवृत्ति तीव्र और मदके भेद से दो प्रकार की होती हैं।

अव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पाँच प्रकार के अव्रत है।

२—**क्रिया**—आत्माके प्रदेशोका परिस्पन्दरूप जो योग है सो क्रिया है, इसमे मन, वचन और काय निमित्त होता है। यह क्रिया सकषाय योगमे दशवे गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन या काय की कोई भी क्रिया आत्माकी नही है, और न आत्माको लाभकारक या हानि-कारक है। जब आत्मा सकषाय योगरूपसे परिणमे और नवीन कर्मों का आस्रव हो तब आत्माका सकषाययोग उस पुद्गल-आस्रवमे निमित्त है और पुद्गल स्वय उस आस्रवका उपादान कारण है, भावास्रवका उपादान कारण

आत्माकी उस २ अवस्थाकी योग्यता है और निमित्त पुराने कर्मों का उदय है।

३—पच्चीस प्रकार की क्रियाओंके नाम और उनके अर्थ

(१) **सम्यक्त्व क्रिया**—चैत्य, गुरु और प्रवचन (-शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्योंसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है, इसीलिये यह सम्यक्त्व क्रिया है। यहाँ मन, वचन, कायकी जो क्रिया होती है वह सम्यक्त्वी जीवके शुभ भावमे निमित्त है, वे शुभभावको धर्म नही मानते, इसीलिये इस मान्यता की दृढता के द्वारा उसके सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है, इसलिये यह मान्यता आस्रव नही, किन्तु जो सकषाय (शुभभाव सहित) योग है सो भाव-आस्रव है, वह सकषाय योग द्रव्यकर्मके आस्रवमे मात्र निमित्त कारण है।

(२) **मिथ्यात्वक्रिया**—कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रके पूजा स्तवनादिरूप मिथ्यात्वकी कारणवाली क्रियायें है सो मिथ्यात्वक्रिया है।

(३) **प्रयोगक्रिया**—हाथ, पैर इत्यादि चलानेके भावरूप इच्छारूप जो क्रिया है सो प्रयोगक्रिया है।

(४) **समादान क्रिया**—सयमीका असयमके सन्मुख होना।

(५) **ईर्यापथ क्रिया**—समादान क्रियासे विपरीत क्रिया अर्थात् सयम बढानेके लिये साधु जो क्रिया करता है वह ईर्यापथ क्रिया है। ईर्यापथ पाँच समितिरूप है, उसमे जो शुभ भाव है सो ईर्यापथ क्रिया है [समिति का स्वरूप ९ वें अध्यायके ५ वे सूत्रमे कहा जायगा।]

अब पाँच क्रियाऐं कही जाती हैं, इसमें पर हिंसा के भाव की मुख्यता है

(६) **प्रादोषिक क्रिया**—क्रोध के आवेशसे द्वेषादिकरूप बुद्धि करना सो प्रादोषिक क्रिया है।

(७) **कायिकी क्रिया**—उपर्युक्त दोष उत्पन्न होनेपर हाथ से मारना, मुखसे गाली देना, इत्यादि प्रवृत्तिका जो भाव है सो कायिकी क्रिया है।

(८) **अधिकरणिकीक्रिया**—हिंसा के साधनभूत बदूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना सो सब अधिकरणिकी क्रिया है ।

(९) **परिताप क्रिया**—दूसरे को दु ख देने मे लगना ।

(१०) **प्राणातिपात क्रिया**—दूसरे के शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वासको नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रिया है ।

नोट —यह व्यवहार-कथन है, इसका अर्थ ऐसा समझना कि जीव जब निजमे इसप्रकार के अशुभ भाव करता है, तब इस क्रियामे बताई गई पर वस्तुये स्वय बाह्य निमित्तरूपसे होती हैं । ऐसा नही मानना कि जीव परपदार्थोंका कुछ कर सकता है या पर पदार्थ जीवका कुछ कर सकते है ।

अब ११ से १५ तककी ५ क्रियायें कहते हैं । इनका सम्बन्ध इंद्रियोंके भोगों के साथ है

(११) **दर्शन क्रिया**—सौंदर्य देखनेकी इच्छा है सो दर्शनक्रिया है ।

(१२) **स्पर्शन क्रिया**—किसी चीजके स्पर्श करने की जो इच्छा है सो स्पर्शन क्रिया है (इसमे अन्य इन्द्रियो सबन्धी वाछाका समावेश समझना चाहिये)

(१३) **प्रात्ययिकी क्रिया**—इन्द्रियके भोगोकी वृद्धिके लिये नवीन नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है ।

(१४) **समंतानुपात क्रिया**—स्त्री, पुरुष तथा पशुओके उठने बैठने के स्थानको मलमूत्रसे खराब करना सो समतानुपात क्रिया है ।

(१५) **अनाभोग क्रिया**—बिना देखी या बिना शोधी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना उठाना सो अनाभोग क्रिया है ।

अब १६ से २० तक की पॉच क्रियायें कहते हैं, ये उच्च धर्माचरणमें धक्का पहुंचानेवाली हैं

(१६) **स्वहस्त क्रिया**—जो काम दूसरे के योग्य हो उसे स्वय करना सो स्वहस्त क्रिया है ।

(१७) **निसर्ग क्रिया**—पापके साधनोके लेने देने मे सम्मति देना ।

(१८) **विदारण क्रिया**—आलस्यके वश हो अच्छे काम न करना और दूसरे के दोष प्रगट करना सो विदारण क्रिया है ।

(१९) **आज्ञाव्यापादिनी क्रिया**—शास्त्रकी आज्ञाका स्वय पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है ।

(२०) **अनाकांक्षा क्रिया**—उन्मत्तपना या आलस्यके वश हो प्रवचन (शास्त्रो) मे कही गई आज्ञाओके प्रति आदर या प्रेम न रखना सो अनाकाक्षा क्रिया है ।

अब अंतिम पॉच क्रियायें कहते हैं, इनके होने से धर्म धारण करने में विमुखता रहती है

(२१) **आरंभ क्रिया**—हानिकारक कार्योमे रुकना, छेदना, तोडना, भेदना या अन्य कोई वैसा करे तो हर्षित होना सो आरभ क्रिया है ।

(२२) **परिग्रह क्रिया**—परिग्रहका कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायो मे लगे रहना सो परिग्रह क्रिया है ।

(२३) **माया क्रिया**—मायाचारसे ज्ञानादि गुणोको छिपाना ।

(२४) **मिथ्यादर्शन क्रिया**—मिथ्यादृष्टियो की तथा मिथ्यात्वसे परिपूर्ण कार्योकी प्रशसा करना सो मिथ्यादर्शन क्रिया है ।

(२५) **अप्रत्याख्यान क्रिया**—जो त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना सो अप्रत्याख्यान क्रिया है । (प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है, विषयोके प्रति आसक्तिका त्याग करने के बदले उसमे आसक्ति करना सो अप्रत्याख्यान है)

नोट—न० १० की क्रियाके नीचे जो नोट है वह न० ११ से २५ तक की क्रियामे भी लागू होता है ।

नं० ६ से २५ तक की क्रियाओंमे आत्माका अशुभभाव है। अशुभभावरूप जो सकषाय योग है सो पाप आस्रव का कारण है, परन्तु जड मन, वचन या शरीरकी क्रिया है सो किसी आस्रवका कारण नही। भावास्रवका निमित्त पाकर जड रजकरणरूप कर्म जीवके साथ एक क्षेत्रावगाहरूपसे बधते हैं। इन्द्रिय, कषाय तथा अव्रत कारण है और क्रिया उसका कार्य है ॥ ५ ॥

आस्रवमें विशेषता-(हीनाधिकता) का कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थः—[**तीव्रमदज्ञाताज्ञातभावाधिकरण वीर्य विशेषेभ्यः**] तीव्रभाव, मदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेषसे [**तद्विशेषः**] आस्रवमे विशेषता—हीनाधिकता होती है।

टीका

तीव्रभाव—अत्यत बढे हुये क्रोधादिके द्वारा जो तीव्ररूप भाव होता है वह तीव्रभाव है।

मंदभाव—कषायोकी मदतासे जो भाव होता है उसे मदभाव कहते है।

ज्ञातभाव—जानकर इरादापूर्वक करनेमे आनेवाली प्रवृत्ति ज्ञातभाव है।

अज्ञातभाव—बिना जाने असावधानीसे प्रवर्तना सो अज्ञातभाव है।

अधिकरण—जिस द्रव्यका आश्रय लिया जावे वह अधिकरण है।

वीर्य—द्रव्यकी स्वशक्ति विशेषको वीर्य (-बल) कहते है ॥६॥

अब अधिकरणके भेद बतलाते हैं

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थः—[अधिकरणं] अधिकरण [जीवाऽजीवाः] जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ऐसे दो भेद रूप है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मामे जो कर्मास्रव होता है उसमे दो प्रकारका निमित्त होता है, एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त।

टीका

१—यहाँ अधिकरणका अर्थ निमित्त होता है। छट्ठे सूत्रमे आस्रव की तारतम्यताके कारणमे 'अधिकरण' एक कारण कहा है। उस अधिकरण के प्रकार बताने के लिये इस सूत्रमे यह बताया है कि जीव अजीव कर्मास्रव मे निमित्त है।

२—जीव और अजीव के पर्याय अधिकरण है ऐसा बताने के लिये सूत्रमे द्विवचनका प्रयोग न कर बहुवचनका प्रयोग किया है। जीव अजीव सामान्य अधिकरण नही किन्तु जीव-अजीव के विशेष (-पर्याय) अधिकरण होते है। यदि जीव अजीवके सामान्यको अधिकरण कहा जाय तो सर्व जीव और सर्व अजीव अधिकरण हो। किंतु ऐसा नही होता, क्योकि जीव-अजीवकी विशेष—पर्याय विशेष ही अधिकरण स्वरूप होती है ॥ ७ ॥

जीव-अधिकरणके भेद

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमत-कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थ—[आद्य] पहला अर्थात् जीव अधिकरण–आस्रव [संरम्भ समारभारभ योग, कृतकारितानुमतकषाय विशेषै च] संरभ-समारभ-आरभ, मन-वचन-कायरूप तीन योग, कृत-कारित-अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायोकी विशेषता से [त्रि. त्रि. त्रि चतु.] ३×३×३×४ [एकश] १०८ भेदरूप है।

टीका

संरभादि तीन भेद हैं, उन प्रत्येकमे मन-वचन-काय ये तीन भेद लगानेसे नव भेद हुये, इन प्रत्येक भेदमे कृत-कारित-अनुमोदना ये तीन भेद

लगाने से २७ भेद हुये और इन प्रत्येकमे क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार भेद लगाने से १०८ भेद होते है। ये सब भेद जीवाधिकरण आस्रवके है।

सूत्रमे च शब्द अनतानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन कषायके चार भेद बतलाता है।

अनंतानुबंधी कषाय—जिस कषायसे जीव अपने स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न कर सके उसे अनतानुबन्धी कषाय कहते है अर्थात् जो आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्रको घाते उसे अनतानुबधी कषाय कहते हैं।

अनत ससार का कारण होने से मिथ्यात्वको अनत कहा जाता है, उसके साथ जिस कषायका बध होता है उसे अनतानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय—जिस कषायसे जीव एकदेशरूप सयम (–सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत) किंचित् मात्र भी प्राप्त न कर सके उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते है।

प्रत्याख्यान कषाय—जीव जिस कषायसे सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल सयमको ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते है।

संज्वलन कषाय—जिस कषायसे जीवका सयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभावमे–शुद्धोपयोगमे पूर्णरूपसे लीन न हो सके उसे सज्वलन कषाय कहते है।

संरंभ—किसी भी विकारी कार्य के करने के सकल्प करने को सरभ कहा जाता है। (सकल्प दो तरह का है १–मिथ्यात्वरूप सकल्प, २–अस्थिरतारूप सकल्प)

समारम्भ—उस निर्णयके अनुसार साधन मिलानेके भावको समारभ कहा जाता है।

आरंभ—उस कार्यके प्रारभ करने को आरम्भ कहा जाता है।

कृत—स्वय करने के भावको कृत कहते हैं।

कारित—दूसरे से करानेके भावको कारित कहते है।

अनुमत—जो दूसरे करें उसे भला समझना सो अनुमत है॥ ८॥

अजीवाधिकरण आस्रवके भेद बतलाते हैं

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

अर्थः—[परम्] दूसरा अजीवाधिकरण आस्रव [निर्वर्तना द्वि] दो प्रकार की निर्वर्तना, [निक्षेप चतु] चार प्रकारके निक्षेप [संयोग द्वि] दो प्रकारके संयोग और [निसर्गाः त्रिभेदाः] तीन प्रकारके निसर्ग ऐसे कुल ११ भेदरूप है।

टीका

निर्वर्तना—रचना करना—निपजाना सो निर्वर्तना है, उसके दो भेद है—१–शरीर से कुचेष्टा उत्पन्न करना सो देहदुःप्रयुक्त निर्वर्तना है और २–शस्त्र इत्यादि हिंसाके उपकरणकी रचना करना सो उपकरण निर्वर्तना है। अथवा दूसरी तरह से दो भेद इस तरह होते है.—१–पांच प्रकार के शरीर, मन, वचन, श्वासोच्छ्वासका उत्पन्न करना सो मूलगुण निर्वर्तना है और २–काष्ट, मिट्टी, इत्यादि से चित्र आदि की रचना करना सो उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेप–वस्तुको रखने को (-धरने को) निक्षेप कहते है, उसके चार भेद है—१–बिना देखे वस्तुका रखना सो अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है. २–यत्नाचार रहित होकर वस्तुको रखना सो दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है ३—भयादिकसे या अन्य कार्य करने की जल्दीसे पुस्तक, कमंडलु, शरीर या शरीरादिकके मैलको रखना सो सहसानिक्षेपाधिकरण है और ४–जीव है या नही ऐसा बिना देखे और बिना विचार किए शीघ्रतासे पुस्तक, कमंडलु, शरीर या शरीर के मैलको रखना और जहां वस्तु रखनी चाहिये वहां न रखना सो अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

संयोग—मिलाप होना सो संयोग है, उसके दो भेद हैं, १–भक्त-पान संयोग और २–उपकरण संयोग। एक आहार पानीको दूसरे आहार पानीके साथ मिला देना सो भक्तपान संयोग है, और ठंडी पुस्तक, कमंडलु,

शरीरादिकको धूपसे गरम हुई पीछी आदि से पोंछना तथा शोधना सो उपकरण संयोग है।

निसर्ग—प्रवर्तनको निसर्ग कहते है, उसके तीन भेद हैं १—मनको प्रवर्ताना सो मन निसर्ग है, २—वचनोको प्रवर्ताना सो वचन निसर्ग है और ३—शरीरको प्रवर्ताना सो काय निसर्ग है।

नोट:—जहाँ जहाँ परके करने कराने की बात कही है वहाँ वहाँ व्यवहार कथन समझना। जीव परका कुछ कर नही सकता तथा पर पदार्थ जीवका कुछ कर नही सकते, किंतु मात्र निमित्त–नैमित्तिक सबध दिखाने के लिये इस सूत्रका कथन है॥ ९॥

यहाँ तक सामान्य आस्रवके कारण कहे; अब विशेष आस्रवके कारण वर्णित करते हैं, उसमें प्रत्येक कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं—

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवका कारण

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः॥ १०॥

अर्थ:—[तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्यांतराया सादनोपघाताः] ज्ञान और दर्शनके सम्बन्धमे करने मे आये हुये प्रदोप, निह्नव, मात्सर्य, अतराय, आसादन और उपघात ये [ज्ञानदर्शनावरणयो·] ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मास्रवके कारण है।

टीका

१. **प्रदोप**—मोक्षका कारण अर्थात् मोक्षका उपाय तत्वज्ञान है, उसका कथन करनेवाले पुरुषकी प्रशसा न करते हुये अतरगमे जो दुष्ट परिणाम होना सो प्रदोष है।

निह्नव—वस्तुस्वरूपके ज्ञानादिका छुपाना–जानते हुये भी ऐसा कहना कि मै नही जानता सो निह्नव है।

मात्सर्य—वस्तुस्वरूपके जानते हुये भी यह विचारकर किसीको न

पढाना कि 'यदि मैं इसे कहूँगा तो यह पंडित हो जायगा' सो मात्सर्य है।

अंतराय—यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें विघ्न करना सो अंतराय है।

आसादन—परके द्वारा प्रकाश होने योग्य ज्ञानको रोकना सो आसादन है।

उपघात—यथार्थ प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना अथवा प्रशंसा योग्य ज्ञानको दूषण लगाना सो उपघात है।

इस सूत्रमें 'तत्' का अर्थ ज्ञान-दर्शन होता है।

उपरोक्त छह दोष यदि ज्ञानावरण सम्बन्धी हो तो ज्ञानावरणके निमित्त है और दर्शनावरण सम्बन्धी हो तो दर्शनावरणके निमित्त हैं।

२—इस सूत्रमें जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मके आस्रवके छह कारण कहे हैं उनके बाद ज्ञानावरणके लिये विशेष कारण श्री तत्त्वार्थ-सारके चौथे अध्याय की १३ से १६ वी गाथामें निम्नप्रकार दिया है—

७—तत्त्वोंका उत्सूत्र कथन करना।

८—तत्त्वका उपदेश सुनने में अनादर करना।

९—तत्त्वोपदेश सुननेमें आलस्य रखना।

१०—लोभ बुद्धिसे शास्त्र बेचना।

११-अपने को-निजको बहुश्रुतज्ञ (-उपाध्याय) मानकर अभिमानसे मिथ्या उपदेश देना।

१२-अध्ययनके लिये जिस समयका निषेध है उस समयमें (अकालमें) शास्त्र पढना।

१३-सच्चे आचार्य तथा उपाध्यायसे विरुद्ध रहना।

१४-तत्त्वोंमें श्रद्धा न रखना।

१५-तत्त्वोंका अनुचिंतन न करना।

१६-सर्वज्ञ भगवानके शासनके प्रचारमें बाधा डालना।

१७-बहुश्रुत ज्ञानियोंका अपमान करना।

१८-तत्त्वज्ञानका अभ्यास करने में शठता करना।

३–यहाँ यह तात्पर्य है कि जो काम करने से अपने तथा दूसरे के तत्त्वज्ञानमे बाधा आवे या मलिनता हो वे सब ज्ञानावरण कर्मके आसूवके कारण है। जैसे कि एक ग्रंथ के असावधानीसे लिखने पर किसी पाठको छोड देना अथवा कुछ का कुछ लिख देना सो ज्ञानावरण कर्मके आसूवका कारण होता है। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ २००–२०१)

४–और फिर दर्शनावरणके लिये इस सूत्रमे कहे गये छह कारणों के पश्चात् अन्य विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १७-१८-१९ वी गाथामें निम्नप्रकार दिये हैं:—

७–किसी की आँख निकाल लेना (८) बहुत सोना (९)दिनमे सोना (१०) नास्तिकपनकी भावना रखना (११) सम्यग्दर्शनमे दोष लगाना (१२) कुतीर्थवालोकी प्रशसा करना (१३) तपस्वियो (-दिगम्बर मुनियो) को देखकर ग्लानि करना–ये सब दर्शनावरण कर्मके आसूवके कारण है।

५. **शंका**—नास्तिकपने की वासना आदिसे दर्शनावरणका आसूव कैसे होगा, उनसे तो दर्शन मोहका आसूव होना सभव है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे विपरीत कार्योंके द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है न कि दर्शन-उपयोग।

समाधान—जैसे वाह्य इन्द्रियोसे मूर्तिक पदार्थोका दर्शन होता है वैसे ही विशेषज्ञानियोके अमूर्तिक आत्माका भी दर्शन होता है, जैसे सर्व ज्ञानो मे आत्मज्ञान अधिक पूज्य है वैसे ही वाह्य पदार्थोके दर्शन करने से अतर्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसीलिये आत्मदर्शनमे वाधक कारणो को दर्शनावरण कर्मके आसूवका कारण मानना अनुचित नही है। इसप्रकार नास्तिकपनेकी मान्यता आदि जो कारण लिखे है वे दोष दर्शनावरण कर्मके आसूवके हेतु हो सकते है ?(देखो तत्वार्थसार पृष्ठ२०१-२०२)

यद्यपि आयुकर्मके अतिरिक्त अन्य सात कर्मोका आसूव प्रति समय हुवा करता है तथापि प्रदोषादिभावोके द्वारा जो ज्ञानावरणादि खास-विशेष कर्मका बध होना बताया है वह स्थितिवध और अनुभागवधकी अपेक्षासे

समझना अर्थात् प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तो सब कर्मोंका हुआ करता है किंतु उस समय ज्ञानावरणादि खास कर्मका स्थिति और अनुभागबंध विशेष अधिक होता है ॥ १० ॥

असाता वेदनीयके आस्रवके कारण

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्म-परोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

अर्थः—[आत्मपरोभयस्थानानि] अपने मे, परमे और दोनो के विषयमे स्थित [दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनानि] दुःख, शोक, ताप, आक्रदन, वध और परिदेव ये [असद्वेद्यस्य] असातावेदनीय कर्मके आस्रव के कारण हैं।

टीका

१. दुःख—पीडारूप परिणाम विशेषको दुःख कहते हैं।

शोक—अपने को लाभदायक मालूम होनेवाले पदार्थका वियोग होने पर विकलता होना सो शोक है।

ताप—संसारमे अपनी निंदा आदि होने पर पश्चाताप होना।

आक्रंदन—पश्चात्तापसे अश्रुपात करके रोना सो आक्रदन है।

वध—प्राणोके वियोग करने को वध कहते है।

परिदेव—सक्लेश परिणामोके कारण से ऐसा रुदन करना कि जिससे सुननेवाले के हृदयमे दया उत्पन्न हो जाय सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक ताप आदि दुःखके ही भेद है तथापि दुःखकी जातियाँ बताने के लिये ये दो भेद बताये हैं।

२—स्वयको, परको या दोनो को एक साथ दुःख शोकादि उत्पन्न करना सो असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है।

प्रश्न—यदि दुःखादिक निजमे, परमे, या दोनोमे स्थित होने से असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है तो अर्हन्त मतके माननेवाले

जीव केश-लोच, अनशन तप, आतपस्थान इत्यादि दुःखके निमित्त स्वयं करते हैं और दूसरो को भी वैसा उपदेश देते है तो इसीलिये उनके भी असातावेदनीय कर्मका आस्रव होगा।

उत्तर—नही, यह दूषण नही है। यह विशेष कथन ध्यानमे रखना कि यदि अतरगक्रोधादिक परिणामोके आवेशपूर्वक खुद को, दूसरे को या दोनो को दु खादि देने का भाव हो तो ही वह असातावेदनीय कर्मके आस्रव का कारण होता है। भावार्थ यह है कि अतरग क्रोधादिके वश होने से आत्माके जो दु ख होता है वह दु ख केशलोच, अनशनतप या आतापयोग इत्यादि धारण करने मे सम्यग्दृष्टि मुनिके नही होता, इसलिये उनके इससे असातावेदनीयका आस्रव नही होता, वह तो उनका शरीर के प्रति वैराग्य-भाव है।

यह बात दृष्टात द्वारा समझाई जाती है—

दृष्टांत—जैसे कोई दयाके अभिप्रायवाला-दयालु और शल्यरहित वैद्य सयमी पुरुषके फोडेको काटने या चीरने का काम करता है और उस पुरुषको दु ख होता है तथापि उस बाह्य निमित्तमात्रके कारण पापबध नही होता, क्योकि वैद्यके भाव उसे दु ख देने के नही है।

सिद्धांत—वैसे ही ससार सबन्धी महा दु खसे उद्विग्न हुये मुनि ससार सम्बन्धी महादुःखका अभाव करनेके उपाय के प्रति लग रहे हैं, उनके सक्लेश परिणामका अभाव होने से, शास्त्रविधान करने मे आये हुये कार्योंमे स्वय प्रवर्तने से या दूसरो को प्रवर्तानेसे पापबन्ध नही होता, क्योकि उनका अभिप्राय दु ख देने का नही, इसलिये वह असातावेदनीय के आस्रव के कारण नही है।

३—इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य निमित्तोके अनुसार आस्रव या बध नही होता, किन्तु जीव स्वय जैसा भाव करे उस भावके अनुसार आस्रव और बध होता है। यदि जीव स्वय विकारभाव करे तो बध हो और विकारभाव न करे तो बध नही होता॥ ११॥

सातावेदनीयके आस्रवके कारण

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

अर्थः—[भूतव्रत्यनुकंपा] प्राणियोके प्रति और व्रतधारियोके प्रति अनुकंपा—दया [दान सराग संयमादियोग.] दान, सराग सयमादिके योग, [क्षांतिः शौचमिति] क्षमा और शौच, अर्हतभक्ति इत्यादि [सद्वेद्यस्य] सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण है ।

टीका

१. **भूत**=चारो गतियो के प्राणी ।

व्रती=जिन्होने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत या महाव्रत धारण किये हो ऐसा जीव,

इन दोनो पर अनुकम्पा—दया करना सो भूतव्रत्यनुकम्पा है ।

प्रश्न—जब कि 'भूत' कहने पर उसमे समस्त जीव आगये तो फिर 'व्रती' बतलाने की क्या आवश्यक्ता है ?

उत्तर—सामान्य प्राणियो से व्रती जीवो के प्रति अनुकपा की विशेषता बतलाने के लिये वह कहा गया है, व्रती जीवो के प्रति भक्ति पूर्वक भाव होना चाहिये ।

दान=दुखित, भूखे आदि जीवोंके उपकारके लिये धन, औषधि, आहारादिक देना तथा व्रती सम्यग्दृष्टि सुपात्र जीवोको भक्ति पूर्वक दान देना सो दान है ।

सरागसंयम=सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रके धारक मुनिके जो महाव्रतरूप शुभभाव है सयमके साथ वह राग होने से सराग सयम कहा जाता है । राग कुछ सयम नही, जितना वीतरागभाव है वह सयम है ।

२. **प्रश्न**—चारित्र दो तरहके बताये गए हैं (१) वीतराग

चारित्र और दूसरा सराग चारित्र, और चारित्र बन्धका कारण नही है तो फिर यहाँ सराग सयमको आसूव और बन्धका कारण क्यो कहा है ?

उत्तर—जहाँ सराग सयमको बधका कारण कहा वहाँ ऐसा समझना कि वास्तवमे चारित्र (सयम) बधका कारण नही, किन्तु जो राग है वह बधका कारण है। जैसे—चावल दो तरहके है—एक तो भूसे सहित और दूसरा भूसे रहित, वहाँ भूसा चावलका स्वरूप नही है किन्तु चावलमे वह दोष है। अब यदि कोई सयाना पुरुष भूसे सहित चावलका सग्रह करता हो उसे देखकर कोई भोला मनुष्य भूसेको ही चावल मानकर उसका सग्रह करे तो वह निरर्थक खेदखिन्न ही होगा। वैसे ही चारित्र (सयम) दो भेदरूप है–एक सराग तथा दूसरा वीतराग। यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है वह चारित्रका स्वरूप नही किन्तु चारित्रमे वह दोष है। अब यदि कोई सम्यग्ज्ञानी पुरुष प्रशस्त राग सहित चारित्रको धारण करे तो उसे देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त रागको ही चारित्र मानकर उसे धारण करे तो वह निरर्थक, खेदखिन्न ही होगा।

(देखो सस्ती ग्रथमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृष्ठ ३६०
तथा पाटनी ग्रथमाला श्री समयसार पृष्ठ ५५८)

मुनिको चारित्रभाव मिश्ररूप है, कुछ तो वीतराग हुआ है और कुछ सराग है वहाँ जिस अशसे वीतराग हुआ है उसके द्वारा तो सवर है और जिस अगसे सराग रहा है उसके द्वारा बध है। सो एक भावसे तो दो कार्य बने किन्तु एक प्रशस्त राग ही से पुण्यासूव भी मानना और सवर–निर्जरा भी मानना वह भ्रम है। अपने मिश्र भावमे ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है कि 'यह सरागता है और यह वीतरागता है।' इसीलिये वे अवशिष्ट सराग भावको हेयरूप श्रद्धान करते हैं। मिथ्या दृष्टि के ऐसी परीक्षा न होनेसे सराग भाव मे सवर का भ्रम द्वारा प्रशस्त–रागरूप कार्यको उपादेय मानता है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४-३३५)

इसतरह सरागसयममे जो महाव्रतादि पालन करनेका शुभभाव है वह आश्रव होनेसे बन्धका कारण है किन्तु जितना निर्मल चारित्र प्रगट हुआ है वह बन्धका कारण नही है।

३—इस सूत्रमे 'आदि' शब्द है उसमे सयमासयम, अकामनिर्जरा, और बालतपका समावेश होता है।

संयमासंयम—सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत।

अकामनिर्जरा—पराधीनतासे-(अपनी विना इच्छाके) भोग उपभोग का निरोध होने पर सक्लेशता रहित होना अर्थात् कपायकी मदता करना सो अकामनिर्जरा है।

बालतप—मिथ्यादृष्टिके मद कषायसे होने वाला तप।

४—इस सूत्रमे 'इति' शब्द है उसमे अर्हतका पूजन, बाल, वृद्ध या तपस्वी मुनियोकी वैयावृत्य करनेमे उद्यमी रहना, योगकी सरलता और विनयका समावेश हो जाता है।

योग—शुभ परिणाम सहित निर्दोष क्रियाविशेप को योग कहते है।

क्षांति—शुभ परिणामकी भावनासे क्रोधादि कषायमे होने वाली तीव्रताके अभावको क्षाति (क्षमा) कहते है।

शौच—शुभ परिणाम पूर्वक जो लोभका त्याग है सो शौच है। वीतरागी निर्विकल्प क्षमा और शौचको 'उत्तम क्षमा' और 'उत्तम शौच' कहते हैं, वह आसूवका कारण नही है।

अब अनंत संसारके कारणीभूत दर्शनमोहके आश्रवके कारण कहते हैं

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अर्थ—[**केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः**] केवली, श्रुत, सघ, धर्म और देवका अवर्णवाद करना सो [**दर्शनमोहस्य**] दर्शन मोहनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं।

टीका

१. **अवर्णवाद**—जिसमें जो दोष न हो उसमे उस दोपका आरोपण करना सो अवर्णवाद है।

केवलित्व, मुनित्व और देवत्व ये आत्माकी ही भिन्न भिन्न अवस्था-

ओंके स्वरूप है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये पाँचों पद निश्चयसे आत्मा ही है (देखो योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा १०४, परमात्मप्रकाश पृष्ठ ३९३, ३९४) इसीलिये उनका स्वरूप समझनेमे यदि भूल हो और वह उनमे न हो ऐसा दोष कल्पित किया जाय तो आत्माका स्वरूप न समझे और मिथ्यात्वभावका पोषण हो। धर्म आत्माका स्वभाव है इसलिये धर्म सम्बन्धी झूठी दोषकल्पना करना सो भी महान दोष है।

२—श्रुतका अर्थ है शास्त्र, वह जिज्ञासु जीवोके आत्माका स्वरूप समझनेमे निमित्त है, इसीलिये मुमुक्षुओंको सच्चे शास्त्रोके स्वरूपका भी निर्णय करना चाहिये।

३—केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप

(१) भूख और प्यास यह पीडा है, उस पीडासे दु खी हुए जीव ही आहार लेनेकी इच्छा करते है। भूख और प्यासके कारण दु खका अनुभव होना सो आर्तध्यान है। केवली भगवानके सपूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख होता है तथा उनके परम शुक्लध्यान रहता है। इच्छा तो वर्तमानमे रहनेवाली दशाके प्रति द्वेष और परवस्तुके प्रति रागका अस्तित्व सूचित करती है, केवली भगवानके इच्छा ही नही होती, तथापि ऐसा मानना कि केवली भगवान अन्नका आहार (कवलाहार) करते है यह न्याय विरुद्ध है। केवली भगवान के सपूर्ण वीर्य प्रगट हुआ होनेसे उनके भूख और प्यास की पीडा ही नही होती, और अनन्त सुख प्रगट होनेसे इच्छा ही नही होती। और बिना इच्छा कवल आहार कैसा ? जो इच्छा है सो दु ख है—लोभ है इसलिये केवली भगवानमे आहार लेनेका दोष कल्पित करना सो केवली का और अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है। यह दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण है अर्थात् यह अनन्त ससारका कारण है।

(२) आत्माको वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद शरीर मे शौच या दूसरा कोई दर्द (रोग) हो और उसकी दवा लेने या दवा लाने के लिये किसीको कहना यह अशक्य है* दवा लेनेकी इच्छा होना और

---

* तीर्थंकर भगवानके जन्मसे ही मलमूत्र नही होता और समस्त केवली भगवानो के केवलज्ञान होने के बाद रोग, आहार–निहार आदि नही होता।

दवा लानेके लिये किसी शिष्यको कहना ये सब दुःखका अस्तित्व सूचित करता है, अनन्तसुखके स्वामी केवली भगवानके आकुलता, विकल्प, लोभ, इच्छा या दुःख होने की कल्पना करना अर्थात् केवली भगवानको सामान्य छद्मस्थकी तरह मानना न्याय विरुद्ध है। यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को समझे तो आत्माकी समस्त दशाओंका स्वरूप ध्यानमे आ जाय। भगवान छद्मस्थ मुनिदशा में करपात्र (हाथमे भोजन करने वाले) होते है और आहार के लिये स्वय जाते है किन्तु यह अशक्य है कि केवलज्ञान होनेके बाद रोग हो, दवाकी इच्छा उत्पन्न हो और वह लानेके लिये शिष्यको आदेश दें। केवलज्ञान होने पर शरीरकी दशा उत्तम होती है और शरीर परम औदारिक रूपमे परिणमित हो जाता है। उस शरीरमे रोग होता ही नही। यह अबाधित सिद्धान्त है कि 'जहाँ तक राग हो वहाँ तक रोग हो, परन्तु भगवानको राग नही है इसी कारण उनके शरीर के रोग भी कभी होता ही नही। इसलिये इससे विरुद्ध मानना सो अपने आत्म स्वरूपका और और उपचारसे अनन्त केवलीभगवतोका अवर्णवाद है।

(३) किसी भी जीवके गृहस्थ दशामे केवलज्ञान प्रगट होता है ऐसा मानना सो बडी भूल है। गृहस्थ दशा छोडे बिना भावसाधुत्व आ ही नही सकता, भावसाधुत्व हुए बिना भी केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है ? भावसाधुत्व छट्ठे सातवें गुणस्थानमे होता है और केवलज्ञान तेरहवे गुणस्थान मे होता है इसलिये गृहस्थदशामे कभी भी किसी जीवके केवलज्ञान नही होता। इससे विरुद्ध जो मान्यता हैं सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप का और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोका अवर्णवाद है।

(४) छद्मस्थ जीवोके जो ज्ञान–दर्शन उपयोग होता है वह ज्ञेय सन्मुख होनेसे होता है, इस दशामें एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ प्रवृत्ति करता है, ऐसी प्रवृत्ति बिना छद्मस्थ जीवका ज्ञान प्रवृत्त नही होता, इसीसे पहले चार ज्ञान पर्यंतके कथनमे उपयोग शब्दका प्रयोग उसके अर्थके अनुसार (–'उपयोग' के अन्वयार्थके अनुसार) कहा जा सकता है, परतु केवलज्ञान और केवलदर्शन तो अखड अविच्छिन्न है, उसको ज्ञेय सन्मुख नही होना पडता अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शनको एक ज्ञेयसे हटकर

दूसरे ज्ञेयकी तरफ नहीं लगाना पडता, केवली भगवानके केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ ही होते है। फिर भी ऐसा मानना सो मिथ्या मान्यता है कि "केवली भगवानके तथा सिद्ध भगवानके जिस समय ज्ञानोपयोग होता तब दर्शनोपयोग नही होता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नही होता।" ऐसा मानना कि "केवली भगवान को तथा सिद्ध भगवानको केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद जो अनन्तकाल है उसके अर्धकालमे ज्ञानके कार्य बिना और अर्द्धकाल दर्शनके कार्य बिना व्यतीत करना पडता है" ठीक है क्या ? नही, यह मान्यता भी न्याय विरुद्ध ही है, इसलिये ऐसी खोटी(–मिथ्या) मान्यता रखना सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवानोका अवर्णवाद है।

(५) चतुर्थ गुणस्थान—(सम्यग्दर्शन) साथ ले जाने वाला आत्मा पुरुषपर्यायमे ही जन्मता है स्त्री रूपमे कभी भी पैदा नही होता, इसीलिये स्त्री रूपसे कोई तीर्थंकर नही हो सकता, क्योकि तीर्थंकर होने वाला आत्मा सम्यग्दर्शन सहित ही जन्मता है और इसीलिए वह पुरुष ही होता है। यदि ऐसा मानें कि किसी कालमे एक स्त्री तीर्थंकर हो तो भूत और भविष्यकी अपेक्षासे (–चाहे जितने लम्बे समयमे हो तथापि) अनत स्त्रियाँ तीर्थंकर हो और इसी कारण यह सिद्धात भी टूट जायगा कि सम्यग्दर्शन सहित आत्मा स्त्री रूपमे पैदा नही होता, इसलिये स्त्री को तीर्थंकर मानना सो मिथ्या मान्यता है और ऐसा मानने वाले ने आत्मा की शुद्ध दशाका स्वरूप नही जाना। वह यथार्थमे अपने शुद्ध स्वरूप का और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोका अवर्णवाद है।

(६) किसी भी कर्मभूमिकी स्त्रीके प्रथमके तीन उत्तम सहननका उदय ही नही होता,*जब जीवके केवलज्ञान हो तब पहला ही सहनन होता है ऐसा केवलज्ञान और पहले सहननके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। स्त्री के पांचवें गुणस्थानसे ऊपरकी अवस्था प्रगट नही होती, तथापि ऐसा मानना कि स्त्रीके शरीरवान जीवको उसी भवमे केवलज्ञान होता है सो अपने शुद्ध

* देखो गोमट्टसार कर्मकाड गाथा ३२।

स्वरूपका अवर्णवाद है और उपचारसे अनंत केवली भगवानोंका तथा साधु संघका अवर्णवाद है।

(७) भगवानकी दिव्यध्वनि को देव, मनुष्य, तिर्यंच—सर्व जीव अपनी अपनी भाषामें अपने ज्ञानकी योग्यतानुसार समझते हैं; उस निरक्षर ध्वनिको ॐकार ध्वनि भी कहा है। श्रोताओंके कर्ण प्रदेशतक वह ध्वनि न पहुँचे वहाँ तक वह अनक्षर ही है, और जब वह श्रोताओंके कर्णोंमें प्राप्त हो तब अक्षररूप होती है। (गो० जी० गा० २२७ टीका)

तालु, ओष्ठ आदिके द्वारा केवली भगवानकी वाणी नहीं खिरती किन्तु सर्वांग निरक्षरी वाणी खिरती है, इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्धस्वरूपका और उपचारसे केवली भगवानका अवर्णवाद है।

(८) सातवें गुणस्थानसे वद्य वन्दकभाव नहीं होता, इसलिये वहाँ व्यवहार विनय-वैयावृत्य आदि नहीं होते। ऐसा मानना कि केवली किसी का विनय करे या कोई जीव केवलज्ञान होनेके बाद गृहस्थ-कुटुम्बियोंके साथ रहे या गृह कार्यमें भाग लेता है—सो तो वीतरागको सरागी माना, और ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है कि किसी भी द्रव्यस्त्रीके केवलज्ञान उत्पन्न होता है। 'कर्मभूमिकी महिला के प्रथम तीन संहनन होते ही नहीं और चौथा संहनन हो तब वह जीव ज्यादासे ज्यादा सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है' (देखो गोमट्टसार कर्मकांड गाथा २९-३२) इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्तकेवली भगवानका अवर्णवाद है।

(९) कुछ लोगोंका ऐसा मानना है कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता सो यह मान्यता भूलसे भरी हुई है। आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है, ज्ञान क्या नहीं जानता ? ज्ञान सबको जानता है ऐसी उसमें शक्ति है। और वीतराग विज्ञानके द्वारा वह शक्ति प्रगट कर सकता है। पुनश्च कोई ऐसा मानते हैं कि केवलज्ञानी आत्मा सर्वद्रव्य, उसके अनन्तगुण और उसकी अनंत-पर्यायों को एक साथ जानता है तथापि उसमेंसे कुछ जाननेमें नहीं आता—जैसे कि एक बच्चा दूसरेसे कितना बड़ा, कितने हाथ लम्बा, एक घर दूसरे

घरसे कितने हाथ दूर है इत्यादि बाते केवलज्ञानमे मालूम नही होती ।' सो यह मान्यता सदोष है । इसमे आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोका अवर्णवाद है । भाविकालमे होनहार, सर्व द्रव्यकी सर्व पर्याय भी केवलज्ञानीके वर्तमान ज्ञानमे निश्चितरूप प्रतिभासित है ऐसा न मानना वह भी केवलीको न मानना है ।

(१०) ऐसा मानना कि केवली तीर्थंकर भगवान ने ऐसा उपदेश किया है कि 'शुभ रागसे धर्म होता है, शुभ व्यवहार करते २ निश्चय धर्म होता है' सो यह उनका अवर्णवाद है । "शुभभावके द्वारा धर्म होता है इसीलिये भगवानने शुभभाव किये थे । भगवान ने तो दूसरों का भला करने मे अपना जीवन अर्पण कर दिया था" इत्यादि रूपसे भगवान की जीवन कथा कहना या लिखना सो अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनत केवली भगवानोका अवर्णवाद है ।

(११) **प्रश्न**—यदि भगवान ने परका कुछ नही किया तो फिर जगदुद्धारक, तरण तारण, जीवनदाता, बोधिदाता इत्यादि उपनामोसे क्यो पहचाने जाते है ?

उत्तर—ये सब नाम उपचारसे है, जब भगवानको दर्शनविशुद्धिकी भूमिकामे अनिच्छकभावसे धर्मराग हुआ, तब तीर्थंकर नामकर्म बँध गया । तत्त्वस्वरूप यो है कि भगवानको तीर्थकर प्रकृति बँधते समय जो शुभभाव हुवा था वह उनने उपादेय नही माना था, किंतु उस शुभभाव और उस तीर्थकर नामकर्म–दोनो का अभिप्रायमे निषेध ही था । इसीलिये वे रागको नष्ट करनेका प्रयत्न करते थे । अतमे राग दूर कर वीतराग हुये फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ और स्वय दिव्यध्वनि प्रगट हुई, योग्य जीवोने उसे सुनकर मिथ्यात्वको छोडकर स्वरूप समझा और ऐसे जीवोने उपचार विनयसे जगत्-उद्धारक, तरणतारण, इत्यादि नाम भगवानके दिये । यदि वास्तवमे भगवान ने दूसरे जीवोका कुछ किया हो या कर सकते हो तो जगत्के सब जीवोको मोक्षमे साथ क्यो नही लेगये ? इसलिये शास्त्रका कथन किस नयका है यह लक्ष्यमे रखकर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये । भगवानको परका कर्ता ठहराना भी भगवानका अवर्णवाद है ।

इत्यादि प्रकारसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमें दोषोकी कल्पना आत्मा के अनत संसारका कारण है । इसप्रकार केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरुप कहा ।

४. श्रुतके अवर्णवादका स्वरूप

१—जो शास्त्र न्याय की कसौटी चढाने पर अर्थात् सम्यग्ज्ञानके द्वारा परीक्षा करने पर प्रयोजनभूत बातोमे सच्चे—यथार्थ मालूम पडे उसे ही यथार्थ-ठीक मानना चाहिये । जब लोगोकी स्मरण शक्ति कमजोर हो तब ही शास्त्र लिखने की पद्धति होती है, इसीलिये लिखे हुए शास्त्र गणधर श्रुत केवली के गूथे हुये शब्दोमें ही न हो, किन्तु सम्यग्ज्ञानी आचार्यो ने उनके यथार्थ भाव जानकर अपनी भाषामे शास्त्ररूपमे गूथे हैं वह भी सत् श्रुत हैं ।

(२) सम्यग्ज्ञानी आचार्य आदि के बनाये हुये शास्त्रो की निंदा करना सो अपने सम्यग्ज्ञानकी ही निंदा करनेके सदृश है, क्योकि जिसने सच्चे शास्त्रकी निंदा की उसका ऐसा भाव हुवा कि मुझे ऐसे सच्चे निमित्तका सयोग न हो किन्तु खोटे निमित्तका सयोग हो अर्थात् मेरा उपादान सम्यग्ज्ञान के योग्य न हो किन्तु मिथ्याज्ञानके योग्य हो ।

(३) किसी ग्रन्थके कर्ताके रूपमे तीर्थंकर भगवानका, केवली का, गणधरका या आचार्यका नाम दिया हो इसीलिये उसे सच्चा ही शास्त्र मान लेना सो न्याय संगत नही । मुमुक्ष जीवोको तत्त्व दृष्टिसे परीक्षा करके सत्य-असत्यका निर्णय करना चाहिये। भगवान के नामसे किसी ने कल्पित शास्त्र बनाया हो उसे सत्श्रुत मान लेना सो सत्श्रुतका अवर्णवाद है, जिन शास्त्रोमें मासभक्षण, मदिरापान, वेदनासे पीडितके मैथुन सेवन, रात्रिभोजन इत्यादिको निर्दोप कहा हो, भगवती सती को पांच पति कहे हो, तीर्थंकर भगवानके दो माता, दो पिता कहे हो वे शास्त्र यथार्थ नही, इसलिये सत्यासत्य की परीक्षा कर असत्य की मान्यता छोड़ना ।

५. संघके अवर्णवादका स्वरूप

प्रथम निश्चय सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्रगट करना चाहिये ऐसा नियम है,

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जिसे सातवाँ—छट्ठा गुण-स्थान प्रगट हो उसके सच्चा साधुत्व होता है, उनके शरीर पर की स्पर्शेन्द्रियका राग, लज्जा तथा रक्षादिक का राग भी दूर हो जाता है, इसीलिये उनके सर्दी, गर्मी, बरसात आदि से रक्षा करने का भाव नही होता, मात्र सयमके हेतु इस पदके योग्य निर्दोष शुद्ध आहार की इच्छा होती है, इसीसे उस गुण-स्थानवाले जीवोके अर्थात् साधुके शरीर या सयम की रक्षा के लिये भी वस्त्र नही होते। तथापि ऐसा मानना कि जब तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते है तब धर्म बुद्धिसे देव उन्हे वस्त्र देते है और भगवान उसे अपने साथ रखते है' सो न्याय विरुद्ध है। इसमे सघ और देव दोनो का अवर्णवाद है। स्त्रीलिगके साधुत्व मानना, अतिशूद्र जीवोको साधुत्व होना मानना सो सघका अवर्णवाद है। देहके ममत्वसे रहित, निर्ग्रंथ, वीतराग मुनियो के देहको अपवित्र कहना, निर्लज्ज कहना, बेशरम कहना, तथा ऐसा कहना कि 'जब यहाँ भी दु ख भोगते है तो परलोकमे कैसे सुखी होगे' सो सघका अवर्णवाद है।

साधु-सघ चार प्रकारका है। वह इस प्रकार है—जिनके ऋद्धि प्रगट हुई हो सो ऋषि, जिनके अवधि-मनः पर्यय ज्ञान हो सो मुनि, जो इद्रियो को जीते सो यति और अनगार यानि सामान्य साधु।

६. धर्म के अवर्णवादका स्वरूप

जो आत्म स्वभावके स्वाश्रयसे शुद्ध परिणमन है सो धर्म है, सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर यह धर्म प्रारभ होता है। शरीरकी क्रियासे धर्म नही होता, पुण्य विकार है अत उसमे धर्म नही होता तथा वह धर्ममे सहायक नही होता। ऐसा धर्मका स्वरूप है। इसमे विपरीत मानना सो धर्मका अवर्णवाद है। "जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए धर्ममे कुछ भी गुण नही हैं, उसके सेवन करनेवाले असुर होगे, तीर्थंकर भगवान ने जो धर्म कहा है उसी रूपसे जगत् के अन्यमतोके प्रवर्तक भी कहते है, सबका ध्येय समान है।" ऐसा मानना सो धर्मका अवर्णवाद है।

आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझना, और सच्ची मान्यता करना तथा खोटी मान्यता छोडना सो सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे आत्माकी अहिंसा

है और क्रम क्रमसे सम्यक् चारित्र बढने पर जितना राग-द्वेपका अभाव होता है उतनी चारित्र अपेक्षा आत्माकी अहिंसा है। राग द्वेप सर्वथा दूर हो जाता है यह आत्मा की सपूर्ण अहिंसा है। ऐसी अहिंसा जीवका धर्म है इसप्रकार अनत ज्ञानियो ने कहा है, इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो धर्म का अवर्णवाद है।

७. देवके अवर्णवादका स्वरूप

स्वर्गके देवके एक प्रकारका अवर्णवाद ५ वे पैराग्राफमे वतलाया है। उसके वाद ये देव मासभक्षरग करते है, मद्यपान करते है, भोजनादिक करते है, मनुष्यिनी—स्त्रियोके साथ कामसेवन करते हैं या मनुष्यो, देवीसे इत्यादि मान्यता देव का अवर्णवाद है।

८—ये पाँच प्रकारके अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आस्रवके कारण है और जो दर्शन मोह है सो अनत ससारका कारण है।

९. इस सूत्रका सिद्धांत

शुभ विकल्पसे धर्म होता है ऐसी मान्यतारूप अगृहीत मिथ्यात्व तो जीवके अनादिसे चला आया है। मनुष्य गतिमे जीव जिस कुलमे जन्म पाता है उस कुलसे अधिकतर किसी न किसी प्रकारसे धर्म की मान्यता होती है। पुनश्च उस कुलधर्म मे किसीको देवरूप से, किसीको गुरु रूपसे, किसी पुस्तकको शास्त्ररूपसे और किसी क्रियाको धर्मरूपसे माना जाता है। जीवको वचपनमे इस मान्यताका पोपण मिलता है और वडी उम्रमे अपने कुलके धर्मस्थानमे जानेपर वहाँ भी मुख्यरूपसे उसी मान्यता का पोषण मिलता है। इस अवस्थामे जीव विवेक पूर्वक सत्य असत्य का निर्णय अधिकतर नही करता और सत्य-असत्यके विवेक से रहित दशा होने से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर अनेक प्रकार झूठे आरोप करता है। यह मान्यता इस भवमे नई ग्रहण की हुई होने से और मिथ्या होनेसे उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ये अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व अनत ससार के कारण हैं। इसलिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र-धर्मका और अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर अगृहीत तथा गृहीत दोनो मिथ्यात्वका नाश करने

के लिए ज्ञानियोका उपदेश है। (अगृहीत मिथ्यात्वका विषय आठवे बंध अधिकारमे आवेगा)। आत्माको न मानना, सत्य मोक्षमार्ग को दूषित-कल्पित करना, असत् मार्गको सत्य मोक्षमार्ग मानना, परम सत्य वीतरागी विज्ञानमय उपदेश की निंदा करना-इत्यादि जो जो कार्य सम्यग्दर्शन को मलिन करते है वे सब दर्शन मोहनीयके आस्रव के कारण है ॥ १३ ॥

अब चारित्र मोहनीयके आस्रवके कारण बतलाते हैं

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

अर्थ—[**कषायोदयात्**] कषायके उदयसे [**तीव्र परिणामः**] तीव्र परिणाम होना सो [**चारित्रमोहस्य**] चारित्र मोहनीयके आस्रवका कारण है।

टीका

१—कषायकी व्याख्या इस अध्यायके पाँचवें सूत्रमे कही जा चुकी है। उदयका अर्थ विपाक—अनुभव है। ऐसा समझना चाहिये कि जीव कषाय कर्मके उदयमे युक्त होकर जितना राग-द्वेष करता है उतना रस जीव के कषायका उदय—विपाक (-अनुभव) हुआ। कषायकर्मके उदय मे युक्त होनेसे जीवको जो तीव्रभाव होता है वह चारित्रमोहनीयकर्म के आस्रवका कारण (-निमित्त) है ऐसा समझना।

२—चारित्रमोहनीयके आस्रवका इस सूत्र मे सक्षेपसे वर्णन है, उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) अपने तथा परको कषाय उत्पन्न करना।

(२) तपस्वीजनोको चारित्र दोष लगाना।

(३) सक्लेश परिणामको उत्पन्न करानेवाला भेष, व्रत इत्यादि धारण करना इत्यादि लक्षणवाला परिणाम कषायकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) गरीबोका अतिहास्य करना।

(२) बहुत ज्यादा व्यर्थ प्रलाप करना। (३) हँसीका स्वभाव रखना।

इत्यादि लक्षणवाला परिणाम हास्यकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) विचित्र क्रीडा करनेमे तत्परता होना।

(२) व्रत–शीलमे अरुचि परिणाम करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम रतिकर्मके आस्रवके कारण है।

(१) परको अरति उत्पन्न कराना। (२) परकी रतिका विनाश करना।

(३) पाप करनेका स्वभाव होना। (४) पापका संसर्ग करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम अरतिकर्मके आस्रवके कारण है।

(१) दूसरेको शोक पैदा कराना। (२) दूसरेके शोकमे हर्ष मानना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम शोककर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) स्वयके भयरूप भाव रखना। (२) दूसरेको भय उत्पन्न कराना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम भयकर्मके आस्रवके कारण हैं।

भली क्रिया—आचारके प्रति ग्लानि आदिके परिणाम होना सो जुगुप्साकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) झूठ बोलनेका स्वभाव होना। (२) मायाचारमे तत्पर रहना।

(३) परके छिद्रकी आकाक्षा अथवा बहुत ज्यादा राग होना इत्यादि परिणाम स्त्रीवेदकर्मके आस्रवके कारण है।

(१) थोडा क्रोध होना। (२) इष्ट पदार्थोमें आसक्तिका कम होना।

(३) अपनी स्त्रीमे संतोष होना।

इत्यादि परिणाम पुरुषवेदकर्मके आस्रवके कारण है।

(१) कषायकी प्रबलता होना।

(२) गुह्य इद्रियोका छेदन करना। (३) परस्त्रीगमन करना।

इत्यादि परिणाम होना सो नपुसकवेदके आस्रवका कारण है।

३—'तीव्रता बन्धका कारण है और सर्वजघन्यता बन्धका कारण नही है' यह सिद्धान्त आत्माके समस्त गुणोमे लागू होता है। आत्मामे होने वाला मिथ्यादर्शनका जो जघन्यसे भी जघन्य भाव होता है वह दर्शन-

मोहनीय कर्मके आस्रवका कारण नही है। यदि अंतिम अंश भी बन्ध का कारण हो तो कोई भी जीव व्यवहारमे कर्म रहित नही हो सकता (देखो अध्याय ५ सूत्र ३४ की टीका) ॥ १४ ॥

अब आयुकर्मके आस्रवके कारण कहते है—

नरकायुके आस्रवके कारण

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ—[**बह्वारंभपरिग्रहत्वं**] बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना ये [**नारकस्यायुषः**] नरकायुके आस्रवके कारण हैं।

१ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखनेका जो भाव है सो नरकायुके आस्रवका कारण है। 'बहु' शब्दसख्यावाचक तथा परिणामवाचक है, ये दोनो अर्थ यहाँ लागू होते है। अधिक सख्यामे आरभ—परिग्रह रखनेसे नरकायुका आस्रव होता है। आरभ परिग्रह रखनेके बहु परिणामसे नरकायुका आस्रव होता है, बहु आरंभ-परिग्रहका जो भाव है सो उपादान कारण है और जो बाह्य बहुत आरभ-परिग्रह है सो निमित्तकारण है।

२. **आरम्भ**—हिंसादि प्रवृत्तिका नाम आरम्भ है। जितना भी आरम्भ किया जाता है उसमे स्थावरादि जीवोका नियमसे वध होता है। आरम्भके साथ बहु' शब्दका समास करके ज्यादा आरम्भ अथवा बहुत तीव्र परिणामसे जो आरम्भ किया जाता है वह बहु आरम्भ है, ऐसा अर्थ समझना।

३. **परिग्रह**—'यह वस्तु मेरी है, मै इसका स्वामी हूँ' ऐसा परमे अपनेपनका अभिमान अथवा पर वस्तुमे 'यह मेरी है' ऐसा जो सकल्प है सो परिग्रह है। केवल बाह्य धन-धान्यादि पदार्थोंके ही 'परिग्रह' नाम लागू होता है, यह बात नही है। बाह्यमे किसी भी पदार्थके न होने पर भी यदि भावमे ममत्व हो तो वहाँ भी परिग्रह कहा जा सकता है।

४ सूत्रमे जो नरकायुके आस्रवके कारण बताये हैं वे सक्षेपसे है, उन भावोका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है —

(१) मिथ्यादर्शन सहित हीनाचारमें तत्पर रहना।

(२) अत्यन्त मान करना।

(३) शिलाभेदको तरह अत्यन्त तीव्र क्रोध करना।

(४) अत्यन्त तीव्र लोभका अनुराग रहना।

(५) दया रहित परिणामोंका होना।

(६) दूसरोंको दुःख देनेका विचार रखना।

(७) जीवोंको मारने तथा बांधनेका भाव करना।

(८) जीवोंके निरन्तर घात करनेका परिणाम रखना।

(९) जिसमें दूसरे प्राणीका वध हो ऐसे झूठे वचन बोलनेका स्वभाव रखना।

(१०) दूसरोंके धन हरण करनेका स्वभाव रखना।

(११) दूसरोंकी स्त्रियोंके आलिंगन करनेका स्वभाव रखना।

(१२) मैथुन सेवनसे विरक्ति न होना।

(१३) अत्यन्त आरम्भमें इंद्रियोंको लगाये रखना।

(१४) काम भोगोंकी अभिलाषाको सदैव बढ़ाते रहना।

(१५) शील सदाचार रहित स्वभाव रखना।

(१६) अभक्ष्य भक्षणके ग्रहण करने अथवा करानेका भाव रखना।

(१७) अधिक काल तक वैर बांधे रखना।

(१८) महा क्रूर स्वभाव रखना।

(१९) बिना विचारे रोने-कूटनेका स्वभाव रखना।

(२०) देव-गुरु-शास्त्रोंमें मिथ्या दोष लगाना।

(२१) कृष्ण लेश्याके परिणाम रखना।

(२२) रौद्रध्यानमें मरण करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम नरकायुके कारण होते हैं ॥ १५ ॥

अब तिर्यंचायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थः—[**माया**] माया—छलकपट [**तैर्यग्योनस्य**] तिर्यंचायुके आस्रवका कारण है।

टीका

जो आत्माका कुटिल स्वभाव है सो माया है, इससे तिर्यंच योनि का आसूव होता है। तिर्यंचायुके आसूवके कारणका इस सूत्रमे जो वर्णन किया है वह सक्षेपमे है। उन भावोका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) मायासे मिथ्या धर्मका उपदेश देना।

(२) बहुत आरम्भ—परिग्रहमे कपटयुक्त परिणाम करना।

(३) कपट—कुटिल कर्ममे तत्पर होना।

(४) पृथ्वी भेद सदृश क्रोधीपना होना।

(५) शीलरहितपना होना।

(६) शब्दसे—चेष्टासे तीव्र मायाचार करना।

(७) परके परिणाममे भेद उत्पन्न कराना। (८) अति अनर्थ प्रगट करना।

(९) गन्ध-रस-स्पर्शका विपरीतपना होना।

(१०) जाति-कुल-शीलमे दूषण लगाना।

(११) विसवाद मे प्रीति रखना। (१२) दूसरे के उत्तम गुणको छिपाना।

(१३) अपने मे जो गुण नही है उन्हे भी बतलाना।

(१४) नील-कपोत लेश्यारूप परिणाम करना।

(१५) आर्तध्यानमे मरण करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम तिर्यचायुके आस्रवके कारण है॥१६॥

अब मनुष्यायु के आसूव के कारण बतलाते हैं

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थः—[अल्पारम्भपरिग्रहत्वं] थोडा आरम्भ और थोडा परिग्रहपन [मानुषस्य] मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है।

टीका

नरकायुके आस्रवका कथन १५ वे सूत्रमे किया जा चुका है, उस

नरकायुके आस्रवसे जो विपरीत है सो मनुष्यायुके आस्रवका कारण है। इस सूत्रमे मनुष्यायुके कारणका सक्षेपमे कथन है, उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) मिथ्यात्वसहित बुद्धिका होना। (२) स्वभावमे विनय होना।
(३) प्रकृतिमे भद्रता होना।
(४) परिणामोमें कोमलता होनी और मायाचारका भाव न होना।
(५) श्रेष्ठ आचरणोमे सुख मानना।
(६) वेणु की रेखाके समान क्रोधका होना।
(७) विशेष गुणी पुरुषोके साथ प्रिय व्यवहार होना।
(८) थोडा आरभ और थोडा परिग्रह रखना।
(९) संतोष रखनेमे रुचि करना। (१०) प्राणियोके घातसे विरक्त होना।
(११) बुरे कार्योसे निवृत्त होना।
(१२) मनमे जो बात है उसी के अनुसार सरलतासे बोलना।
(१३) व्यर्थ बकवाद न करना। (१४) परिणामोमे मधुरताका होना।
(१५) सभी लोकोके प्रति उपकार बुद्धि रखना।
(१६) परिणामोमे वैराग्यवृत्ति रखना।
(१७) किसी के प्रति ईर्ष्याभाव न रखना।
(१८) दान देनेका स्वभाव रखना।
(१९) कपोत तथा पीत लेश्या सहित होना।
(२०) धर्मध्यानमे मरण होना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम मनुष्यायुके आस्रवके कारण है।

प्रश्न—जिसकी बुद्धि मिथ्यादर्शनसहित हो उसके मनुष्यायुका आस्रव क्यो कहा ?

उत्तर—मनुष्य, तिर्यंचके सम्यक्त्व परिणाम होने पर वे कल्पवासी देवकी आयुका बध करते हैं, वे मनुष्यायुका बध नही करते, इतना बतानेके लिये उपरोक्त कथन किया है ॥ १७ ॥

मनुष्यायुके आस्रवका कारण (चालू है)

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

अर्थः—[**स्वभावमार्दवं**] स्वभावसे ही सरल परिणाम होना [**च**] भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है।

टीका

१—इस सूत्रको सत्रहवे सूत्रसे पृथक् लिखनेका कारण यह है कि इस सूत्रमे बताई हुई बात देवायु के आस्रवका भी कारण होती है।

२—यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ 'आत्माका शुद्ध स्वभाव' न समझना क्योकि निज स्वभाव बधका कारण नही होता। यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ है 'किसी के बिना सिखाये।' मार्दव भी आत्माका एक शुद्ध स्वभाव है, परतु यहाँ मार्दवका अर्थ 'शुभभावरूप (मंदकषायरूप) सरल परिणाम' करना, क्योकि जो शुद्धभावरूप मार्दव है वह बधका कारण नही है किंतु शुभभावरूप जो मार्दव है वही बधका कारण है ॥ १८ ॥

अब सभी आयुर्योके आस्रवके कारण बतलाते हैं

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

अर्थः—[**निःशीलव्रतत्वं च**] शील और व्रतका जो अभाव है वह भी [**सर्वेषाम्**] सभी प्रकार की आयुके आस्रवका कारण है।

टीका

प्रश्न—जो शील और व्रतरहित होता है उसके देवायुका आस्रव कैसे होता है ?

उत्तरः—भोगभूमिके जीवोके शील वृतादिक नही है तो भी देवायु का ही आस्रव होता है।

२—यह बात विशेष ध्यानमे रहे कि मिथ्यादृष्टि के सच्चे शील या वृत नही होते। मिथ्यादृष्टि जीव चाहे जितने शुभरागरूप शीलवृत पालता हो तो भी वह सच्चे शीलवृतसे रहित ही है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद यदि जीव अणुव्रत या महाव्रत धारण करे तो उतने मात्रसे वह जीव आयुके

वंध से रहित नही हो जाता, सम्यग्दृष्टिके अणुव्रत और महाव्रत भी देवायुके आस्रवके कारण हैं, क्योकि वह भी राग है। मात्र वीतरागभाव ही वधका कारण नही होता, किसी भी प्रकारका राग हो वह आस्रव होनेसे वधका ही कारण है ॥ १९ ॥

अब देवायुके आस्रवके कारण वतलाते हैं

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

अर्थः—[**सरागसंयमसंयमासयमाकामनिर्जरावालतपांसि**] सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और वालतप [**दैवस्य**] ये देवायु के आस्रवके कारण हैं।

टीका

१—इस सूत्रमे वताये गये भावोका अर्थ पहले १२ वे सूत्रकी टीकामे आ चुका है। परिणाम विगडे विना मदकषाय रखकर दु ख सहन करना सो अकाम निर्जरा है।

२—मिथ्यादृष्टिके सरागसयम और सयमासयम नही होते किन्तु 'वालतप' होता है। इसलिये वाह्यव्रत धारण किये होने मात्रसे ऐसा नही मान लेना कि उस जीवके सरागसयम या सयमासयम है। सम्यग्दर्शन होने के वाद पाँचवे गुणस्थानमे अणुवृत अर्थात् सयमासयम और छट्ठे गुणस्थानमे महावृत अर्थात् सरागसयम होता है। ऐसा भी होता है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी अणुवृत या महाव्रत नही होते। ऐसे जीवोके वीतरागदेवके दर्शन–पूजा, स्वाध्याय, अनुकम्पा इत्यादि शुभभाव होते हैं, पहलेसे चौथे गुणस्थान पर्यंत उस तरहका शुभभाव होता है, किन्तु वहाँ व्रत नही होते। अज्ञानी के माने हुये वृत और तपको वालवृत और वालतप कहा है। 'वालतप' शब्द तो इस सूत्रमे वतलाया है और वालवृतका समावेश ऊपरके (१९ वे) सूत्रमे होता है।

३—यहाँ भी यह जानना कि सरागसयम और सयमासयम मे

जितना वीतरागी भावरूप सयम प्रगट हुआ है वह आस्रवका कारण नहीं है किन्तु उसके साथ जो राग रहता है वह आसृवका कारण है ॥ २० ॥

देवायुके आसृवके कारण

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थः—[**सम्यक्त्वं च**] सम्यग्दर्शन भी देवायु के आस्रव का कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ रहा हुआ जो राग है वह भी देवायुके आसृवका कारण है।

टीका

१—यद्यपि सम्यग्दर्शन शुद्धभाव होनेसे किसी भी कर्मके आसृवका कारण नही है तथापि उस भूमिकामे जो रागाश मनुष्य और तिर्यचके होता है वह देवायुके आसृवका कारण होता है। सराग सयम और सयमासयम के सम्बन्ध मे भी यही बात है यह ऊपर कहा गया है।

२—देवायुके आसृवके कारण सम्बन्धी २० वाँ सूत्र कहने के बाद यह सूत्र पृथक् लिखनेका यह प्रयोजन है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा तिर्यंच को जो राग होता है वह वैमानिक देवायुके ही आसृवका कारण होता है, वह राग हलके देवोकी (भवनवासी व्यतर और ज्योतिषी देवोकी) आयुका कारण नही होता।

३—सम्यग्दृष्टिके जितने अशमे राग नही है उतने अश मे आसृव वन्ध नही है और जितने अशमे राग है उतने अशमे आसृव वध है। (देखो श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय–गाथा २१२ से २१४) सम्यग्दर्शन स्वय अबध है अर्थात् वह स्वय किसी तरहके वन्ध का कारण नही है। और ऐसा होता ही नही कि मिथ्यादृष्टिको किसी भी अशमे राग का अभाव हो इसीलिये वह सपूर्णरूपसे हमेशा वन्धभावमे ही होता है।

यहाँ आयुकर्मका आसृव सम्बन्धी वर्णन पूर्ण हुआ॥ २१ ॥

अब नामकर्मके आसृवके कारण बताते हैं—

अशुभ नामकर्मके आसृवके कारण

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थः—[**योगवक्रता**] योगमे कुटिलता [**विसंवादन च**] और विसवादन अर्थात् अन्यथा प्रवर्तन [**अशुभस्यनाम्नः**] अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

१—आत्माके परिस्पदनका नाम योग है (देखो इस अध्यायके पहले सूत्रकी टीका) मात्र अकेला योग सातावेदनीयके आस्रवका कारण है। योग मे वक्रता नही होती किन्तु उपयोगमे वक्रता (–कुटिलता) होती है। जिस योगके साथ उपयोग की वक्रता रही हो वह अशुभ नामकर्मके आस्रव का कारण है। आस्रवके प्रकरणमे योगकी मुख्यता है और वन्धके प्रकरण मे वन्व परिणाम की मुख्यता है, इसीलिये इस अध्यायमे और इस सूत्र मे योग शव्द का प्रयोग किया है। परिणामोकी वक्रता जड–मन, वचन या कायमे नही होती तथा योगमे भी नही होती किन्तु उपयोगमे होती है। यहाँ आस्रवका प्रकरण होने और आस्रवका कारण योग होने से, उपयोगकी वक्रताको उपचारसे योग कहा है। योगके विसवादनके सम्वन्धमे भी इसी तरह समझना।

२ **प्रश्न**—विसवादनका अर्थ अन्यथा प्रवर्तन होता है और उस का समावेश वक्रतामे हो जाता है तथापि 'विसवादन' शव्द अलग किस लिये कहा?

उत्तर—जीव की स्व की अपेक्षासे योग वक्रता कही जाती है और परकी अपेक्षासे विसावादन कहा जाता है। मोक्षमार्गमे प्रतिकूल ऐसी मन वचन कायद्वारा जो खोटी प्रयोजना करना सो योग वक्रता है और दूसरे को वैसा करनेके लिये कहना सो विसवादन है। कोई जीव शुभ करता हो उसे अशुभ करने की कहना सो भी विसवादन है, कोई जीव शुभराग करता हो और उसमे धर्म मानता हो उसे ऐसा कहना कि, शुभरागसे धर्म नही होता किंतु वध होता है और यथार्थ समझ तथा वीतराग भावसे धर्म होता है ऐसा उपदेश देना सो विसवादन नही है क्योकि उसमे तो सम्यक् न्यायका प्रतिपादन है, इसीलिये उस कारण से वध नही होता।

३—इस सूत्रके 'च' शव्दमे मिथ्यादर्शनका सेवन किसी को बुरा

वचन बोलना, चित्त की अस्थिरता, कपटरूप माप-तौल, परकी निंदा, अपनी प्रशसा इत्यादिका समावेश हो जाता है ॥ २२ ॥

शुभ नाम कर्मके आस्रवका कारण

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

अर्थः—[तद्विपरीतं] उससे अर्थात् अशुभ नाम कर्मके आस्रवके जो कारण कहे उनसे विपरीतभाव [शुभस्य] शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण है।

टीका

१—बाईसवे सूत्रमे योगकी वक्रता और विसवादको अशुभ कर्मके आस्रवके कारण कहे उससे विपरीत अर्थात् सरलता होना और अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव होना सो शुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण है।

२—यहाँ 'सरलता' शब्दका अर्थ 'अपनी शुद्धस्वभावरूप सरलता' न समझना किन्तु 'शुभभावरूप सरलता' समझना। और जो अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव है सो भी शुभभावरूप समझना। शुद्ध भाव तो आस्रव-बंधका कारण नही होता ॥ २३ ॥

अब तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽ-भीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसीसाधु—समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्-यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकर-त्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—[दर्शनविशुद्धि] १—दर्शनविशुद्धि, [विनयसंपन्नता] २—विनयसपन्नता, [शीलव्रतेष्वनतिचार.] ३—शील और व्रतोमे अनतिचार अर्थात् अतिचारका न होना, [अभीक्ष्णज्ञानोपयोग] ४—निरतर ज्ञानोपयोग

[संवेगः] ५–सवेग अर्थात् ससारसे भयभीत होना [शक्तितस्त्यागतपसी] ६-७-शक्तिके अनुसार त्याग तथा तप करना, [साधु समाधिः] ८–साधु-समाधि [वैयावृत्यकरणम्] ९–वैयावृत्य करना, [अर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचन भक्ति] १०-१३–अर्हंत्–आचार्य–बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति करना, [आवश्यकापरिहाणिः] १४–आवश्यकमे हानि न करना, [मार्गप्रभावना] १५–मार्गप्रभावना और [प्रवचनवत्सलत्वम्] १६–प्रवचन–वात्सल्य [इति तीर्थकरत्वस्य] ये सोलह भावना तीर्थ-कर–नामकर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

इन सभी भावनाओमे दर्शनविशुद्धि मुख्य है, इसीलिये वह प्रथम ही बतलाई गई है, इसके अभावमे अन्य सभी भावनाये हो तो भी तीर्थकर नाम कर्मका आश्रव नही होता।

सोलह भावनाओं के सम्बन्धमें विशेष वर्णनः—

(१) दर्शन विशुद्धि

दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन की विशुद्धि। सम्यग्दर्शन स्वय आत्माकी शुद्ध पर्याय होने से बधका कारण नही है, किन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामे एक खास प्रकार की कषायकी विशुद्धि होती है, वह तीर्थंकर नाम-कर्मके बधका कारण होती है। दृष्टात—वचन कर्मको (अर्थात् वचनरूपी कार्यको) योग कहा जाता है। परतु 'वचनयोग' का अर्थ ऐसा होता है कि 'वचन द्वारा होनेवाला जो आत्मकर्म सो योग है' क्योकि जड वचन किसी बधके कारण नही हैं। आत्मामे जो आस्रव होता है वह आत्माकी चंचलता से होता है, पुद्गलसे नही होता, पुद्गल तो निमित्तमात्र है।

सिद्धांतः—दर्शनविशुद्धिको तीर्थकर नामकर्मके आस्रवका कारण कहा है, वहाँ वास्तवमें दर्शनकी शुद्धि स्वय आस्रवबधका कारण नही है किंतु राग ही बंधका कारण है। इसीलिये दर्शनविशुद्धिका अर्थ ऐसा समझना योग्य है कि 'दर्शनके साथ रहा हुआ राग।' किसी भी प्रकारके बन्ध का कारण कषाय ही है। सम्यग्दर्शनादि बन्धके कारण नही है। सम्य-

ग्दर्शन जो कि आत्माको बधसे छुडानेवाला है वह स्वयं बन्धका कारण कैसे हो सकता है ? तीर्थंकर नामकर्म भी आस्रव–बन्ध ही है, इसीलिये सम्यग्दर्शनादि भी वास्तवमे उसका कारण नही है। सम्यग्दृष्टि जीवके जिनोपदिष्ट निर्ग्रंथ मार्गमे जो दर्शन सम्बन्धी धर्मानुराग होता है वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शनके शकादि दोष दूर हो जानेसे वह विशुद्धि होती है। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ४९ से परकी टीका पृष्ठ २२१)

(२) विनयसंपन्नता

१—विनयसे परिपूर्ण रहना सो विनयसपन्नता है। सम्यग्ज्ञानादि गुणोका तथा ज्ञानादि गुण सयुक्त ज्ञानीका आदर उत्पन्न होना सो विनय है, इस विनयमे जो राग है वह आस्रव बन्धका कारण है।

२—विनय दो तरहकी है–एक शुभभावरूप विनय है, उसे निश्चय विनय भी कहा जाता है, अपने शुभस्वरूपमे स्थिर रहना सो निश्चयविनय है; यह विनय बन्धका कारण नही है। दूसरी शुभभावरूप विनय है, उसे व्यवहार विनय भी कहते हैं। अज्ञानीके यथार्थ विनय होता ही नही। सम्यग्दृष्टिके शुभभावरूप विनय होता है और वह तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण है। छट्ठे गुणस्थानके बाद व्यवहार विनय नही होती किंतु निश्चय विनय होती है।

(३) शील और व्रतोंमें अनतिचार

'शील' शब्दके तीन अर्थ होते हैं (१) सत् स्वभाव (२) स्वदार सतोष और (३) दिग्व्रत आदि सात व्रत, जो अहिंसादि व्रतकी रक्षाके लिये होते हैं। सत् स्वभावका अर्थ क्रोधादि कपायके वश न होना है। यह शुभभाव है, जब अतिमद कषाय होती है तब यह होता है। यहाँ 'शील' का प्रथम और तृतीय अर्थ लेना, दूसरा अर्थ व्रत शब्दमे आजाता है। अहिंसा आदि व्रत है। अनतिचारका अर्थ है दोषोसे रहितपन।

(४) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगका अर्थ है सदा ज्ञानोपयोगमे रहना। सम्यग्ज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यमे विचार कर जो उसमे प्रवृत्ति करना सो

ज्ञानोपयोगका अर्थ है। ज्ञानका साक्षात् तथा परपरा फल विचारना। यथार्थ ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति और हिताहितकी समझ होती है, इसीलिये यह भी ज्ञानोपयोगका अर्थ है। अत यथार्थ ज्ञानको अपना हितकारी मानना चाहिये। ज्ञानोपयोगमे जो वीतरागता है वह बन्धका कारण नही है किंतु जो शुभभावरूप राग है वह बन्धका कारण है।

(५) संवेग

सदा ससारके दुखोसे भीरुताका जो भाव है सो सवेग है, उसमे जो वीतरागभाव है वह बधका कारण नही है किन्तु जो शुभराग है वह बधका कारण है। सम्यग्दृष्टियोके जो व्यवहार सवेग होता है वह रागभाव है, जब निर्विकल्प दशामे नही रह सकता तब ऐसा सवेगभाव निरन्तर होता है।

(६-७) शक्त्यनुसार त्याग तथा तप

१—त्याग दो तरह का है—शुद्धभावरूप और शुभभावरूप, उसमे जितनी शुद्धता होती है उतने अशमे वीतरागता है और वह बधका कारण नही है। सम्यग्दृष्टिके शक्त्यनुसार शुभभावरूप त्याग होता है, शक्तिसे कम या ज्यादा नही होता, शुभरागरूप त्यागभाव बधका कारण है। 'त्याग' का अर्थ दान देना भी होता है।

२—निज आत्माका शुद्ध स्वरूपमे संयमन करने से,—और स्वरूप विश्रान्त निस्तरग चैतन्यप्रतपन सो तप है, इच्छाके निरोधको तप कहते हैं अर्थात् ऐसा होने पर शुभाशुभ भावका जो निरोध सो तप है। यह तप सम्यग्दृष्टिके ही होता है, उसके निश्चयतप कहाजाता है। सम्यग्दृष्टिके जितने अशमें वीतराग भाव है उतने अशमे निश्चयतप है और वह बधका कारण नही है, किन्तु जितने अशमे शुभरागरूप व्यवहार तप है वह बधका कारण है। मिथ्यादृष्टिके यथार्थ तप नही होता, उसके शुभरागरूप तपको 'बालतप' कहा जाता है। 'बाल' का अर्थ है अज्ञान, मूढ। अज्ञानीका तप आदिका शुभभाव तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण हो ही नही सकता।

(८) साधु समाधि

सम्यग्दृष्टि साधुके तपमे तथा आत्मसिद्धिमे विघ्न आता देखकर उसे दूर करने का भाव और उनके समाधि बनी रहे ऐसा जो भाव है सो साधु समाधि है, यह शुभराग है। यथार्थतया ऐसा राग सम्यग्दृष्टिके ही होता है, किन्तु उनके वह रागकी भावना नही होती।

(९) वैयावृत्यकरण

वैयावृत्यका अर्थ है सेवा। रोगी, छोटी उमरके या वृद्ध मुनियो की सेवा करना सो वैयावृत्यकरण है। 'साधु समाधि' का अर्थ है कि उसमे साधुका चित्त सतुष्ट रखना और 'वैयावृत्यकरण' मे तपस्वियोके योग्य साधन एकत्रित करना जो सदा उपयोगी हो—इस हेतुसे जो दान दिया जावे सो वैयावृत्य है' किन्तु साधुसमाधि नही। साधुओके स्थानको साफ रखना, दु खके कारण उत्पन्न हुए देखकर उनके पैर दावना इत्यादि प्रकार से जो सेवा करना सो भी वैयावृत्य है, यह शुभराग है।

(१०-१३) अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति

भक्ति दो तरह की है—एक शुद्धभावरूप और दूसरी शुभभावरूप। सम्यग्दर्शन यह परमार्थ भक्ति अर्थात् शुद्धभावरूप भक्ति है। सम्यग्दृष्टिकी निश्चय भक्ति शुद्धात्म तत्त्वकी भावनारूप है, वह शुद्धभावरूप होने से बध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभ भावरूप जो सराग भक्ति होती हैं वह पच परमेष्ठीकी आराधनारूप है (देखो श्री हिन्दी समयसार, आस्रव अधिकार गाथा १७३ से १७६ जयसेनाचार्य कृत सस्कृत टीका, पृष्ठ२५०)

१—अर्हंत और आचार्यका पच परमेष्ठीमें समावेश हो जाता है। सर्वज्ञ केवली जिन भगवान अर्हंत हैं, वे सपूर्ण धर्मोपदेशके विधाता है, वे साक्षात् ज्ञानी पूर्ण वीतराग है। २—साधु सघमे जो मुख्य साधु हो उनको आचार्य कहते है, वे सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्रके पालक है और दूसरोको उसमे निमित्त होते हैं, और वे विशेष गुणाढच होते है। ३—बहुश्रुतका अर्थ 'बहुज्ञानी' 'उपाध्याय' या 'सर्व शास्त्र सम्पन्न' होता है। ४—सम्यग्दृष्टि की जो शास्त्र की भक्ति है सो प्रवचन भक्ति है। इस भक्तिमे

जितना रागभाव है वह आस्रवका कारण है ऐसा समझना ।

(१४) आवश्यक अपरिहाणि

आवश्यक अपरिहाणिका अर्थ है 'आवश्यक क्रियाओमे हानि न होने देना । जब सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धभावमे नही रह सकता तब अशुभभाव दूर करने से शुभभाव रह जाता है, इस समय शुभरागरूप आवश्यक क्रियायें उसके होती हैं । उस आवश्यक क्रियाके भावमे हानि न होने देना उसे आवश्यक अपरिहाणि कहा जाता है । वह क्रिया आत्माके शुभभावरूप है किन्तु जड शरीरकी अवस्थामे आवश्यक क्रिया नही होती और न आत्मा से शरीर की क्रिया हो सकती है ।

(१५) मार्गप्रभावना

सम्यग्ज्ञानके माहात्म्यके द्वारा, इच्छा निरोधरूप सम्यक्तप के द्वारा तथा जिनपूजा इत्यादि के द्वारा धर्मको प्रकाशित करना सो मार्गप्रभावना है । प्रभावनामे सबसे श्रेष्ठ आत्मप्रभावना है, जो कि रत्नत्रयके तेज से देदीप्यमान होने से सर्वोत्कृष्ट फल देती है । सम्यग्दृष्टिके जो शुभरागरूप प्रभावना है वह आसृव बन्धका कारण है परन्तु सम्यग्दर्शनादिरूप जो प्रभावना है वह आसृव–बन्धका कारण नही है ।

(१६) प्रवचन वात्सल्य

साधर्मियोके प्रति प्रीति रखना सो वात्सल्य है । वात्सल्य और भक्ति मे यह अतर है कि वात्सल्य तो छोटे बडे सभी साधर्मियो के प्रति होता है और भक्ति अपने से जो बडा हो उसके प्रति होती है । श्रुत और श्रुतके धारण करनेवाले दोनोके प्रति वात्सल्य रखना सो प्रवचन वात्सल्य है । यह शुभरागरूप भाव है, सो आसृव–बन्धका कारण है ।

तीर्थंकरोंके तीन भेद

तीर्थंकर देव तीन तरह के है—(१) पच कल्याणक (२) तीन कल्याणक और (३) दो कल्याणक । जिनके पूर्वभवमे तीर्थंकर प्रकृति बँध गई हो उनके तो नियमसे गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पाँच

कल्याणक होते है। जिनके वर्तमान मनुष्य पर्यायके भवमे ही गृहस्थ अवस्था मे तीर्थंकर प्रकृति बँध जाती है उनके तप, ज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक होते है और जिनके वर्तमान मनुष्य पर्यायके भवमे मुनि दीक्षा लेकर फिर तीर्थंकर प्रकृति बँधती है उनके ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होते हैं। दूसरे और तीसरे प्रकारके तीर्थंकर महा विदेह क्षेत्रमे ही होते हैं। महा विदेहमे जो पच कल्याणक तीर्थंकर है, उनके अतिरिक्त दो और तीन कल्याणक वाले भी तीर्थंकर होते है, तथा वे महाविदेह के जिस क्षेत्रमे दूसरे तीर्थंकर न हो वहाँ ही होते हैं। महाविदेह क्षेत्रके अलावा भरत-ऐरावत क्षेत्रो मे जो तीर्थंकर होते है उन सभी को नियम से पच कल्याणक ही होते हैं।

अरिहंतो के सात भेद

ऊपर जो तीर्थंकरोंके तीन भेद कहे वे तीनो भेद अरिहतो के समझना और उनके अनतर दूसरे भेद निम्नप्रकार है—

(४) **सातिशय केवली**—जिन अरिहतोके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नही होता परन्तु गधकुटी इत्यादि विशेषता होती है उन्हे सातिशय केवली कहते है।

(५) **सामान्य केवली**—जिन अरिहंतोके गधकुटी इत्यादि विशेषता न हो उन्हे सामान्य केवली कहते है।

(६) **अंतकृत केवली**—जो अरिहत केवलज्ञान प्रगट होनेपर लघु अनमुर्हूर्तकालमे ही निर्वाणको प्राप्त होते है उन्हे अतकृत केवली कहा जाता है।

(७) **उपसर्ग केवली**—जिनके उपसर्ग अवस्था मे ही केवलज्ञान हुआ हो उन अरिहतोको उपसर्ग केवली कहा जाता है (देखो सत्तास्वरूप गुजराती पृष्ठ ३८-३९) केवलज्ञान होने के वाद उपसर्ग हो ही नही सकता।

अरिहतोके ये भेद पुण्य और सयोग की अपेक्षासे समझना, केवलज्ञानादि गुणोमे तो सभी अरिहत समान ही हैं।

इस सूत्रका सिद्धांत

(१) जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है उस भावको अथवा उस प्रकृतिको जो जीव धर्म माने या उपादेय माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह रागको—विकारको धर्म मानता है। जिस शुभभावमे तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव—बन्ध हो उस भाव या उस प्रकृतिको सम्यग्दृष्टि उपादेय नही मानते। सम्यग्दृष्टिके जिस भावसे तीर्थंकर प्रकृति बँधती है वह पुण्यभाव है, उसे वे आदरणीय नही मानते। (देखो परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा ५४ की टीका, पृष्ठ १९५)

(२) जिसे आत्मा के स्वरूप की प्रतीति नही उसके शुद्धभावरूप भक्ति अर्थात् भावभक्ति तो होती ही नही किन्तु इस सूत्रमे कही हुई सत्‌के प्रति शुभरागवाली व्यवहार भक्ति अर्थात् द्रव्यभक्ति भी वास्तवमे नही होती, लौकिक भक्ति भले हो (देखो परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा १४३ की टीका, पृष्ठ २०३, २८८)

(३) सम्यग्दृष्टिके सिवाय अन्य जीवोके तीर्थंकर प्रकृति होती ही नही। इससे सम्यग्दर्शनका परम माहात्म्य जानकर जीवो को उसे प्राप्त करनेके लिये मंथन करना चाहिये। सम्यग्दर्शनके अतिरिक्त धर्मका प्रारम्भ अन्य किसी से नही अर्थात् सम्यग्दर्शन ही धर्मकी शुरूआत—इकाई है और सिद्धदशा उस धर्मकी पूर्णता है ॥ २४ ॥

अब गोत्रकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं:—

नीच गोत्रके आस्रवके कारण

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—[**परात्मनिंदाप्रशंसे**] दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करना [**सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च**] तथा प्रगट गुणोको छिपाना और अप्रगट गुणोको प्रसिद्ध करना सो [**नीचैर्गोत्रस्य**] नीचगोत्र—कर्मके आस्रवके कारण है।

टीका

एकेन्द्रियसे सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत तक सभी तिर्यंच, नारकी तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य इन सबके नीच गोत्र है। देवोके उच्च-गोत्र है, गर्भज मनुष्योके दोनो प्रकारके गोत्रकर्म होते है ॥ २५ ॥

उच्च गोत्रकर्मके आस्रवके कारण

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

अर्थ—[**तद्विपर्ययः**] उस नीच गोत्रकर्मके आस्रवके कारणो से विपरीत अर्थात् परप्रशसा, आत्मनिंदा इत्यादि [**च**] तथा [**नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ**] नम्र वृत्ति होना तथा मदका अभाव–सो [**उत्तरस्य**] दूसरे गोत्रकर्मके अर्थात् उच्च गोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

यहाँ नम्रवृत्ति होना और मदका अभाव होना सो अशुभभावका अभाव समझना, उसमे जो शुभभाव है सो उच्च गोचकर्म के आस्रव का कारण है। 'अनुत्सेक' का अर्थ है अभिमानका न होना ॥ २६ ॥

यहाँ तक सात कर्मो के आस्रवके कारणोका वर्णन किया। अब अतिम अतराय कर्मके आस्रवके कारण बताकर यह अध्याय पूर्ण करते हैं।

अंतराय कर्मके आस्रवके कारण

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—[**विघ्नकरणम्**] दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यमे विघ्न करना सो [**अंतरायस्य**] अनराय कर्मके आस्रवके कारण है।

टीका

इस अध्यायके १० से २७ तक के सूत्रोमे कर्मके आस्रवका जो कथन किया है वह अनुभाग सबधी नियम बतलाता है। जैसे किसी पुरुष के दान देनेके भावमे किसी ने अतराय किया तो उस समय उसके जिन कर्मों का आस्रव हुआ, यद्यपि वह सातो कर्मोमे पहुँच गया तथापि उस समय दानां-

तराय कर्ममे अधिक अनुभाग पडा और अन्य प्रकृतियोमे मदअनुभाग पडा। प्रकृति और प्रदेश वन्धमे योग निमित्त है तथा स्थिति और अनुभागवधमे कषायभाव निमित्त है ॥ २७ ॥

उपसंहार

(१) यह आस्रव अधिकार है जो कपाय महित योग होता है वह आस्रवका कारण है, उसे मापरायिक आस्रव कहते हैं। कपाय शब्दमे मिथ्यात्व, अविरति और कपाय इन तीनोका ममावेश हो जाता है, इसीलिये अध्यात्म शास्त्रोमे मिथ्यात्व अविरति, कपाय तथा योगको आस्रवका भेद गिना जाता है। यदि उन भेदो को वाह्यरूपसे स्वीकार करे और अतरगमे उन भावोकी जाति की यथार्थ पहचान न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है और उसके आस्रव होता है।

(२) योगको आस्रवका कारण कहकर योगके उपविभाग करके सकपाय योग और अकषाय योगको आस्रवका कारण कहा है। और २५ प्रकार की विकारी क्रिया और उसका परके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध कैसा है यह भी वताया गया है।

(३) अज्ञानी जीवो के जो रागद्वेप, मोहरूप आस्रवभाव है उमके नाश करने की तो उसे चिंता नही और वाह्य क्रिया तथा वाह्य निमित्तोको दूर करने का यह जीव उपाय करता है, परन्तु इसके मिटने से कही आस्रव नही मिटते। दृष्टात —द्रव्यलिंगी मुनि अन्य कुदेवादि की सेवा नही करता, हिंसा तथा विपयमे प्रवृत्ति नही करता, क्रोधादि नही करता तथा मन वचन कायको रोकनेका भाव करता है तो भी उसके मिथ्यात्वादि चार आस्रव होते हैं, पुनश्च ये कार्य वे कपटसे भी नही करते, क्योंकि यदि कपट से करे तो वह ग्रैवेयक तक कैसे पहुँचे ? सिद्धात—इससे यह सिद्ध होता है कि जो वाह्य शरीरादिक की क्रिया है वह आस्रव नही है किंतु अन्तरग अभिप्रायमे जो मिथ्यात्वादि रागादिकभाव है वही आस्रव है, जो जीव उसे नही पहचानता उस जीवके आस्रव तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नही।

(४) सम्यग्दर्शन हुये विना आस्रव तत्त्व किंचित् मात्र भी दूर नही

होता, इसलिये जीवोंको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका यथार्थ उपाय प्रथम करना चाहिये। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञानके बिना किसी भी जीवके आस्रव दूर नहीं होता और न धर्म होता है।

(५) मिथ्यादर्शन संसारका मूल कारण है और आत्माके यथार्थ स्वरूपका जो अवर्णवाद है सो मिथ्यात्वके आस्रवका कारण है इसलिये अपने स्वरूपका तथा आत्माकी शुद्ध पर्यायोंका अवर्णवाद न करना अर्थात् जैसा स्वरूप है वैसा यथार्थ समझकर प्रतीति करना (देखो सूत्र १३ तथा उसकी टीका)

(६) इस अध्यायमें बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीवोंके समिति, अनुकंपा, व्रत, सरागसंयम, भक्ति, तप, त्याग, वैयावृत्त्य, प्रभावना, आवश्यक क्रिया इत्यादि जो शुभभाव हैं वे सब आस्रव हैं बंधके ही कारण हैं, मिथ्यादृष्टिके तो वास्तवमें ऐसे शुभभाव होते नहीं, उसके व्रत–तपके शुभभावको 'बालव्रत' और 'बालतप' कहा जाता है।

(७) मृदुता, परकी प्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रता, अनुत्सेकता ये शुभराग होनेसे बन्धके कारण हैं, तथा राग कषायका अंश है अतः इससे घाति तथा अघाति दोनों प्रकारके कर्म बँधते हैं तथा यह शुभभाव है अतः अघाति कर्मोंमें शुभआयु शुभगोत्र, सातावेदनीय तथा शुभनामकर्म बँधते हैं, और इससे विपरीत अशुभभावोंके द्वारा अशुभ अघातिकर्म भी बंधते हैं। इस तरह शुभ और अशुभ दोनों भाव बन्धके ही कारण हैं अर्थात् यह सिद्धान्त निश्चित है कि शुभ या अशुभ भाव करते करते उससे कभी शुद्धता प्रगट ही नहीं होती। व्यवहार करते करते सच्चा धर्म हो जायेगे ऐसी धारणा गलत ही है।

(८) सम्यग्दर्शन आत्माका पवित्र भाव है, यह स्वयं बंधका कारण नहीं, किंतु यहाँ यह बताया है कि जब सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें शुभ राग हो तब उस रागके निमित्तसे किस तरहके कर्मका आस्रव होता है। वीतरागता प्रगट होने पर मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। यह आस्रव एक ही समयका होता है (अर्थात् इसमें लम्बी स्थिति नहीं होती तथा अनुभाग भी नहीं

होता)। इस पर से यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके वाद जितने जितने अशमे वीतरागता होती है उतने २ अशमे आसूव और वन्ध नही होते तथा जितने अशमे राग-द्वेप होता है उतने अशमें आसूव और वन्ध होता है। अतः ज्ञानीके तो अमुक अशमे आस्रव-वन्धका निरन्तर अभाव रहता है। मिथ्यादृष्टिके उस शुभाशुभ रागका स्वामित्व है अत उसके किसी भी अश में राग-द्वेपका अभाव नही होता और इसीलिये उसके आसूव-वन्ध दूर नही होते। सम्यग्दर्शनकी भूमिकामे आगे वढने पर जीवके किसी तरहके शुभभाव आते है इसका वर्णन अव सातवे अध्यायमे करके आसूवका वर्णन पूर्ण करेंगे उसके वाद आठवे अध्यायमे वन्ध तत्त्वका और नवमे अध्यायमे सवर तथा निर्जरा तत्त्वका स्वरूप कहा जायगा। धर्मका प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शन से ही होता है। सम्यग्दर्शन होने पर सवर होता है, सवरपूर्वक निर्जरा होती है और निर्जरा होने पर मोक्ष होता है, इसीलिये मोक्ष तत्त्वका स्वरूप अतिम अध्यायमे वतलाया गया है।

और इस अध्यायमे यह भी वताया है कि जीवके विकारी भावोका पर द्रव्यके साथ कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है।

इस तरह श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद में छट्ठा अध्याय समाप्त हुआ।



मोक्षशास्त्र अध्याय सातवाँ

भूमिका

आचार्य भगवान ने इस शास्त्रका प्रारम्भ करते हुये पहले ही सूत्रमे यह कहा है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।' उसमे गर्भित-रूपसे यह भी आगया कि इससे विरुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नही है, किन्तु ससारमार्ग है। इसप्रकार इस सूत्रमे जो विषय गर्भित रखा था वह विषय आचार्यदेवने इन छट्ठे-सातवे अध्यायोमे स्पष्ट किया है। छट्ठे अध्यायमे कहा है कि शुभाशुभ दोनो भाव आस्रव है और इस विषयको अधिक स्पष्ट करने के लिये इस सातवे अध्यायमे मुख्यरूपसे शुभास्रवका अलग वर्णन किया है।

पहले अध्यायके चौथे सूत्रमे जो सात तत्त्व कहे है उनमे से जगत के जीव आस्रव तत्त्वकी अजानकारी के कारण ऐसा मानते है कि 'पुण्यसे धर्म होता है।' कितने ही लोग शुभयोगको सवर मानते है तथा कितने ही ऐसा मानते है कि अणुव्रत महाव्रत—मैत्री इत्यादि भावना, तथा करुणाबुद्धि इत्यादि से धर्म होता है अथवा वह धर्मका (सवर का) कारण होता है किन्तु यह मान्यता अज्ञानसे भरी हुई है। ये अज्ञान दूर करने के लिये खास रूपसे यह एक अध्याय अलग बनाया है और उसमे इस विषयको स्पष्ट किया है।

धर्म की अपेक्षासे पुण्य और पापका एकत्व गिना जाता है। श्री समयसारमे यह सिद्धात १४५ से लेकर १६३ वी गाथा तक मे समझाया है। उसमे पहले ही १४५ वी गाथामे कहा है कि लोग ऐसा मानते है कि अशुभकर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है, परन्तु जो ससारमे प्रवेश कराये वह सुशील कैसे होगा ? नही हो सकता। इसके बाद १५४ वी गाथामे कहा है कि जो जीव परमार्थसे बाह्य हैं वे मोक्षके कारणको नही जानते हुये (—यद्यपि पुण्य ससारका कारण है तथापि) अज्ञानसे पुण्यको चाहते है।

इस तरह धर्मकी अपेक्षासे पुण्य-पापका एकत्व बतलाया है। पुनश्च–श्री प्रवचनसार गाथा ७७ मे भी कहा है कि–पुण्य पापमे विशेष नही (अर्थात् समानता है) जो ऐसा नही मानता वह मोहसे आच्छन्न है और घोर अपार संसारमे भ्रमण करता है।

उपरोक्त कारणो से आचार्यदेव ने इस शास्त्रमे पुण्य और पापका एकत्व स्थापन करने के लिये उन दोनो को ही आस्रवमे समावेश करके उसे लगातार छट्ठे और सातवे इन दो अध्यायोमें कहा है, उसमे छट्ठा अध्याय पूर्ण होने के बाद इस सातवे अध्यायमें आस्रव अधिकार चालू रखा है और उसमे शुभास्रवका वर्णन किया है।

इस अध्यायमे बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके होनेवाले व्रत, दया, दान, करुणा, मैत्री इत्यादि भाव भी शुभ आस्रव हैं और इसीलिये वे बंधके कारण हैं, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीवके (-जिसके यथार्थ व्रत हो ही नही सकते) उसके शुभभाव धर्म, संवर, निर्जरा या उसका कारण किस तरह हो सकता है ? कभी हो ही नही सकता।

प्रश्न—शास्त्रमे कई जगह कहा जाता है कि शुभभाव परम्परासे धर्म का कारण है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव जब अपने चारित्र स्वभावमे स्थिर नही रह सकते तब भी रागद्वेष तोडनेका पुरुपार्थ करते हैं, किंतु पुरुषार्थ कमजोर होने से अशुभभाव दूर होता है और शुभभाव रह जाता है। वे उस शुभभावको धर्म या धर्मका कारण नही मानते, किन्तु उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं। इसीलिये जब वह शुभभाव दूर हो जाय तब जो शुभभाव दूर हुआ उसे शुद्धभाव (-धर्म) का परम्परासे कारण कहा जाता है। साक्षात् रूपसे वह भाव शुभास्रव होने से बन्धका कारण है और जो बन्धका कारण होता है वह संवरका कारण कभी नही हो सकता।

अज्ञानीके शुभभावको परम्परा अनर्थका कारण कहा है अज्ञानी तो शुभभावको धर्म या धर्मका कारण मानता है और उसे वह भला जानता है; उसे थोडे समयमे दूर करके स्वयं अशुभ रूपसे परिणमेगा। इस तरह

अज्ञानीका शुभभाव तो अशुभभावका (–पापका) परपरा कारण कहा जाता है अर्थात् वह शुभको दूर कर जब अशुभरूपसे परिणमता है तब पूर्वका जो शुभभाव दूर हुआ उसे अशुभभावका परम्परा से कारण हुआ कहा जाता है।

इतनी भूमिका लक्षमे रखकर इस अध्यायके सूत्रोमे रहे हुये भाव बराबर समझने से वस्तु स्वरूपकी भूल दूर हो जाती है।

व्रतका लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—[हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः] हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थोके प्रति ममत्वरूप परिणाम–इन पाँच पापोसे (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना सो [व्रतम्] व्रत है।

टीका

१ इस अध्यायमे आस्रव तत्त्वका निरूपण किया है, छट्ठे अध्याय के १२ वे सूत्रमे कहा था कि व्रतीके प्रति जो अनुकपा है सो सातावेदनीय के आस्रवका कारण है, किन्तु वहाँ मूल सूत्रमे व्रतीकी व्याख्या नही की गई थी, इसीलिये यहाँ इस सूत्रमे व्रतका लक्षण दिया गया है। इस अध्यायके १८ वे सूत्रमे कहा है कि "निःशल्यो व्रती"—मिथ्यादर्शन आदि शल्यरहित ही जीव व्रती होता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टिके कभी व्रत होते ही नही, सम्यग्-दृष्टि जीवके ही व्रत हो सकते हैं। भगवान ने मिथ्यादृष्टिके शुभरागरूप व्रतको बालव्रत कहा है। (देखो श्री समयसार गाथा १५२ तथा उसकी टीका 'बाल' का अर्थ अज्ञान है।

इस अध्यायमे महाव्रत और अणुव्रत भी आस्रवरूप कहे है, इसलिये वे उपादेय कैसे हो सकते है? आस्रव तो बन्धका ही साधक है अत महा-व्रत और अणुव्रत भी बन्धके साधक है और वीतराग भावरूप जो चारित्र है सो मोक्षका साधक है, इससे महाव्रतादिरूप आस्रव भावोको चारित्रपना सभव नही। "सर्व कषाय रहित जो उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र

है। जो चारित्र मोहके उदय मे युक्त होनेसे महामद प्रशस्त राग होता है वह चारित्रका मल है उसे छुटता न जानकर उनका त्याग नही करता, सावद्य योगका ही त्याग करता है। जैसे कोई पुरुष कदमूलादि अधिक दोषवाली हरित्कायका त्याग करता है तथा दूसरे हरित्कायका आहार करता है, किन्तु उसे धर्म नही मानता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्र कषायरूप भावोका त्याग करता है तथा कोई मदकषायरूप महाव्रत–अणुव्रतादि पालता है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नही मानता।" (मो० मा० प्र० पृ० ३३७)

३. प्रश्न—यदि यह वात है तो महाव्रत और देशव्रतको चारित्र के भेदोमे किसलिये कहा है?

उत्तर—वहाँ उस महाव्रतादिकको व्यवहार चारित्र कहा गया है और व्यवहार नाम उपचारका है। निश्चय से तो जो निष्कषाय भाव है वही यथार्थ चारित्र है। सम्यग्दृष्टिका भाव मिश्ररूप है अर्थात् कुछ वीतरागरूप हुआ है और कुछ सराग है, अत जहाँ अशमे वीतराग चारित्र प्रगट हुआ है वहाँ जिस अशमे सरागता है वह महाव्रतादिरूप होता है, ऐसा सम्बन्ध जानकर उस महाव्रतादिकमे चारित्रका उपचार किया है, किन्तु वह स्वय यथार्थ चारित्र नही, परन्तु शुभभाव है–आस्रवभाव है अत बन्धका कारण है इसीलिये शुभभावमे धर्म माननेका अभिप्राय आस्रवतत्त्वको सवरतत्त्व माननेरूप है इसीलिये यह मान्यता मिथ्या है।

(मो० मा० प्र० पृ० ३३४–३३७)

चारित्रका विषय इस शास्त्रके ६ वें अध्यायके १८ वे सूत्रमे लिया है, वहाँ इस सम्बन्धी टीका लिखी है, वह यहाँ भी लागू होती है।

४—व्रत दो प्रकारके हैं—निश्चय और व्यवहार। राग-द्वेषादि विकल्पसे रहित होना सो निश्चयव्रत है (देखो द्रव्यसग्रह गाथा ३५ टीका) सम्यग्दृष्टि जीवके स्थिरताकी वृद्धिरूप जो निर्विकल्पदशा है सो निश्चयव्रत है, उसमे जितने अशमे वीतरागता है उतने अशमे यथार्थ चारित्र है, और सम्यग्दर्शन–ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यके आलबन छोड़नेरूप जो शुभभाव है

सो अणुव्रत–महाव्रत है, उसे व्यवहारव्रत कहते है। इस सूत्रमे व्यवहार-व्रतका लक्षण दिया है, इसमे अशुभभाव दूर होता है। किंतु शुभभाव रहता है, वह पुण्यास्रवका कारण है।

५—श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५२ की टीकामे व्रत पुण्यबन्धका कारण है और अव्रत पापबन्धका कारण है यह बताकर इस सूत्र का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

"इसका अर्थ है कि—प्राणियोको पीडा देना, झूठा वचन बोलना, परधन हरण करना, कुशीलका सेवन और परिग्रह इनसे विरक्त होना सो व्रत है, ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध है, यह व्यवहारनयसे एकदेशव्रत है ऐसा कहा है।

जीवघातमे निवृत्ति–जीवदयामे प्रवृत्ति, असत्य वचनमे निवृत्ति और सत्य वचनमे प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति–अचौर्यमे प्रवृत्ति इत्यादि रूपसे वह एकदेशव्रत है।" (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १६१–१६२) यहाँ अणुव्रत और महाव्रत दोनोको एकदेशव्रत कहा है।

उसके बाद वही निश्चयव्रतका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है (निश्चय-व्रत अर्थात् स्वरूपस्थिरता अथवा सम्यक्चारित्र)—

"और रागद्वेष रूप सकल्प विकल्पोकी तरगोसे रहित तीन गुप्तियो से गुप्त समाधिमे शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है।"

(परमात्मप्रकाश पृष्ठ १६२)

सम्यग्दृष्टिके जो शुभाशुभका त्याग और शुद्धका ग्रहण है सो निश्चय व्रत है और उनके अशुभका त्याग और शुभका जो ग्रहण है सो व्यवहारव्रत है—ऐसा समझना। मिथ्यादृष्टिके निश्चय या व्यवहार दोनोमे से किसी भी तरहके व्रत नही होते। तत्वज्ञानके विना महाव्रतादिकका आचरण मिथ्या-चारित्र ही है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिके विना व्रतरूपी वृक्ष ही नही होता।

१—व्रतादि शुभोपयोग वास्तवमे बधका कारण है पचाध्यायी भा० २ गा० ७५६ से ६२ मे कहा है कि—'यद्यपि रूढिसे शुभोपयोग

भी 'चारित्र' इस नामसे प्रसिद्ध है परन्तु अपनी अर्थ क्रियाको करने में असमर्थ है, इसलिये वह निश्चयसे सार्थक नामवाला नही है ॥७५९॥ किन्तु वह अशुभोपयोगके समान वन्धका कारण है इसलिये यह श्रेष्ठ नही है। श्रेष्ठ तो वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥ ७६० ॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है यह बात विचार करनेपर असिद्ध भी नही प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकान्तसे वन्धका कारण होनेसे वह शुद्धोपयोगके अभावमे ही पाया जाता है ॥ ७६१ ॥ वुद्धिके दोपसे ऐसी तर्कणा भी नही करनी चाहिये कि शुभोपयोग एकदेश निर्जराका कारण है, क्योकि न तो शुभोपयोग ही वन्धके अभावका कारण है और न अशुभोपयोग ही वन्धके अभावका कारण है ॥ ७६२ ॥

(श्री वर्णी ग्रथमालासे प्र० पचाध्यायी पृष्ठ २७२–७३)

२—सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग से भी वन्धकी प्राप्ति होती है ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार गा० ११ मे कहा है उसमे श्री अमृतचन्द्राचार्य उस गाथाकी सूचनिकामे कहते हैं कि 'अव जिनका चारित्र परिणामके साथ सपर्क है ऐसे जो शुद्ध और शुभ (दो प्रकार) परिणाम है, उनके ग्रहण तथा त्यागके लिये (-शुद्ध परिणामके ग्रहण और शुभ परिणाम के त्यागके लिये) उनका फल विचारते हैं—

धर्मेण परिणतात्मा यदि शुद्ध सप्रयोग युत ।
प्राप्नोति निर्वाण सुख शुभोपयुक्तो वा स्वर्ग सुखम् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—धर्म से परिणमित स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग मे युक्त हो तो मोक्षमुखको प्राप्त करता है और यदि शुभउपयोगवाला हो तो स्वर्गके सुखको (-वन्धको) प्राप्त करता है।

टीका—जव यह आत्मा धर्म परिणत स्वभाववाला वर्तता हुआ शुद्धोपयोग परिणतिको धारण करता है—वनाये रखता है तव विरोधी शक्ति से रहित होनेके कारण अपना कार्य करनेके लिये समर्थ है ऐसा चारित्रवान होनेसे साक्षात् मोक्षको प्राप्त करता है और जव वह धर्म परिणत स्वभाववाला होने पर भी शुभोपयोग परिणति के साथ युक्त होता है तव जो विरोधी शक्ति सहित होने से स्वकार्य करनेमे असमर्थ और कथं-

चित विरुद्ध कार्य करनेवाला है ऐसे चारित्र से युक्त होनेसे, जैसे अग्निसे गर्म किया गया घी किसी मनुष्यपर डाल दिया जाये तो वह उसकी जलनसे दुखी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्गके सुखके बन्धको प्राप्त होता है, इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

(प्र० सार गाथा ११ की टीका)

मिथ्यादृष्टि को या सम्यग्दृष्टि को भी, राग तो बंध का ही कारण है; शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से ही मोक्ष है।

३—समयसार के पुण्य-पाप अधिकार के ११० वे कलश मे श्री आचार्य देव कहते है कि—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति ।
कित्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबधाय तन्
मोक्षायस्थितमेकमेव परम ज्ञान विमुक्त स्वत ॥११०॥

अर्थ—जब तक ज्ञानकी कर्म विरति बराबर परिपूर्णताको प्राप्त नही होती तब तक कर्म और ज्ञानका एकत्वपना शास्त्र मे कहा है, उनके एक साथ रहनेमे कोई भी क्षति अर्थात् विरोध नही है। परन्तु यहाँ इतना विशेष जानना कि आत्मा मे अवशरूप से जो कर्म प्रगट होते है अर्थात् उदय होता है **वह तो बंधका कारण होता है, और मोक्षका कारण तो, जो एक परम ज्ञान ही है वह एक ही होता है** कि जो ज्ञान स्वतः विमुक्त है (अर्थात् त्रिकाल परद्रव्यभावो से भिन्न है।)

भावार्थ—जब तक यथाख्यात चारित्र नही होता, तब तक सम्यग्दृष्टि को दो धाराएँ रहती है—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। वे दोनो साथ रहने मे कुछ भी विरोध नही है। (जिस प्रकार मिथ्याज्ञान को और सम्यग्ज्ञान को परस्पर विरोध है, उसी प्रकार कर्म सामान्य को और ज्ञानको विरोध नही है।) **उस स्थिति मे कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्म-**

धारा है उतने अंश में कर्म बन्ध होता है; और जितने अंश में ज्ञानधारा है उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प अथवा व्रत-नियम के विकल्प-शुद्ध स्वरूप का विकल्प तक कर्म बंधका कारण है। शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

(—समयसार नई गुजराती आवृत्ति, पृष्ठ २६३-६४)

पुनश्च, इस कलशके अर्थमे श्री राजमल्लजी भी साफ स्पष्टीकरण करते है कि —

"यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा—'मिथ्यादृष्टि को यतिपना क्रियारूप है वह तो बंधका कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टि को जो यतिपना शुभ क्रिया-रूप है वह मोक्षका कारण है, क्योंकि अनुभव ज्ञान तथा दया, व्रत तप संयमरूपी क्रिया-यह दोनो मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षय करते हैं।' —ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करता है, उसका समाधान इस प्रकार है—

जो कोई भी शुभ-अशुभ क्रिया—बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अंतर्जल्परूप अथवा द्रव्य के विचाररूप अथवा शुद्ध स्वरूपके विचार इत्यादि —है वह सब कर्म बन्धका कारण है, ऐसी क्रियाका ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का ऐसा तो कोई भेद नहीं है (अर्थात् अज्ञानीके उपरोक्त कथानुसार शुभक्रिया मिथ्यादृष्टिको तो बन्धका कारण हो और वही क्रिया सम्यग्दृष्टि को मोक्षका कारण हो—ऐसा तो उनका भेद नही है) ऐसी क्रिया से तो उसे (सम्यक्त्वी को भी) बन्ध है और शुद्ध स्वरूप परिणमन मात्रसे मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल मे सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी है, किन्तु उसमे जो विक्रियारूप परिणाम है उससे तो मात्र बन्ध होता है; उससे कर्म का क्षय एक अंश भी नही होता—ऐसा वस्तुका स्वरूप है,—तो फिर इलाज क्या?—उस काल ज्ञानी को शुद्ध स्वरूपका अनुभवज्ञान भी

है, उस ज्ञान द्वारा उस समय कर्म का क्षय होता है, उससे एक अश मात्र भी बधन नही होता,—ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है, वह जैसा है वैसा कहते है।"

(देखो, समयसार कलश टीका हिन्दी पुस्तक पृष्ठ ११२ सूरत से प्रकाशित)

उपरोक्तानुसार स्पष्टीकरण करके फिर उस कलशका अर्थ विस्तार पूर्वक लिखा है, उसमे तत्सबधी भी स्पष्टता है उसमे अन्तमे लिखते हैं कि—

"शुभक्रिया कदापि मोक्षका साधन नहीं हो सकती, वह मात्र बन्धन ही करने वाली है-ऐसी श्रद्धा करने से ही मिथ्या बुद्धि का नाश होकर सम्यग्ज्ञानका लाभ होगा। मोक्षका उपाय तो एकमात्र निश्चय रत्नत्रय मय आत्माकी शुद्ध वीतराग परिणति है।"

४—श्री राजमल्लजी कृत स० सार कलश टीका (सूरत से प्रकाशित) पृ० ११४ ला० १७ से ऐसा लिखा है कि—"यहां पर इस बात को दृढ किया है कि कर्म निर्जराका साधन मात्र शुद्ध ज्ञानभाव है जितने अश कालिमा है उतने अश तो बन्ध ही है, शुभ क्रिया कभी भी मोक्ष का साधन नही हो सकती। वह केवल बन्धको ही करनेवाली है, ऐसा श्रद्धान करने से ही मिथ्याबुद्धिका नाश होकर सम्यग्ज्ञान का लाभ होता है।

मोक्षका उपाय तो एक मात्र निश्चय रत्नत्रय मई आत्माकी शुद्ध—वीतराग परिणति है। जैसे पु० सिद्धि उपायमे कहा है "असमग्रभावयतो गा० २११ ॥ ये नांशेन सुद्दष्टि ॥ २१२ ॥ बाद भावार्थ मे लिखा है कि—जहाँ शुद्ध भावकी पूर्णता नही हुई वहाँ भी रत्नत्रय है परन्तु जो जहाँ कर्मो का बन्ध है सो रत्नत्रय से नही है, किन्तु अशुद्धतासे—रागभाव से है। क्योकि जितनी वहाँ अपूर्णता है या शुद्धता मे कमी है वह मोक्षका उपाय नही है वह तो कर्म बन्ध ही करने वाली है। जितने अगमे शुद्धदृष्टि है या सम्यग्दर्शन सहित शुद्ध भावकी परिणति है उतने अश नवीन कर्म बध नही करती किन्तु सवर निर्जरा करती है और उसी समय जितने अश रागभाव है उतने अशसे कर्म बन्ध भी होता है।

५–श्री राजमल्लजीने 'वृत्त कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि' पुण्यपाप अ० की इस कलश की टीका में लिखा है कि 'जितनी शुभ या अशुभ क्रिया-रूप आचरण है—चारित्र है उससे स्वभावरूप चारित्र—ज्ञान का (शुद्ध चैतन्य वस्तु का । शुद्ध परिणमन न होइ इसो निहचो छे (–ऐसा निश्चय है ।) भावार्थ—जितनी शुभाशुभ क्रिया–आचरण है अथवा बाह्य वक्तव्य या सूक्ष्म अन्तरंगरूप चिंतवन अभिलाष, स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्ध परिणमन है वह शुद्ध परिणमन नहीं है इससे वह बन्ध का कारण है—मोक्षका कारण नहीं है । जैसे–कम्बलका नाहर–(कपडे पर चित्रित शिकारी पशु) कहने का नाहर है वैसे–शुभक्रिया आचरणरूप चारित्र कथन मात्र चारित्र है परन्तु चारित्र नहीं है निःसंदेहपने ऐसा जानो ।

(देखो रा० कलश टीका हिन्दी पृ० १०८)

६—राजमल्लजीकृत स० सार कलश टीका पृ० ११३ मे सम्यग्दृष्टि के भी शुभभाव की क्रिया को–बन्धक कहा है–'बन्धायसमुल्लसति' कहते जितनी क्रिया है उतनी ज्ञानावरणादि कर्म बन्ध करती है, संवर–निर्जरा अंशमात्र भी नही करती, 'तत् एकं ज्ञानं मोक्षाय स्थितं' परन्तु वह एक शुद्ध चैतन्य प्रकाश ज्ञानावरणादि कर्मक्षय का निमित्त है । भावार्थ ऐसा है जो एक जीवमें शुद्धत्व, अशुद्धत्व एक ही समय (एक ही साथमें) होते है परन्तु जितना अंश शुद्धत्व है, उतना अंश कर्म क्षपन है और जितने अंश अशुद्धत्व है, उतने अंश कर्मबन्ध होते हैं, एक ही समय दोनो कार्य होते हैं, ऐसे ही है उनमे संदेह करना नही । (कलश टीका पृष्ठ ११३)

कविवर बनारसीदासजीने कहा है कि × × × पुण्यपापकी दोउ क्रिया मोक्षपथकी कतरणी, बन्धकी करैया दोउ, दुहूमे न भली कोउ, बाधक विचारमें निषिद्ध कीनी करनी ॥ १२ ॥

जौलो अष्टकर्मको विनाश नाहि सरवथा, तौलो अंतरातमामे धारा दोई वरनी ॥ एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्म धारा, दुहूकी प्रकृति न्यारी न्यारीन्यारी धरनी ॥ इतनो विशेषज्यू करमधारा बन्धरूप, पराधीन शकति

विविध वध करनी ॥ ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्षकी करनहार, दोषकी हरनहार भौ समुद्र तरनी ॥ १४ ॥

७—श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पु० सि० उपाय गाथा २१२ से १४ मे सम्यग्दृष्टिके सबधमे कहा है कि जिन अशोसे यह आत्मा अपने स्वभाव रूप परिणमता है वे अश सर्वथा बन्धके हेतु नही है, किन्तु जिन अशोसे यह रागादिक विभावरूप परिणमन करता है वे ही अश बन्धके हेतु है। श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित पु० सि० मे गा० १११ का अर्थ भाषा टीकाकार ने असगत कर दिया है [-अनगार धर्मामृतमे भी फुटनोटमे गलत अर्थ है]

असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्म बन्धोय ।

स विपक्ष कृतोऽवस्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय ॥ २११ ॥

अन्वयार्थ—असम्पूर्ण रत्नत्रयको भावन करनेवाले पुरुषके जो शुभ कर्म का बन्ध है सो बन्ध विपक्षकृत या बन्ध रागकृत होनेसे अवश्य ही मोक्षका उपाय है, बन्धका उपाय नही। अब सुसगत–सच्चाअर्थकेलिये देखो श्री टोडरमलजीकृत टीकावाला पु० सि० ग्रन्थ, प्रकाशक जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता पृ० ११५ गा० १११।

अन्वयार्थ—असमग्र रत्नत्रय भावयतः य कर्मबन्ध अस्ति स विपक्षकृत रत्नत्रय तु मोक्षोपाय अस्ति, न बन्धनोपाय ।

अर्थ—एकदेशरूप रत्नत्रयको पानेवाले पुरुषके जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नही होता। किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी जो रागद्वेष है उनसे होता है, वह रत्नत्रय तो वास्तवमे मोक्षका उपाय है बन्धका उपाय नही होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जो एकदेश रत्नत्रय को धारण करता है, उनमे जो कर्म बध होता है वह रत्नत्रयसे नही होता किन्तु उसकी जो शुभ कषायें है उन्ही से होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली शुभ कषाये है किन्तु रत्नत्रय नही है।

अब रत्नत्रय और रागका फल दिखाते हैं वहाँ पर गा० २१२ से २१४ में गुणस्थानानुसार सम्यग्दृष्टिके रागको बन्धका ही कारण कहा है और वीतराग भावरूप सम्यक् रत्नत्रयको मोक्षका ही कारण कहा है फिर गा० २२० में कहा कि—'रत्नत्रयरूप धर्म मोक्षका ही कारण है और दूसरी गतिका कारण नहीं है और फिर जो रत्नत्रयके सद्भावमें जो शुभप्रकृतियोंका आस्रव होता है वह सब शुभ कषाय–शुभोपयोग से ही होता है अर्थात् वह **शुभोपयोगका ही अपराध है** किन्तु रत्नत्रयका नहीं है कोई ऐसा मानता है कि सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोगमें (-शुभभावमें) आंशिक शुद्धता है किन्तु ऐसा मानना विपरीत है, कारण कि निश्चय सम्यक्त्व होनेके बाद चारित्रकी आंशिक शुद्धता सम्यग्दृष्टिके होती है वह तो चारित्रगुणकी शुद्ध परिणति है और जो शुभोपयोग है वह तो अशुद्धता है।

कोई ऐसा मानता है कि, सम्यग्दृष्टिका शुभोपयोग मोक्षका सच्चा कारण है अर्थात् उनसे संवर-निर्जरा है अत वे बन्धका कारण नहीं है तो यह दोनों मान्यता अयथार्थ ही है ऐसा उपरोक्त शास्त्राधारोंसे सिद्ध होता है।

६ इस सूत्रका सिद्धान्त

जीवोंको सबसे पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करके सम्यग्दर्शन–ज्ञान प्रगट करना चाहिये, उसे प्रगट करनेके बाद निजस्वरूपमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना और जब स्थिर न रह सके तब अशुभभावको दूर कर देशव्रत-महाव्रतादि शुभभावमें लगे किन्तु उस शुभको धर्म न माने तथा उसे धर्मका अंश या धर्मका सच्चा साधन न माने। पश्चात् उस शुभभावको भी दूर कर निश्चय चारित्र प्रगट करना अर्थात् निर्विकल्प दशा प्रगट करना चाहिये।

व्रतके भेद

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थ—व्रतके दो भेद हैं–[देशत. अणु] उपरोक्त हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करना सो अणुव्रत और [**सर्वतः महती**] सर्वदेश त्याग करना सो महाव्रत है।

टीका

१—शुभभावरूप व्यवहारव्रतके ये दो भेद हैं। पाँचवें गुणस्थानमें

देशव्रत होता है और छट्ठे गुणस्थानमे महाव्रत होता है। छट्ठे अध्यायके २० वे सूत्रमे कहा गया है कि यह व्यवहारव्रत आस्रव है। निश्चयव्रतकी अपेक्षा से ये दोनो प्रकारके व्रत एकदेश व्रत है (देखो सूत्र १ की टीका, पैरा ५) सातवे गुणस्थानमे निर्विकल्प दशा होने पर यह व्यवहार महाव्रत भी छूट जाता है और आगे की अवस्थामे निर्विकल्प दशा विशेष २ दृढ होती है इसीलिये वहाँ भी ये महाव्रत नही होते।

२—सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक होता है वह सकल्प पूर्वक त्रस जीव की हिंसा न करे, न करावे तथा यदि दूसरा कोई करे तो उसे भला नही समझता। उसके स्थावर जीवोकी हिंसाका त्याग नही तथापि बिना प्रयोजन स्थावर जीवोकी विराधना नही करता और प्रयोजनवश पृथ्वी, जल इत्यादि जीवोकी विराधना होती है उसे भली-अच्छी नही जानता।

३. प्रश्न—इस शास्त्रके अध्याय ९ के सूत्र १८ मे व्रतको सवर कहा है और अध्याय ९ के सूत्र २ मे उसे सवरके कारण मे गर्भित किया है वहाँ दश प्रकार के धर्ममे अथवा सयममे उसका समावेश है अर्थात् उत्तम क्षमामे अहिंसा, उत्तम सत्यमे सत्य वचन, उत्तम शौचमे अचौर्य, उत्तम ब्रह्मचर्यमे ब्रह्मचर्य और उत्तम आकिंचन्यमे परिग्रह त्याग—इस तरह व्रतोका समावेश उसमे हो जाता है, तथापि यहाँ व्रतको आस्रवका कारण क्यो कहा है ?

उत्तर—इसमे दोष नही, नवमाँ सवर अधिकार है वहाँ निवृत्ति स्वरूप वीतराग भावरूप व्रतको सवर कहा है और यहाँ आस्रव अधिकार है इसमे प्रवृत्ति दिखाई जाती है, क्योकि हिसा, असत्य, चोरी इत्यादि छोड़ देने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य वस्तुका ग्रहण वगैरह क्रिया होती है इसीलिये ये व्रत शुभ कर्मोके आस्रवके कारण है। इन व्रतोमे भी अव्रतो की तरह कर्मो का प्रवाह होता है, इससे कर्मोकी निवृत्ति नही होती इसीलिये आस्रव अधिकारमे व्रतोका समावेश किया है (देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५-६)

४—मिथ्यात्व सदृश महापापको मुख्यरूपसे छुडाने की प्रवृत्ति न

करना और कुछ बातोंमे हिंसा बताकर उसे छुड़ानेकी मुख्यता करना सो क्रम भंग उपदेश है (देहली से प्र० मो० प्रकाशक अ० ५ पृष्ठ २३६)

५—एकदेश वीतराग और श्रावक की व्रतरूप दशाके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात् एकदेश वीतरागता होने पर श्रावकके व्रत होते ही है, इस तरह वीतरागताके और महाव्रतके भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, धर्मकी परीक्षा अतरंग वीतरागभावसे होती है, शुभभाव और बाह्य संयोग से नही होती। (मो० प्रकाशक)

६. इस सूत्रमें कहे हुये त्यागका स्वरूप

यहाँ छद्मस्थके बुद्धिगोचर स्थूलत्वकी अपेक्षासे लोक प्रवृत्तिकी मुख्यता सहित कथन किया है किन्तु केवल ज्ञानगोचर सूक्ष्मत्वकी दृष्टिसे नही कहा, क्योकि इसका आचरण हो नही सकता। इसका उदाहरण —

(१) अहिंसा व्रत सम्बन्धी

अणुव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग कहा है, उसके स्त्रीसेवनादि कार्योंमे तो त्रसहिंसा होती है, पुनश्च यह भी जानता है कि जिनवाणीमे यहाँ त्रस-जीव कहे हैं, परन्तु उसके त्रसजीव मारनेका अभिप्राय नही तथा लोकमे जिसका नाम त्रसघात है उसे वह नही करता, इस अपेक्षासे उसके त्रसहिंसा का त्याग है।

महाव्रतधारी मुनिके स्थावर हिंसाका भी त्याग कहा। अब मुनि पृथ्वी, जलादिकमे गमन करता है, वहाँ त्रसका भी सर्वथा अभाव नही है क्योकि त्रस जीवो की भी ऐसी सूक्ष्म अवगाहना है कि जो दृष्टिगोचर भी नही होती, तथा उसकी स्थिति भी पृथ्वी जलादिकमे है। पुनश्च मुनि जिन-वाणीसे यह जानते हैं और किसी समय अवधिज्ञानादिके द्वारा भी जानते है, परन्तु मुनिके प्रमादसे स्थावर त्रसहिंसाका अभिप्राय नही होता, लोकमे पृथ्वी खोदना, अप्रासुक जलसे क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्तिका नाम स्थावर हिंसा है और स्थूल त्रस जीवोको पीडा पहुँचानेका नाम त्रसहिंसा है। उसे मुनि नही करते इसीलिये उनके हिंसाका सर्वथा त्याग कहा जाता है। (मो० प्र०)

(२) सत्यादि चार व्रत सम्बन्धी

मुनिके असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग है, परन्तु केवलज्ञानमे जानने की अपेक्षासे असत्यवचनयोग बारहवे गुणस्थान पर्यंत कहा है, अदत्त कर्म परमाणु आदि परद्रव्योका ग्रहण तेरहवे गुणस्थान तक है, वेदका उदय नवमे गुणस्थान तक है, अतरग परिग्रह दसमे गुणस्थान तक है, तथा समवशरणादि बाह्य परिग्रह केवली भगवानके भी होता है, परन्तु वहाँ प्रमादपूर्वक पापरूप अभिप्राय नही है। लोकप्रवृत्तिमे जिन क्रियाओसे ऐसा नाम प्राप्त करता है कि 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है तथा परिग्रह रखता है' वे क्रियायें उनके नही है इसीलिये उनके असत्यादिकका त्याग कहा गया है।

(३) मुनिके मूलगुणोमे पाँच इद्रियोके विषयोका त्याग कहा है किन्तु इन्द्रियोका जानना तो नही मिटता, तथा यदि विषयोमे राग-द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो वहाँ यथाख्यातचारित्र हो जाय वह तो यहाँ हुआ नही, परन्तु स्थूलरूपसे विषय इच्छाका अभाव हुआ है तथा बाह्य विषय सामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है इसीलिये उनके इन्द्रियके विषयो का त्याग कहा है। (मो० प्र०)

(४) त्रसहिंसाके त्याग सम्बन्धी

यदि किसी ने त्रसहिसाका त्याग किया तो वहा उसे चरणानुयोग मे अथवा लोकमे जिसे त्रसहिसा कहते है उसका त्याग किया है। किन्तु केवलज्ञानके द्वारा जो त्रसजीव देखे जाते है उसकी हिंसाका त्याग नही बनता। यहाँ जिस त्रसहिसाका त्याग किया उसमे तो उस हिसारूप मनका विकल्प न करना सो मनसे त्याग है, वचन न बोलना सो वचनसे त्याग है और शरीरसे न प्रवर्तना सो कायसे त्याग है ॥ २ ॥(मोक्षमार्ग प्रकाशकसे)

अब व्रतोंमें स्थिरताके कारण बतलाते हैं

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ—[तत्स्थैर्यार्थं] उन व्रतोकी स्थिरताके लिये [भावना पंच पंच] प्रत्येक व्रतकी पाच पाच भावनाएं है।

किसी वस्तुका बारबार विचार करना सो भावना है ॥ ३ ॥

अहिंसा व्रतकी पाँच भावनायें

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थ—[वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि] वचनगुप्ति—वचनको रोकना, मनगुप्ति—मनकी प्रवृत्तिको रोकना, ईर्यासमिति चार हाथ जमीन देखकर चलना, आदाननिक्षेपणसमिति जीवरहित भूमि देखकर सावधानी से किसी वस्तुको उठाना धरना और आलोकितपानभोजन—देखकर—शोधकर भोजन पानी ग्रहण करना [पंच] ये पाच अहिंसा व्रतकी भावनाये हैं ।

टीका

१—जीव परद्रव्यका कुछ कर नही सकता, इसीलिये वचन, मन इत्यादि की प्रवृत्तिको जीव रोक नही सकता किन्तु बोलने के भावको तथा मनकी तरफ लक्ष करने के भावको रोक सकता है, उसे वचनगुप्ति तथा मनगुप्ति कहते हैं । ईर्यासमिति आदिमें भी इसी प्रमाणसे अर्थ होता है । जीव शरीरको चला नही सकता किन्तु स्वयं एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाने का भाव करता है और शरीर अपनी उस समयकी क्रियावती शक्तिकी योग्यताके कारण चलने लायक हो तो स्वयं चलता है । जब जीव चलनेका भाव करता है तब प्राय. शरीर उसकी अपनी योग्यतासे स्वय चलता है—ऐसा निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध होता है इसीलिये व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'वचनको रोकना, मनको रोकना, देखकर चलना, विचारकर बोलना' ऐसा कहा जाता है । इस कथनका यथार्थ अर्थ शब्दानुसार नही किन्तु भाव अनुसार होता है ।

२. **प्रश्न**—यहाँ गुप्ति और समितिको पुण्यास्रवमे बताया और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे संवरके कारणमे बताया है—इसतरह से तो कथनमे परस्पर विरोध होगा ?

उत्तर—यह विरोध नही, क्योकि यहाँ गुप्ति तथा समितिका अर्थ अशुभवचनका निरोध तथा अशुभ विचारका निरोध होता है, तथा नवमे अध्यायके दूसरे सूत्रमे शुभाशुभ दोनो भावोका निरोध अर्थ होता है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ६३ हिन्दी टीका (पृष्ठ २१९)

३. **प्रश्न**—यहाँ कायगुप्तिको क्यो नही लिया ?

उत्तर—ईर्यासमिति और आदाननिक्षेपणसमिति इन दोनोमे कायगुप्तिका अन्तर्भाव हो जाता है।

४. आलोकितपान भोजन मे रात्रिभोजन त्याग का समावेश हो जाता है।

सत्यव्रतकी पाँच भावनायें

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५ ॥

अर्थः—[**क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि**] क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान अर्थात् क्रोधका त्याग करना, लोभ का त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका त्याग करना, [**अनुवीचिभाषण च**] और शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना [**पंच**] ये पाँच सत्यव्रतकी भावनायें है।

टीका

१. **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि निर्भय है इसीलिये निःशक है और ऐसी अवस्था चौथे गुणस्थानमे होती है तो फिर यहाँ सम्यग्दृष्टि श्रावकको और मुनिको भयका त्याग करनेको क्यो कहा ?

उत्तर—चतुर्थ गुणस्थानमे सम्यग्दृष्टि अभिप्रायकी अपेक्षासे निर्भय है अनन्तानुवन्धी कषाय होती है तब जिसप्रकारका भय होता है उसप्रकारका भय उनके नही होता इसलिये उनको निर्भय कहा है किन्तु वहाँ ऐसा कहनेका आशय नही है कि वे चारित्रकी अपेक्षासे सर्वथा निर्भय हुये हैं।

चारित्र अपेक्षा आठवे गुणस्थान पर्यंत भय होता है इसीलिये यहाँ श्रावक को तथा मुनिको भय छोडने की भावना करने को कहा है।

२ प्रत्याख्यान दो प्रकारका होता है—(१) निश्चयप्रत्याख्यान और (२) व्यवहार प्रत्याख्यान। निश्चयप्रत्याख्यान निर्विकल्पदशारूप है, इसमे बुद्धिपूर्वक होने वाले शुभाशुभ भाव छूटते है, व्यवहारप्रत्याख्यान शुभभावरूप है, इसमे सम्यग्दृष्टि के अशुभ भाव छूटकर—दूर होकर शुभभाव रह जाते हैं। आत्मस्वरूपके अज्ञानीको—(वर्तमानमे आत्मस्वरूपका निश्चय ज्ञान करनेकी मना करने वालेको)—अर्थात् आत्मस्वरूपके ज्ञानका उपदेश वर्तमानमे मिलानेके प्रति जिसे अरुचि हो उसे शुभभावरूप व्यवहारप्रत्याख्यान भी नही होता, मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि पांच महाव्रत निरतिचार पालते है उनके भी इस भावनामे बताये हुये प्रत्याख्यान नही होते। क्योकि ये भावनायें पांचवें और छट्ठे गुणस्थानमे सम्यग्दृष्टिके ही होती हैं, मिथ्यादृष्टि के नही होती।

३. **अनुवीचिभाषण**—यह भावना भी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही शास्त्रके मर्मकी खबर है इसीलिये वह सत् शास्त्रके अनुसार निर्दोष वचन बोलनेका भाव करता है। इस भावनाका रहस्य यह है कि सच्चे सुखकी खोज करने वाले को जो सत् शास्त्रोके रहस्यका ज्ञाता हो और अध्यात्म रस द्वारा अपने स्वरूपका अनुभव जिसे भया हो ऐसे आत्मज्ञानीकी संगतिपूर्वक शास्त्रका अभ्यास करके उसका मर्म समझना चाहिये। शास्त्रोके भिन्न भिन्न स्थानो पर प्रयोजन साधनेके लिये अनेक प्रकारका उपदेश दिया है, उसे यदि सम्यग्ज्ञानके द्वारा यथार्थ प्रयोजन पूर्वक पहिचाने तो जीवके हित-अहितका निश्चय हो। इसलिये 'स्यात्' पद की सापेक्षता सहित जो जीव सम्यग्ज्ञान द्वारा ही प्रीति सहित जिन वचन मे रमता है वह जीव थोडे ही समयमे स्वानुभूतिसे शुद्धआत्मस्वरूपको प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग का प्रथम उपाय आगम ज्ञान कहा है, इसलिये सच्चा आगम क्या है इसकी परीक्षा करके आगमज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगमज्ञानके विना धर्मका यथार्थ साधन नही हो सकता। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु जीव

को यथार्थ बुद्धिके द्वारा सत्य आगमका अभ्यास करना और सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसीसे ही जीवका कल्याण होता है ॥ ५ ॥

अचौर्यव्रतकी पाँच भावनायें

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्य—शुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थ—[शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसवादाः] शून्यागारवास—पर्वतोकी गुफा, वृक्षकी पोल इत्यादि निर्जन स्थानो मे रहना, विमोचितावास—दूसरो के द्वारा छोडे गये स्थानमें निवास करना, किसी स्थान पर रहते हुये दूसरोको न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थानमे आवे तो उसे न रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना और साधर्मियो के साथ यह मेरा है—यह तेरा है ऐसा क्लेश न करना [पंच] ये पांच अचौर्यवृतकी भावनाये है।

टीका

समान धर्मके धारक जैन साधु—श्रावकोको परस्परमे विसवाद नही करना चाहिये, क्योकि विसवादसे यह मेरा—यह तेरा ऐसा पक्ष ग्रहण होता है और इसीसे अग्राह्यके ग्रहण करने की सभावना हो जाती है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्यवृतकी पाँच भावनायें

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

अर्थः—[स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग.] स्त्रियोमे राग बढाने वाली कथा सुननेका त्याग, [तन्मनोहरागनिरीक्षणत्याग.] उनके मनोहर अगोको निरख कर देखनेका त्याग [पूर्वरतानुस्मरणत्याग] अवृत अवस्थामे भोगे हुए विषयोके स्मरणका त्याग, [वृष्येष्टरसत्यागः] कामवर्धक गरिष्ठ रसो का त्याग और [स्वशरीरसस्कारत्यागः] अपने शरीरके सस्कारोका त्याग [पच] ये पाँच ब्रह्मचर्यवृतकी भावनाये है।

टीका

प्रश्न—परवस्तु आत्माको कुछ लाभ-नुकसान नही करा सकती तथा आत्मासे परवस्तुका त्याग हो नही सकता तो फिर यहाँ स्त्रीरागकी कथा सुनने आदिका त्याग क्यो कहा है ?

उत्तर—आत्माने परवस्तुओको कभी ग्रहण नही किया और ग्रहण कर भी नही सकता इसीलिये इसका त्याग ही किस तरह बन सकता है ? इसलिये वास्तवमे परका त्याग ज्ञानियो ने कहा है ऐसा मान लेना योग्य नही है । ब्रह्मचर्य पालन करने वालोको स्त्रियो और शरीरके प्रति राग दूर करना चाहिये अत इस सूत्रमे उनके प्रति रागका त्याग करनेका कहा है । व्यवहारके कथनोको ही निश्चयके कथन की तरह नही मानना, परतु इस कथनका जो परमार्थरूप अर्थ हो वही समझना चाहिये ।

यदि जीवके स्त्री आदिके प्रति राग दूर होगया हो तो उस सबधी रागवाली बात सुननेकी तरफ इसकी रुचिका झुकाव क्यो हो ? इस तरहकी रुचिका विकल्प इस ओरका राग बतलाता है इसलिये इस रागके त्याग करनेकी भावना इस सूत्रमे बतलाई है ॥ ६ ॥

परिग्रहत्यागव्रतकी पाँच भावनायें

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेष वर्जनानि पंच ॥ ८ ॥

अर्थ—[मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि] स्पर्शन आदि पाँचो इन्द्रियोके इष्ट अनिष्ट विषयोके प्रति रागद्वेषका त्याग करना [पंच] सो पाँच परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाये हैं ।

टीका

इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, इसकी व्याख्या दूसरे अध्यायके १७-१८ सूत्रकी टीकामे दी है । भावेंद्रिय यह ज्ञानका विकास है वह जिन पदार्थोंको जानती है वे पदार्थ ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञेय हैं, किंतु यदि उनके प्रति राग द्वेष किया जावे तो उसे उपचारसे इंद्रि-

योका विषय कहा जाता है। वास्तवमे वह विषय (ज्ञेय पदार्थ) स्वय इष्ट या अनिष्ट नही किन्तु जिस समय जीव राग-द्वेष करता है तब उपचारसे उन पदार्थोको इष्टानिष्ट कहा जाता है। इस सूत्रमे उन पदार्थोकी ओर राग-द्वेष छोडनेकी भावना करना बताया है।

रागका अर्थ प्रीति, लोलुपता और द्वेषका अर्थ नाराजी, तिरस्कार है ॥ ८ ॥

हिंसा आदिसे विरक्त होने की भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—[**हिंसादिषु**] हिंसा आदि पाच पापोसे [**इह अमुत्र**] इस लोकमे तथा परलोकमे [**अपायावद्यदर्शनम्**] नाशकी (दुःख, आपत्ति, भय तथा निंद्यगतिकी) प्राप्ति होती है—ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना चाहिये।

टीका

अपाय—अभ्युदय और मोक्षमार्गकी जीवकी क्रियाको नाश करने वाला जो उपाय है सो अपाय है। अवद्य—निंद्य, निंदाके योग्य।

हिंसा आदि पापोकी व्याख्या सूत्र १३ से १७ तक मे की जायगी। ९।

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ—[**वा**] अथवा ये हिंसादिक पाच पाप [**दुःखमेव**] दुःखरूप ही है—ऐसा विचारना।

टीका

१ यहाँ कारणमे कार्यका उपचार समझना, क्योकि हिंसादि तो दुःखके कारण है किन्तु उसे ही कार्य अर्थात् दुःखरूप बतलाया है।

२. **प्रश्न**—हम ऐसा देखते है कि विषय रमणतासे तथा भोग-विलास से रति सुख उत्पन्न होता है तथापि उसे दुःखरूप क्यो कहा ?

उत्तर—इन विषयादिमे सुख नही, अज्ञानी लोग भ्रांतिसे उसे

सुखरूप मानते हैं, ऐसा मानना कि परसे सुख होता है सो बड़ी भूल है भ्रांति है। जैसे, चर्म–मास–रुधिरमे जब विकार होता है तब नख (नाखून) पत्थर आदिसे शरीरको खुजाता है, वहाँ यद्यपि खुजलानेसे अधिक दुःख होता है तथापि भ्रांतिसे सुख मानता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव परसे सुख दुःख मानता है यह बड़ी भ्रांति–भूल है।

जीव स्वय इद्रियोके वश हो यही स्वाभाविक दुःख है यदि उन्हें दुःख न हो तो जीव इद्रियविषयोमे प्रवृत्ति क्यो करता है? निराकुलता ही सच्चा सुख है, विना सम्यग्दर्शन–ज्ञानके वह सुख नही हो सकता अपने स्वरूपकी भ्रांतिरूप मिथ्यात्व और उसपूर्वक होनेवाला मिथ्याचारित्र ही सर्व दुःखोका कारण है। दुःख कम हो अज्ञानी उसे सुख मानता है, किन्तु वह सुख नही है। सुख दुःखका वेदनका पैदा न होना ही सुख है अथवा जो अनाकुलता है सो सुख है–अन्य नही, और यह सुख सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी है।

३. प्रश्न—धन सचयसे तो सुख दिखाई देता है तथापि वहाँ भी दुःख क्यो कहते हो?

उत्तर—धनसचय आदिसे सुख नही। एक पक्षीके पास मासका टुकडा पडा हो तब दूसरे पक्षी उसे चूटते हैं और उस पक्षीको भी चोचें मारते हैं, उस समय उस पक्षीकी जैसी हालत होती है वैसी हालत धन-धान्य आदि परिग्रहधारी मनुष्योकी होती है। लोग सपत्तिशाली पुरुषको उसी तरह चूटते हैं। धनकी सभाल करनेमे आकुलतासे दुःखी होना पडता है, अर्थात् यह मान्यता भ्रमरूप है कि धनसचयमे सुख होता है। ऐसा मानना कि 'पर वस्तुसे सुख दुःख या लाभ–हानि होती है' यही बडी भूल है। परवस्तुमे इस जीवके सुख दुःखका सग्रह किया हुआ नही है कि जिससे वह परवस्तु जीवको सुख दुःख दे।

४. प्रश्न—हिंसादि पांच पापोसे विरक्त होने की भावना करनेको कहा परन्तु मिथ्यात्व तो महापाप है तथापि छोडनेके लिये क्यो नही कहा?

उत्तर—यह अध्याय इसका प्ररूपण करता है कि सम्यग्दृष्टि जीव

के कैसा शुभास्रव होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वरूप महापाप तो होता ही नही इसीलिये इस सबधी वर्णन इस अध्यायमे नही, इस अध्यायमे सम्यग्दर्शन के बाद होने वाले व्रत सबधी वर्णन है। जिसने मिथ्यात्व छोडा हो वही असयत सम्यग्दृष्टि देशविरति और सर्वविरति हो सकता है—यह सिद्धात इस अध्याय के १८ वे सूत्रमे कहा है।

मिथ्यादर्शन महापाप है उसे छोडनेको पहले छट्ठे अध्यायके १३ वे सूत्रमे कहा है तथा अब फिर आठवे अध्यायके पहले सूत्रमे कहेगे ॥१०॥

व्रतधारी सम्यग्दृष्टिकी भावना

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमाना विनयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ—[**सत्त्वेषु मैत्री**] प्राणीमात्रके प्रति निर्वैर बुद्धि, [**गुणाधिकेषु प्रमोदं**] अधिक गुणवालोके प्रति प्रमोद (हर्ष) [**क्लिश्यमानेषु—कारुण्यं**] दु खी रोगी जीवोके प्रति करुणा और [**अविनयेषु माध्यस्थं**] हठाग्रही मिथ्यादृष्टि जीवोके प्रति माध्यस्थ भावना—ये चार भावना अहिंसादि पाच व्रतोकी स्थिरताके लिये बारबार चितवन करना योग्य है।

टीका

सम्यग्दृष्टि जीवोके यह चार भावनाये शुभभावरूपसे होती है। ये भावना मिथ्यादृष्टि के नही होती क्योकि उसे वस्तुस्वरूपका विवेक नही।

मैत्री—जो दूसरेको दु ख न देनेकी भावना है सो मैत्री है।

प्रमोद—अधिक गुणोके धारक जीवो के प्रति प्रसन्नता आदि से अतरग भक्ति प्रगट होना सो प्रमोद है।

कारुण्य—दु खी जीवोको देखकर उनके प्रति करुणाभाव होना सो कारुण्य है।

माध्यस्थ—जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धामे रहित और तत्त्वका उपदेश देनेसे उलटा चिढता है, उसके प्रति उपेक्षा रखना सो माध्यस्थपन है।

२. इस सूत्रके अर्थकी पूर्णता करनेके लिये निम्न तीन वाक्योमे से कोई एक वाक्य लगाना—

(१) 'तत्स्थैर्यार्थं भावयितव्यामि' इन अहिंसादिक पाच व्रतो की स्थिरताके लिये भावना करनी योग्य है।

(२) 'भावयत. पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति' इस भावना के भानेसे अहिंसादिक पाँच व्रतोकी पूर्णता होती है।

(३) 'तत्स्थैर्यार्थम् भावयेत्' इन पाँच व्रतोकी दृढता के लिये भावना करे।

[देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ पृष्ठ २९]

३. ज्ञानी पुरुषोको अज्ञानी जीवोके प्रति द्वेष नही होता, किन्तु करुणा होती है इस बारेमे श्री आत्मसिद्धि शास्त्रकी तीसरी गाथा मे कहा है कि—

कोई क्रिया जड हो रहा शुष्क ज्ञानमे कोई।
माने मारग मोक्षका करुणा उपजे जोई ॥३॥

अर्थ—कोई क्रियामे ही जड हो रहा है, कोई ज्ञानमें शुष्क होरहा है और वे इनमे मोक्षमार्ग मान रहे है उन्हे देखकर करुणा पैदा होती है।

गुणादिक—जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोमे प्रधान—मान्य—बडा हो वह गुणाधिक है।

क्लिश्यमान—जो महामोहरूप मिथ्यात्वसे ग्रस्त है, कुमति कुश्रुतादिसे परिपूर्ण है जो विषय सेवन करनेकी तीव्र तृष्णारूप अग्निसे अत्यन्त दग्ध हो रहे हैं और वास्तविक हितकी प्राप्ति और अहित का परिहार करनेमे जो विपरीत हैं—इस कारण से वे दुःखसे पीडित हैं, वे जीव क्लिश्यमान हैं।

अविनयी—जो जीव मिट्टीके पिंड लकडी या दीवालकी तरह जड-अज्ञानी हैं वे वस्तुस्वरूपको ग्रहण करना (समझना और धारण करना) नही चाहते, तर्क शक्तिसे ज्ञान नही करना चाहते तथा हठरूपसे विपरीत

श्रद्धा वाले है और जिनने द्वेषादिकके वश हो वस्तु स्वरूपको अन्यथा ग्रहण कर रखा है, ऐसे जीव अविनयी है, ऐसे जीवोको अपदृष्टि–मूढदृष्टि भी कहते है ॥ ११ ॥

व्रतोंकी रक्षाके लिये सम्यग्दृष्टिकी विशेष भावना

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

अर्थ—[संवेगवैराग्यार्थम्] सवेग अर्थात् ससारका भय और वैराग्य अर्थात् रागद्वेपका अभाव करने के लिये क्रमसे संसार और शरीर के स्वभावका चिंतवन करना चाहिये।

टीका

१. जगत्का स्वभाव

छह द्रव्योके समूहका नाम जगत् है। प्रत्येक द्रव्य अनादि अनत है। इनमे जीवके अतिरिक्त पाच द्रव्य जड है और जीवद्रव्य चेतन है। जीवो की सख्या अनन्त है, पाँच अचेतन द्रव्योके सुख दु ख नही, जीव द्रव्यके सुख दु ख है। अनन्त जीवोमे कुछ सुखी है और बहुभागके जीव दु खी है। जो जीव सुखी है वे सम्यग्ज्ञानी ही है, विना सम्यग्ज्ञानके कोई जीव सुखी नही हो सकता, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका कारण है, इस तरह सुखका प्रारभ सम्यग्दर्शनसे ही होता है और सुखकी पूर्णता सिद्धदशामे होती है। स्वस्वरूपको नही समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव दु खी है। इन जीवोके अनादिसे दो बडी भूले लगी हुई है, वे भूले निम्नप्रकार है—

(१) ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है कि शरीरादि परद्रव्यका मै कर सकता हूँ और परद्रव्य मेरा कर सकते हैं, इसप्रकार परवस्तुसे मुझे लाभ–हानि होती है औरजीवको पुण्यसे लाभ होता है। यह मिथ्या मान्यता है। शरीरादिकके प्रत्येक परमाणु स्वतत्र द्रव्य है, जगत्का प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है। परमाणु द्रव्य स्वतत्र है तथापि जीव उसे हला चला सकता है, इसकी व्यवस्था सँभाल सकता है, ऐसी मान्यता द्रव्योकी स्वतत्रता छीन लेने के बराबर है और इसमे प्रत्येक रजकण पर जीवके स्वामित्व होने की

मान्यता आती है, यह अज्ञानरूप मान्यता अनंत संसारका कारण है। प्रत्येक जीव भी स्वतंत्र है, यदि यह जीव पर जीवोंका कुछ कर सकता और यदि पर जीव इसका कुछ कर सकते तो एक जीवपर दूसरे जीवका स्वामित्व हो जायगा और स्वतंत्र वस्तुका नाश हो जायगा। पुण्य भाव विकार है, स्वद्रव्य का आश्रय भूलकर अनंत परद्रव्योंके आश्रयसे यह भाव होता है इससे जीवको लाभ होता है यदि ऐसा माने तो यह सिद्धांत निश्चित होता है कि पर द्रव्यका आलंबनसे (-पराश्रय-पराधीनतासे) लाभ है—सुख है, किंतु यह मान्यता अपसिद्धांत है—मिथ्या है।

(२) मिथ्यादृष्टि जीवकी अनादिकालसे दूसरी भूल यह है कि जीव विकारी अवस्था जितना ही है अथवा जन्मसे मरण पर्यंत ही है ऐसा मानकर कोई समय मे भी ध्रुवरूप त्रिकाल शुद्ध चैतन्य चमत्कार स्वरूपको नही पहचानता और न उसका आश्रय करता है।

इन दो भूलो रूप ही संसार है, यही दुःख है, इसे दूर किये बिना कोई जीव सम्यग्ज्ञानी–धर्मी–सुखी नही हो सकता। जहाँतक यह मान्यता हो वहाँतक जीव दुःखी ही है।

श्री समयसार शास्त्र गा० ३०८ से ३११ मे से इस सम्बन्धी कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

"समस्त द्रव्योके परिणाम जुदे जुदे हैं, सभी द्रव्य अपने अपने परिणामोके कर्ता हैं, वे इन परिणामोके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से वास्तवमे किसी का किसी के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नही है, इसलिए जीव अपने परिणामोका कर्ता है, अपने परिणाम कर्म हैं। इसी-तरह अजीव अपने परिणामका ही कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इस-प्रकार जीव दूसरे के परिणामोका अकर्ता है।"

(स० सार कलश १९९) "जो अज्ञान–अंधकारसे आच्छादित होकर आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे चाहे मोक्षके इच्छुक हो तो भी सामान्य (लौकिक) जनो की तरह उनको भी मोक्ष नही होता।"

'जो जीव व्यवहारसे मोहित होकर परद्रव्यका कर्तापन मानता है

वह लौकिकजन हो या मुनिजन हो–मिथ्यादृष्टि ही है।' (कलश, २०१)

"क्योंकि इस लोकमे एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सारा सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसीलिये जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुये है वहा कर्ताकर्मकी घटना नही होती—इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजनो तत्त्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो (-ऐसा श्रद्धान करना कि कोई किसीका कर्ता नही, परद्रव्य परका अकर्ता ही है)"

ऐसी सत्य- यथार्थ बुद्धिको शिवबुद्धि अथवा कल्याणकारी बुद्धि कहते है।

—शरीर, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि पर वस्तुओमे जीवका ससार नही है, किन्तु मै उन परद्रव्योका कुछ कर सकता हूँ अथवा मुझे उनसे सुख दुःख होता है ऐसी विपरीत मान्यता (मिथ्यात्व) ही ससार है। ससार यानी (स+सृ) अच्छी तरह खिसक जाना। जीव अपने स्वरूप की यथार्थ मान्यतामे से अनादिसे अच्छी तरह खिसक जाने का कार्य (विपरीत मान्यता रूपी कार्य) करता है इसीलिए यह ससार अवस्थाको प्राप्त हुआ है। अत जीवकी विकारी अवस्था ही ससार है, किन्तु जीवका ससार जीवसे बाहर नही है। प्रत्येक जीव स्वय अपने गुण पर्यायोमे है, जो अपने गुण पर्याय है, सो जीवका जगत् है। न तो जीवमे जगत्के अन्य द्रव्य हैं और न यह जीव जगत्के अन्य द्रव्योमे है।

सम्यग्दृष्टि जीव जगत्के स्वरूपका इसप्रकार चिंतवन करता है।

२. शरीरका स्वभाव

शरीर अनन्त रजकणोका पिण्ड है। जीवका कार्माण शरीर और तैजस शरीर के साथ अनादिसे सयोग सम्बन्ध है, सूक्ष्म होने से यह शरीर इद्रियगम्य नही। इसके अलावा जीवके एक स्थूल शरीर होता है, परन्तु जब जीव एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करता है तब बीचमे जितना समय लगता है उतने समय तक (अर्थात् विग्रहगतिमे) जीवके यह स्थूल शरीर नही होता। मनुष्य तथा एकेन्द्रियसे पचेन्द्रिय तक के तिर्यंचोके जो स्थूल शरीर होता है वह औदारिक शरीर है और देव तथा नारकियोके वैक्रियिक शरीर होता है। इसके सिवाय एक आहारक शरीर

होता है, और वह विशुद्ध संयमके धारक मुनिराजके ही होता है। वास्तवमें ये पांचों प्रकारके शरीर जड़ हैं—अचेतन हैं अर्थात् यथार्थमें ये शरीर जीवके नहीं। कार्मण शरीर तो इंद्रियसे दिखाई नहीं देता तथापि ऐसा व्यवहार कथन सुनकर कि 'संसारी जीवोंके कार्मण शरीर होता है' इसका यथार्थ आशय समझने के बदले उसे निश्चय कथन मानकर अज्ञानी ऐसा मान लेते हैं कि वास्तवमें जीवका ही शरीर होता है।

शरीर अनंत रजकणोंका पिण्ड है और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र द्रव्य है, यह हलन चलनादिरूप अपनी अवस्था अपने कारणसे स्वतंत्ररूपसे धारण करता है। प्रत्येक परमाणुद्रव्य अपनी नवीन पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न करता है और पुरानी पर्यायका अभाव करता है। इसतरह पर्यायके उत्पाद व्यय-रूप कार्य करते हुए ये प्रत्येक परमाणु ध्रुवरूपसे हमेशा बने रहते हैं। अत-एव जगत्के समस्त द्रव्य स्थिर रहकर बदलनेवाले हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव ऐसा भ्रम सेवन करता है कि जीव शरीरके अनंत परमाणु-द्रव्यों की पर्याय कर सकता है और जगत्के अज्ञानियोंकी ओर से जीवको अपनी इस विपरीत मान्यताकी बलवानपनेसे—विशेषरूपसे पुष्टि मिला करती है। शरीर के साथ जो एकत्वबुद्धि है सो इस अज्ञानका कारण है अतः इसके फलरूप से जीवके अपने विकारभावके अनुसार नये २ शरीरका संयोग हुआ करता है। इस भूलको दूर करनेके लिये चेतन और जड़ वस्तु के स्वभावकी स्वतंत्रता समझनेकी आवश्यकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इस वस्तुस्वभावको सम्यग्ज्ञानसे जानता है। यहाँ इस सम्यग्ज्ञान और यथार्थ मान्यताको विशेष स्थिर—निश्चल करनेके लिये इसका बारबार विचार—चिंतवन करना कहा है।

३. संवेग

सम्यग्दर्शनादि धर्ममें तथा उसके फलमें उत्साह होना और संसार का भय होना सो संवेग है। परवस्तु संसार नहीं किन्तु अपना विकारीभाव संसार है, इस विकारीभावका भय रखना अर्थात् इस विकारीभावके न होने की भावना रखना और वीतराग दशाकी भावना बढ़ानी चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीवोके जहाँतक पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो वहा तक अनित्य राग-द्वेष रहता है, इसीलिये उससे भय रखनेको कहा है। जिस किसी-भी तरह विकारभाव नही होने देना और अशुभराग दूर होने पर जो शुभ राग रह जाय उससे भी धर्म न मानना, किन्तु उसके दूर करने की भावना करना।

४. वैराग्य

रागद्वेषके अभावको वैराग्य कहते है। यह शब्द 'नास्ति' वाचक है, किन्तु कही भी अस्तिके बिना नास्ति नही होती। जब जीवमे राग-द्वेष का अभाव होता है तब किसका सद्भाव होता है ? जीवमे जितने अंश मे रागद्वेषका अभाव होता है उतने अशमे वीतरागता–ज्ञान–आनन्द–सुखका सद्भाव होता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवोको सवेग और वैराग्यके लिये जगत् और शरीरके स्वभावका बारबार चितवन करने को कहा है।

५. विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्न—यदि जीव शरीरका कुछ नही करता और शरीरकी क्रिया उससे स्वय ही होती है तो शरीरमेसे जीव निकल जानेके बाद शरीर क्यो नही चलता ?

उत्तर—परिणाम (पर्यायका परिवर्तन) अपने अपने द्रव्य के आश्रयसे होता है, एक द्रव्यके परिणामको अन्य द्रव्यका आश्रय नही होता। पुनश्च कोई भी कार्य बिना कर्ताके नही होता, तथा वस्तुकी एक रूपसे स्थिति नही होती। इस सिद्धातके अनुसार जब मृतक शरीरके पुद्गलोकी योग्यता लम्बाई रूपमे स्थिर पडे रहने की होती है तब वे वैसी दशामे पडे रहते हैं और जब उस मृतक शरीरके पुद्गलोके पिंडकी योग्यता घरके बाहर अन्य क्षेत्रातरकी होती है तब वे अपनी क्रियावती शक्तिके कारणसे क्षेत्रा-तर होते हैं और उस समय रागी जीव वगैरह निमित्तरूप उपस्थित होते है, परन्तु वे रागी जीव आदि पदार्थ मुरदे की कोई अवस्था नही करते। मुरदे के पुद्गल स्वतत्र वस्तु हैं, उस प्रत्येक रजकण का परिणमन उसके अपने कारणसे होता है, उन रजकणोकी जिस समय जैसी हालत होने योग्य हो

वैसी ही हालत उसके स्वाधीनरूपसे होती है। परद्रव्योंकी अवस्थामें जीव का कुछ भी कर्तृत्व नही है। इतनी बात जरूर है कि उस समय रागी जीवके अपने मे जो कषायवाला उपयोग और योग होता है उसका कर्ता स्वय वह जीव है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही जगत् (अर्थात् ससार) और शरीरके स्वभाव का यथार्थ विचार कर सकता है। जिनके जगत् और शरीरके स्वभावकी यथार्थ प्रतीति नही ऐसे जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) 'यह शरीर अनित्य है, सयोगी है, जिसका सयोग होता है उसका वियोग होता है' इसप्रकार शरीराश्रित मान्यतामे ऊपरी वैराग्य (अर्थात् मोहगर्भित या द्वेषगर्भित वैराग्य) प्रगट करते है, किन्तु यह सच्चा वैराग्य नही है। सच्चा ज्ञानपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। आत्माके स्वभावको जाने विना यथार्थ वैराग्य नही होता। आत्मज्ञानके विना मात्र जगत और शरीर की क्षणिकताके आश्रय से हुआ वैराग्य अनित्य जाग्रिका है, इस भावमे धर्म नही है। सम्यग्दृष्टिके अपने असयोगी नित्य ज्ञायक स्वभावके आलवन पूर्वक अनित्य भावना होती है, यही सच्चा वैराग्य है॥ १२॥

हिंसा—पाप का लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अर्थ—[प्रमत्तयोगात्] कषाय–राग–द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानीप्रमाद) के सबंधसे अथवा प्रमादी जीवके मन–वचन–काय योगसे [प्राणव्यपरोपणं] जीवके भावप्राणका, द्रव्यप्राणका अथवा इन दोनोका वियोग करना सो [हिंसा] हिंसा है।

टीका

१ जैनशासनका यह एक महासूत्र है इसे ठीक ठीक—समझनेकी जरूरत है।

इस सूत्रमे 'प्रमत्तयोगात्' शब्द भाव वाचक है वह यह बतलाता है कि प्राणोके वियोग होने मात्रसे हिंसाका पाप नही किंतु प्रमादभाव हिंसा

है और उससे पाप है। शास्त्रोमे कहा है कि—प्राणियोका प्राणोके अलग होने मात्रसे हिसाका बध नही होता, जैसे कि ईर्यासमितिवाले मुनिके उनके निकलनेके स्थानमे यदि कोई जीव आजाय और पैरके सयोगसे वह जीव मर जाय तो वहाँ उस मुनिके उस जीवकी मृत्युके निमित्तसे जरा भी वध नही होता, क्योकि उनके भावमे प्रमाद योग नही है।

२ आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामको घातनेवाला भाव ही सपूर्ण हिसा है, असत्य वचनादि भेद मात्र शिष्यो को समझानेके लिये उदाहरण रूप कहे हैं। वास्तवमे जैन शास्त्रका यह थोडेमे रहस्य है कि 'रागादिभावो की उत्पत्ति न होना सो अहिसा है और रागादि भावोकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है'। (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा ४२–४४)

३. **प्रश्न**—चाहे जीव मरे या न मरे तो भी प्रमादके योगसे (अयत्नाचारसे) निश्चय हिंसा होती है तो फिर यहाँ सूत्रमे 'प्राणव्यपरोपण' इस शब्दका किसलिये प्रयोग किया है ?

उत्तर—प्रमाद योगसे जीवके अपने भाव प्राणोका घात (मरण) अवश्य होता है। प्रमादमे प्रवर्तनेसे प्रथम तो जीव अपने ही शुद्ध भाव-प्राणोका वियोग करता है, फिर वहाँ अन्य जीवके प्राणोका वियोग (व्यपरोपण) हो या न हो, तथापि अपने भावप्राणोका वियोग तो अवश्य होता है–यह बतानेके लिये 'प्राणव्यपरोपण' शब्दका प्रयोग किया है।

४ जिस पुरुषके क्रोधादि कषाय प्रगट होती है उसके अपने शुद्धोपयोगरूप भावप्राणोका घात होता है। कषायके प्रगट होनेसे जीवके भाव-प्राणोका जो व्यपरोपण होता है सो भाव हिंसा है और इस हिंसाके समय यदि प्रस्तुत जीवके प्राणका वियोग हो तो वह द्रव्य हिसा है।

५. यह जैन सिद्धातका रहस्य है कि आत्मामे रागादि भावोकी उत्पत्ति होनेका नाम ही भावहिंसा है। जहा धर्मका लक्षण अहिंसा कहा है वहाँ ऐसा समझना कि 'रागादि भावोका जो अभाव है सो अहिसा है'। इसलिये विभाव रहित अपना स्वभाव है ऐसे भावपूर्वक जिसतरह जितना बने उतना अपने रागादि भावोका नाश करना सो धर्म है। मिथ्यादृष्टि

जीवके रागादि भावोका नाश नही होता, उसके प्रत्येक समयमे भाव मरण हुआ ही करता है, जो भावमरण है वही हिंसा है इसीलिये उसके धर्मका अश भी नही है।

६ इद्रियोकी प्रवृत्ति पापमे हो या पुण्यमे हो किंतु उस प्रवृत्तिके दूर करनेका विचार न करना सो प्रमाद है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ २२३)

७ इस हिंसा पापमे असत्य आदि दूसरे चार पाप गर्भित हो जाते हैं। असत्य इत्यादि भेद तो शिष्यको समझानेके लिये मात्र दृष्टातरूपसे पृथक् बतलाये हैं।

८ यदि कोई जीव दूसरेको मारना चाहता हो किंतु ऐसा प्रसग न मिलनेसे नही मार सका, तो भी उस जीवके हिंसाका पाप लगा, क्योंकि वह जीव प्रमादभावसहित है और प्रमादभाव ही भावप्राणोकी हिंसा है।

९ जो ऐसा मानता है कि 'मै पर जीवोको मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते है' वह मूढ है—अज्ञानी है और इससे विपरीत अर्थात् जो ऐसा नही मानता वह ज्ञानी है (देखो समयसार गाथा २४७)

जीवोको मारो या न मारो—अध्यवसानसे ही कर्मबध होता है। प्रस्तुत जीव मरे या न मरे, इस कारणसे बध नही है।

(देखो समयसार गाथा २६२)

१० यहाँ योगका अर्थ सबध होता है। 'प्रमत्त योगात्' का अर्थ है प्रमादके सबधसे। यहाँ ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि मन-वचन-कायके आलबनसे आत्माके प्रदेशोका हलन चलन होना सो योग है। प्रमादरूप परिणामके सबधसे होने वाला योग 'प्रमत्त योग' है।

११ प्रमादके १५ भेद हैं—४ विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा राजकथा, चोरकथा,), ५ इद्रियोके विषय, ४ कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), १ निद्रा और १ प्रणय। इद्रियाँ वगैरह तो निमित्त हैं और जीवका जो असावधान भाव है सो उपादान कारण है। प्रमादका अर्थ अपने स्वरूपकी असावधानी भी होता है।

१२. तेरहवें सूत्रका सिद्धांत

जीवका प्रमत्तभाव शुद्धोपयोगका घात करता है इसलिये वही हिंसा है, और स्वरूपके उत्साहसे जितने अंशमे शुद्धोपयोगका घात न हो-जागृति हो उतने अंशमे अहिंसा है मिथ्यादृष्टिके सच्ची अहिंसा कभी नही है ॥१३॥

असत्यका स्वरूप

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—प्रमादके योगसे [**असदभिधानं**] जीवोको दुःखदायक अथवा मिथ्यारूप वचन बोलना सो [**अनृतम्**] असत्य है।

टीका

१ प्रमादके सबंधसे झूठ बोलना सो असत्य है। जो शब्द निकलता है वह तो पुद्गल द्रव्यकी अवस्था है उसे जीव नही परिणमाता, इसीसे मात्र शब्दोका उच्चारणका पाप नही किन्तु जीवका असत्य बोलनेका जो प्रमादभाव है वही पाप है।

२. सत्यका परमार्थ स्वरूप

(१) आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ आत्माका नही हो सकता और दूसरे किसीका कार्य आत्मा कर सकता नही ऐसा वस्तुस्वरूपका निश्चय करना चाहिये, और देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह इत्यादि पर वस्तुओ के सबंधमे भाषा बोलनेके विकल्पके समय यह उपयोग (-अभिप्राय) रखना चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ, एक आत्माके अलावा अन्य कोई मेरा नही, मेरे आधीन नही और मै किसीका कुछ भी कर नही सकता' अन्य आत्माके सबधमे बोलने पर भी यह अभिप्राय, यह उपयोग (-विवेक) जाग्रत रखना चाहिये कि वास्तवमे 'जाति, लिंग, इंद्रियादिक उपचरित भेदवाला यह आत्मा कभी नही है, परन्तु स्थूल व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है।' यदि इस तरहकी पहचानके उपयोग पूर्वक सत्य बोलनेका भाव हो तो वह पारमार्थिक सत्य है। वस्तु स्वरूपकी प्रतीति विना परमार्थ सत्य नही होता। इस सबधमे और स्पष्ट समझाते हैं—

(अ) यदि कोई जीव आरोपित बात करे कि 'मेरा देह, मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र' इत्यादि प्रकारसे भाषा बोलता है, (-बोलनेका भाव करता है) उस समय मै इन अन्य द्रव्योसे भिन्न हूँ, वास्तवमे वे कोई मेरे नही, मैं उनका कुछ कर नही सकता' मै भाषा बोल सकता नही, ऐसी स्पष्टरूपसे यदि उस जीवके प्रतीति हो तो वह परमार्थ सत्य कहा जाता है।

(ब) कोई ग्रथकार राजा श्रेणिक और चेलना रानीका वर्णन करता हो उस समय 'वे दोनो ज्ञानस्वरूप आत्मा थे और मात्र श्रेणिक और चेलना के मनुष्य भवमे उनका सबध था' यदि यह बात उनके लक्षमे हो और ग्रथ रचनेकी प्रवृत्ति हो तो वह परमार्थ सत्य है।

(देखो श्रीमद् राजचद्र आवृत्ति २ पृष्ठ ६१३)

(२) जीवने लौकिक सत्य बोलनेका अनेकवार भाव किया है, किंतु परमार्थ सत्यका स्वरूप नही समझा, इसीलिये जीवका भवभ्रमण नही मिटता। सम्यग्दर्शनपूर्वक अभ्याससे परमार्थ सत्यकथनकी पहचान हो सकती है और उसके विशेष अभ्याससे सहज उपयोग रहा करता है। मिथ्यादृष्टि के कथनमें कारण विपरीतता, स्वरूप विपरीतता और भेदाभेद विपरीतता होती है इसीलिये लौकिक अपेक्षासे यदि वह कथन सत्य हो, तो भी परमार्थसे उसका सर्व कथन असत्य है।

(३) जो वचन प्राणियोको पीड़ा देनेके भाव सहित हो वह भी अप्रशस्त है और वादमे चाहे वचनोके अनुसार वस्तुस्थिति विद्यमान हो तो भी वह असत्य है।

(४) स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्वरूप वस्तुको अन्यथा कहना सो असत्य है। वस्तुके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका स्वरूप निम्नप्रकार है—

द्रव्य—गुणोके समूह अथवा अपनी अपनी त्रैकालिक सर्व पर्यायो का समूह सो द्रव्य है। द्रव्यका लक्षण सत् है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है। गुणपर्यायकेसमुदायका नाम द्रव्य है।

क्षेत्र—स्वके जिस प्रदेशमे द्रव्य स्थित हो वह उसका क्षेत्र है।

काल—जिस पर्यायरूपसे द्रव्य परिणमे वह उसका काल है।

भाव—द्रव्यकी जो निजशक्ति–गुण है सो उसका भाव है।

इन चार प्रकारसे द्रव्य जिस तरह है उस तरह न मानकर अन्यथा मानना अर्थात् जीव स्वय शरीर इत्यादि परद्रव्यरूप हो जाता है, अपनी अवस्था कर्म या शरीर इत्यादि परद्रव्य कराता है कर सकता है और अपने गुण दूसरे से हो सकते हैं, अथवा वे देव–गुरु–शास्त्रके अवलबनसे प्रगट हो सकते है, इत्यादि प्रकार से मानना तथा उस मान्यताके अनुसार बोलना सो असत्य वचन है। स्व के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावमे परवस्तुये नास्तिरूप हैं; यह भूलकर उनका स्वय कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता पूर्वक बोलना सो भी असत्य है।

(५) ऐसा कहना कि आत्मा कोई स्वतत्र पदार्थ नही है अथवा परलोक नही है सो असत्य है, ये दोनों पदार्थ आगमसे, युक्तिसे तथा अनुभवसे सिद्ध हो सकते है तथापि उनका अस्तित्व न मानना सो असत्य है; और आत्माका स्वरूप जैसा न हो उसे वैसा कहना सो भी असत्य वचन है।

३. प्रश्न—वचन तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, उसे जीव नही कर सकता तथापि असत्य वचनसे जीवको पाप क्यों लगता है?

उत्तर—वास्तवमे पाप या बधन असत्य वचनसे नही होता किन्तु 'प्रमत्त योगात्' अर्थात् प्रमादभावसे ही पाप लगता है और बंधन होता है। असत्यवचन जड है वह तो मात्र निमित्त है। जब जीव असत्य बोलनेका भाव करता है तब यदि पुद्गल परमाणु वचनरूपसे परिणमनेके योग्य हो तो ही असत्य वचनरूपसे परिणमते है। जीव तो मात्र असत्य बोलनेका भाव करता है तथापि वहाँ भाषा वर्गणा वचनरूप नही भी परिणमती, ऐसा होने पर भी जीवका विकारीभाव ही पाप है और वह बन्धका कारण है।

आठवे अध्यायके पहले सूत्रमे यह कहेगे कि प्रमाद बन्धका कारण है।

४—अकषाय स्वरूपमे जाग्रत-सावधान रहने से ही प्रमाद दूर होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोके चौथे गुणस्थानमे अनन्तानुबंधी कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, पाचवें गुणस्थानमे अनन्तानुबंधी तथा अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक होने वाला प्रमाद दूर हो जाता है, छट्ठे गुणस्थानमे अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है किन्तु तीव्र सज्वलन कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद होता है। इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रमाद दूर होता जाता है और बारहवे गुणस्थानमे सर्व कषायका नाश हो जाता है।

५—उज्ज्वल वचन, विनय वचन और प्रियवचनरूप भाषा वर्गणा समस्त लोकमे भरी हुई है, उसकी कुछ न्यूनता नही कुछ कीमत देनी नही पडती, पुनश्च मीठे कोमलरूप वचन बोलनेसे जीभ नही दुखती, शरीरमे कष्ट नही होता, ऐसा समझकर असत्यवचनको दुखका मूल जानकर शीघ्र उस प्रमादका भी त्याग करना चाहिये और सत्य तथा प्रियवचनकी ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा व्यवहारका उपदेश है ॥ १४ ॥

स्तेय (-चोरी) का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

अर्थ—प्रमादके योगसे [**अदत्तादान**] बिना दी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण करना सो [**स्तेयम्**] चोरी है।

टीका

प्रश्न—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओका ग्रहण चोरी कहलायगा या नही ?

उत्तर—वह चोरी नही कहा जायगा, जहाँ लेना-देना सभव हो वहाँ चोरीका व्यवहार होता है—इस कारणसे 'अदत्त' शब्द दिया है।

प्रश्न—मुनिराजके ग्राम-नगर इत्यादिमे भ्रमण करने पर शेरी दरवाजा आदिमे प्रवेश करनेसे क्या अदत्तादान होता है ?

उत्तर—यह अदत्तादान नही कहलाता क्योकि यह स्थान सभीके

आने जानेके लिए खुला है। पुनश्च शेरी आदिमे प्रवेश करनेसे मुनिके प्रमत्तयोग नही होता।

चाहे बाह्य वस्तुका ग्रहण हो या न भी हो तथापि चोरी करनेका जो भाव होता है वही चोरी है और वही बधका कारण है। वास्तवमे परवस्तुको कोई ग्रहण कर ही नही सकता, किन्तु परवस्तुके ग्रहण करनेका जो प्रमादयुक्त भाव है वही दोष है॥ १५॥

कुशील (-अब्रह्मचर्य) का स्वरूप--

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थ—[**मैथुनमब्रह्म**] जो मैथुन है सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

टीका

१. मैथुन—चारित्र मोहनीयके उदयमे युक्त होनेसे राग-परिणाम सहित स्त्री-पुरुषोकी जो परस्परमे स्पर्श करनेकी इच्छा है सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुनकी है)

मैथुन दो प्रकारका है-निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वयं ब्रह्म-स्वरूप है, आत्माकी अपने ब्रह्मस्वरूपमे जो लीनता है सो वास्तवमे ब्रह्मचर्य है और पर निमित्तसे-रागसे लाभ माननेरूप सयोगबुद्धि या कषायके साथ एकत्वकी बुद्धि होना सो अब्रह्मचर्य है यही निश्चय मैथुन है। व्यवहार मैथुन की व्याख्या ऊपर दी गई है।

२—तेरहवे सूत्रमे कहे हुए 'प्रमत्त योगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमे भी आती है, इसीलिये ऐसा समझना कि स्त्री पुरुषके युगल सबधसे रतिसुखके लिये जो चेष्टा (-प्रमाद परिणति) की जाती है वह मैथुन है।

३—जिसके पालनसे अहिंसादिक गुण वृद्धिको प्राप्त हो वह ब्रह्म है और जो ब्रह्मसे विरुद्ध है सो अब्रह्म है। अब्रह्म (-मैथुन) मे हिंसादिक दोष पुष्ट होते है, पुनश्च उसमे त्रस-स्थावर जीव भी नष्ट होते है, मिथ्या-वचन बोले जाते है, विना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है और चेतन तथा अचेतन परिग्रहका भी ग्रहण होता है—इसलिये यह अब्रह्म छोडने लायक है॥ १६॥

परिग्रहका स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थ—[मूर्च्छा परिग्रहः]जो मूर्च्छा है सो परिग्रह है।

टीका

१—अतरगपरिग्रह चौदह प्रकारके है-एक मिथ्यात्व, चार कपाय और नौ नोकषाय।

बाह्यपरिग्रह दस प्रकारके है—क्षेत्र, मकान, चादी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपडे और बर्तन।

२—परद्रव्यमे ममत्वबुद्धिका नाम मूर्च्छा है। जो जीव बाह्य सयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा सकल्प करता है कि 'यह मेरा है' वह परिग्रह सहित है, बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र है।

३. प्रश्न—यदि तुम 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिको परिग्रह कहोगे तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह ठहरेंगे, क्योकि ये मेरे है ऐसी बुद्धि ज्ञानी के भी होती है ?

उत्तर—परद्रव्यमे ममत्वबुद्धि परिग्रह है। स्व द्रव्यको अपना मानना सो परिग्रह नही है। सम्यग्ज्ञानादि तो आत्माका स्वभाव है अत. इसका त्याग नही हो सकता इसलिये उसे अपना मानना सो अपरिग्रहत्व है।

रागादिमे ऐसा सकल्प करना कि 'यह मेरा है' सो परिग्रह है, क्योकि रागादिसे ही सर्व दोप उत्पन्न होते हैं।

४—तेरहवे सूत्रके 'प्रमत्त योगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमे भी है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान जीवके जितने अशमे प्रमादभाव न हो उतने अशमे अपरिग्रहीपन है ॥ १७ ॥

व्रती की विशेषता

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अर्थ—[व्रती] व्रती जीव [निःशल्यः] शल्य रहित ही होता है।

(४). अठारहवें सूत्रका सिद्धान्त

(१) अज्ञान अधकारसे आच्छादित हुये जो जीव आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे यद्यपि मोक्षके इच्छुक हो तो भी लौकिक जनोकी तरह उनको भी मोक्ष नही होता, ऐसे जीव चाहे मुनि हुये हो तथापि वे लौकिक जनकी तरह ही हैं। लोक (ससार) इश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोने आत्माको परद्रव्यका कर्ता (पर्यायाश्रित क्रियाका-शरीरका और उसकी क्रियाका कर्ता) माना, इसप्रकार दोनोकी मान्यता समान हुई। तत्त्व को जाननेवाला पुरुष ऐसा जानता है कि 'सर्वलोकके कोई भी परद्रव्य मेरे नही हैं' और यह भी मुनिश्चतरूपसे जानते है कि लोक और श्रमण (द्रव्यलिंगी मुनि) इन दोनोके जो इस परद्रव्यमे कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शनज्ञान रहितपनेके कारण ही है। जो परद्रव्यका कर्तृत्व मानता है वह चाहे लौकिकजन हो या मुनिजन-मिथ्यादृष्टि ही है।

(देखो श्री समयसार गा० ३२१ से ३२७ मे टीका)

(२) **प्रश्न**—क्या सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्योको बुरा जानकर त्याग करता है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योको बुरा नही जानता, वे ऐसा जानते है कि परद्रव्यका ग्रहण-त्याग हो ही नही सकता। वह अपने रागभावको बुरा जानता है इसीलिये सरागभावको छोडता है और उसके निमित्तरूप परद्रव्योका भी सहजमे त्याग होता है। पदार्थका विचार करने पर जो कोई परद्रव्यका भला या बुरा है हो नही। मिथ्यात्वभाव ही सबसे बुरा है, सम्यग्दृष्टिने वह मिथ्याभाव तो पहले ही छोडा हुआ है।

(३) **प्रश्न**—जिसके व्रत हो उसे ही व्रती कहना चाहिये, उसके बदले ऐसा क्यो कहते हो कि 'जो निःशल्य हो वह व्रती होता है।'

उत्तर—शल्यका अभाव हुये विना कोई जीव हिंसादिक पापभावोके दूर होने मात्रसे व्रती नही हो सकता। शल्यका अभाव होनेपर व्रतके सम्बन्ध से व्रतीत्व होता है इसीलिये सूत्रमे निःशल्य शब्दका प्रयोग किया है ॥१८॥

उत्तर—(१) ससारमे नरकादिकके दुःख जानकर तथा स्वर्गादिक मे भी जन्म मरणादिके दुःख जानकर ससारसे उदास हो वह मोक्ष को चाहता है, अब इन दुःखोको तो सभी दुःख जानते हैं। किन्तु इन्द्र अह-मिन्द्रादिक विपयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगता है उसे भी दुःख जान-कर निराकुल अवस्था की पहचान कर जो उसे मोक्ष जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

(२) विपय सुखादिकका फल नरकादिक है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है, वह पोपण करने योग्य नही, तथा कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे है—इत्यादि परद्रव्योका दोप विचार कर उसका त्याग करता है। पर द्रव्यो मे इष्ट अनिष्टरूप श्रद्धा करना—वह मिथ्यात्व है।

(३) व्रतादिक का फल स्वर्ग मोक्ष है। तपश्चरणादिक पवित्र फल देने वाले हैं, इनके द्वारा शरीर शोषण करने योग्य है तथा देव गुरु शास्त्रादि हितकारी है—इत्यादि पर द्रव्योके गुण विचार कर उसे अगी-कार करता है। परद्रव्यको हितकारी या अहितकारी मानना सो मिथ्या-त्वसहित राग है।

(४) इत्यादि प्रकारसे कोई पर द्रव्योको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा कोई परद्रव्योको भले जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है, पर द्रव्यमे इष्ट अनिष्टरूप श्रद्धान करना सो मिथ्यात्व है। पुनश्च इसी श्रद्धानसे उसकी उदासीनता भी द्वेपरूप होती है क्योकि किन्ही परद्रव्योको बुरा जानना सो द्वेप है। (मो० प्र०)

(५) पुनश्च जसे वह पहले शरीराश्रित पापकार्योमे कर्तृत्व मानता था उसी तरह अब शरीराश्रित पुण्य कार्योमे अपना कर्तृत्व मानता है। इसप्रकार पर्यायाश्रित (शरीराश्रित) कार्योमे अहबुद्धि मानने की समानता हुई। जैसे पहले—मै जीवको मारता हूँ, परिग्रहधारी हूँ इत्यादि मान्यता थी, उसी तरह अब मै जीवोकी रक्षा करता हूँ मैं परिग्रह रहित नग्न हूँ ऐसी मान्यता हुई सो शरीर आश्रित कार्य मे अहंबुद्धि है सो ही मिथ्यादृष्टि है।

(४). अठारहवें सूत्रका सिद्धान्त

(१) अज्ञान अधकारसे आच्छादित हुये जो जीव आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे यद्यपि मोक्षके इच्छुक हो तो भी लौकिक जनोकी तरह उनको भी मोक्ष नही होता, ऐसे जीव चाहे मुनि हुये हो तथापि वे लौकिक जनकी तरह ही है। लोक (ससार) इश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोने आत्माको परद्रव्यका कर्ता (पर्यायाश्रित क्रियाका–शरीरका और उसकी क्रियाका कर्ता) माना, इसप्रकार दोनोकी मान्यता समान हुई। तत्त्व को जाननेवाला पुरुष ऐसा जानता है कि 'सर्वलोकके कोई भी परद्रव्य मेरे नही हैं' और यह भी सुनिश्चतरूपसे जानते हैं कि लोक और श्रमण (द्रव्यलिंगी मुनि) इन दोनोके जो इस परद्रव्यमे कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शनज्ञान रहितपनेके कारण ही है। जो परद्रव्यका कर्तृत्व मानता है वह चाहे लौकिकजन हो या मुनिजन–मिथ्यादृष्टि ही है।

(देखो श्री समयसार गा० ३२१ से ३२७ मे टीका)

(२) **प्रश्न**—क्या सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्योको बुरा जानकर त्याग करता है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योको बुरा नही जानता, वे ऐसा जानते है कि परद्रव्यका ग्रहण–त्याग हो ही नही सकता। वह अपने रागभावको बुरा जानता है इसीलिये सरागभावको छोड़ता है और उसके निमित्तरूप परद्रव्योंका भी सहजमे त्याग होता है। पदार्थका विचार करने पर जो कोई परद्रव्यका भला या बुरा है हो नही। मिथ्यात्वभाव ही सबसे बुरा है, सम्यग्दृष्टिने वह मिथ्याभाव तो पहले ही छोड़ा हुआ है।

(३) **प्रश्न**—जिसके व्रत हो उसे ही व्रती कहना चाहिये, उसके बदले ऐसा क्यो कहते हो कि 'जो निःशल्य हो वह व्रती होता है।'

उत्तर—शल्यका अभाव हुये विना कोई जीव हिंसादिक पापभावोके दूर होने मात्रसे व्रती नही हो सकता। शल्यका अभाव होनेपर व्रतके सम्बन्ध से व्रतीत्व होता है इसीलिये सूत्रमे निःशल्य शब्दका प्रयोग किया है ॥१८॥

व्रतीके भेद

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थ [**अगारी**] अगारी अर्थात् सागार (गृहस्थ) [**अनगारः च**] और अनगार (गृहत्यागी भावमुनि) इसप्रकार व्रतीके दो भेद हैं।

नोट—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतोको पालनेवाले मुनि अनगारी कहलाते हैं और देशव्रतको पालनेवाले श्रावक सागारी कहलाते है ॥ १९ ॥

सागारका लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अर्थ—[**अणुव्रतः**] अणुव्रत अर्थात् एकदेशव्रत पालनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव [**अगारी**] सागार कहे जाते हैं।

टीका

यहाँ से अणुव्रतधारियोका विशेष वर्णन प्रारभ होता है और इस अध्यायके समाप्त होने तक यही वर्णन है। अणुव्रतके पाच भेद हैं—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रहपरिमाणअणुव्रत ॥ २० ॥

अब अणुव्रतके सहायक सात शीलव्रत कहते हैं

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

अर्थ—[**च**] और फिर वे व्रत [**दिग्देशानर्थदडविरति सामायिक प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नः**] दिग्वृत, देशवृत तथा अनर्थदडवृत ये तीन गुणवृत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण (मर्यादा) तथा अतिथिसविभागवृत ये चार शिक्षावृत सहित होते हैं अर्थात् वृतधारी श्रावक पाच अणुवृत, तीन गुणवृत और चार शिक्षावृत इन बारह वृतो सहित होता है।

टीका

१—पहले १३ से १७ तक के सूत्रोमे हिंसादि पाच पापोका जो वर्णन किया है उनका एकदेश त्याग करना सो पाच अणुव्रत हैं। जो अणुव्रतोको पुष्ट करे सो गुणव्रत है और जिससे मुनिव्रत पालन करने का अभ्यास हो वह शिक्षाव्रत है।

२—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोका स्वरूप निम्नप्रकार है—

दिग्व्रत—मरण पर्यंत सूक्ष्म पापोकी भी निवृत्ति के लिए दशो दिशाओ मे आने जाने की मर्यादा करना सो दिग्व्रत है।

देशव्रत—जीवन पर्यंतको ली गई दिग्व्रतकी मर्यादामे से भी घडी घटा, मास, वर्ष आदि समय तक अमुक गली आदि जाने आनेकी मर्यादा करना सो देशव्रत है।

अनर्थदंडव्रत—प्रयोजन रहित पापकी बढानेवाली क्रियाओका परित्याग करना सो अनर्थदडविरतिव्रत है। अनर्थदडके पांच भेद है—(१) पापोपदेश (हिंसादि पापारभका उपदेश करना), (२) हिंसादान (तलवार आदि हिंसाके उपकरण देना), (३) अपध्यान (दूसरेका बुरा विचारना), (४) दुश्रुति (राग-द्वेषके बढानेवाले खोटे शास्त्रोका सुनना) और (५) प्रमादचर्या (बिना प्रयोजन जहाँ तहाँ जाना, वृक्षादिकका छेदना, पृथ्वी खोदना, जल बखेरना, अग्नि जलाना वगैरह पाप कार्य)

शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी इत्यादिका किसी भी समय चितवन नही करना, क्योंकि इन बुरे ध्यानोका फल पाप ही है।

—ये तीन गुणव्रत है।

सामायिक—मन, वचन, कायके द्वारा कृत, कारित, अनुमोदनासे हिंसादि पाच पापोका त्याग करना सो सामायिक है, यह सामायिक शुभभावरूप है। (सामायिक चारित्रका स्वरूप नवमे अध्यायमे दिया जायगा)

प्रोषधोपवास—अष्टमी और चतुर्दशीके पहले और पीछेके दिनोमे एकाशनपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास आदि करके, एकातवास मे

रहकर, सपूर्ण सावद्ययोगको छोड, सर्व इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त होकर धर्म ध्यानमे रहना सो प्रोषधोपवास है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत—श्रावकोको भोगके निमित्तसे हिंसा होती है। भोग और उपभोग की वस्तुओका परिमाण करके (मर्यादा बांघ कर अपनी शक्तिके अनुसार भोग उपभोगको छोडना सो उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रत—अतिथि अर्थात् मुनि आदिके लिये आहार, कमडलु, पीछी, वसतिका आदिका दान देना सो अतिथिसंविभागव्रत है।

—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

३. ध्यानमें रखने योग्य सिद्धांत

अनर्थदण्डनामक आठवे व्रतमे दुःश्रुतिका त्याग कहा है वह यह बतलाता है कि—जीवोको दुःश्रुतिरूप शास्त्र कौन है और सुश्रुतिरूप शास्त्र कौन है इस बातका विवेक करना चाहिये। जिस जीवके धर्मके निमित्तरूपसे दुःश्रुति हो उसके सम्यग्दर्शन प्रगट ही नही होता और जिसके धर्मके निमित्त सुश्रुति (सत् शास्त्र) हो उसको भी इसका मर्म जानना चाहिये। यदि उसका मर्म समझे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है और यदि सम्यग्दर्शन प्रगट करले तो ही अणुव्रतधारी श्रावक या महाव्रतधारी मुनि हो सकता है। जो जीव सुशास्त्रका मर्म जानता है वही जीव इस अध्यायके पाँचवे सूत्रमे कही गई सत्यव्रत संबधी अनुवीचिभाषण अर्थात् शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलने की भावना कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सुशास्त्र और कुशास्त्रका विवेक करनेके लिये योग्य है इसलिये मुमुक्षु जीवो को तत्त्व विचारकी योग्यता प्रगट करके वह विवेक अवश्य करना चाहिये। यदि जीव सत् असत्का विवेक न समझे—न करे तो वह सच्चा व्रतधारी नही हो सकेगा ॥ २१ ॥

व्रतीको सल्लेखना धारण करनेका उपदेश

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थ—व्रतधारी श्रावक [**मारणांतिकीं**] मरणके समय होनेवाली [**सल्लेखनां**] सल्लेखनाको [**जोषिता**] प्रीतिपूर्वक सेवन करे।

टीका

१—इस लोक या परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षा किये बिना शरीर और कषायको सम्यक् प्रकार कृश करना सो सल्लेखना है।

२.प्रश्न—शरीर तो परवस्तु है, जीव उसे कृश नही कर सकता, तथापि यहाँ शरीरको कृश करनेके लिये क्यो कहा ?

उत्तर—कषायको कृश करने पर शरीर उसके अपने कारणसे कृश होने योग्य हो तो कृश होता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिये उपचारसे ऐसा कहा है। वात, पित्त, कफ इत्यादिके प्रकोपसे मरणके समय परिणाममे आकुलता न करना और स्वसन्मुख आराधनासे चलायमान न होना ही यथार्थ काय सल्लेखना है, मोह राग द्वेषादिसे मरणके समय अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान परिणाम मलिन न होने देना सो कषाय सल्लेखना है।

३. प्रश्न—समाधिपूर्वक देहका त्याग होनेमे आत्मघात है या नही ?

उत्तर—राग-द्वेष-मोहसे लिप्त हुये जीव यदि जहर, शस्त्र आदिसे घात करे सो आत्मघात है किंतु यदि समाधिपूर्वक सल्लेखना मरण करे तो उसमे रागादिक नही और आराधना है इसीलिये उसके आत्मघात नही है। प्रमत्तयोग रहित और आत्मज्ञान सहित जो जीव—यह जानकर कि 'शरीर अवश्य विनाशीक है' उसके प्रति राग कम करता है उसे हिंसा नही ॥२२॥

सम्यग्दर्शनके पांच अतिचार

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—[शंकाकाक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः] शका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिकी प्रशसा और अन्यदृष्टिका सस्तव-ये पाच

[सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः] सम्यग्दर्शनके अतिचार है ।

टीका

१—जिस जीवका सम्यग्दर्शन निर्दोष हो वह बराबर व्रत पाल सकता है इसीलिये यहाँ पहले सम्यग्दर्शनके अतिचार बतलाये गये हैं, जिससे वह अतिचार दूर किया जा सकता है। औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल होते हैं, इनमे अतिचार नही होते। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मल और अगाढ दोषसहित होता है अर्थात् इसमे अतिचार लगता है।

२—सम्यग्दृष्टिके आठ गुण (अग, लक्षण अर्थात् आचार) होते हैं उनके नाम इसप्रकार हैं—नि शका, निकाक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

३—सम्यग्दर्शनके जो पाच अतिचार कहे हैं उनमे से पहले तीन तो नि शकितादि पहले तीन गुणोमें आनेवाले दोष हैं और बाकीके दो अतिचारो का समावेश अतिम पाच गुणोके दोष मे होता है। चौथे से सातवे गुणस्थान वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके ये अतिचार होते हैं अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनवाले मुनि, श्रावक या सम्यग्दृष्टि—इन तीनोके ये अतिचार हो सकते हैं। जो अशरूपसे भग हो (अर्थात् दोष लगे) उसे अतीचार कहते हैं, और उससे सम्यग्दर्शन निर्मूल नही होता, मात्र मलिन होता है।

४—शुद्धात्म स्वभावकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके सद्भाव मे सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहा मिथ्यात्व–प्रकृतियो का बन्ध नही होता। पुनश्च दूसरे गुणस्थानमे भी सम्यग्दर्शनसबन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहा भी मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्धन नही है।

५—सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्षकी जड है, मोक्षमहलकी पहली सीढी है, इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त नही होते। अत योग्य जीवोको यह उचित है कि जैसे भी बने वैसे आत्माके वास्तविक स्वरूपको समझकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे अपनी आत्माको भूषित करे और

सम्यग्दर्शनको निरतिचार बनावे। धर्मरूपी कमलके मध्यमे सम्यग्दर्शनरूपी नाल शोभायमान है, निश्चयव्रत, शील इत्यादि उसकी पखुडियां है। इसलिये गृहस्थो और मुनियोको इस सम्यग्दर्शनरूपी नालमे अतीचार न आने देना चाहिये।

६. पंच अतीचारके स्वरूप

शंका—निज आत्माको ज्ञाता-दृष्टा, अखड, अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जानकर भी इस लोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और अकस्मात् इन सात भयको प्राप्त होना अथवा अर्हंत सर्वज्ञ वीतरागदेवके कहे हुये तत्त्वके स्वरूपमे सन्देह होना सो शंका नामक अतिचार है।

कांक्षा—इस लोक या परलोक सम्बन्धी भोगोमे तथा मिथ्यादृष्टियो के ज्ञान या आचरणादिमे वाछा हो आना सो वाछा अतिचार है। यह राग है।

विचिकित्सा—रत्नत्रयके द्वारा पवित्र किंतु बाह्यमे मलिन शरीर वाले मुनियोको देखकर उनके प्रति अथवा धर्मात्माके गुणोके प्रति या दुखी दरिद्री जीवोको देखकर उनके प्रति ग्लानि हो जाना सो विचिकित्सा अतिचार है। यह द्वेष है।

अन्यदृष्टिप्रशसा—आत्मस्वरूपके अजानकार जीवोके ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दान आदिको निजमे प्रगट करनेका मनमे विचार होना अथवा उसे भला जानना सो अन्यदृष्टिप्रशसा अतिचार है। (अन्यदृष्टिका अर्थ मिथ्यादृष्टि है)

अन्यदृष्टि संस्तव—आत्म स्वरूपके अनजान जीवोके ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दानादिकके फलको भला जानकर वचनद्वारा उसकी स्तुति करना सो अन्यदृष्टि सस्तव अतिचार है।

७—ये समस्त दोष होने पर सम्यग्दृष्टि जीव उन्हे दोषरूपसे जानता है और इन दोषोका उसे खेद है, इसलिये ये अतिचार है। किंतु जो जीव इन दोषोको दोषरूप न माने और उपादेय माने उसके तो ये

अनाचार हैं अर्थात् वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

८—आत्माका स्वरूप समझने के लिये शंका करके जो प्रश्न किया जावे वह शंका नही किंतु आशंका है, अतिचारोंमे जो शंका दोष कहा है उसमे इसका समावेश नही होता।

प्रशंसा और संस्तवमे इतना भेद है कि प्रशंसा मनके द्वारा होती है और संस्तव वचन द्वारा होता है ॥ २३ ॥

अब पांच व्रत और सात शीलों के अतिचार कहते हैं

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थ—[व्रतशीलेषु] व्रत और शीलोंमें भी [यथाक्रमं] अनुक्रमसे प्रत्येकमे [पंच पंच] पाँच पाँच अतिचार हैं।

नोट—व्रत कहने से अहिंसादि पांच अणुव्रत समझना और शील कहने से तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील समझना। इन प्रत्येक के पांच अतिचारोंका वर्णन अब आगे के सूत्रोंमे कहते हैं ॥ २४ ॥

अहिंसाणुव्रतके पांच अतिचार

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अर्थ—[बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः] बंध, वध, छेद, अधिक भार लादना और अन्नपानका निरोध करना—ये पांच अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं।

टीका

बंध—प्राणियोंको इच्छित स्थानमें जाने से रोकने के लिये रस्सी इत्यादिसे बांधना।

वध—प्राणियोंको लकडी इत्यादिसे मारना।

छेद—प्राणियोंके नाक, कान आदि अंग छेदना।

अतिभारारोपण—प्राणीकी शक्तिसे अधिक भार लादना।

अन्नपाननिरोध——प्राणियोको ठीक समयपर खाना पीना न देना।

यहाँ अहिंसाणुव्रतके अतिचार 'प्राण व्यपरोपण' को नही गिनना, क्योकि प्राणव्यपरोपण हिंसाका लक्षण है अर्थात् यह अतिचार नही किंतु अनाचार है। इसके सम्बन्धमे पहले १३ वे सूत्रमे कहा जा चुका है ॥२५॥

सत्याणुव्रतके पांच अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

अर्थ—[**मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकार मंत्रभेदाः**] मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, और साकारमंत्रभेद—ये पाच सत्याणुव्रतके अतिचार है।

टीका

मिथ्याउपदेश—किसी जीवके अभ्युदय या मोक्षके साथ सम्बन्ध रखनेवाली क्रियामे सदेह उत्पन्न हुआ और उसने आकर पूछा कि इस विषयमे मुझे क्या करना ? इसका उत्तर देते हुये सम्यग्दृष्टि व्रतधारीने अपनी भूलसे विपरीत मार्गका उपदेश दिया तो वह मिथ्या उपदेश कहा जाता है, और यह सत्याणुव्रतका अतिचार है और यदि जानते हुये भी मिथ्या उपदेश करे तो वह अनाचार है। विवाद उपस्थित होनेपर सम्बन्धको छोड़-कर असम्बन्धरूप उपदेश देना सो भी अतिचार रूप मिथ्या उपदेश है।

रहोभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रगट करना।

कूटलेखक्रिया—परके प्रयोगके वशसे (अनजानपनेसे) कोई खोटा लेख लिखना।

न्यासापहार—कोई मनुष्य कुछ वस्तु देगया और फिर वापस मागते समय उसने कम मागी तब ऐसा कहकर कि 'तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ' तथा बादमे कम देना सो न्यासापहार है।

साकार मंत्रभेद—हाथ आदि की चेष्टा परसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर उसे प्रगट कर देना सो साकार मंत्रभेद है।

वृतधारीके इन दोषोके प्रति खेद होता है इसीलिये ये अतिचार हैं, किन्तु यदि जीवको उनके प्रति खेद न हो तो वह अनाचार है अर्थात् वहाँ वृतका अभाव ही है ऐसा समझना ॥ २६ ॥

अचौर्याणुव्रतके पांच अतीचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—चोरीके लिये चोरको प्रेरणा करना या उसका उपाय बताना, चोरसे चुराई हुई वस्तुको खरीदना, राज्यकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, देने, लेने के बाट तराजू आदि कम ज्यादा रखना, और कीमती वस्तुमे कम कीमत की वस्तु मिलाकर असली भावसे वेचना ये पाच अचौर्याणुवृतके अतिचार है।

टीका

इन अतिचारोरूप विकल्प पुरुपार्थकी कमजोरी (-निर्वलता) से कभी आयें तो भी धर्मीजीव उनका स्वामी नही होता, दोपको जानता है परन्तु उसे भला नही मानता इसलिये वह दोष अतिचाररूप है अनाचार नही है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पांच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमना-नंगक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ—दूसरे के पुत्र पुत्रियोका विवाह करना-कराना, पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियोके पास आना जाना, लेन देन रखना, रागभाव पूर्वक वात चीत करना, पतिरहित व्यभिचारिणी स्त्री (वेश्यादि) के यहा जाना

आना, लेन देन आदिका व्यवहार रखना, अनंगक्रीडा अर्थात् कामसेवनके लिये निश्चित् अंगोको छोडकर अन्य अंगोसे कामसेवन करना और कामसेवनकी तीव्र अभिलाषा—ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार है ।। २८ ।।

परिग्रह परिमाण-अणुव्रतके पाँच अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।। २९ ।।

अर्थ—[**क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमाः**] क्षेत्र और रहने के स्थानके परिमाणका उल्लघन करना, [**हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमाः**] चादी और सोनेके परिमाणका उल्लघन करना [**धनधान्यप्रमाणातिक्रमाः**] धन (पशु आदि) तथा धान्यके परिमाणका उल्लघन करना [**दासीदासप्रमाणातिक्रमाः**] दासी और दासके परिमाणका उल्लघन करना तथा [**कुप्यप्रमाणातिक्रमाः**] वस्त्र बर्तन आदिके परिमाणका उल्लघन करना—ये पाँच अपरिग्रह अणुव्रतके अतिचार है ।। २९ ।।

इस तरह पाच अणुव्रतोके अतिचारोका वर्णन किया, अब तीन गुणव्रतोके अतिचारोका वर्णन करते है ।

दिग्व्रतके पाँच अतिचार

उर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।।३०।।

अर्थ—[**ऊर्ध्वव्यतिक्रमः**] मापसे अधिक ऊचाईवाले स्थलोमे जाना, [**अधः व्यतिक्रमः**] मापसे नीचे (कुआ खान आदि) स्थानोमे उतरना [**तिर्यक् व्यतिक्रमः**] समान स्थानके मापसे बहुत दूर जाना [**क्षेत्रवृद्धिः**] की हुई मर्यादामे क्षेत्रको बढा लेना और [**स्मृत्यंतराधानं**] क्षेत्रकी की हुई मर्यादाको भूल जाना ये पाच दिग्व्रतके अतिचार है ।।३०।।

देशव्रतके पांच अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।।३१।।

अर्थ—[**आनयन**] मर्यादासे बाहरकी चीजको मगाना, [**प्रेष्यप्रयोगः**] मर्यादासे बाहर नौकर आदिको भेजना [**शब्दानुपातः**] खांसी

शब्द आदिसे मर्यादाके वाहर जीवोको अपना अभिप्राय समझा देना, [रूपानुपातः] अपना रूप आदि दिखाकर मर्यादाके वाहरके जीवोको इशारा करना और [पुद्गलक्षेपा] मर्यादाके वाहर ककर, पत्थर आदि फेककर अपने कार्यका निर्वाह कर लेना ये पाच देशव्रतके अतिचार है ॥३१॥

अनर्थदंडव्रतके पाँच अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

अर्थ—[**कदर्प**] रागसे हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना, [**कौत्कुच्यं**] शरीरकी कुचेष्टा करके अशिष्टवचन बोलना, [**मौखर्यं**] धृष्टतापूर्वक जरूरतसे ज्यादा बोलना, [**असमीक्ष्याधिकरण**] बिना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना और [**उपभोगपरिभोगानर्थक्य**] भोग उपभोगके पदार्थोका जरूरतसे ज्यादा सग्रह करना—ये पाँच अनर्थ-दडव्रतके अतिचार है ॥ ३२ ॥

इस तरह तीन गुणव्रतके अतिचारोका वर्णन किया, अब चार शिक्षाव्रतके अतिचारोका वर्णन करते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थ—[**योगदुष्प्रणिधानं**] मन सम्बन्धी परिणामोकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, वचन सम्बन्धी परिणामोकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, काम सबधी परिणामोकी अन्यथा प्रवृत्ति करना [**अनादर**] सामायिकके प्रति उत्साह रहित होना और [**स्मृत्यनुपस्थानं**] एकाग्रताके अभावको लेकर सामा-यिक के पाठ आदि भूल जाना—ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ३३ ॥

नोट—सूत्रमे 'योग दुष्प्रणिधान शब्द है उसे मन वचन और काय इन तीनोमे लागू करके ये तीन प्रकारके तीन अतिचार गिने गये है।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थ–[**अप्रत्यवेक्षिताप्रमर्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि**] बिना देखी बिना शोधी जमीनमे मलमूत्रादिका क्षेपण करना, बिना देखे बिना शोधे पूजनके उपकरण ग्रहण करना, विना देखे बिना शोधे जमीनपर चटाई, वस्त्र आदि बिछाना, भूख आदि से व्याकुल हो आवश्यक धर्म कार्य उत्साहरहित होकर करना और आवश्यक धर्मकार्योंको भूल जाना—ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षावृतके अतिचार हैं ॥ ३४ ॥

उपभोग परिभोग परिमाण शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—१–सचित्त–जीववाले (कच्चे फल आदि) पदार्थ, २–सचित्त पदार्थके साथ सम्बन्धवाले पदार्थ, ३—सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थ, ४—अभिपव–गरिष्ठ पदार्थ, और ५—दु पक्व अर्थात् आधे पके या अधिक पके हुये या बुरी तरहसे पके पदार्थ–इनका आहार करना ये पांच उपभोग परिभोग शिक्षावृतके अतिचार है।

टीका

भोग—जो वस्तु एक ही बार उपभोगमे लाई जाय सो भोग है, जैसे अन्न, इसे परिभोग भी कहा जाता है ।

उपभोग—जो वस्तु बारबार भोगी जाय उसे उपभोग कहते है जैसे वस्त्र आदि ।

अतिथिसंविभाग वृतके पाँच अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिकूमाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—[सचित्त निक्षेप·] सचित्तपत्र आदिमे रखकर भोजन देना, [सचित्तापिधानं] सचित्त पत्र आदि से ढके हुये भोजन आदिको देना [परव्यपदेशः] दूसरे दातारकी वस्तुको देना [मात्सर्यं] अनादरपूर्वक देना अथवा दूसरे दातारकी ईर्षापूर्वक देना और] कालातिक्रमः] योग्य कालका उल्लंघन करके देना—ये पाच अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। इस तरह चार शिक्षाव्रतके अतिचार कहे ॥ ३६ ॥

अब सल्लेखनाके पांच अतिचार कहते हैं

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थ—[जीविताशंसा] सल्लेखना धारण करनेके बाद जीनेकी इच्छा करना, [मरणाशंसा] वेदनासे व्याकुल होकर शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, [मित्रानुराग] अनुरागके द्वारा मित्रोका स्मरण करना[सुखानुबंधं] पहले भोगे हुये सुखोका स्मरण करना और [निदान] निदान करना अर्थात् आगामी विषयभोगोकी वाछा करना—ये पांच सल्लेखना व्रतके अतिचार हैं।

इस तरह श्रावकके अतिचारोका वर्णन पूर्ण हुआ। ऊपर कहे अनुसार सम्यग्दर्शनके ५, बारह व्रतके ६०, और सल्लेखनाके ५ इस तरह कुल ७० अतीचारोका त्याग करता है वही निर्दोष व्रती है ॥ ३७ ॥

दानका स्वरूप

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[अनुग्रहार्थं] अनुग्रह–उपकारके हेतुसे [स्वस्यातिसर्ग.] धन आदि अपनी वस्तुका त्याग करना सो [दान] दान है।

टीका

१—अनुग्रहका अर्थ है अपनी आत्माके अनुसार होनेवाला उपकार का लाभ है। अपनी आत्माको लाभ हो इस भावसे किया गया कोई कार्य

यदि दूसरेके लाभमे निमित्त हो तब यो कहा जाता है कि परका उपकार हुआ, वास्तवमे अनुग्रह स्व का है, पर तो निमित्तमात्र है।

धन इत्यादिके त्यागसे यथार्थरीतया स्व के शुभभावका अनुग्रह है, क्योकि इससे अशुभभाव रुकता है और स्व के लोभ कषायका आशिक त्याग होता है। यदि वह वस्तु (धन आदि) दूसरेके लाभका निमित्त हो तो उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि दूसरे का उपकार हुआ, किंतु वास्तव मे दूसरे का जो उपकार हुआ है वह उसके भावका है। उसने अपनी आकुलता मद की इसोलिये उसके उपकार हुआ, किंतु यदि आकुलता मद न करे नाराजी क्रोध करे अथवा लोलुपता करके आकुलता बढावे तो उस के उपकार नही होता। प्रत्येक जीवके अपनेमे ही स्वकीय भावका उपकार होता है। परद्रव्यसे या पर मनुष्यसे किसी जीवके सचमुच तो उपकार नही होता।

२—श्रीमुनिराजको दान देने के प्रकरणमे यह सूत्र कहा गया है। मुनिको आहारका और धर्मके उपकरणोका दान भक्तिभावपूर्वक दिया जाता है। दान देनेमे स्व का अनुग्रह तो यह है कि निजके अशुभ राग दूर होकर शुभ होता है और धर्मानुराग बढता है, और परका अनुग्रह यह है कि दान लेनेवाले मुनिके सम्यग्ज्ञान आदि गुणोकी वृद्धिका निमित्त होता है। ऐसा कहना कि किसी जीवके द्वारा परका उपकार हुआ सो कथनमात्र है। व्यवहारसे भी मै परको कुछ दे सकता हूँ ऐसा मानना मिथ्या अभिप्राय है।

३—यह बात ध्यानमे रहे कि यह दान शुभरागरूप है, इससे पुण्य का बधन होता है इसीलिये वह सच्चा धर्म नही है, अपनेसे अपनेमे अपने लिये शुद्ध स्वभावका दान ही सच्चा धर्म है। जैसा शुद्ध स्वभाव है वैसी शुद्धता पर्यायमे प्रगट करना इसीका नाम शुद्धस्वभावका निश्चय दान है।

दूसरो के द्वारा अपनी ख्याति, लाभ या पूजा हो इस हेतुसे जो कुछ दिया जावे सो दान नही किंतु अपने आत्मकल्याणके लिये तथा पात्र जीवो को रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये, रक्षाके लिये या पुष्टिके लिये शुभभावपूर्वक जो कुछ दिया जावे सो दान है, इसमे जो शुभभाव है सो व्यवहार दान है, वस्तु लेने देने की जो क्रिया है वह तो परसे स्वतः होने योग्य परद्रव्यकी

क्रिया है, और परद्रव्यकी क्रिया (-पर्याय) मे जीवका व्यवहार नही है।

४—जिससे स्व के तथा परके आत्मधर्मकी वृद्धि हो ऐसा दान गृहस्थो का एक मुख्य व्रत है, इस व्रतको अतिथिसविभाग व्रत कहते है। श्रावको के प्रतिदिन करने योग्य छह कर्तव्योमे भी दानका समावेश होता है।

५—इस अधिकारमे शुभास्रवका वर्णन है। सम्यग्दृष्टि-जीवोको शुद्धताके लक्षसे शुभभावरूप दान कैसे हो यह इस सूत्रमे वताया है। सम्यग्दृष्टि ऐसा कभी नही मानते कि शुभभावसे धर्म होता है, किन्तु निज स्वरूप मे स्थिर नही रह सकते तब शुद्धताके लक्ष्यसे अशुभभाव दूर होकर शुभभाव रह जाता है अर्थात् स्वरूप सन्मुख जागृतिका मद प्रयत्न करने से-अशुभराग न होकर शुभराग होता है। वहा ऐसा समझता है कि जितना अशुभराग दूर हुआ उतना लाभ है और जो शुभराग रहा वह आस्रव है, बन्ध मार्ग है ऐसा समझकर उसे भी दूर करने की भावना रहती है, इसीलिये उनके आशिक शुद्धताका लाभ होता है। मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकारका दान नही कर सकते। यद्यपि वे सम्यग्दृष्टिकी तरह दानकी बाह्य क्रिया करते है किन्तु इस सूत्रमे कहा हुआ दानका लक्षण उनके लागू नही होता क्योकि उसे शुद्धताकी प्रतीति नही है और वह शुभको धर्म और अपना स्वरूप मानता है। इस सूत्रमे कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टिके ही लागू होता है।

यदि इस सूत्रका सामान्य अर्थ किया जावे तो वह सब जीवोके लागू हो, आहार आदि तथा धर्म-उपकरण या धन आदि देनेकी जो बाह्य क्रिया है सो दान नही परन्तु उस समय जीवका जो शुभभाव है सो दान है। श्री पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिमे इस सूत्रकी सूचनिकामे दानकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं।

'शीलविधानमे अर्थात् शिक्षाव्रतोके वर्णनमे अतिथिसविभागव्रत कहा गया किन्तु उसमे दानका लक्षण नही बताया इसलिये वह कहना चाहिये अतएव आचार्य दानके लक्षणका सूत्र कहते हैं।'

उपरोक्त कथनसे मालूम होता है कि इस सूत्रमे कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टि जीवके शुभभावरूप है।

७—इस सूत्रमे प्रयोग किया गया स्व शब्दका अर्थ धन होता है और धनका अर्थ होता है 'अपने स्वामित्वकी–अधिकारकी वस्तु।'

८. करुणादान,

करुणादानका भाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो को होते है किन्तु उनके भावमे महान् अन्तर है। यह दानके चार भेद है–१ आहारदान २ औषधिदान ३ अभयदान और ४ ज्ञानदान। आवश्यकतावाले जैन, अजैन, मनुष्य या तिर्यंच आदि किसी भी प्राणीके प्रति अनुकपा बुद्धिसे यह दान हो सकता है। मुनिको जो आहारदान दिया जाता है वह करुणादान नही किन्तु भक्तिदान है। जो अपने से महान गुण धारण करनेवाले हो उनके प्रति भक्तिदान होता है। इस सम्बन्धी विशेष वर्णन इसके बादके सूत्रकी टीकामे किया है॥ ३८॥

दानमें विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः॥ ३९॥

अर्थ—[**विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्**] विधि, द्रव्य, दातृ और पात्रकी विशेषतासे [**तद्विशेष**] दानमे विशेषता होती है।

टीका

१. विधिविशेष—नवधाभक्तिके क्रमको विधिविशेष कहते है।

द्रव्य विशेष—तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धिमे कारण ऐसे आहारादिकको द्रव्यविशेष कहते है।

दातृविशेष—जो दातार श्रद्धा आदि सात गुणोसहित हो उसे दातृविशेष कहते है।

पात्रविशेष—जो सम्यक् चारित्र आदि गुणो सहित हो ऐसे मुनि आदिको पात्रविशेष कहते हैं।

२. नवधाभक्ति का स्वरूप

(१) **संग्रह**—(प्रतिग्रहण) 'पधारो, पधारो, यहाँ शुद्ध आहार जल है' इत्यादि शब्दोके द्वारा भक्तिसत्कार पूर्वक विनयसे मुनिका आह्वान करना।

(२) **उच्चस्थान**—उनको ऊँचे आसन पर बिठाना।

(३) **पादोदक**—गरम किए हुए शुद्ध जलसे उनके चरण धोना।

(४) **अर्चन**—उनकी भक्ति पूजा करना।

(५) **प्रणाम**—उन्हे नमस्कार करना।

(६-७-८) मनशुद्धि, वचनशुद्धि, और कायशुद्धि।

(९) **ऐषणाशुद्धि**—आहारकी शुद्धि।

ये नव क्रियाएँ क्रमसे होनी चाहिए, यदि ऐसा क्रम न हो तो मुनि आहार नही ले सकते।

प्रश्न—इसप्रकार नवधाभक्ति पूर्वक स्त्री मुनिको आहार दे या नही ?

उत्तर—हां, स्त्रीका किया हुआ और स्त्रीके हाथसे भी साधु आहार लेते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जब भगवान महावीर छद्मस्थ मुनि थे तब चदनबालाने नवधाभक्तिपूर्वक उनको आहार दिया था।

मुनिको 'तिष्ठ ! तिष्ठ ! तिष्ठ !' (यहाँ विराजो) इसप्रकार अति पूज्यभावसे कहना तथा अन्य श्रावकादिक योग्य पात्र जीवोको उनके पदके अनुसार आदरकेवचनकहना सो सग्रह है। जिसके हृदयमे नवधाभक्ति नही उसके यहाँ मुनि अहार करते ही नही, और अन्य धर्मात्मा पात्र जीव भी विना आदरके, लोभी होकर धर्मका निरादर कराकर कभी भोजनादिक ग्रहण नही करते। वीतरागधर्मकी दृढतासहित, दीनतारहित परम सतोष धारण करना सो जैनत्व है।

३. द्रव्यविशेष

पात्रदानकी अपेक्षासे देने योग्य पदार्थ चार तरहके है—(१) आहार (२) औषध (३) उपकरण (पीछी, कमडल, शास्त्र आदि) और (४) आवास। ये पदार्थ ऐसे होने चाहिये कि तप, स्वाध्यायादि धर्मकार्यमे वृद्धि के कारण हो।

४. दातृविशेष

दातारमे निम्नलिखित सात गुण होने चाहिये—

(१) **ऐहिक फल अनपेक्षा**—सासारिक लाभकी इच्छा न होना।

(२) **क्षांति**—दान देते समय क्रोधरहित शात परिणाम होना।

(३) **मुदित**—दान देते समय प्रसन्नता होनी।

(४) **निष्कपटता**—मायाचार छल कपटसे रहित होना।

(५) **अनुसूयत्व**—ईर्ष्यारहित होना।

(६) **अविषादित्व**—विषाद (खेद) रहित होना।

(७) **निरहंकारित्व**—अभिमान रहित होना।

दातारमे रहे हुये इन गुणोकी हीनाधिकताके अनुसार उसके दान का फल होता है।

५. पात्रविशेष

सत्पात्र तीन तरह के है—

(१) **उत्तमपात्र**—सम्यक्चारित्रवान् मुनि।

(२) **मध्यम पात्र**—व्रतधारी सम्यक्दृष्टि।

(३) **जघन्य पात्र**—अविरति सम्यग्दृष्टि।

ये तीनो सम्यग्दृष्टि होनेसे सुपात्र है। जो जीव विना सम्यग्दर्शनके बाह्य व्रत सहित हो वह कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित तथा बाह्य-व्रत चारित्रसे भी रहित हो वे जीव अपात्र है।

६. दान सम्बन्धी जानने योग्य विशेष बातें

(१) अपात्र जीवोको दुःखसे पीडित देखकर उनपर दयाभावके द्वारा उनके दुःख दूर करनेकी भावना गृहस्थ अवश्य करे, किन्तु उनके प्रति भक्तिभाव न करे, क्योकि ऐसोके प्रति भक्तिभाव करना सो उनके पापकी

अनुमोदना है। कुपात्रको योग्य रीतिसे (करुणाबुद्धिके द्वारा) आहारादिकका दान देना चाहिये।

२. प्रश्न—अज्ञानीके अपात्रको दान देते समय यदि शुभभाव हो तो उसका क्या फल है ? जो कोई यों कहते हैं कि अपात्रको दान देनेका फल नरक निगोद है सो क्या यह ठीक है ?

उत्तर—अपात्रको दान देते समय जो शुभभाव है उसका फल नरक निगोद नही हो सकता। जो आत्माके ज्ञान और आचरणसे रहित परमार्थ शून्य है ऐसे अज्ञानी छद्मस्थ विपरीत गुरुके प्रति सेवा भक्तिसे, वैयावृत्य, तथा आहारादिक दान देनेकी क्रियासे जो पुण्य होता है उसका फल नीच देव और नीच मनुष्यत्व है।

[प्रवचनसार गा० २५७; चर्चा-समाधान पृ० ४८]

(३) आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान ऐसे भी दानके चार भेद हैं। केवलीभगवानके दानातरायका सर्वथा नाश होने से क्षायिक दान शक्ति प्रगट हुई है। इसका मुख्य कार्य ससारके शरणागत जीवोको अभय प्रदान करना है। इस अभयदानकी पूर्णता केवलज्ञानियोके होती है। तथा दिव्यध्वनि के द्वारा तत्त्वोपदेश देनेसे भव्य जीवोके ज्ञानदानकी प्राप्ति भी होती है। बाकी के दो दान रहे (आहार और औषध) सो गृहस्थके कार्य हैं। इन दो के अलावा पहले के दो दान भी गृहस्थोके यथाशक्ति होते है। केवली भगवान वीतरागी हैं उनके दानकी इच्छा नही होती ॥ ३९ ॥

[तत्त्वार्थसार पृ० २५७]

उपसंहार

१—इस अधिकारमे पुण्यास्रवका वर्णन है, वृत पुण्यास्रवका कारण है। अठारहवे सूत्रमे वृतीकी व्याख्या दी है। उसमे बतलाया है कि जो जीव मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीन शल्योसे रहित हो वही वृती हो सकता है। ऐसी व्याख्या नही की कि 'जिसके वृत हो सो वृती है' इसलिये यह खास ध्यानमे रहे कि वृती होने के लिये निश्चय सम्यग्दर्शन और वृत दोनो होने चाहिये।

२—सम्यग्दृष्टि जीवके आंशिक वीतराग चारित्रपूर्वक महाव्रतादिरूप शुभोपयोग हो उसे सराग चारित्र कहते है यह सराग चारित्र अनिष्ट फल वाला होनेसे छोडने योग्य है। जिसमे कषायकण विद्यमान है अत. जो जीव को पुण्यबधकी प्राप्तिका कारण है ऐसा सराग चारित्र बीचमे आगया हो तथापि सम्यग्दृष्टिके उसके दूर हो जानेका प्रयत्न चालू होता है।

(देखो प्रवचनसार गाथा १–५–६ टीका)

३—महाव्रतादि शुभोपयोगके उपादेयरूप ग्रहणरूप मानना सो मिथ्यादृष्टित्व है। इस अध्यायमे उन व्रतोको आस्रवरूपसे वर्णित किया है तो वे उपादेय कैसे हो सकते है ? आस्रव तो बधका ही साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है, इसीलिये इन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोमे चारित्रका सभव नही होता। चारित्र मोहके देशघाती स्पर्द्धकोके उदयमे युक्त होनेसे जो महामद प्रशस्त राग होता है वह तो चारित्रका दोष है। उसे अमुक दशातक न छूटनेवाला जानकर ज्ञानी उसका त्याग नही करते और सावद्य योगका ही त्याग करते है। किन्तु जैसे कोई पुरुष कदमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है और कोई हरितकायका आहार करता है किन्तु उसे धर्म नही मानता उसीप्रकार मुनि हिसादि तीव्र कषायरूप भावोका त्याग करते है तथा कोई मद कषायरूप महाव्रतादिको पालते है-परन्तु उसे मोक्षमार्ग नही मानते। (मो० प्र० पृ० ३३७)

४—इस आस्रव अधिकारमे अहिसादि व्रतोका वर्णन किया है इस से ऐसा समझना कि किसी जीवको न मारना ऐसा शुभभावरूप अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहभाव ये सब पुण्यास्रव है। इस अधिकारमे सवर निर्जराका वर्णन नही है। यदि ये अहिसादि सवर निर्जराका कारण होते तो इस आस्रव अधिकारमे आचार्यदेव उनका वर्णन न करते।

५—व्रतादिके समय भी चार घातिया कर्म बँधते है और घातिकर्म तो पाप है। सम्यग्दृष्टि जीवके सच्चो–यथार्थ श्रद्धा होने से दर्शनमोह-अनतानुबधी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा नरकगति इत्यादि ४१ कर्मप्रकृतियो

का बंध नही होता, यह तो चौथे गुणस्थानमे सम्यग्दर्शनका फल है और ऊपरकी अवस्थामे जितने अंशमें चारित्रकी शुद्धता प्रगट होती है वह वीत-राग चारित्र का फल है, परन्तु महाव्रत या देशव्रतका फल शुद्धता नही। महाव्रत या देशव्रतका फल बंधन है।

६—साधारण जीव लौकिक रूढदृष्टिसे यह तो मानते हैं कि अशुभ-भावमे धर्म नही है अर्थात् उस सम्बन्धी विशेष कहने की जरूरत नही। परन्तु निजको धर्मी और समझदार माननेवाला जीव भी बडे भागमें शुभ-भावको धर्म या धर्मका सहायक मानता है—यह मान्यता यथार्थ नही है। यह बात छट्ठे और सातवे अध्यायमे की गई है कि शुभभाव धर्मका कारण नही किंतु कर्मबन्धका कारण है। उसके कुछ नोट निम्नप्रकार हैं—

१—शुभभाव पुण्यका आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ३
२—सम्यक्त्व क्रिया, ईर्यापथ समिति	अध्याय ६ सूत्र ५
३—जो मंदकषाय है सो आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ६
४—सर्वप्राणी और व्रतधारीके प्रति अनुकंपा	अध्याय ६ सूत्र १८
५—मार्दव	अध्याय ६ सूत्र १८
६—सरागसंयम, संयमासंयम	अध्याय ६ सूत्र २०
७—योगोकी सरलता	अध्याय ६ सूत्र २३
८—तीर्थंकरनामकर्मबन्धके कारणरूप सोलह भावना	अध्याय ६ सूत्र २४
९—परप्रशंसा, आत्मनिंदा, नम्रवृत्ति, मदका अभाव,	अध्याय ६ सूत्र २६
१०—महाव्रत, अणुव्रत	अध्याय ७ सूत्र १ से ८ तथा २१
११—मैत्री आदि चार भावनायें	अध्याय ७ सूत्र ११
१२—जगत् और कायके स्वभावका विचार	अध्याय ७ सूत्र १२
१३—सल्लेखना	अध्याय ७ सूत्र २२
१४—दान	अध्याय ७ सूत्र ३८-३९

उपरोक्त सभी भावोको आस्रव की रीतिसे वर्णन किया है। इस-तरह छट्ठे और सातवे अध्यायमे आस्रवका वर्णन पूर्ण करके अब आठवे अध्यायमें बंध तत्त्वका वर्णन किया जायगा।

७—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग करना सो

व्रत है–ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १०१ वी गाथामे कहा है अर्थात् यो बतलाया है कि यह व्रत पुण्यास्रव ही है। गाथा १०३ मे कहा है कि ससारमार्गमे पुण्य और पापके बीच भेद है किन्तु उस के बाद पृ० २५६ गाथा १०४ मे **स्पष्टरूपसे कहा है कि—मोक्षमार्गमें पुण्य और पापके बीच भेद (विशेष, पृथक्त्व) नहीं है। क्योंकि ये दोनों संसारके कारण हैं**—इस तरह बतलाकर आस्रव अधिकार पूर्ण किया है।

८. प्रश्न—व्रत तो त्याग है, यदि त्यागको पुण्यास्रव कहोगे किंतु धर्म न कहोगे तो फिर त्यागका त्याग धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर—(१) व्रत यह शुभभाव है, शुभभावका त्याग दो प्रकारसे होता है–एक प्रकारका त्याग तो यह कि 'शुभको छोडकर अशुभमे जाना' सो यह तो जीव अनादिसे करता आया है, लेकिन यह त्याग धर्म नही किंतु पाप है। दूसरा प्रकार यह है कि—सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धता प्रगट करने पर शुभका त्याग होता है, यह त्याग धर्म है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य का आलबन द्वारा व्रतरूप शुभभावका भी त्याग करके ज्ञानमे स्थिरता करते हैं, यह स्थिरता ही चारित्र धर्म है। इसप्रकार जितने अशमे वीतराग चारित्र बढता है उतने अशमे व्रत और अव्रतरूप शुभाशुभभावका त्याग होता है।

(२) यह ध्यान रहे कि व्रतमे शुभ अशुभ दोनोका त्याग नही है, परतु व्रतमे अशुभभावका त्याग और शुभभावका ग्रहण है अर्थात् व्रत राग है, और अव्रत तथा व्रत (अशुभ तथा शुभ) दोनोका जो त्याग है सो वीतरागता है। शुभ-अशुभ दोनोका त्याग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र पूर्वक ही हो सकता है।

(३) 'त्याग' तो नास्ति वाचक है यदि वह अस्ति सहित हो तब यथार्थ नास्ति कही जाती है। अब यदि व्रतको त्याग कहे तो वह त्यागरूप नास्ति होने पर आत्मामे अस्तिरूपसे क्या हुआ ? इस अधिकारमे यह बतलाया है कि वीतरागता तो सम्यक् चारित्रके द्वारा प्रगट होती है और व्रत तो आस्रव है, इसीलिये व्रत सच्चा त्याग नही, किंतु जितने अशमे वीत-

रागता प्रगट हुई उतना सच्चा त्याग है । क्योंकि जहाँ जितने अंशमें वीतर. .ता हो वहाँ उतने अंशमें सम्यक् चारित्र प्रगट हो जाता है और उसमें शुभ-अशुभ दोनोंका (अर्थात् व्रत-अव्रत दोनों) त्याग होता है ।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी
गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद में यह
सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।



मोक्षशास्त्र अध्याय आठवाँ

भूमिका

पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमे कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है। दूसरे सूत्रमे कहा है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके बाद चौथे सूत्रमे सात तत्त्वोके नाम बतलाये, इनमेसे जीव, अजीब और आसृव इन तीन तत्त्वोका वर्णन सातवे अध्याय तक किया। आसृवके बाद बंध तत्त्वका नवर है, इसीलिये अचार्य देव इस अध्यायमे बध तत्त्वका वर्णन करते हैं।

बधके दो भेद है—भाववध और द्रव्यवध। इस अध्यायके पहले दो सूत्रोमे जीवके भाववधका और उस भावबधका निमित्त पाकर होनेवाले द्रव्यकर्मके बधका वर्णन किया है। इसके बाद के सूत्रोमे द्रव्यबधके भेद, उनकी स्थिति और कब छूटते है इत्यादि का वर्णन किया है।

बंधके कारण बतलाते हैं

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥१॥

अर्थ—[मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाच [बंधहेतवः] वधके कारण है।

टीका

१—यह सूत्र बहुत उपयोगी है, यह सूत्र बतलाता है कि ससार किस कारणसे है। धर्मंमे प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले जीव तथा उपदेशक जबतक इस सूत्रका मर्म नहीं समझते तबतक एक बडी भूल करते है। वह इसप्रकार है–बधके ५ कारणोमे से सबसे पहले मिथ्यादर्शन दूर होता है और फिर अविरति आदि दूर होते हैं, तथापि वे पहले मिथ्यादर्शनको दूर किये बिना अविरतिको दूर करना चाहते है और इस हेतुसे उनके माने हुये बालवृत आदि ग्रहण करते है तथा दूसरोको भी वैसा उपदेश देते है। पुनश्च ऐसा मानते है कि ये बालवृत आदि ग्रहण करने से और

उनका पालन करने से मिथ्यादर्शन दूर होगा। उन जीवोकी यह मान्यता पूर्णरूपेण मिथ्या है इसलिये इस सूत्रमे 'मिथ्यादर्शन' पहले बताकर सूचित किया है।

२—इस सूत्रमे बधके कारण जिस क्रमसे दिये हैं उसी क्रमसे वे नष्ट दूर होते हैं, परन्तु यह क्रम भग नही होता कि पहला कारण विद्यमान हो और उसके बादके कारण दूर हो जाय। उनके दूर करनेका क्रम इसप्रकार है—(१) मिथ्यादर्शन चौथे गुणस्थानमे दूर होता है (२) अविरति पाचवे-छट्ठे गुणस्थानमे दूर होती है (३) प्रमाद सातवे गुणस्थानमे दूर होता है (४) कषाय बारहवे गुणस्थानमे नष्ट होती है और (५) योग चौदहवे गुणस्थानमे नष्ट होता है। वस्तुस्थितिके इस नियमको न समझने से अज्ञानी पहले बालव्रत अगीकार करते हैं और उसे धर्म मानते हैं, इसप्रकार अधर्मको धर्म मानने के कारण उनके मिथ्यादर्शन और अनंतानुबधी कषायका पोषण होता है। इसलिये जिज्ञासुओको वस्तुस्थिति के इस नियमको समझना खास–विशेष आवश्यक है। इस नियमको समझकर असत् उपाय छोडकर पहले मिथ्यादर्शन दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका पुरुषार्थ करना योग्य है।

३—मिथ्यात्वादि या जो बधके कारण है वे जीव और अजीवके भेद से दो प्रकारके हैं। जो मिथ्यात्वादि परिणाम जीवमे होते है वे जीव हैं, उसे भावबंध कहते हैं और जो मिथ्यात्वादि परिणाम पुद्गलमे होते हैं वे अजीव हैं, उसे द्रव्यबध कहते हैं। (देखो समयसार गाथा ८७-८८)

४. बंधके पाँच कारण कहे उनमें अंतरंग भावोंकी पहचान करना चाहिये

यदि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके भेदोको बाह्यरूपसे जाने किन्तु अतरगमें इन भावोकी किस्म (जाति) की पहचान न करे तो मिथ्यात्व दूर नही होता। अन्य कुदेवादिकके सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को तो मिथ्यात्वरूपसे जाने किन्तु जो अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है उसे न पहिचाने, तथा बाह्य त्रस स्थावरकी हिंसाके तथा इद्रियमनके

विषयोमे प्रवृत्ति हो उसे अविरति समझे किंतु हिंसामे मूल जो प्रमाद परिणति है तथा विषय सेवनमे अभिलाषा मूल है उसे न देखे तो खोटी मिथ्या मान्यता दूर नही होती। यदि बाह्य क्रोध करने को कषाय समझे किन्तु अभिप्राय मे जो राग द्वेष रहता है वही मूल क्रोध है उसे न पहिचाने तो मिथ्या मान्यता दूर नही होती। जो बाह्य चेष्टा हो उसे योग समझे किन्तु शक्ति-भूत (आत्मप्रदेशोके परिस्पदनरूप) योगको न जाने तो मिथ्या मान्यता दूर नही होती। इसलिये उनके अन्तरग भावको पहिचानकर उस सम्बन्धी अन्यथा मान्यता दूर करनी चाहिये। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

५. मिथ्यादर्शनका स्वरूप

(१) अनादिसे जीवके मिथ्यादर्शनरूप अवस्था है। समस्त दु खोका मूल मिथ्यादर्शन है। जीवके जैसा श्रद्धान है वैसा पदार्थ स्वरूप न हो और जैसा पदार्थस्वरूप न हो वैसा ये माने, उसे मिथ्यादर्शन कहते है। जीव स्व को और शरीरको एक मानता है, किसी समय शरीर दुबला हो, किसी समय मोटा हो, किसी समय नष्ट हो जाय और किसी समय नवीन पैदा हो तब ये सब क्रियाये शरीराधीन होती है तथापि जीव उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

दृष्टात—जैसे किसी जगह एक पागल बैठा था। वहा अन्य स्थान से आकर मनुष्य, घोडा और धनादिक उतरे, उन सबको वह पागल अपना मानने लगा, किंतु, वे सभी अपने २ आधीन हैं, अत इसमे कोई आवे, कोई जाय और कोई अनेक अवस्था रूपसे परिणमन करता है, इसप्रकार सबकी क्रिया अपने अपने आधीन है तथापि यह पागल उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

सिद्धान्त—उसीप्रकार यह जीव जहा शरीर धारण करता है वहा किसी अन्य स्थानसे आकर पुत्र, घोडा, धनादिक स्वय प्राप्त होता है यह जीव उन सबको अपना जानता है, परतु ये सभी अपने २ आधीन होने से कोई आते कोई जाते और कोई अनेक अवस्थारूपसे परिणमते हैं, क्या यह उनके आधीन है ? ये जीवके आधीन नही है, तो भी यह जीव उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

(२) यह जीव स्वय जिसप्रकार है उसीप्रकार अपने को नही मानता किन्तु जैसा नही है वैसा मानता है सो मिथ्यादर्शन है। जीव स्वय अमूर्तिक प्रदेशोका पु ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोका धारक, अनादिनिधन वस्तुरूप है, तथा शरीर मूर्तिक पुद्गल द्रव्योका पिंड प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोसे रहित, नवीन ही जिसका सयोग हुआ है ऐसा यह शरीरादि पुद्गल जो कि स्व से पर है–इन दोनो के सयोगरूप मनुष्य तिर्यंचादि अनेक प्रकार की अवस्थाये होती है, इसमे यह मूढ जीव निजत्व धारण कर रहा है, स्व-पर का भेद नही कर सकता, जिस पर्यायको प्राप्त हुआ है उसे ही निजरूपसे मानता है। इस पर्यायमे (१) जो ज्ञानादि गुण है वे तो निजके गुण है, (२) जो रागादिकभाव होते है वे विकारीभाव है, तथा (३) जो वर्णादिक है वे निजके गुण नही किंतु शरीरादि पुद्गलके गुण है और (४) शरीरादिमे भी वर्णादिका तथा परमाणुओका परिवर्तन प्रथक् २ रूपसे होता है, ये सव पुद्गलकी अवस्थायें है, यह जीव इन सभी को निजरूप–और निजाधीन मानता है, स्वभाव और परभावका विवेक नही करता, पुनश्च स्व से प्रत्यक्ष भिन्न धन कुटुम्बादिक का सयोग होता है वे अपने अपने आधीन परिणमते है इस जीवके आधीन होकर नही परिणमते तथापि यह जीव उसमे ममत्व करता है कि ये सव मेरे हैं' परन्तु ये किसी भी प्रकारसे इसके नही होते, यह जीव मात्र अपनी भूलसे (मिथ्या मान्यतासे) उसे अपना मानते हैं।

(३) मनुष्यादि अवस्थामे किसी समय देव-गुरु-शास्त्र अथवा धर्म का जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है उसकी तो प्रतीति करता है किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है उसका ज्ञान नही करता।

(४) जगत्की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने अपने आधीन परिणमते हैं, किन्तु यह जीव ऐसा नही मानता और यो मानता है कि स्वय उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है।

ऊपर कही गई सव मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है। स्वका और परद्रव्यो का जैसा स्वरूप नही है वैसा मानना तथा जैसा है वैसा न मानना सो

विपरीत अभिप्राय होनेके कारण मिथ्यादर्शन है।

(५) जीव अनादिकालसे अनेक शरीर धारण करता है, पूर्वका छोड़कर नवीन धारण करता है, वहा एक तो स्वय आत्मा (जीव) तथा अनत पुद्गल परमाणुमय शरीर—इन दोनोके एक पिंडबधनरूप यह अवस्था होती है, उन सबमे यह ऐसी अहबुद्धि करता है कि 'यह मै हूँ।' जीव तो ज्ञान स्वरूप है और पुद्गल परमाणुओका स्वभाव वर्ण-गध-रस-स्पर्शादि है—इन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि 'ये मेरे हैं।' हलन चलन आदि क्रिया शरीर करता है उसे जीव ऐसा मानता है कि 'मै करता हूँ।' अनादिसे इन्द्रियज्ञान है—बाह्य की ओर दृष्टि है इसीलिये स्वय अमूर्तिक तो अपने को नही मालूम होता और मूर्तिक शरीर ही मालूम होता है, इसी कारण जीव अन्यको अपना स्वरूप जानकर उसमे अहबुद्धि धारण करता है। निजका स्वरूप निजको परसे भिन्न नही मालूम हुआ अर्थात् शरीर, ज्ञानादिगुण, क्रोधादिविकार तथा सगे सबधियोका समुदाय इन सबमे स्वय अहबुद्धि धारण करता है, इससे और स्व के और शरीरके स्वतत्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है वह नही जाननेसे यथार्थ-रूपसे शरीर से स्व की भिन्नता नही मालूम होती।

(६) स्व का स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है तथापि स्वय केवल देखने-वाला तो नही रहना किंतु जिन जिन पदार्थोंको देखता जानता है, उसमे इष्ट अनिष्ट रूप मानता है, यह इष्टानिष्टरूप मानना सो मिथ्या है क्योंकि कोई भी पदार्थ इष्टानिष्टरूप नही है। यदि पदार्थोंमे इष्ट अनिष्टपन हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सभीको इष्टरूप ही हो तथा जो पदार्थ अनिष्टरूप हो वह सबको अनिष्टरूप ही हो, किंतु ऐसा तो नही होता। जीवमात्र स्वय कल्पना करके उसे इष्ट-अनिष्टरूप मानता है। यह मान्यता मिथ्या है—कल्पित है।

(७) जीव किसी पदार्थका सद्भाव तथा किसीके अभावको चाहता है किन्तु उसका सद्भाव या अभाव जीवका किया हुआ नही होता **क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका या उसकी पर्यायका कर्त्ता है ही नहीं, किंतु समस्त द्रव्य स्व से ही अपने अपने स्वरूपमें निरंतर परिणमते हैं।**

(८) मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादि भावोके द्वारा सर्व द्रव्योको अन्य प्रकारसे परिणमाने की इच्छा करता है किन्तु ये सर्व द्रव्य जीवकी इच्छाके आधीन नही परिणमते। इसीलिये उसे आकुलता होती है। यदि जीव की इच्छानुसार ही सब कार्य हो, अन्यथा न हो तो ही निराकुलता रहे, किंतु ऐसा तो हो ही नही सकता। **क्योंकि किसी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है।** इसलिये सम्यक् अभिप्राय द्वारा स्वसन्मुख होनेसे ही जीवके रागादिभाव दूर होकर निराकुलता होती है—ऐसा न मानकर मिथ्या अभिप्रायवश यो मानता है कि मैं स्वय परद्रव्यका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता, आदि हूँ और परद्रव्यसे अपने को लाभ-हानि होती है।

(९) मिथ्यादर्शनकी कुछ मान्यतायें

१—स्वपर एकत्वदर्शन, २—परकी कर्तृत्वबुद्धि, ३—पर्यायबुद्धि, ४—व्यवहार-विमूढ, ५—अतत्त्व श्रद्धान, ६—स्व स्वरूपकी भ्रांति, ७—रागसे शुभभावसे आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि, ८—बहिरदृष्टि, ९—विपरीत रुचि, १०—जैसा वस्तु स्वरूप हो वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना, ११—अविद्या, १२—परसे लाभ-हानि होती है ऐसी मान्यता, १३—अनादि अनत चैतन्यमात्र त्रिकाली आत्माको न मानना किंतु विकार जितनी ही आत्मा मानना, १४—विपरीत अभिप्राय, १५—परसमय, १६—पर्यायमढ, १७—ऐसी मान्यता कि जीव शरीरकी क्रिया कर सकता है, १८—जीवको परद्रव्योकी व्यवस्था करनेवाला तथा उसका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता मानना, १९—जीवको ही न मानना, २०—निमित्ताधीन दृष्टि, २१—ऐसी मान्यता कि पराश्रयसे लाभ होता है, २२—शरीराश्रित क्रियासे लाभ होता है ऐसी मान्यता, २३—सर्वज्ञकी वाणीमे जैसा आत्माका पूर्ण स्वरूप कहा है वैसे स्वरूप की अश्रद्धा, २४—व्यवहारनय सचमुच आदरणीय होनेकी मान्यता, २५—शुभाशुभभावका स्वामित्व, २६—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी मान्यता, —२७ ऐसी मान्यता कि व्यवहार रत्नत्रय करते करते निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है, २८—शुभ अशुभमे सदृशता न मानना अर्थात् ऐसा मानना कि शुभ अच्छा है और अशुभ खराब है, २९—ममत्वबुद्धिसे मनुष्य और तिर्यंचके प्रति करुणा होना।

६. मिथ्यादर्शनके दो भेद

(१) मिथ्यात्वके दो भेद हैं—अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व अनादिकालीन है। जो ऐसी मान्यता है कि जीव परद्रव्यका कुछ कर सकता है या शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है सो यह अनादिका अगृहीत मिथ्यात्व है। सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्यायमे जन्म होने के बाद परोपदेशके निमित्तसे जो अतत्त्व श्रद्धान करता है सो गृहीत मिथ्यात्व है अगृहीत मिथ्यात्वको निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व को बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते है। जिसके गृहीत मिथ्यात्व हो उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है।

अगृहीत मिथ्यात्व—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी अनादिसे चली आई जो जीवकी मान्यता है सो मिथ्यात्व है, यह किसी के सिखानेसे नही हुआ इसलिये अगृहीत है।

गृहीत मिथ्यात्व—खोटे देव-शास्त्र-गुरु की जो श्रद्धा है सो गृहीत मिथ्यात्व है।

(२) **प्रश्न**—जिस कुलमे जीव जन्मा हो उस कुलमे माने हुए देव, गुरु, शास्त्र सच्चे हो और यदि जीव लौकिकरूढ दृष्टिसे सच्चा मानता हो तो उसके गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नही ?

उत्तर—नही, उसके भी गृहीतमिथ्यात्व है क्योकि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रका स्वरूप क्या है तथा कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रमे क्या दोष है इसका सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करके सभी पहलुओसे उसके गुण (Merits) और दोष (demerits) यथार्थ निर्णय न किया हो वहा तक जीवके गृहीत मिथ्यात्व है और यह सर्वज्ञ वीतरागदेवका सच्चा अनुयायी नही है।

(३) **प्रश्न**—इस जीवने पहले कईबार गृहीत मिथ्यात्व छोडा होगा या नही ?

उत्तर—हाँ, जीवने पहले अनन्तबार गृहीत मिथ्यात्व छोडा और

द्रव्यलिंगी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नही छोडा इसीलिये ससार बना रहा, और फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया। निर्ग्रंथदशापूर्वक पच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूल गुणादिकका जो शुभविकल्प है सो द्रव्यलिंग है, गृहीत मिथ्यात्व छोडे बिना जीव द्रव्यलिंगी नही हो सकता और द्रव्यलिंगके बिना निरतिचार महाव्रत नही हो सकते। वीतराग भगवानने द्रव्यलिंगीके निरतिचार महाव्रतको भी बालव्रत और असयम कहा है क्योकि उसने अगृहीत मिथ्यात्व नही छोडा।

७-गृहीतमिथ्यात्व के भेद

गृहीतमिथ्यात्वके पाच भेद हैं—(१) एकातमिथ्यात्व, (२) सशयमिथ्यात्व, (३) विनयमिथ्यात्व, (४) अज्ञानमिथ्यात्व, और (५) विपरीत मिथ्यात्व। इन प्रत्येक की व्याख्या निम्न प्रकार है.—

(१) **एकांत मिथ्यात्व**—आत्मा परमाणु आदि सर्व पदार्थ का स्वरूप अपने अपने अनेकातमय (अनेक धर्मवाला) होनेपर भी उसे सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना सो एकात मिथ्यात्व है। जैसे—जीवको सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य ही मानना, गुण-गुणीको सर्वथा भेद या अभेद ही मानना सो एकात मिथ्यात्व है।

(२) **संशय मिथ्यात्व**—'धर्मका स्वरूप यो है या यो है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो रूपका श्रद्धान—जैसे—आत्मा अपने कार्यका कर्त्ता होता होगा या परवस्तुके कार्यका कर्त्ता होता होगा ? निमित्त और व्यवहारके आलबनसे धर्म होगा या अपना शुद्धात्माके आलबनसे धर्म होगा ? इत्यादिरूप से सशय रहना सो सशय मिथ्यात्व है।

(३) **विपरीत मिथ्यात्व**—आत्माके स्वरूपको अन्यथा मानने की रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते है, जैसे–सग्रन्थको निर्ग्रंथ मानना, मिथ्यादृष्टि साधुको सच्चे गुरु मानना, केवलीके स्वरूपको विपरीतरूपसे मानना इत्यादि रूपसे जो विपरीत रुचि है सो विपरीत मिथ्यात्व है।

(४) **अज्ञान मिथ्यात्व**—जहाँ हित-अहितका कुछ भी विवेक

न हो या कुछ भी परीक्षा किये विना–धर्म की श्रद्धा करना सो अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे–पशुवधमे अथवा पाप मे धर्म मानना सो अज्ञान मिथ्यात्व है।

(५) **विनय मिथ्यात्व**—समस्त देवको तथा समस्त धर्ममतोको समान मानना सो विनय मिथ्यात्व है।

८—गृहीतमिथ्यात्वके ५ भेदोंका विशेष स्पष्टीकरण

(१) **एकांत मिथ्यात्व**—आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थका स्वरूप अपने-अपने अनेक धर्मोसे परिपूर्ण है ऐसा नही मानकर वस्तुको सर्वथा अस्तिरूप, सर्वथा नास्तिरूप, सर्वथा एकरूप, सर्वथा अनेकरूप, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, गुण पर्यायोसे सर्वथा अभिन्न, गुण पर्यायोसे सर्वथा भिन्न इत्यादि रूपसे मानना सो एकात मिथ्यात्व है, पुनश्च काल ही सब करता है, काल ही सबका नाश करता है, काल ही फल फूल आदि उत्पन्न करता है, काल ही सयोग वियोग करता है, काल ही धर्मको प्राप्त कराता है, इत्यादि मान्यता मिथ्या है, यह एकात मिथ्या है।

निरन्तर प्रत्येक वस्तु स्वय अपने कारणसे अपनी पर्यायको धारण करती है, यही उस वस्तुका स्वकाल है और उस समय वर्तनेवाली जो कालद्रव्यकी पर्याय (समय) है सो निमित्त है, ऐसा समझना सो यथार्थ समझ है और इसके द्वारा एकात मिथ्यात्वका नाश होता है।

कोई कहता है कि–आत्मा तो अज्ञानी है, आत्मा अनाथ है, आत्मा के सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ–अलाभ, ज्ञानित्व, पापीपन, धर्मित्व, स्वर्गगमन, नरकगमन इत्यादि सब ईश्वर करता है, ईश्वर ससार का कर्त्ता है, हर्ता भी ईश्वर है, ईश्वरसे ही ससार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है, इत्यादि प्रकारसे ईश्वरकार्तृत्वकी कल्पना करता है सो मिथ्या है। ईश्वरत्व तो आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध (सिद्ध) दशा है। आत्मा निज स्वभावसे ज्ञानी है किन्तु अनादिसे अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यताके कारण स्वय अपनी पर्यायमे अज्ञानीपन, दुःख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, पापीपन आदि प्राप्त करता है, और जब स्वय अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यता

दूर करे तब स्वय ही ज्ञानी, धर्मी होता है, ईश्वर (सिद्ध) तो उसका ज्ञाता दृष्टा है।

(२) विपरीत मिथ्यात्व—१ आत्माका स्वरूपको तथा देव-गुरु धर्मके स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे—१ शरीरको आत्मा मानना, सर्वज्ञ वीतराग भगवानको ग्रासाहार, रोग, उपसर्ग, वस्त्र, पात्र, पाटादि सहित और क्रमिक उपयोग सहित मानना, अर्थात् रोटी आदि खानेवाला, पानी आदि पीनेवाला, बीमार होना, दवाई लेना, निहारका होना इत्यादि दोष सहित जीवको परमात्मा, अर्हंतदेव, केवलज्ञानी मानना। २ वस्त्र पात्रादि सहितको निर्ग्रन्थ गुरु मानना, स्त्री का शरीर होनेपर भी उसे मुनिदशा और उसी भवसे मोक्ष मानना, सती स्त्री को पाच पतिवाली मानना। ३ गृहस्थदशामे केवलज्ञानकी उत्पत्ति मानना। ४. सर्वज्ञ-वीतराग दशा प्रगट होनेपर भी वह छद्मस्थगुरुकी वैयावृत्य करे ऐसा मानना, ५ छट्ठे गुणस्थानके ऊपर भी वद्यवदक भाव होता है और केवली भगवान को छद्मस्थ गुरु के प्रति, चतुर्विध सघ अर्थात् तीर्थके प्रति या अन्य केवलीके प्रति वद्यवदकभाव मानना, ६ मुनिदशामे वस्त्रोको परिग्रहके रूपमे न मानना अर्थात् वस्त्र सहित होनेपर भी मुनिपद और अपरिग्रहित्व मानना, ७ वस्त्रके द्वारा सयम और चारित्रका अच्छा साधन हो सकता है ऐसी जो मान्यताएँ हैं सो विपरीत मिथ्यात्व है।

८ सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले और बादमे छट्ठे गुणस्थान तक जो शुभभाव होता है, उस शुभभावमे भिन्न-भिन्न समयमे भिन्न-भिन्न व्यक्तियोके भिन्न २ पदार्थ निमित्त होते हैं, क्योकि जो शुभभाव है सो विकार है और वह परालवनसे होता है। कितने ही जीवोके शुभरागके समय वीतरागदेवकी तदाकार प्रतिमाके दर्शन पूजनादि निमित्तरूपसे होते है। वीतरागी प्रतिमाका जो दर्शन पूजन है सो भी राग है, परन्तु किसी भी जीवके शुभरागके समय वीतरागी प्रतिमाके दर्शन पूजनादिका निमित्त ही न हो ऐसा मानना सो शुभभावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

९—वीतरागदेवकी प्रतिमाके दर्शन-पूजनादिके शुभरागको धर्मानुराग कहते है, परन्तु वह धर्म नही है, धर्म तो निरावलम्बी है, जब देव-शास्त्र-गुरु के अवलम्बनसे छूटकर शुद्ध श्रद्धा द्वारा स्वभावका आश्रय करता है तब धर्म प्रगट होता है। यदि उस शुभरागको धर्म माने तो उस शुभ भावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

छट्ठे अध्यायके १३ वे सूत्रकी टीकामे अवर्णवादके स्वरूपका वर्णन किया है उसका समावेश विपरीत मिथ्यात्वमें होता है।

(३) **संशय मिथ्यात्व**—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है, यही सच्चा मोक्षमार्ग होगा या अन्य समस्त मतोमे भिन्न २ मार्ग बतलाये है, वह सच्चा मार्ग होगा ? उनके वचनमे परस्पर विरुद्धता है और कोई प्रत्यक्ष जाननेवाला सर्वज्ञ नहीं है, परस्पर एक दूसरेके शास्त्र नही मिलते, इसीलिये कोई निश्चय (-निर्णय) नही हो सकता,—इत्यादि प्रकारका जो अभिप्राय है सो संशय मिथ्यात्व है।

(४) **विनय मिथ्यात्व**—१—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-संयम ध्यानादिके बिना मात्र गुरुपूजनादिक विनयसे ही मुक्ति होगी ऐसा मानना सो विनयमिथ्यात्व है, २—सर्व देव, सर्व शास्त्र, समस्त मत तथा समस्त भेष धारण करनेवालोको समान मानकर उन सभीका विनय करना सो विनय मिथ्यात्व है और ३—ऐसा मानना कि विनय मात्रसे ही अपना कल्याण हो जायगा सो विनय मिथ्यात्व है। ४—ससारमे जितने देव पूजे जाते है और जितने शास्त्र या दर्शन प्रचलित है वे सब सुखदाई है, उनमे भेद नही है, उन सबसे मुक्ति (अर्थात् आत्मकल्याणकी प्राप्ति) हो सकती है ऐसी जो मान्यता है सो विनय मिथ्यात्व है और इस मान्यतावाला जीव वैनयिक मिथ्यादृष्टि है।

गुण ग्रहणकी अपेक्षासे अनेक धर्ममे प्रवृत्ति करना अर्थात् सत्-असत् का विवेक किये बिना सच्चे तथा खोटे सभी धर्मोको समान रूपसे जानकर उनके सेवन करनेमे अज्ञानकी मुख्यता नही है किन्तु विनयके अतिरेककी मुख्यता है इसीलिये उसे विनय मिथ्यात्व कहते है।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व—१—स्वर्ग, नरक और मुक्ति किसने देखी ? २—स्वर्गके समाचार किसके आये ? सभी धर्म शास्त्र झूठे हैं, कोई यथार्थ ज्ञान वतला ही नही सकता, ३—पुण्य-पाप कहाँ लगते हैं अथवा पुण्य—पाप कुछ हैं ही नही, ४—परलोकको किसने जाना ? क्या किसीके परलोकके समाचार-पत्र या तार आये ?, ५—स्वर्ग नरक आदि सव कथनमात्र है, स्वर्ग-नरक तो यही है, यहाँ सुख भोगना तो स्वर्ग है और दुःख भोगना है सो नरक है, ६—हिंसा को पाप कहा है और दयाको पुण्य कहा है सो यह कथनमात्र है, कोई स्थान हिंसा रहित नही है, सबमें हिंसा है, कही पैर रखनेको स्थान नही, जमीन पवित्र है यह पैर रखने देती है, ७—ऐसा विचार भी निरर्थक है कि यह भक्ष्य और यह अभक्ष्य है, एकेन्द्रिय वृक्ष तथा अन्न इत्यादि खानेमे और मांस भक्षरण करनेमें अन्तर नही है, इन दोनोमें जीवहिंसा समान है, ८—भगवानने जीवको जीवका ही आहार वताया है अथवा जगत की सभी वस्तुएँ खाने भोगने के लिये ही हैं, सांप-विच्छू, शेर-वन्दर, तिडी मच्छर- खटमल आदिक मार डालना चाहिये। इत्यादि यह सभी अभिप्राय अज्ञान मिथ्यात्व है।

९ ऊपर कहे गये अनुसार मिथ्यात्वका स्वरूप जानकर सब जीवों को गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यात्व छोडना चाहिये। सव प्रकारके वंधका मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वको नष्ट किये विना—दूर किये विना अन्य वंधके कारण (अविरति आदि) कभी दूर नही होते, इसलिये सवसे पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये।

१० अविरति का स्वरूप

पांच इन्द्रिय और मनके विषय एव पाच स्थावर और एक त्रसकी हिंसा इन बारह प्रकारके त्यागरूप भाव न होना सो वारह प्रकारकी अविरति है।

जिसके मिथ्यात्व होता है उसके अविरति तो होती ही है, परन्तु मिथ्यात्व छूट जानेपर भी वह कितनेक समय तक रहती है। अविरतिको असंयम भी कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके वाद देशचारित्रके वलके द्वारा एकदेशविरति होती है उसे अणुव्रत कहते हैं। मिथ्यात्व छूटनेके बाद तुरंत

ही अविरतिका पूर्ण अभाव हो जाय और यथार्थ महाव्रत तथा मुनिदशा प्रगट करे ऐसे जीव तो अल्प और विरले ही होते हैं।

११. प्रमादका स्वरूप

उत्तम क्षमादि दश धर्मोमे उत्साह न रखना, इसे सर्वज्ञ देवने प्रमाद कहा है। जिसके मिथ्यात्व और अविरति हो उसके प्रमाद तो होता ही है। परन्तु मिथ्यात्व और अविरति दूर होनेके बाद प्रमाद तत्क्षण ही दूर होजाय ऐसा नियम नही है, इसीलिये सूत्रमे अविरतिके बाद प्रमाद कहा है, यह अविरतिसे भिन्न है। सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही प्रमाद दूर करके अप्रमत्तदशा प्रगट करनेवाला जीव कोई विरला ही होता है।

१२. कषायका स्वरूप

कषायके २५ भेद है। क्रोध, मान, माया, लोभ, इन प्रत्येकके अनंतानुबंधी आदि चार भेद, इस तरह १६ तथा हास्यादिक ९ नोकषाय, ये सब कषाय हैं और इन सबमे आत्महिंसा करनेकी सामर्थ्य है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये तीन अथवा अविरति और प्रमाद ये दो अथवा जहां प्रमाद हो वहा कषाय तो अवश्य ही होती है, किन्तु ये तीनो दूर हो जाने पर भी कषाय हो सकती है।

१३. योगका स्वरूप

योगका स्वरूप छट्ठे अध्यायके पहले सूत्रकी टीकामे आगया है। (देखो पृष्ठ ५०२) मिथ्यादृष्टिसे लेकर तेरहवे गुणस्थान पर्यंत योग रहता है। ११-१२ और १३ वे गुणस्थानमे मिथ्यात्वादि चारका अभाव हो जाता है तथापि योगका सद्भाव रहता है।

केवलज्ञानी गमनादि क्रिया रहित हुए हो तो भी उनके अधिक योग है और दो इन्द्रियादि जीव गमनादि क्रिया करते है तो भी उनके अल्प योग होता है, इससे सिद्ध होता है कि योग यह बधका गौण कारण है, यह तो प्रकृति और प्रदेशबधका कारण है। बधका मुख्य कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय है और इन चारमे भी सर्वोत्कृष्ट कारण तो मिथ्यात्व ही है मिथ्यात्वको दूर किये विना अविरति आदि

बधके कारण दूर ही नही होते—यह अबाधित सिद्धान्त है।

१४. किस गुणस्थानमें क्या बंध होता है ?

मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान १) के पाचो बध होते है, सासादन सम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयत सम्यग्दृष्टि (गुणस्थान २-३-४) के मिथ्यात्वके सिवाय अविरति आदि चार बध होते है, देश सयमी (गुणस्थान ५) के आंशिक अविरति तथा प्रमादादि तीनो बध होते हैं, प्रमत्त सयमी (गुणस्थान ६) के मिथ्यात्व और अविरतिके अलावा प्रमादादि तीन बध होते है। अप्रमत्तसयमीके (७ से १० वें गुणस्थान तकके) कषाय और योग ये दो ही बध होते हैं। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमे सिर्फ एक योगका ही सद्भाव है और चौदहवे गुणस्थानमें किसी प्रकारका बध नही है यह अबध है और वहा सम्पूर्ण सवर है।

१५. महापाप

प्रश्न—जीवके सबसे बडा पाप कौन है ?

उत्तर—एक मिथ्यात्व ही है। जहाँ मिथ्यात्व है वहा अन्य सर्व पापोका सद्भाव है। मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई पाप नही।

१६. इस सूत्रका सिद्धान्त

आत्मस्वरूपकी पहिचानके द्वारा मिथ्यात्वके दूर होनेमे उसके साथ अनतानुबधी कषायका तथा ४१ प्रकृतियोके बधका अभाव होता है, तथा बाकी के कर्मोकी स्थिति अत कोडाकोडी सागरकी रह जाती है, और जीव थोडे ही कालमे मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है। ससारका मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्वका अभाव किये विना अन्य अनेक उपाय करनेपर भी मोक्ष या मोक्षमार्ग नही होता। इसलिये सबसे पहले यथार्थ उपायोके द्वारा सर्व प्रकारसे उद्यम करके इस मिथ्यात्वका सर्वथा नाश करना योग्य है ॥ १ ॥

बंधका स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ २ ॥

अर्थ—[**जीवः सकषायत्वात्**] जीव कषाय सहित होने से [**कर्मणः योग्यपुद्गलान्**] कर्मके योग्य पुद्गल परमाणुओको [**आदत्ते**] ग्रहण करता है [**स बंधः**] वह बध है।

टीका

१—समस्त लोकमे कार्माण वर्गणारूप पुद्गल भरे है। जब जीव कषाय करता है तब उस कषायका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वय कर्म-रूपसे परिणमती है और जीवके साथ सबध प्राप्त करती है, इसे बध कहा जाता है। यहा जीव और पुद्गलके एक क्षेत्रावगाहरूप सबधको बध कहा है। बध होने से जीव और कर्म एक पदार्थ नही हो जाते, तथा वे दोनो एकत्रित होकर कोई कार्य नही करते अर्थात् जीव और कर्म ये दोनो मिल-कर पुद्गल कर्ममे विकार नही करते। कर्मोंका उदय जीवमे विकार नही करता, जीव कर्मोंमे विकार नही करता, किन्तु दोनो स्वतत्ररूपसे अपनी अपनी पर्यायके कर्ता हैं। जब जीव अपनी विकारी अवस्था करता है तब पुराने कर्मोंके विपाक को 'उदय' कहा जाता है और यदि जीव विकारी अवस्था न करे तो उसके मोहकर्मकी निर्जरा हुई—ऐसा कहा जाता है। परके आश्रय किये बिना जीवमे विकार नही होता, जीव जब पराश्रय द्वारा अपनी अवस्थामे विकार भाव करता है तब उस भावके अनुसार नवीन कर्म बँधते है—ऐसा जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक सबध है, ऐसा यह सूत्र बतलाता है।

२—जीव और पुद्गलका जो निमित्त नैमित्तिक सबन्ध है वह त्रिकाली द्रव्यमे नही है किंतु सिर्फ एक समयकी उत्पादरूप पर्यायमे है अर्थात् एक समय की अवस्था जितना है। जीवमे कभी दो समयका विकार एकत्रित नही होता इसीलिये कर्मके साथ इसका सम्बन्ध भी दो समयका नही।

प्रश्न—यदि यह सम्बन्ध एक ही समय मात्रका है तो जीवके साथ लबी स्थितिवाले कर्मका सम्बन्ध क्यो बताया है?

उत्तर—वहाँ भी यह बतलाया है कि सम्बन्ध तो वर्तमान एक समयमात्र ही है, परन्तु जीव यदि विभावके प्रति ही पुरुपार्थ चालू रखेगा

और यदि सम्यग्दर्शनादिरूप सत्य पुरुषार्थ न करे तो उसका कर्मके साथ कहाँ तक सवध रहेगा।

३—इस सूत्रमे सकषायत्वात् शब्द है वह जीव और कर्म दोनोको (अर्थात् कषायरूपभाव और कषायरूपकर्म इन दोनोको) लागू हो सकता है, और ऐसा होनेपर उनमे से निम्न मुद्दे निकलते हैं।

(१) जीव अनादिसे अपनी प्रगट अवस्थामे कभी शुद्ध नही हुआ किंतु कषाय सहित ही है और इसीलिये जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

(२) कषायभाववाला जीव कर्मके निमित्तसे नवीन बंध करता है।

(३) कषाय कर्मको मोहकर्म कहते हैं, आठ कर्मोमेसे वह एक ही कर्मबधका निमित्त होता है।

(४) पहले सूत्रमे जो बन्धके पाच कारण बताये हैं उनमेसे पहले चार का यहाँ कहे हुये कषाय शब्दमे समावेश हो जाता है।

(५) यहाँ जीवके साथ कर्मका बध होना कहा है, यह कर्म पुद्गल हैं ऐसा बताने के लिये सूत्रमे पुद्गल शब्द कहा है। इसीसे कितनेक जीवोकी जो ऐसी मान्यता है कि 'कर्म आत्माका अदृष्ट गुण है' वह दूर हो जाती है।

४—'सकषायत्वात्'—यहाँ पाचवी विभक्ति लगानेका ऐसा हेतु है कि जीव जैसी तीव्र, मध्यम या मद कषाय करे उसके अनुसार कर्मोमे स्वयं स्थिति और अनुभागबंध होता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५—जीवकी सकषाय अवस्थामे द्रव्य कर्म निमित्त है। यह ध्यान रहे कि प्रस्तुत कर्मका उदय हो इसलिये जीवको कषाय करना ही पडे, ऐसा नही है। यदि कर्म उपस्थित है तथापि स्वय यदि जीव स्वाश्रयमे स्थिर रह कर कषायरूपसे न परिणमे तो उन कर्मोको बधका निमित्त नही कहलाता, परन्तु उन कर्मोकी निर्जरा हुई ऐसा कहा जाता है।

६—जीवके कर्मके साथ जो सयोग सम्बन्ध है वह प्रवाह अनादि से चला आता है किन्तु वह एक ही समय मात्रका है। प्रत्येक समय अपनी योग्यतासे जीव नये नये विकार करता है इसीलिये यह सम्बन्ध चालू रहता है। किन्तु जडकर्म जीवको विकार नही कराते। यदि जीव अपनी योग्यता

से विकार करे तो होता है और न करे तो नही होता। जैसे अधिक समय से गरम किया हुआ पानी क्षणमे ठण्डा हो जाता है उसीप्रकार अनादिसे विकार (-अशुद्धता) करता आया तो भी वह योग्यता एक ही समय मात्रकी होनेसे शुद्ध स्वभावके आलबनके बल द्वारा वह दूर हो सकता है। रागादि विकार दूर होनेसे कर्मके साथ का सम्बन्ध भी दूर हो जाता है।

७—**प्रश्न**—आत्मा तो अमूर्तिक है, हाथ, पैरसे रहित है और कर्म तो मूर्तिक है तो वह कर्मोको किस तरह ग्रहण करता है?

उत्तरः—वास्तवमे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको ग्रहण नही कर सकता, इसीलिये यहां ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है वह मात्र उपचारसे कहा है। जीव के अनादिसे कर्म पुद्गलके साथ सम्बन्ध है और जीवके विकारका निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मोके साथ नवीन कर्म स्कन्धरूप होता है—इतना सम्बन्ध बतानेके लिये यह उपचार किया है; वास्तवमे जीवके साथ कर्मपुद्गल नही बँधते किंतु पुराने कर्म पुद्गलोके साथ नवीन कर्म पुद्गलोका बध होता है, परन्तु जीवमे विकारकी योग्यता है और उस विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्गल स्वय स्वत· बँधते हैं इसलिए उपचारसे जीवके कर्म पुद्गलोका ग्रहण कहा है।

८—जगतमे अनेक प्रकारके बध होते है, जैसे गुणगुणीका बंध इत्यादि। इन सब प्रकारके बधसे यह बध भिन्न है,ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमे बधसे पहले 'स' शब्दका प्रयोग किया है।

'स' शब्दसे यह बतलाया है कि जीव और पुदगलके गुणगुणी सबध या कर्त्ताकर्म सम्बन्ध नही है, इसीलिये यहाँ उनका एक क्षेत्रावगाहरूप सबध अथवा निमित्त नैमित्तिक सबध समझना। कर्मका बध जीवके समस्त प्रदेशोसे होता है और बधमे अनतानत परमाणु होते है।

(अ० ८-सू० २४)

९—यहाँ बध शब्दका अर्थ व्याकरणकी दृष्टिसे नीचे बतलाये हुये चार प्रकारसे समझना—

(१) आत्मा बँधा सो बध, यह कर्मसाधन है।

(२) आत्मा स्वयं ही बंधरूप परिणमती है, इसीलिये बंधको कर्त्ता कहा जाता है, यह कर्तृसाधन है।

(३) पहले बंधकी अपेक्षासे आत्मा बन्धके द्वारा नवीन बंध करता है इसीलिये बंध करणसाधन है।

(४) बंधनरूप जो क्रिया है सो ही भाव है, ऐसी क्रियारूप भी बंध है यह भावसाधन है ॥ २ ॥

बंधके भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अर्थः—[तत्] उस बंधके [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः] प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध [विधयः] ये चार भेद हैं।

टीका

१. **प्रकृतिबंध**—कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिबंध कहते हैं।

स्थितिबंध—ज्ञानावरणादि कर्म अपने स्वभावरूपसे जितने समय रहे सो स्थितिबंध है।

अनुभागबंध—ज्ञानावरणादि कर्मोंके रसविशेषको अनुभागबंध कहते हैं।

प्रदेश बंध—ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे होनेवाले पुद्गलस्कंधोंके परमाणुओंकी जो संख्या है सो प्रदेशबंध है। बंधके उपरोक्त चार प्रकारमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धमें योग निमित्त है और स्थितिबंध तथा अनुभागबन्ध में कषाय निमित्त है।

२—यहां जो बंधके भेद वर्णन किये हैं वे पुद्गल कर्मबंधके हैं, अब उन प्रत्येक प्रकारके भेद—उपभेद अनुक्रमसे कहते हैं ॥ ३ ॥

प्रकृतिबंधके मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

अर्थः—[**आद्यो**] पहला अर्थात् प्रकृतिबंध [**ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः**] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय इन आठ प्रकारका है।

टीका

१—**ज्ञानावरण**—जब आत्मा स्वय अपने ज्ञानभावका घात करता है अर्थात् ज्ञान शक्तिको व्यक्त नही करता तब आत्माके ज्ञान गुणके घातमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण—जब आत्मा स्वयं अपने दर्शनभावका घात करता है तब आत्माके दर्शनगुणके घातमे जिस कर्मके उदयका निमित्त हो उसे दर्शनावरण कहते है।

वेदनीय—जब आत्मा स्वय मोहभावके द्वारा आकुलता करता है तब अनुकूलता–प्रतिकूलतारूप सयोग प्राप्त होनेमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कहते है।

मोहनीय—जीव अपने स्वरूपको भूलकर अन्यको अपना समझे अथवा स्वरूपाचरणमे असावधानी करता है तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कहते है।

आयु—जीव अपनी योग्यतासे जब नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव के शरीरमे रुका रहे तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे आयुकर्म कहते हैं।

नाम—जिस शरीरमे जीव हो उस शरीरादिककी रचनामे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

गोत्र—जीवको उच्च या नीच आचरणवाले कुलमे पैदा होने मे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे नामकर्म कहते है।

अंतराय—जीवके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यके विघ्नमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे अतरायकर्म कहते हैं।

२—प्रकृतिबंधके इन आठ भेदोमे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह-

नीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म कहलाते है, क्योंकि वे जीवके अनुजीवी गुणोकी पर्यायके घातमे निमित्त है, और बाकीके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार को अघातिया कर्म कहते हैं क्योंकि ये जीवके अनुजीवी गुणो की पर्यायके घातमे निमित्त नही किंतु प्रतिजीवी गुणोकी पर्यायके घातमे निमित्त है।

वस्तुमे भावस्वरूप गुण अनुजीवी गुण और अभावस्वरूप गुण प्रतिजीवी गुण कहे जाते है।

३—जैसे एक ही समयमे खाया हुआ आहार उदराग्निके सयोगसे रस लोहू आदि भिन्न २ प्रकार से हो जाता है, उसीप्रकार एक ही समयमे ग्रहण किये हुए कर्म जीवके परिणामानुसार ज्ञानावरण इत्यादि अनेक भेदरूप हो जाता है। यहाँ उदाहरणसे इतना अंतर है कि आहार तो रस रुधिर आदि रूपसे क्रम-क्रमसे होता है परन्तु कर्म तो ज्ञानावरणादिरूपसे एक साथ हो जाते हैं॥ ४॥

प्रकृतिबंधके उत्तर भेद

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत्द्विपंचभेदा यथाक्रमम्॥ ५॥

अर्थ—[यथाक्रमम्] उपरोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अनुक्रमसे [पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत् द्वि पंचभेदाः] पाच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाच भेद हैं।

नोट—उन भेदोके नाम अब आगे के सूत्रोमे अनुक्रमसे बतलाते है॥ ५॥

ज्ञानावरणकर्मके ५ भेद

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्॥ ६॥

अर्थ—[मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्] मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये ज्ञानावरणकर्मके पाच भेद हैं।

टीका

प्रश्न—अभव्यजीवके मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान की प्राप्ति करने की सामर्थ्य नही है, यदि यह सामर्थ्य हो तो अभव्यत्व नही कहा जा सकता, इसलिये इन दो ज्ञानकी सामर्थ्यसे रहित उसके इन दो ज्ञानका आवरण कहना सो क्या निरर्थक नही है ?

उत्तर—द्रव्यार्थिकनयसे अभव्यजीवके भी इन दोनो ज्ञानकी शक्ति विद्यमान है और पर्यायार्थिकनयसे अभव्यजीव ये दोनो ज्ञानरूप अपने अपराधसे परिणमता नही है, इससे उसके किसी समय भी उसकी व्यक्ति नही होती, शक्तिमात्र है किंतु प्रगटरूपसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अभव्यके नही होते। इसलिये शक्तिमेसे व्यक्ति न होने के निमित्तरूप आवरण कर्म होना ही चाहिये, इसीलिये अभव्य जीवके भी मन पर्ययज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण विद्यमान है।

दर्शनावरण कर्म के ६ भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचला-प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—[**चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां**] चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण [**निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च**] निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नव भेद दर्शनावरण कर्मके है।

टीका

१—छद्मस्थ जीवोके दर्शन और ज्ञान क्रमसे होते है अर्थात् पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है, परन्तु केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान दोनो एक साथ होते है क्योकि दर्शन और ज्ञान दोनोके बाधक कर्मोंका क्षय एक साथ होता है।

२—मन पर्ययदर्शन नही होता, क्योकि मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, इसीलिये मन.पर्ययदर्शनावरण कर्म नही है।

भाव माननेसे साता वेदनीय कर्मका अभाव भी नही होता, क्योंकि दुःखके उपशमनके कारणीभूत* सुद्रव्योके सम्पादनमे सातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है।

---

* धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि बाह्य पदार्थोंके सयोग वियोगमें पूर्वकर्मका उदय (निमित्त) कारण है। इसका आधार—

समयसार–गाथा ८४ की टीका, प्रवचनसार–गाथा १४ की टीका, पचास्तिकाय–गाथा २७,६७ की टीका, परमात्मप्रकाश–अ. २ गाथा ५७,६०, तथा पृष्ठ २०-१६८, नियमसार–गाथा १५७ की टीका, पचाध्यायी अध्याय १ गाथा १८१, पचाध्यायी अ. १ गाथा ५८१, अध्याय २ गाथा ५०, ४४०, ४४१, रयणसार गाथा २६, स्वामी-कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०, १६, ५६, ५७, ३१६, ३२०, ४२७, ४३२, पद्मनदि पचविंशति पृष्ठ १०१, १०३, १०४, १०६, १०६, ११०, ११६, १२८, १३१, १३८, १४०, १५५, मोक्षमार्ग प्रकाशक गु० अनुवाद पृष्ठ ८, २८, ३०, ४५, ६१, ६२, ६४, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ३०८ इत्यादि अनेक स्थल मे, गोमट्टसार–कर्मकाड पृष्ठ ६०३, श्लोकवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ६ सूत्र १६, राजवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका अध्याय ६ सूत्र १६।

श्रीमद्राजचन्द्र (गुजराती द्वितीयावृत्ति) पृष्ठ २३५, ४४३ तथा मोक्षमाला पाठ ३, सत्तास्वरूप पृष्ठ २६, अनगार धर्मामृत—पृष्ठ ६०, ७६।

श्रीषट्खडागम पुस्तक १ पृ० १०५, गोमट्टसार जी० पीठिका पृ० १४, १५, ३७५, गो० क० गा० २ पृ० ३ पृ० ६०२–६०३; गा० ३८०, समयसार गा० १३२ से १३६ की तथा २२४, २२७, २७५, ३२४ से ३२७, जयसेनाचार्यकृत टीका, स० सार गा० २२५ मूल। प० राजमल्लजी स० सार कलश टीका पृ० १६३ से १६६, १७१, १७२, १७५, १७८ १६५। प्रवचनसार गा० ७२ की जयसेनाचार्य कृत टीका। निमयसार शास्त्रमें कलश २६। रयणसार गा० २६। भगवती आराधना पृष्ठ ५४७-८, तथा गाथा १७३१, १७३३, १७३४-५, १७४२, १७४३, १७४८, १७५२। पद्मनंदी पचविंशति प्रथम अ० गा० १८१ १८४ से १६१, १६५–६६, पद्मनदी दान अ० श्लोक २०, ३८, ४४, अनित्य अ० श्लो० ६, ६, १०, ४२। आत्मानुशासन गा० २१, ३१, ३७, १४८। सुभाषित रत्नसदोह गा० ३५६-५७-५६-६०-६६-३७०, ३७२॥ महापुराण सर्ग० ५ श्लोक १४ से १८,। सर्ग ६ मे श्लोक १६५, २०२-३; सर्ग २८ मे श्लोक २१३ से २२०, पर्व ३७ श्लोक १६० से २००,। सत्तास्वरूप पृ० १७ जैन सि० प्रवेशिका पृ० ३३६-३७ पुण्यकर्म, पापकर्म।

ऐसी व्यवस्था मानने से सातावेदनीय प्रकृतिको पुद्गलविपाकित्व प्राप्त हो जायगा। ऐसी आशका नही करना, क्योंकि दु.खके उपशमसे उत्पन्न हुये दु खके अविनाभावी, उपचारमे ही सुख सज्ञाको प्राप्त और जीवसे अभिन्न ऐसे स्वास्थ्यके कणका हेतु होने मे सूत्रमे सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और सुख हेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि ऐसा कहा जावे कि उपरोक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और पुद्गलविपाकित्व प्राप्त होता है, तो यह भी कोई दोष नही है, क्योंकि जीव का अस्तित्व अन्यथा नही बन सकता, इसीसे इसप्रकारके उपदेशके अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। सुख और दु खके कारणभूत द्रव्योका सपादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नही है, क्योंकि ऐसा कोई कर्म मिलता नही। (धवला-टीका पुस्तक ६ पृष्ठ ३५-३६)

मोहनीय कर्मके अट्ठाईस भेद बतलाते हैं

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्या-स्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्य-कषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्री-पुंनपुंसकवेदा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥६॥

अर्थ—[दर्शन चारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः] दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीयकर्म है और इसके भी अनुक्रमसे [त्रिद्विनवषोडशभेदाः] तीन, दो, नव और सोलह भेद हैं। वे इसप्रकार से हैं—[सम्यक्त्व मिथ्यात्व-तदुभयानि] सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय ये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं, [अकषाय कषायौ] अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीय के हैं, [हास्य-रत्यरतिशोक भय जुगुप्सा स्त्री पु नपुंसकवेदाः] हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद ये अकषायवेदनीय के नव

भेद है, और [**अनंतानुवंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान संज्वलनविकल्पाः च**] अनतानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा सज्वलन के भेद से तथा **एकशः क्रोध मान माया लोभा**] इन प्रत्येकके क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार प्रकार—ये सोलह भेद कषायवेदनीयके हैं। इसतरह मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद है।

नोट—अकषायवेदनीय और कपायवेदनीयका चारित्रमोहनीयमे समावेश हो जाता है इसीलिये इनको अलग नही गिना गया है।

टीका

१—मोहनीयकर्मके मुख्य दो भेद है–दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय। जीवका मिथ्यात्वभाव ही ससारका मूल है इसमे मिथ्यात्व मोहनीयकर्म निमित्त है, यह दर्शन मोहनीयका एक भेद है। दर्शनमोहनीयके तीन भेद है—मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्व-प्रकृति। इन तीनमे से एक मिथ्यात्व प्रकृतिका ही बध होता है। जीवका ऐसा कोई भाव नही है कि जिसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति या सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृति बँधे, जीवके प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होने के कालमे (उपशम कालमे) मिथ्यात्वप्रकृति के तीन टुकडे हो जाते हैं, इनमे से एक मिथ्यात्वरूपमे रहता है, एक सम्यक्त्वप्रकृतिरूप से होता है और एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूपसे होता है। चारित्र मोहनीयके पच्चीस भेद हैं उनके नाम सूत्रमे ही बतलाये हैं। इसप्रकार सब मिलकर मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेद हैं।

२—इस सूत्रमे आये हुये शब्दोका अर्थ जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामे से देख लेना।

३—यहा हास्यादिक नवको अकषायवेदनीय कहा है, इसे नोकषायवेदनीय भी कहते है।

४–अनंतानुबंधीका अर्थ—अनत=मिथ्यात्व, ससार, अनुबंधी-जो इनको अनुसरण कर बध को प्राप्त हो। मिथ्यात्वको अनुसरण कर जो कषाय बँधती है उसे अनतानुबधी कषाय कहते है। अनतानुबधी क्रोध-मान-माया-लोभकी व्याख्या निम्नप्रकार है—

(१) जो आत्माके शुद्धस्वरूपकी अरुचि है सो अनन्तानुबंधी क्रोध है।

(२) 'मै परका कर सकता हूँ' ऐसी मान्यता पूर्वक जो अहंकार है सो अनन्तानुबंधी मान—अभिमान है।

(३) अपना स्वाधीन सत्य स्वरूप समझमे नही आता ऐसी वक्रतामे समझ शक्तिको छुपाकर आत्माको ठगना सो अनंतानुबंधी माया है।

(४) पुण्यादि विकारसे और पर से लाभ मानकर अपनी विकारी दशा की वृद्धि करना सो अनंतानुबंधी लोभ है।

अनंतानुबंधी कषाय आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको रोकती है। शुद्धात्माके अनुभवको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। इसका प्रारंभ चौथे गुणस्थानसे होता है और चौदहवे गुणस्थानमे इसकी पूर्णता होकर सिद्ध-दशा प्रगट होती है ॥ ९ ॥

अब आयुकर्मके चार भेद बतलाते हैं

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ—[नारक तैर्यग्योनमानुषदैवानि] नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार भेद आयुकर्मके हैं ॥ १० ॥

नामकर्मके ४२ भेद बतलाते हैं

४ ५ ५ ३ २ ५ ५ ६

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थान-

६ ८ ५ २ ५ ४

संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघाता-

२

तपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येक शरीरत्रससु-
भगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेत-
राणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ-[गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः] गति, जाति, शरीर, अगोपाग, निर्माण, बंधन, सघात, सस्थान, सहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा [प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि] प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय और यशःकीर्ति, ये दश तथा इनसे उलटे दस अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, वादर (-स्थूल) अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, और अयश कीर्ति ये दस [तीर्थकरत्व च] और तीर्थकरत्व, इस तरह नाम कर्मके कुल व्यालीस भेद है।

टीका

सूत्रके जिस शब्दपर जितने अक लिखे है वे यह बतलाते है कि उस शब्दके उतने उपभेद हैं, उदाहरणार्थ —गति शब्दपर चारका अक लिखा है वह यह बतलाता है कि गतिके चार उपभेद है। गति आदि उपभेद सहित गिना जाय तो नाम कर्मके कुल ९३ भेद होते है।

इस सूत्रमे आये हुए शब्दोका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामे से देख लेना ॥ ११ ॥

गोत्रकर्मके दो भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थः—[उच्चैर्नीचैश्च] उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद गोत्र कर्मके है ॥ १२ ॥

अंतरायकर्मके ५ भेद बतलाते हैं

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

अर्थः—[दानलाभभोगोपभोग वीर्याणाम्] दानातराय, लाभांतराय, भोगातराय उपभोगातराय और वीर्यान्तराय ये पाच भेद अतराय कर्म के है। प्रकृतिबधके उपभेदोका वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ ॥ १३ ॥

अब स्थितिबंधके भेदोंमें ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोटय: परा स्थिति: ॥ १४ ॥

अर्थः—[आदितस्तिसृणाम्] आदिसे तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा वेदनीय [अन्तरायस्य च] और अन्तराय इन चार कर्मोंकी [परा स्थितिः] उत्कृष्ट स्थिति]त्रिंशत्सागरोपमकोटी कोटयः] तीस कोडाकोडी सागरकी है ।

नोट—(१) इस उत्कृष्ट स्थितिका बंध मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही होता है। (२) एक करोडको करोडसे गुणनेसे जो गुणनफल हो वह कोडाकोडी कहलाता है॥ १४ ॥

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थः—[मोहनीयस्य] मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [सप्तति.] सत्तर कोडाकोडी सागरकी है।

नोट—यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही बँधती है ॥ १५ ॥

नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

विंशतिर्नामगोत्रयो: ॥ १६ ॥

अर्थः—[नामगोत्रयोः] नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [विंशतिः] बीस कोडाकोड़ी सागरकी है ॥ १६ ॥

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष: ॥ १७ ॥

अर्थः—[**आयुषः**] आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [**त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि**] तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—[**वेदनीयस्य अपरा**] वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति [**द्वादशमूहूर्त्ताः**] बारह मुहूर्त्त की है ॥ १८ ॥

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ—[**नामगोत्रयोः**] नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति [**अष्टौ**] आठ मुहूर्त्त की है ॥ १९ ॥

अब शेष ज्ञानावरणादि पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

शेषाणामंतमुर्हूर्ता ॥ २० ॥

अर्थ—[**शेषाणां**] बाकी के अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अतराय और आयु इन पाच कर्मोंकी जघन्य स्थिति [**अंतर्मुहूर्ता**] अतर्मुहूर्त की है।

यहाँ स्थितिबधके उपभेदोका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

अब अनुभागबधका वर्णन करते है, (अनुभागबधको अनुभवबंध भी कहते हैं)

अनुभवबंधका लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ—[**विपाकः**] विविध प्रकारका जो पाक है [**अनुभवः**] सो अनुभव है।

टीका

(१) मोहकर्मका विपाक होनेपर 'जीव जिसप्रकारका विकार करे उसीरूपसे जीवने फल भोगा कहा जाता है, इसका इतना ही अर्थ है कि

जीवको विकार करनेमे मोहकर्मका विपाक निमित्त है। कर्मका विपाक कर्ममे होता, जीवमे नही होता। जीवको अपने विभावभावका जो अनुभव होता है सो जीवका विपाक–अनुभव है।

(२) यह सूत्र पुद्गल कर्मके विपाक–अनुभवको बतलाने वाला है। बंध होते समय जीवका जैसा विकारीभाव हो उसके अनुसार पुद्गलकर्ममे अनुभाग बध होता है और जब यह उदयमे आवे तब यह कहा जाता है कि कर्मका विपाक, अनुभाग या अनुभव हुआ ॥ २१ ॥

अनुभागबंध कर्मके नामानुसार होता है

स यथानाम ॥२२॥

अर्थ—[**सः**] यह अनुभाग बध [**यथानाम**] कर्मोंके नामके अनुसार ही होता है।

टीका

जिस कर्मका जो नाम है उस कर्ममे वैसा ही अनुभागबध पडता है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्ममे ऐसा अनुभाग होता है कि 'जब ज्ञान रुके तब निमित्त हो' दर्शनावरण कर्ममे 'जब दर्शन रुके तब निमित्त हो' ऐसा अनुभाग होता है ॥ २२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि फल देनेके बाद कर्मोंका क्या होता है

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ—[**तत च**] तीव्र, मध्यम या मन्द फल देनेके बाद [**निर्जरा**] उन कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् उदयमे आनेके बाद कर्म आत्मासे जुदे हो जाते हैं॥

१—आठो कर्म उदय होनेके बाद झड जाते हैं इनमे कर्मकी निर्जरा के दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

(१) **सविपाक निर्जरा**—आत्माके साथ एक क्षेत्रमे रहे हुए कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर अलग होगये यह सविपाक निर्जरा है।

(२) **अविपाक निर्जरा**—उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले जो कर्म आत्माके पुरुपार्थके कारण आत्मासे पृथक् होगये यह अविपाक निर्जरा है। इसे सकामनिर्जरा भी कहते हैं।

२—निर्जराके दूसरी तरहसे भी–दो भेद होते है उनका वर्णन—

(१) **अकाम निर्जरा**—इसमे बाह्यनिमित्त तो यह है कि इच्छा रहित भूख–प्यास सहन करना और वहा यदि मदकषायरूप भाव हो तो व्यवहारसे पाप की निर्जरा और देवादि पुण्यका बध हो—इसे अकाम निर्जरा कहते है।

जिस अकाम निर्जरासे जीवकी गति कुछ ऊँची होती है यह प्रतिकूल सयोगके समय जीव मद कषाय करता है उससे होती है किन्तु कर्म जीवको ऊँची गतिमे नही ले जाते।

(२) **सकाम निर्जरा**—इसकी व्याख्या ऊपर अविपाक निर्जरा अनुसार समझना, तथा यहा विशेष बात यह है कि जीवके उपादानकी अस्ति प्रथम दिखाकर यह निर्जरामे भी पुरुषार्थका कारणपना दिखाना है।

३—इस सूत्रमे जो 'च' शब्द है वह नवमे अध्यायके तीसरे सूत्र (तपसा निर्जरा च) के साथ सम्बन्ध कराता है।

यहां अनुभागबधका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबंधका वर्णन करते हैं

प्रदेशबंधका स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थः—[**नाम प्रत्ययाः**] ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियोका कारण, [**सर्वतः**] सर्व तरफ से अर्थात् समस्त भावोमे [**योग विशेषात्**] योग विशेषसे [**सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः**] सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित [**सर्वात्मप्रदेशेषु**] और सर्व आत्मप्रदेशोमे [**अनंतानतप्रदेशाः**] जो कर्मपुद्गलके अनन्तानन्त प्रदेश है सो प्रदेशबध है।

निम्न छह बाते इस सूत्रमे बतलाई है—

(१) सर्व कर्मके ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप, उत्तर प्रकृतिरूप और उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप होनेका कारण कार्माणवर्गणा है।

(२) त्रिकालवर्ती समस्त भवो मे (जन्मोमे) मन-वचन-कायके योग के निमित्तसे यह कर्म आते हैं। (३) ये कर्म सूक्ष्म हैं—इन्द्रियगोचर नही हैं।

(४) आत्माके सर्व प्रदेशोके साथ दूध पानीकी तरह एक क्षेत्रमे ये कर्म व्याप्त है।

(५) आत्माके सर्व प्रदेशोमे अनतानत पुद्गल स्थित होते हैं।

(६) एक एक आत्माके असख्य प्रदेश हैं, इस प्रत्येक प्रदेशमे ससारी जीवो के अनन्तानन्त पुद्गलस्कध विद्यमान हैं।

यहा प्रदेशवधका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २४ ॥

इस तरह चार प्रकारके वधका वर्णन किया। अव कर्मप्रकृतियोमेसे पुण्यप्रकृतिया कितनी हैं और पाप प्रकृति कितनी हैं यह वतलाकर इस अध्यायको पूर्ण करते हैं।

पुण्य प्रकृतियां वतलाते हैं

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—[सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि] सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र [पुण्यम्] ये पुण्य प्रकृतिया हैं।

टीका

१–घातिया कर्मोकी ४७ प्रकृतिया है, ये सव पापरूप हैं, अघातिया कर्मोकी १०१ प्रकृतिया है, उनमे पुण्य और पाप दोनो प्रकार हैं, उनमेसे निम्न ६८ प्रकृतिया पुण्यरूप है—

(१) सातावेदनीय (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) उच्चगोत्र (६) मनुष्यगति (७) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (८) देवगति (९) देवगत्यानुपूर्वी (१०) पचेन्द्रिय जाति (११-१५) पाच प्रकारका शरीर (१६-२०) शरीरके पाच प्रकारके वन्धन, (२१-२५) पाच प्रकार का सघात (२६-२८) तीन प्रकार का अगोपाग (२९-४८) स्पर्श, वर्णादिककी वीस प्रकृति (४९) समचतुरस्रसस्थान (५०) वज्रर्षभनाराचसहनन, (५१) अगुरुलघु (५२) परघात,

(५३) उच्छ्वास (५४) आतप (५५) उद्योत (५६) प्रशस्त विहायोगति (५७) त्रस (५८) बादर, (५९) पर्याप्ति (६०) प्रत्येक शरीर (६१) स्थिर (६२) शुभ (६३) सुभग (६४) सुस्वर (६५) आदेय (६६) यश कीर्ति (६७) निर्माण और (६८) तीर्थकरत्व । भेद विवक्षासे ये ६८ पुण्यप्रकृति है और अभेद विवक्षासे ४२ पुण्यप्रकृति है, क्योकि वर्णादिकके १६ भेद, शरीर मे अन्तर्गत ५ बधन और ५ सघात इस प्रकार कुल २६ प्रकृतिया घटानेसे ४२ प्रकृतिया रहती है ।

२—पहले ११ वे सूत्रमे नामकर्मकी ४२ प्रकृति बतलाई है उनमे गति, जाति, शरीरादिकके उपभेद नही बतलाये, परतु पुण्य प्रकृति और पापप्रकृति ऐसे भेद करनेसे उनके उपभेद आये बिना नही रहते ॥ २५ ॥

अब पाप प्रकृतियां बतलाते हैं :—

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ—[**अतः अन्यत्**] इन पुण्य प्रकृतियोसे अन्य अर्थात्-असाता-वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र [**पापम्**] ये पाप प्रकृतिया है ।

टीका

१—पाप प्रकृतिया १०० है जो निम्नप्रकार है —

४७-घातिया कर्मोंकी सर्व प्रकृतिया, ४८-नीच गोत्र, ४९-असाता-वेदनीय, ५०-नरकायु, [नामकर्मकी ५०] १-नरकगति २-नरकगत्या-नुपूर्वी, ३-तिर्यंचगति, ४-तिर्यचगत्यानुपूर्वी, ५-८-एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तक चार जाति, ९ से १३-पाच सस्थान, (१४-१८) पाच सहनन, १९-३८-वर्णादिक २० प्रकार ३९-उपघात, (४०) अप्रशस्त विहायोगति, ४१-स्थावर, ४२-सूक्ष्म, ४३-अपर्याप्ति, ४४-साधारण, ४५-अस्थिर ४६-अशुभ, ४७-दुर्भग, ४८-दु स्वर, ४९-अनादेय और ५०-अयश कीर्ति । भेद विवक्षासे ये सब १०० पापप्रकृतिया है और अभेद विवक्षा से ८४ हैं, क्योकि वर्णादिकके १६ उपभेद घटानेसे ८४ रहते हैं । इनमे से भी सम्यक्

मिथ्यात्वप्रकृति तथा सम्यक्त्व मोहनीयप्रकृति इन दो प्रकृतियोका बंध नही होता अत इन दो को कम करनेसे भेदविवक्षा से ६८ और अभेद विवक्षासे ८२ पापप्रकृतियोका बंध होता है, परन्तु इन दोनो प्रकृतियोकी सत्ता तथा उदय होता है इसीलिये सत्ता और उदय तो भेद विवक्षासे १०० तथा अभेद विवक्षासे ८४ प्रकृतियोका होता है ।

२—वर्णादिक चार अथवा उनके भेद गिने जावे तो २० प्रकृतिया है, ये पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी है इसीलिये ये पुण्य और पाप दोनो मे गिनी जाती है ।

३–इस सूत्रमे आये हुये शब्दोका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिका मे से देख लेना ।

उपसंहार

इस अध्यायमें बन्धतत्त्वका वर्णन है, पहले सूत्रमे मिथ्यात्वादि पाच विकारी परिणामोको बन्धके कारणरूपसे बताया है, इनमे पहला मिथ्यादर्शन बतलाया है क्योंकि इन पाच कारणोमे ससारका मूल मिथ्यादर्शन है । ये पाचो प्रकारके जीवके विकारी परिणामोका निमित्त पाकर आत्माके एक एक प्रदेशमे अनतानंत कार्माणवर्गणारूप पुद्गल परमाणु एक क्षेत्रावगाहरूपसे बन्धते है, यह द्रव्यबन्ध है ।

२–बन्धके चार प्रकार वर्णन किये हैं । इनमे ऐसा भी बतलाया है कि कर्मबंध जीवके साथ कितने समय तक रहकर फिर उसका वियोग होता है । प्रकृतिबंधमे मुख्य आठ भेद होते हैं, इनमें से एक मोहनीय प्रकृति ही नवीन कर्म बन्धमे निमित्त है ।

३—वर्तमान गोचर जो देश हैं, उनमे कोई भी स्थानमे ऐसा स्पष्ट और वैज्ञानिक ढगसे या न्यायपद्धतिसे जीवके विकारी भावोका तथा उसके निमित्त से होनेवाले पुद्गलबंधके प्रकारोका स्वरूप, और जीवके शुद्ध भावो का स्वरूप जैनदर्शनके सिवाय दूसरे किसी दर्शनमे नही कहा गया और इस प्रकारका नवतत्त्वके स्वरूपका सत्य कथन सर्वज्ञ वीतरागके विना हो

हो ही नही सकता। इसलिये जैनदर्शनकी अन्य किसी भी दर्शनके साथ समानता मानना सो विनय मिथ्यात्व है।

४—मिथ्यात्वके सम्बन्धमे पहले सूत्रमे जो विवेचन किया गया है वह यथार्थ समझना।

५—बधतत्त्व सम्बन्धी ये खास सिद्धान्त ध्यानमे रखने योग्य है कि शुभ तथा अशुभ दोनो ही भाव बधके कारण है इसलिये उनमे फर्क नही है अर्थात् दोनो बुरे है। जिस अशुभ भावके द्वारा नरकादिरूप पापबध हो उसे तो जीव बुरा जानता है, किंतु जिस शुभभावके द्वारा देवादिरूप पुण्यबन्ध हो उसे यह भला जानता है, इस तरह दु खसामग्रीमे (पापबन्धके फलमे) द्वेष और सुख सामग्रीमे (पुण्यबन्धके फलमे) राग हुआ, इसलिये पुण्य अच्छा और पाप खराब है, यदि ऐसा माने तो ऐसी श्रद्धा हुई कि राग द्वेप करने योग्य है, और जैसे इस पर्याय सम्बन्धी राग द्वेष करनेकी श्रद्धा हुई वैसी भावी पर्याय सम्बन्धी भी सुख दु ख सामग्रीमे राग द्वेष करने योग्य है ऐसी श्रद्धा हुई। अशुद्ध (शुभ-अशुभ) भावोके द्वारा जो कर्म बन्ध हो उसमे अमुक अच्छा और अमुक बुरा ऐसा भेद मानना ही मिथ्या श्रद्धा है, ऐसी श्रद्धासे बन्धतत्त्वका सत्य श्रद्धान नही होता। शुभ या अशुभ दोनो बन्धभाव हैं, इन दोनोसे घातिकर्मोंका बन्ध तो निरन्तर होता है, सब घातियाकर्म पापरूप ही है और यही आत्मगुणके घातनेमे निमित्त है। तो फिर शुभभावसे जो बन्ध हो उसे अच्छा क्यो कहा है? (मो० प्र०)

६—यहाँ यह बतलाते हैं कि जीवके एक समयके विकारीभावमे सात कर्मके बन्धमे और किसी समय आठो प्रकारके कर्मके बन्धमे निमित्त होनेकी योग्यता किस तरह होती है—

(१) जीव अपने स्वरूपकी असावधानी रखता है, यह मोह कर्म के बन्धका निमित्त होता है।

(२) स्वरूपकी असावधानी होनेसे जीव उस समय अपना ज्ञान अपनी ओर न मोडकर परकी तरफ मोडता है, यह भाव–ज्ञानावरण कर्म के बन्धका निमित्त होता है।

(३) उसी समय स्वरूपकी असावधानीको लेकर अपना (निजका) दर्शन अपनी तरफ न मोडकर परकी तरफ मोडना है, यह भाव-दर्शनावरण कर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(४) उसी समयमे स्वरूपकी असावधानी होनेमे अपना वीर्यअपनी तरफ नही मोडकर परकी तरफ मोडता है, यह भाव–अन्तरायकर्मके वन्ध का निमित्त होता है।

(५) परकी ओरके झुकावसे परका संयोग होता है, इसीलिये इस समयका (स्वरूपकी असावधानीके समयका) भाव–शरीर इत्यादि नाम-कर्म के वन्धका निमित्त होता है।

(६) जहाँ शरीर हो वहां ऊँच-नीच आचारवाले कुलमे उत्पत्ति होती है, इसीलिये इसीसमयका रागभाव-गोत्रकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(७) जहा शरीर होता है वहा वाहरकी अनुकूलता प्रतिकूलता, रोगनिरोग आदि होते हैं, इसीलिये इस समयका रागभाव–वेदनीयकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

अज्ञान दशामे ये सात कर्म तो प्रति समय वँधा ही करते है, सम्यक् दर्शन होनेके वाद क्रम क्रमसे जिस जिस प्रकार स्वसन्मुखताके वलसे चारित्र की असावधानी दूर होती है उसी उसी प्रकार जीवमे शुद्धदशा–अविकारी-दशा वढती जाती है और यह अविकारी (निर्मल) भाव पुद्गल कर्मके वध मे निमित्त नही होता इसीलिये उतने अशमे वन्धन दूर होता है।

(८) शरीर यह सयोगी वस्तु है, इसीलिये जहां यह सयोग हो वहा वियोग भी होता ही है, अर्थात् शरीरकी स्थिति अमुक कालकी होती है। वर्तमान भवमे जिस भवके योग्य भाव जीवने किये हो वैसी आयुका वन्ध नवीन शरीरके लिये होता है।

७—द्रव्यवन्ध जो पाच कारण है इनमे मिथ्यात्व मुख्य है और इस कर्मवन्धका अभाव करनेके लिये सवसे पहला कारण सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन होनेसे ही मिथ्यादर्शनका अभाव होता है और उसके वाद ही स्वरूपके आलवनके अनुसार क्रम क्रमसे अविरति आदिका अभाव होता है।

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके आठवें अध्यायकी गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र अध्याय नवमाँ

भूमिका

१–इस अध्यायमे सवर और निर्जरातत्त्वका वर्णन है। यह मोक्षशास्त्र है इसलिये सबसे पहले मोक्षका उपाय बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है। फिर सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा और सात तत्त्वोके नाम बतलाये, इसके बाद अनुक्रमसे इन तत्त्वोका वर्णन किया है, इनमेसे जीव, अजीव, आस्रव और बध इन चार तत्त्वोका वर्णन इस आठवे अध्याय तक किया। अब इस नवमे अध्यायमे सवर और निर्जरातत्त्व इन दोनो तत्त्वोका वर्णन है और इसके वाद अन्तिम अध्यायमे मोक्षतत्त्वका वर्णन करके आचार्यदेवने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२–अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके यथार्थ सवर और निर्जरातत्त्व कभी प्रगट नही हुए, इसीलिये उसके यह ससाररूप विकारी भाव बना रहा है और प्रति समय अनत दुःख पाता है। इसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। धर्मका प्रारम्भ सवरसे होता है और सम्यग्दर्शन ही प्रथम संवर है, इसीलिये धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। सवरका अर्थ जीवके विकारीभावको रोकना है। सम्यक्दर्शन प्रगट करनेपर मिथ्यात्व आदि भाव रुकता है इसीलिये सबसे पहले मिथ्यात्व भावका सवर होता है।

३—संवरका स्वरूप

(१) 'सवर' शब्दका अर्थ 'रोकना' होता है। छट्ठे–सातवें अध्यायमे बतलाये हुये आस्रवको रोकना सो सवर है। जब जीव आस्रव भावको रोके तब जीवमे किसी भावकी उत्पत्ति तो होनी ही चाहिये। जिस भावका उत्पाद होने पर आस्रव भाव रुके वह सवरभाव है। संवरका अर्थ विचारनेसे इसमे निम्न भाव मालूम होते है—

१–आस्रवके रोकनेपर आत्मामें जिस पर्यायकी उत्पत्ति होती है वह शुद्धोपयोग है, इसीलिये उत्पादकी अपेक्षासे संवरका अर्थ शुद्धोपयोग होता है। उपयोग स्वरूप शुद्धात्मामें उपयोगका रहना–स्थिर होना सो संवर है। (देखो समयसार गाथा १८१)

२–उपयोग स्वरूप शुद्धात्मामें जब जीवका उपयोग रहता है तब नवीन विकारी पर्याय (–आस्रव) रुकता है अर्थात् पुण्य–पापके भाव रुकते हैं। इस अपेक्षा से संवरका अर्थ 'जीव के नवीन पुण्य-पापके भाव को रोकना' होता है।

३–ऊपर बतलाये हुये निर्मल भाव प्रगट होनेसे आत्माकी साथ एक क्षेत्रावगाहरूपसे आनेवाले नवीन कर्म रुकते हैं इसीलिये कर्मकी अपेक्षासे संवरका अर्थ होता है 'नवीन कर्मके आस्रवका रुकना।'

(२) उपरोक्त तीनों अर्थ नयकी अपेक्षासे किये गये हैं वे इसप्रकार हैं–१–प्रथम अर्थ आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट करना बतलाता है, इसीलिये पर्यायकी अपेक्षासे यह कथन शुद्ध निश्चयनयका है। २ दूसरा अर्थ यह बतलाता है कि आत्मामें कौन पर्याय रुकी, इसीलिये यह कथन व्यवहारनय का है और ३–अर्थ इसका ज्ञान कराता है कि जीवकी इस पर्यायके समय पर वस्तु की कैसी स्थिति होती है, इसीलिये यह कथन असद्भूतव्यवहार नयका है। इसे असद्भूत कहनेका कारण यह है कि आत्मा जड कर्मका कुछ कर नहीं सकता किन्तु आत्माके इस प्रकारके शुद्ध भावको और नवीन कर्मके आस्रवके रुकजानेको मात्र निमित्तनैमित्तिकसंबंध है।

(३) ये तीनों व्याख्यायें नयकी अपेक्षा से हैं, अतः इस प्रत्येक व्याख्यामें बाकीकी दो व्याख्यायें गर्भितरूपसे अंतर्भूत होती हैं, क्योंकि नयापेक्षा के कथनमें एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता होती है। जो कथन मुख्यता से किया हो उसे इस शास्त्रके पांचवें अध्यायके ३२ वें सूत्रमें 'अर्पित' कहा गया है। और जिस कथनको गौण रखा गया हो उसे 'अनर्पित' कहा गया है। अर्पित और अनर्पित इन दोनों कथनोंको एकत्रित करनेसे जो अर्थ हो वह पूर्ण (प्रमाण) अर्थ है, इसीलिये यह व्याख्या सर्वांग है। अर्पित कथनमें यदि अनर्पित की गौणता रखी गई हो तो यह

नय कथन है। सर्वांग व्याख्या रूप कथन किसी पहलूको गौण न रख सभी पहलुओंको एक साथ बतलाता है। शास्त्रमे नयदृष्टिसे व्याख्या की हो या प्रमाण दृष्टिसे व्याख्या की हो किन्तु वहाँ सम्यक् अनेकान्तके स्वरूपको समझकर अनेकांत स्वरूपसे जो व्याख्या हो उसके अनुसार समझना।

(४) सवरकी सर्वांग व्याख्या श्री समयसारजी गाथा १८७ से १८९ तक निम्न प्रकार दी गई है —

"आत्माको आत्माके द्वारा दो पुण्य-पापरूप शुभाशुभ योगोसे रोककर दर्शनज्ञानमे स्थित होता हुवा और अन्य वस्तुकी इच्छासे विरक्त (-निवृत्त) हुआ जो आत्मा, सर्व सगसे रहित होता हुआ निजात्माको आत्माके द्वारा ध्याता है, कर्म और नोकर्मको नही ध्याता। चेतयिता होने से एकत्व का ही चिंतवन करता है, विचारता है—अनुभव करता है। यह आत्मा, आत्माका ध्याना, दर्शनज्ञानमय औरअनन्यमय हुवा सता अल्पकाल मे ही कर्मसे रहित आत्माको प्राप्त करता है।"

इस व्याख्यामे सम्पूर्ण कथन है अत यह कथन अनेकातदृष्टिसे है, इसलिये किसी शास्त्रमे नयकी अपेक्षासे व्याख्या की हो या किसी शास्त्रमे अनेकातकी अपेक्षासे सर्वांग व्याख्या की हो तो वहा विरोध न समझकर ऐसा समझना कि दोनोमे समान रूपसे व्याख्या की है।

(५) श्री समयसार कलश १२५ मे सवरका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है —

१—आस्रवका तिरस्कार करनेसे जिसको सदा विजय मिली है ऐसे सवरको उत्पन्न करनेवाली ज्योति।

२—पररूपसे भिन्न अपने सम्यक् स्वरूपमे निश्चलरूपसे प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निजरसके भारवाली ज्योतिका प्रगट होना।

(इस वर्णनमे आत्माकी शुद्ध पर्याय और आस्रवका निरोध इस तरह आत्माके दोनो पहलू आजाते है।)

(६) श्री पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की गाथा २०५ मे बारह अनुप्रेक्षा-ओके नाम कहे हैं उनमे एक सवर अनुप्रेक्षा है, वहा पडित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ मे 'सवर' का अर्थ निम्न प्रकार किया है–

जिन पुण्य पाप नहि कीना, आतम अनुभव चित दीना,
तिन ही विधि आवत रोके, सवर लहि सुख अवलोके

अर्थ—जिन जीवोने अपने भावको पुण्य-पापरूप नही किया और आत्म अनुभव मे अपने ज्ञानको लगाया है उन जीवोने आते हुए कर्मोंको रोका है और वे सवरकी प्राप्तिरूप सुखको देखते हैं।

(इस व्याख्यामे ऊपर कहे हुए तीनो पहलू आ जाते है, इसीलिये अनेकातकी अपेक्षासे यह सर्वांग व्याख्या है।

(७) श्री जयसेनाचार्यने पचास्तिकाय गाथा १४२ की टीकामे सवरकी व्याख्या निम्न प्रकार की है–

अत्र शुभाशुभसवर समर्थ शुद्धोपयोगो भाव सवर,
भावसवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसवर इति तात्पर्यार्थ ॥

अर्थ—यहा शुभाशुभभावको रोकनेमे समर्थ जो शुद्धोपयोग है सो भावसवर है, भावसवरके आधारसे नवीन कर्मका निरोध होना सो द्रव्यसवर है। यह तात्पर्यअर्थ है।' (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला पचास्तिकाय पृष्ठ २०७)

(सवरकी यह व्याख्या अनेकातकी अपेक्षासे है, इसमे पहले तीनो अर्थ आ जाते है।)

(८) श्री अमृतचन्द्राचार्यने पचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामे सवरकी व्याख्या निम्न प्रकार की है–

'शुभाशुभपरिणामनिरोध सवर शुद्धोपयोग अर्थात् शुभाशुभ परिणाम के निरोधरूप जो सवर है सो शुद्धोपयोग है।' (पृष्ठ २०८)

(सवरकी यह व्याख्या अनेकातकी अपेक्षासे है, इसमे पहले दोनो अर्थ आ जाते है।)

(९) प्रश्न—इस अध्यायके पहले सूत्रमे सवरकी व्याख्या 'आस्रव निरोध सवर.' की है, किन्तु सर्वांग व्याख्या नही की, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—इस शास्त्रमे वस्तुस्वरूपका वर्णन नयकी अपेक्षासे बहुत ही थोडे मे दिया गया है। पुनश्च इस अध्यायका वर्णन मुख्यरूपसे पर्यायार्थिक नय से होनेसे 'आस्रव निरोध सवर' ऐसी व्याख्या पर्यायकी अपेक्षासे की है और इसमे द्रव्यार्थिक नयका कथन गौण है।

(१०) पाचवे अध्यायके ३२ वे सूत्रकी टीकामे जैन शास्त्रोके अर्थ करने की पद्धति बतलाई है। इसी पद्धतिके अनुसार इस अध्यायके पहले सूत्रका अर्थ करनेसे श्री समयसार, श्री पचास्तिकाय आदि शास्त्रोमे सवर का जो अर्थ किया है वही अर्थ यहाँ भी किया है ऐसा समझना।

४—ध्यानमें रखने योग्य बातें

(१) पहले अध्यायके चौथे सूत्रमे जो सात तत्त्व कहे हैं उनमे संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व मोक्षमार्गरूप हैं। पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमें मोक्षमार्गकी व्याख्या 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.' इस तरह की है, यह व्याख्या जीवमे मोक्षमार्ग प्रगट होनेपर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है यह बतलाती है। और इस अध्यायके पहले सूत्रमे 'आस्रव निरोध सवर' ऐसा कहकर मोक्षमार्गरूप शुद्ध पर्याय होनेसे यह बतलाया है कि शुद्ध पर्याय होनेसे अशुद्ध पर्याय तथा नवीन कर्म रुकते हैं।

(२) इस तरह इन दोनो सूत्रोमे (अध्याय १ सूत्र १ तथा अध्याय ९ सूत्र १ मे) बतलाई हुई मोक्षमार्गकी व्याख्या साथ लेनेसे इस शास्त्रमे सर्वांग कथन आ जाता है। श्री समयसार, पचास्तिकाय आदि शास्त्रोमे मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे कथन है, इसमें सवरकी जो व्याख्या दी गई है वही व्याख्या पर्यायार्थिकनयसे इस शास्त्रमे पृथक् शब्दोमे दी है।

(३) शुद्धोपयोगका अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है।

(४) सवर होनेसे जो अशुद्धि दूर हुई और शुद्धि बढी वही निर्जरा है इसीलिये 'शुद्धोपयोग' या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहनेसे ही इसमें निर्जरा आ जाती है।

(५) संवर तथा निर्जरा दोनों एक ही समयमें होते हैं, क्योंकि जिस समय शुद्धपर्याय (-शुद्ध परिणति) प्रगट हो उसी समय नवीन अशुद्धपर्याय (शुभाशुभ परिणति) रुकती है सो संवर है और इसी समय आंशिक अशुद्धि दूर हो शुद्धता बढे सो निर्जरा है।

(६) इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या करनेके बाद दूसरे सूत्रमें इसके छह भेद कहे हैं। इन भेदोंमें समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये पांच भेद भाववाचक (अस्तिसूचक) हैं और छट्ठा भेद गुप्ति है सो अभाववाचक (नास्तिसूचक) है। पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या नय की अपेक्षासे निरोधवाचक की है, इसीलिये यह व्याख्या गौणरूपसे यह बतलाती है कि 'संवर होनेसे कैसा भाव हुआ' और मुख्यरूपसे यह बतलाती है कि—'कैसा भाव रुका।'

(७) 'आस्रव निरोध संवर' इस सूत्रमें निरोध शब्द यद्यपि अभाववाचक है तथापि यह शून्यवाचक नहीं है, अन्य प्रकारके स्वभावपनेका इसमें सामर्थ्य होनेसे, यद्यपि आस्रवका निरोध होता है तथापि आत्मा संवृत स्वभावरूप होता है, यह एक तरहकी आत्माकी शुद्धपर्याय है। संवरसे आस्रवका निरोध होता है इस कारण आस्रव बंधका कारण होनेसे संवर होनेपर बंधका भी निरोध होता है। (देखो श्लोकवार्तिक संस्कृत टीका, इस सूत्रके नीचेकी कारिका २ पृष्ठ ४८६)

(८) श्री समयसारजी की १८६ वीं गाथामें कहा है कि—'शुद्ध आत्माको जानता—अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्माको जानने अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है।'

इसमें शुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो संवर है और अशुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो आस्रव-बन्ध है।

(९) समयसार नाटक की उत्थानिकामें २३ वें पृष्ठमें संवर की व्याख्या निम्नप्रकार की है:—

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरते जोग विरत्त,
रोके आवत करम को, सो है संवर तत्त ॥ ३१ ॥

अर्थ—आत्माका जो भाव ज्ञानदर्शन रूप उपयोगको प्राप्तकर (शुभाशुभ) योगोकी क्रियासे विरक्त होता है और नवीन कर्मके आस्रव को रोकता है सो संवर तत्त्व है।

५—निर्जराका स्वरूप

उपरोक्त ९ बातोमे निर्जरा सम्बन्धी कुछ विवरण आगया है। संवर पूर्वक जो निर्जरा है सो मोक्षमार्ग है, इसीलिये इस निर्जराकी व्याख्या जानना आवश्यक है।

(१) श्री पंचास्तिकायकी १४४ गाथामे निर्जराकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदेबहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥

अर्थ—शुभाशुभ परिणाम निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योगोसे संयुक्त ऐसा जो भेदविज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अन्तरंग-बहिरंग तपो द्वारा उपाय करता है सो निश्चयसे अनेक प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है।'

इस व्याख्यामे ऐसा कहा है कि 'कर्मोंकी निर्जरा होती है' और इसमे यह गर्भित रखा है कि इस समय आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है, इस गाथाकी टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि—

' स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति। तदत्रकर्मवीर्य शातन-समर्थो बहिरंगांतरंग तपोभिर्बृंहित शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा।'

अर्थ—यह जीव वास्तवमे अनेक कर्मोंकी निर्जरा करता है इसीलिये यह सिद्धान्त हुआ कि अनेक कर्मोंकी शक्तियोको नष्ट करनेमे समर्थ बहिरंग-अन्तरंग तपोसे वृद्धिको प्राप्त हुआ जो शुद्धोपयोग है सो भाव-निर्जरा है। (देखो पंचास्तिकाय पृष्ठ २०९)

(२) श्री समयसार गाथा २०६ मे निर्जराका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है ।

'एदह्मि रदो णिच्च सतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहिं तित्तो होहदि तुह उत्तम सोक्ख ।। २०६ ।।

अर्थ—हे भव्य प्राणी ! तू इसमे (ज्ञानमे) नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसीमे नित्य सन्तुष्ट हो और इसमे तृप्त हो, ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख होगा ।

इस गाथामे यह बतलाया है कि निर्जरा होनेपर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है ।

(३) सवरके साथ अविनाभावरूपसे निर्जरा होती है । निर्जराके आठ आचार (अग, लक्षण) हैं, इसमे उपवृंहण और प्रभावना ये दो आचार शुद्धि की वृद्धि वतलाते है । इस सम्बन्धमे श्री समयसार गाथा २३३ की टीकामे निम्नप्रकार वतलाया है ।

'क्योकि सम्यग्दृष्टि, टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमयपनेके कारण समस्त आत्मशक्तियोकी वृद्धि करनेवाला होनेके कारण, उपवृहक अर्थात् आत्म शक्तिका बढानेवाला है, इसीलिये उसके जीवकी शक्तिकी दुर्वलतासे (अर्थात् मदतासे) होनेवाला वध नही होता परन्तु निर्जरा ही है ।"

(४) और फिर गाथा २३६ की टीका तथा भावार्थमे कहा है—

टीका—क्योकि सम्यग्दृष्टि, टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमयपने को लेकर ज्ञानकी समस्त शक्तिको प्रगट करनेसे–विकसित करनेसे, फैलाने से प्रभाव उत्पन्न करता है अत प्रभावना करने वाला है इसीलिये इसके ज्ञान की प्रभावनाके अप्रकर्षमे (अर्थात् ज्ञानकी प्रभावनाकी वृद्धि न होने से) होनेवाला वन्ध नही होता परन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ—प्रभावनाका अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना आदि, इसलिए जो निरन्तर अभ्याससे अपने ज्ञानको प्रगट करता है—बढाता है उसके प्रभावना अग होता है । और उसके अप्रभावना कृत कर्मोका बधन नही है, कर्म रस देकर खिर जाता है–झड जाता है इसीलिये निर्जरा ही है ।

(५) इस प्रकार अनेकात दृष्टिमे स्पष्टरूपसे सर्वांग व्याख्या कही जाती है। जहा व्यवहारनयसे व्याख्या की जाय वहा निर्जराका ऐसा अर्थ होता है —'आशिकरूपसे विकारकी हानि और पुराने कर्मोका खिर जाना, किन्तु इसमे 'जो शुद्धिकी वृद्धि है सो निर्जरा है' ऐसा गर्भित रूपसे अर्थ कहा है।

(६) अष्टपाहुडमे भावप्राभृतकी ११४ वी गाथाके भावार्थमे सवर, निर्जरा तथा मोक्षकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

'पाचवा सवर तत्त्व है। राग-द्वेष–मोहरूप जीवके विभावका न होना और दर्शन ज्ञानरूप चेतना भावका स्थिर होना सो सवर है, यह जीवका निज भाव है और इससे पुद्गल कर्म जनित भ्रमण दूर होता है। इस तरह इन तत्त्वोकी भावनामे आत्मतत्त्वकी भावना प्रधान है, इससे कर्मकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है। अनुक्रमसे आत्माके भाव शुद्ध होना सो निर्जरा तत्त्व है और सर्वकर्मका अभाव होना सो मोक्ष तत्त्व है।'

६—इस तरह सवर तत्त्वमे आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और निर्जरा तत्त्वमे आत्माकी शुद्ध पर्यायकी वृद्धि होती है। इस शुद्ध पर्याय को एक शब्दसे 'शुद्धोपयोग' कहते है, दो शब्दोसे कहना हो तो सवर और निर्जरा कहते है और तीन शब्दोसे कहना हो तो 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र' कहते है। सवर और निर्जरामे आशिक शुद्ध पर्याय होती है ऐसा समझना।

इस शास्त्रमे जहा जहा सवर और निर्जराका कथन हो वहा वहाँ ऐसा समझना कि आत्माकी पर्याय जिस अशमे शुद्ध होती है वह सवर–निर्जरा है। जो विकल्प राग या शुभभाव है वह सवर-निर्जरा नही। परन्तु इसका निरोध होना और आशिक अशुद्धिका खिर जाना–झड जाना सो सवर–निर्जरा है।

७—अज्ञानी जीवने अनादिसे मोक्षका बीजरूप सवर–निर्जराभाव कभी प्रगट नही किया और इसका यथार्थ स्वरूप भी नही समझा। सवर–निर्जरा स्वय धर्म है, इनका स्वरूप समझे बिना धर्म कैसे हो सकता है ?

इसलिये मुमुक्षु जीवोको इसका स्वरूप समझना आवश्यक है, आचार्यदेव इस अध्यायमे इसका वर्णन थोडेमे करते है इसमे पहले संवरका स्वरूप वर्णन करते है।

संवरका लक्षण

आस्रव निरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—[आस्रव निरोधः] आस्रवका रोकना सो [संवरः] संवर है अर्थात् आत्मामे जिन कारणोसे कर्मोका आस्रव होता है उन कारणोको दूर करनेसे कर्मोका आना रुक जाता है उसे संवर कहते हैं।

टीका

१—संवरके दो भेद है–भावसंवर और द्रव्यसंवर। इन दोनो की व्याख्या भूमिकाके तीसरे फिकरेके (७) उपभेदमे दी है।

२—संवर धर्म है, जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवर का प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शनके बिना कभी भी यथार्थ संवर नही होता। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोका स्वरूप यथार्थरूपसे और विपरीत अभिप्राय रहित जानना चाहिये।

३—सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जीवके आंशिक वीतरागभाव और आंशिक सरागभाव होता है, वहा ऐसा समझना कि वीतरागभावके द्वारा संवर होता है और सरागभावके द्वारा बंध होता है।

४–बहुतसे जीव अहिंसा आदि शुभास्रवको संवर मानते हैं किंतु यह भूल है। शुभास्रवसे तो पुण्यबंध होता है। जिस भाव द्वारा बंध हो उसी भावके द्वारा संवर नही होता।

५–आत्माके जितने अंशमे सम्यग्दर्शन है उतने अंशमे संवर है और बंध नही, किन्तु जितने अंशमे राग है उतने अंशमे बंध है, जितने अंशमे सम्यग्ज्ञान है उतने अंशमे संवर है, बंध नही किन्तु जितने अंशमे राग है उतने अंशमें बन्ध है तथा जितने अंशमे सम्यक्चारित्र है उतने अंशमे

संवर है बन्ध नही, किन्तु जितने अशमे राग है उतने अशमे बन्ध है—(देखो पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा २१२ से २१४)

६—प्रश्न—सम्यग्दर्शन सवर है और बन्धका कारण नही तो फिर अध्याय ६ सूत्र २१ मे सम्यक्त्वको भी देवायुकर्मके आस्रवका कारण क्यो कहा ? तथा अध्याय ६ सूत्र २४ मे दर्शन विशुद्धिसे तीर्थकर कर्मका आस्रव होता है ऐसा क्यो कहा ?

उत्तर—तीर्थकर नाम कर्मका बन्ध चौथे गुणस्थानसे आठवे गुणस्थान के छट्ठे भाग पर्यत होता है और तीनप्रकारके सम्यक्त्वकी भूमिकामे यह बन्ध होता है। वास्तवमे (भूतार्थनयसे—निश्चयनयसे) सम्यग्दर्शन स्वय कभी भी बन्धका कारण नही है, किन्तु इस भूमिकामे रहे हुए रागसे ही बन्ध होता है। तीर्थकर नामकर्मके बन्धका कारण भी सम्यग्दर्शन स्वय नही, परन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामे रहा हुआ राग बन्धका कारण है। जहा सम्यग्दर्शनको आस्रव या बधका कारण कहा हो वहा मात्र उपचारसे (व्यवहार) कथन है ऐसा समझना, इसे अभूतार्थनयका कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञानके द्वारा नयविभागके स्वरूपको यथार्थ जानने वाला ही इस कथनके आशयको अविरुद्धरूपसे समझता है।

प्रश्नमे जिस सूत्रका आधार दिया गया है उन सूत्रोकी टीकामे भी खुलासा किया है कि सम्यग्दर्शन स्वय बन्धका कारण नही है।

७—निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र अपेक्षा दो प्रकार है—सरागी और वीतरागी। उनमेसे सराग—सम्यग्दृष्टि जीव राग सहित है अत रागके कारण उनके कर्म प्रकृतियोका आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवोके सरागसम्यक्त्व है, परन्तु यहां ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यक्त्व का दोष नही किन्तु चारित्रका दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवोके निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है वास्तव मे ये दो जीवो के सम्यग्दर्शनमे भेद नही किन्तु चारित्र के भेदकी अपेक्षासे ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रके दोष सहित हैं उनके सराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीवके निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इसतरह चारि-

गुणकी सदोषता या निर्दोषताकी अपेक्षासे ये भेद है। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और वह तो शुद्ध भाव ही है, इसीलिये वह आस्रव या बंधका कारण नहीं है।

संवरके कारण

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥२॥

अर्थ—[गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः] तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बावीस परीषहजय और पांच चारित्र इन छह कारणोंसे [सः] संवर होता है।

टीका

१—जिस जीवके सम्यग्दर्शन होता है उसके ही संवरके ये छह कारण होते हैं, मिथ्यादृष्टिके इन छह कारणोंमेंसे एक भी यथार्थ नही होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके तथा साधुके ये छहों कारण यथासम्भव होते हैं (देखो पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा २०३ की टीका) संवर के इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझे बिना संवरका स्वरूप समझनेमें भी जीवकी भूल हुये बिना नहीं रहती। इसलिये इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये।

२—गुप्तिका स्वरूप

वीतराग भाव होनेपर जीव जितने अशमे मन-वचन-कायकी तरफ नही लगता उतने अशमे निश्चय गुप्ति है और यही सवरका कारण है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक से)

(२) जो जीव नयोके रागको छोडकर निज स्वरूपमे गुप्त होता है उस जीवके गुप्ति होती है। उनका चित्त विकल्प जालसे रहित शात होता है और वह साक्षात् अमृत रसका पान करते हैं। यह स्वरूप गुप्तिकी शुद्ध क्रिया है। जितने अशमे वीतराग दशा होकर स्वरूपमे प्रवृत्ति होती है उतने अशमे गुप्ति है, इस दशामे क्षोभ मिटता है और अतीन्द्रिय सुख अनुभवमे आता है। (देखो श्री समयसार कलश ६९ पृष्ठ १७५)

(३) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक लौकिक वाछा रहित होकर योगोका यथार्थ निग्रह करना सो गुप्ति है। योगोके निमित्तसे आने वाले कर्मोंका आना बध पड जाना सो सवर है। (तत्त्वार्थसार अ० ६ गा० ५)

(४) इस अध्यायके चौथे सूत्रमे गुप्तिका लक्षण कहा है इसमे बतलाया है कि जो 'सम्यक् योग निग्रह' है सो गुप्ति है। इसमे सम्यक् शब्द अधिक उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि विना सम्यग्दर्शनके योगोका यथार्थ निग्रह नही होता अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक ही योगोका यथार्थ निग्रह हो सकता है।

(५) **प्रश्न**—योग चौदहवे गुणस्थानमे रुकता है, तेरहवे गुणस्थान तक तो वह होता है, तो फिर नीचेकी भूमिकावालेके 'योगका निग्रह' (गुप्ति) कहासे हो सकती है ?

उत्तर—आत्माका उपयोग मन, वचन, कायकी तरफ जितना न लगे उतना योगका निग्रह हुआ कहलाता है। यहा योग शब्दका अर्थ 'प्रदेशोका कपन' न समझना। प्रदेशोके कपनके निग्रहको गुप्ति नही कहा जाता किन्तु इसे तो अकपता या अयोगता कहा जाता है, यह अयोग अवस्था चौदहवें गुणस्थानमे प्रगट होती है और गुप्ति तो चौथे गुणस्थानमे भी होती है।

(६) वास्तवमें आत्माका स्वरूप (निजरूप) ही परम गुप्ति है, इसीलिये आत्मा जितने अंशमें अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहे उतने अंशमें गुप्ति है [देखो, श्री समयसार कलश १५८]

३–आत्माका वीतराग भाव एकरूप है और निमित्तकी अपेक्षासे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ऐसे प्रथक् प्रथक् भेद करके समझाया जाता है, इन भेदोंके द्वारा भी अभेदता बतलाई है। स्वरूपकी अभेदता संवर निर्जराका कारण है।

४–गुप्ति, समिति आदिके स्वरूपका वर्णन चौथे सूत्रसे प्रारम्भ करके अनुक्रमसे कहेंगे ॥ २ ॥

निर्जरा और संवरका कारण

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ—[तपसा] तप से [निर्जरा च] निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

टीका

१—दश प्रकारके धर्ममें तपका समावेश होजाता है तो भी उसे यहां अलग् कहनेका कारण यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनोंका कारण है और इसमें संवरका यह प्रधान कारण है।

२—यहां जो तप कहा है सो सम्यक् तप है, क्योंकि यह तप ही संवर निर्जराका कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके ही सम्यक् तप होता है मिथ्यादृष्टिके तपको बालतप कहते हैं और यह आस्रव है, ऐसा छट्ठे अध्यायके १२ वें सूत्रकी टीकामें कहा है। इस सूत्रमें दिये गये 'च' शब्दसे बालतप का समावेश होता है जो सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञानसे रहित हैं ऐसे जीव चाहे जितना तप करें तो भी उनका समस्त तप बालतप (अर्थात् अज्ञान-तप, मूर्खतावाला तप) कहलाता है (देखो समयसार गाथा १५२) सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाले तपको उत्तम तपरूपसे इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें ग्रहण किया है।

(२) तपका अर्थ

श्री प्रवचनसारकी गाथा १४ मे तपका अर्थ इस तरह दिया है—'स्वरूपविश्रात निस्तरक चैतन्यप्रतपनाच्च तप अर्थात् स्वरूप मे विश्रात, तरगोसे रहित जो चैतन्यका प्रतपन है सो तप है ।'

४—तपका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) बहुतसे अनशनादिको तप मानते है और उस तपसे निर्जरा मानते है, किंतु बाह्य तपसे निर्जरा नही होती, निर्जराका कारण तो शुद्धोपयोग है । शुद्धोपयोगमे जीवकी रमणता होने पर अनशनके बिना 'जो शुभ अशुभ इच्छा का निरोध होता है' सो सवर है । यदि बाह्य दु ख सहन करनेसे निर्जरा हो तो तिर्यंचादिक भी भूख प्यासादिकके दु ख सहन करते है इसीलिये उनके भी निर्जरा होनी चाहिये । (मो० प्र०)

(२) **प्रश्न**—तिर्यंचादिक तो पराधीनरूपसे भूख प्यासादिक सहन करते हैं किंतु जो स्वाधीनतासे धर्मकी बुद्धिसे उपवासादिरूप तप करे उस के तो निर्जरा होगी न ?

उत्तर—धर्मकी बुद्धिसे बाह्य उपवासादिक करे किंतु वहा शुभ, अशुभ या शुद्धरूप जैसा उपयोग परिणमता है उसीके अनुसार बध या निर्जरा होती है । यदि अशुभ या शुभरूप उपयोग हो तो बध होता है और सम्यग्दर्शन पूर्वक शुद्धोपयोग हो तो धर्म होता है । यदि बाह्य उपवाससे निर्जरा होती हो तो ज्यादा उपवासादि करनेसे ज्यादा निर्जरा हो और थोडे उपवासादि करनेसे थोडी निर्जरा होगी ऐसा नियम हो जायगा तथा निर्जराका मुख्य कारण उपवासादि ही हो जायगा किंतु ऐसा नही होता, क्योंकि बाह्य उपवासादि करने पर भी यदि दुष्ट परिणाम करे तो उसके निर्जरा कैसे होगी ? इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभ, शुभ या शुद्धरूपसे जैसा उपयोगका परिणमन होता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है इसीलिये उपवासादि तप निर्जराके मुख्य कारण नही हैं, किंतु अशुभ तथा शुभ परिणाम तो बधके कारण हैं और शुद्ध परिणाम निर्जराका कारण है ।

५—तपके फलके बारेमें स्पष्टीकरण

सम्यग्दृष्टिके तप करनेसे निर्जरा होती है और साथमे पुण्यकर्मका बध भी होता है परन्तु ज्ञानी पुरुषोके तपका प्रधान फल निर्जरा है इसीलिये इस सूत्रमे ऐसा कहा है कि तपसे निर्जरा होती है। जितनी तपमे न्यूनता होती है उतना पुण्यकर्मका बध भी हो जाता है, इस अपेक्षासे पुण्यका बध होना यह तपका गौण फल कहलाता है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न करना है, किन्तु भूसा आदि उत्पन्न होना यह उसका गौणफल है उसी प्रकार यहाँ ऐसा समझना कि सम्यग्दृष्टिके तपका जो विकल्प आता है वह रागरूप होता है अत उसके फलमे पुण्य बध हो जाता है और जितना राग टूटकर (दूर होकर) वीतरागभाव–शुद्धोपयोग बढता है वह निर्जराका कारण है। आहार पेटमे जाय या न जाय वह बध या निर्जराका कारण नही है क्योकि यह परद्रव्य है और परद्रव्य का परिणमन आत्माके आधीन नही है इसीलिये उसके परिणमनसे आत्मा को लाभ नुकसान नही होता। जीवके अपने परिणामसे ही लाभ या नुकसान होता है।

६—अध्याय ८ सूत्र २३ मे भी निर्जरा सम्बन्धी वर्णन है अतः उस सूत्रकी टीका यहाँ भी बांचना। तपके १२ भेद बतलाये हैं इस सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्यायके १९-२० वे सूत्रमे किया गया है अत. वहाँ से देखलेना ॥ ३ ॥

गुप्तिका लक्षण और भेद

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—[सम्यक् योगनिग्रहो] भले प्रकार योगका निग्रह करना सो [गुप्तिः] गुप्ति है।

टीका

१—इस सूत्रमे सम्यक् शब्द बहुत उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक ही गुप्ति होती है, अज्ञानीके गुप्ति नही होती।

तथा सम्यक् शब्द यह भी बतलाता है कि जिस जीवके गुप्ति होती है उस जीव के विषय सुखकी अभिलाषा नही होती। यदि जीवके सक्लेशता (आकुलता) हो तो उसके गुप्ति नही होती। दूसरे सूत्रकी टीकामे गुप्तिका स्वरूप बतलाया है वह यहाँ भी लागू होता है।

२. गुप्तिकी व्याख्या

(१) जीवके उपयोगका मनके साथ युक्त होना सो मनोयोग है, वचन के साथ युक्त होना सो वचनयोग है और कायके साथ युक्त होना सो काययोग है तथा उसका अभाव सो अनुक्रमसे मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है इस तरह निमित्तके अभावकी अपेक्षामे गुप्तिके तीन भेद है।

पर्यायमे शुद्धोपयोगकी हीनाधिकता होती है तथापि उसमे शुद्धता तो एक ही प्रकारकी है, निमित्तकी अपेक्षासे उसके अनेक भेद कहे जाते हैं।

जब जीव वीतरागभावके द्वारा अपनी स्वरूप गुप्तिमें रहता है तब मन, वचन और कायकी ओरका आश्रय छूट जाता है, इसीलिये उसकी नास्ति की अपेक्षासे तीन भेद होते हैं, ये सब भेद निमित्तके है ऐसा जानना।

(२) सर्व-मोह-रागद्वेषको दूर करके खडरहित अद्वैत परम चैतन्यमे भलीभांति स्थित होना सो निश्चयमनोगुप्ति है, सम्पूर्ण असत्यभाषाको इस तरह त्यागना कि (अथवा इस तरह मौनव्रत रखना कि) मूर्तिक द्रव्यमे, अमूर्तिक द्रव्यमे या दोनोमे वचनकी प्रवृत्ति रुके और जीव परम-चैतन्यमे स्थिर हो सो निश्चयवचनगुप्ति है। सयमधारी मुनि जब अपने चैतन्यस्वरूप चैतन्यशरीरसे जड शरीरका भेदज्ञान करता है (अर्थात् शुद्धात्माके अनुभवमे लीन होता है) तब अतरगमे स्वात्माकी उत्कृष्ट मूर्तिकी निश्चलता होना सो कायगुप्ति है। (नियमसार गा० ६९-७० और टीका)

(३) अनादि अज्ञानी जीवोने कभी सम्यग्गुप्ति धारण नही की। अनेकबार द्रव्यलिंगी मुनि होकर जीवने शुभोपयोगरूप गुप्ति—समिति आदि निरतिचार पालन की किन्तु वह सम्यक् न थी। किसी भी जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सम्यग्गुप्ति नही हो सकती और उसका भव

भ्रमण दूर नही हो सकता। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करके क्रमक्रमसे आगे बढकर सम्यग्गुप्ति प्रगट करनी चाहिये।

(४) छठे गुणस्थानवर्ती साधुके शुभभावरूप गुप्ति भी होती है इसे व्यवहार गुप्ति कहते है, किन्तु वह आत्माका स्वरूप नही है, वह शुभ विकल्प है इसीलिये ज्ञानी उसे हेयरूप समझते है, क्योकि इससे बध होता है, इसे दूर कर साधु निर्विकल्पदशामे स्थिर होता है, इस स्थिरताको निश्चयगुप्ति कहते हैं, यह निश्चयगुप्ति सवरका सच्चा कारण है ॥४॥

दूसरे सूत्रमे सवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेसे गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ अब समितिका वर्णन करते हैं।

समितिके ५ भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ—[**ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः**] सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् ऐषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग—ये पाच [**समितयः**] समिति है (चौथे सूत्रका 'सम्यक्' शब्द इस सूत्रमे भी लागू होता है)

टीका

१—समितिका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) अनेको लोग परजीवोकी रक्षाके लिये यत्नाचार प्रवृत्तिको समिति मानते हैं, किन्तु यह ठीक नही है, क्योकि हिंसाके परिणामोसे तो पाप होता है, और यदि ऐसा माना जावे कि रक्षाके परिणामोसे सवर होता है तो फिर पुण्यबंधका कारण कौन होगा ? पुनश्च एषणा समिति मे भी यह अर्थ घटित नही होता क्योकि वहा तो दोष दूर होता है किन्तु किसी पर जीवकी रक्षाका प्रयोजन नही है।

(२) **प्रश्न**—तो फिर समितिका यथार्थ स्वरूप क्या है ?

उत्तर—मुनिके किंचित राग होनेपर गमनादि क्रिया होती है, वहां उस क्रियामे अति आसक्तिके अभावसे उनके प्रमादरूप प्रवृत्ति नही

होती, तथा दूसरे जीवोको दु.खी करके अपना गमनादिरूप प्रयोजन नही साधते, इसीलिये उनसे स्वय दया पलती है, इसी रूपमे यथार्थ समिति है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३३५)

अ—अभेद उपचाररहित जो रत्नत्रयका मार्ग है, उस मार्गरूप परम धर्म द्वारा अपने आत्म स्वरूपमे 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकारसे 'इता' गमन तथा परिणमन है सो समिति है। अथवा—

ब—स्व आत्माके परम तत्त्वमें लीन स्वाभाविक परमज्ञानादि परम धर्मोंकी जो एकता है सो समिति है। यह समिति सवर-निर्जरारूप है। (देखो श्री नियमसार गाथा ६१)

(३) सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि आत्मा परजीवका घात नही कर सकता, परद्रव्योका कुछ नही कर सकता, भाषा बोल नही सकता, शरीरकी हलन-चलनादिरूप क्रिया नही कर सकता, शरीर चलने योग्य हो तब स्वय उसकी क्रियावती शक्ति से चलता है, परमाणु भाषारूपसे परिणमनेके योग्य हो तब स्वयं परिणमता है, पर जीव उसके आयुकी योग्यताके अनुसार जीता या मरता है, लेकिन उस कार्यके समय अपनी योग्यतानुसार किसी जीवके राग होता है, इतना निमित्त नैमित्तिक संबंध है, इसीलिये निमित्तकी अपेक्षासे समितिके पाँच भेद होते है, उपादान अपेक्षा तो भेद नही पडता।

(४) गुप्ति निवृत्ति स्वरूप है और समिति प्रवृत्ति स्वरूप है। **सम्यग्दृष्टिको समितिमें जितने अंशमें वीतरागभाव है उतने अंशमें संवर है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है।**

(५) मिथ्यादृष्टि जीव तो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोको बचा सकता हूँ तथा मैं पर द्रव्योका कुछ कर सकता हूँ, इसीलिये उसके समिति होती ही नही। द्रव्यलिंगी मुनिके शुभोपयोगरूप समिति होती है किंतु वह सम्यक् समिति नही है और संवरका कारण भी नही है, पुनश्च वह तो शुभोपयोगको धर्म मानता है, इसीलिये वह मिथ्यात्वी है।

२—पहले समितिको आस्त्रवरूप कहा था और यहां सवररूप कहा है, इसका कारण बतलाते है—

छट्ठे अध्यायके ५ वे सूत्रमे पच्चीस प्रकारकी क्रियाओको आसूव का कारण कहा है, वहा गमन आदिमे होनेवाली जो शुभरागरूप क्रिया है सो ईर्यापथ क्रिया है और वह पाच समितिरूप है ऐसा बतलाया है और उसे बधके कारणोमे गिना है। परन्तु यहा समितिको सवरके कारणमे गिना है, इसका कारण यह है कि, जैसे सम्यग्दृष्टिके वीतरागताके अनुसार पाच समिति सवरका कारण होती हैं वैसे उसके जितने अगमें राग है उतने अशमे वह आसूवका भी कारण होती है। यहा सवर अधिकारमे सवरकी मुख्यता होनेसे समितिको सवरके कारणरूपसे वर्णन किया है और छट्ठे अध्यायमे आसूवकी मुख्यता है अत वहा समितिमे जो राग है उसे आसूव के कारणरूपसे वर्णन किया है।

३—उपरोक्त प्रमाणानुसार समिति वह चारित्रका मिश्रभावरूप है ऐसा भाव सम्यग्दृष्टिके होता है, उसमे आशिक वीतरागता है और आशिक राग है। जिस अंशमे वीतरागता है उस अशके द्वारा तो सवर ही होता है और जिस अशमे सरागता है। उस अशके द्वारा बध ही होता है। सम्यग्दृष्टिके ऐसे मिश्ररूप भावसे तो सवर और बध ये दोनो कार्य होते है किंतु अकेले रागके द्वारा ये दो कार्य नही हो सकते, इसीलिये 'अकेले प्रशस्त राग' से पुण्याश्रव भी मानना और सवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्ररूप भावमे भी यह सरागता है और यह वीतरागता है ऐसी यथार्थ पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है, इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभावको हेयरूपसे श्रद्धान करते है। मिथ्यादृष्टिके सरागभाव और वीतरागभावकी यथार्थ पहिचान नही है, इसीलिये वह सरागभाव मे सवरका भ्रम करके प्रशस्त रागरूप कार्योको उपादेयरूप श्रद्धान करता है। (मो०प्रकाशक–पृ० ३३४-३५)

४—समितिके पांच भेद

जब साधु गुप्तिरूप प्रवर्तनमे स्थिर नही रह सकने तव वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग इन पाच समितिमे प्रवर्तते है, उस

समय असयमके निमित्तसे बधनेवाला कर्म नही बधता सो उतना सवर होता है ।

यह समिति मुनि और श्रावक दोनो यथायोग्य पालते हैं ।

(देखो पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा २०३ का भावार्थ)

पाँच समितिकी व्याख्या निम्नप्रकार है —

ईर्यासमिति—चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्धमार्गमे चलना ।

भाषासमिति—हित, मित और प्रिय वचन बोलना ।

एषणासमिति—श्रावकके घर, विधिपूर्वक दिनमे एक ही बार निर्दोष आहार लेना सो एषणासमिति है ।

आदाननिक्षेपसमिति—सावधानी पूर्वक निर्जतु स्थानको देखकर वस्तुको रखना, देना तथा उठाना ।

उत्सर्गसमिति—जीव रहित स्थानमे मल-मूत्रादिका क्षेपण करना ।

यह व्यवहार व्याख्या है, यह मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाती है, परन्तु ऐसा नही समझना कि जीव पर द्रव्यका कर्ता है और पर द्रव्यकी अवस्था जीवका कर्म है ॥ ५ ॥

दूसरे सूत्रमे सवरके ६ कारण बतलाये है, उनमे से समिति और गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ । अब दश धर्मका वर्णन करते हैं ।

दश धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ—[उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि] उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश [धर्माः] धर्म हैं ।

टीका

१. प्रश्न—ये दश प्रकारके धर्म किस लिये कहे ?

उत्तर—प्रवृत्तिको रोकनेके लिये प्रथम गुप्ति बतलाई, उस गुप्तिमे

प्रवृति करनेमे जब जीव असमर्थ होता है तब प्रवृत्तिका उपाय करनेके लिये समिति कही। इस समितिमे प्रवर्तनेवाले मुनिको प्रमाद दूर करनेके लिये ये दश प्रकारके धर्म बतलाये हैं।

२—इस सूत्रमे बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दशो धर्मों को लागू होता है, यह गुणवाचक शब्द है। उत्तम क्षमादि कहनेसे यहाँ रागरूप क्षमा न लेना किंतु स्वरूपकी प्रतीति सहित क्रोधादि कषायके अभावरूप क्षमा समझना। उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होनेपर क्रोधादि कषायका अभाव होता है, उसीसे आस्रवकी निवृत्ति होती है अर्थात् सवर होता है।

३—धर्मका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

जिसमे न राग द्वेष है न पुण्य है, न कषाय है, न न्यून-अपूर्ण है और न विकारित्व है ऐसे पूर्ण वीतराग ज्ञायकमात्र एकरूप स्वभावकी जो प्रतीति लक्ष-ज्ञान और उसमे स्थिर होना सो सच्चा धर्म है, यह वीतरागकी आज्ञा है।

बहुतसे जीव ऐसा मानते है कि बधादिकके भयसे अथवा स्वर्ग मोक्ष की इच्छासे क्रोधादि न करना सो धर्म है। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है—असत् है क्योकि उनके क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो दूर नही हुआ। जैसे कोई मनुष्य राजादिकके भयसे या महन्तपनके लोभसे परस्त्री सेवन नही करता तो इस कारणसे उसे त्यागी नही कहा जा सकता, इसी प्रमाणसे उपरोक्त मान्यता वाले जीव भी क्रोधादिकके त्यागी नही है, और न उनके धर्म होता है। (मो० प्र०)

प्रश्न—तो क्रोधादिकका त्याग किस तरह होता है ?

उत्तर—पदार्थ इष्ट–अनिष्ट मालूम होनेपर क्रोधादिक होते है। तत्त्वज्ञानके अभ्याससे जब कोई पदार्थ इष्ट–अनिष्ट मालूम न हो तब क्रोधादिक स्वयं उत्पन्न नही होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

४—क्षमादिककी-व्याख्या निम्नप्रकार है —

(१) क्षमा—निंदा, गाली, हास्य, अनादर, मारना, शरीरका घात करने आदि होनेपर अथवा ऐसे प्रसंगोको निकट आते देखकर भावोमे मलिनता न होना सो क्षमा है।

(२) मार्दव—जाति आदि आठ प्रकारके मदके आवेशसे होनेवाले अभिमानका अभाव सो मार्दव है अथवा मैं परद्रव्यका कुछ भी कर सकता हूँ ऐसी मान्यतारूप अहंकारभावको जडमूलसे उखाड देना सो मार्दव है।

(३) आर्जव—माया-कपटसे रहितपन, सरलता–सीधापन को आर्जव कहते हैं।

(४) शौच—लोभसे उत्कृष्टरूपसे उपराम पाना–निवृत्त होना सो शौच- पवित्रता है।

(५) सत्य—सत् जीवोमे–प्रशंसनीय जीवोमे साधु वचन (सरल वचन) बोलनेका जो भाव है सो सत्य है।

[प्रश्न—उत्तम सत्य और भाषा समिति मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—समितिरूपमे प्रवर्तने वाले मुनिके साधु और असाधु पुरुषोके प्रति वचन व्यवहार होता है और वह हित, परिमित वचन है। उस मुनिको शिष्य तथा उनके भक्त (श्रावको) मे उत्तम सत्य ज्ञान, चारित्रके लक्षणादिक सीखने - सिखानेमे अधिक भाषा व्यवहार करना पड़ता है उसे उत्तम सत्य धर्म कहा जाता है।]

(६) संयम—समितिमे प्रवर्तनेवाले मुनिके प्राणियोको पीडा न पहुचाने-करनेका जो भाव है सो संयम है।

(७) तप—भावकर्मका नाश करनेके लिये स्व की शुद्धताके प्रतपन को तप कहते हैं।

(८) त्याग—संयमी जीवोको योग्य-ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(९) आकिंचन्य—विद्यमान शरीरादिकमे भी संस्कारके त्यागके लिये 'यह मेरा है' ऐसे अनुरागकी निवृत्तिको आकिंचन्य कहते हैं। आत्मा

स्वरूपसे भिन्न ऐसे शरीरादिक मे या रागादिकमे ममत्वरूप परिणामोके अभावको आकिंचन्य कहते हैं।

(१) ब्रह्मचर्य—स्त्री मात्रका त्यागकर अपने आत्म स्वरूपमे लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है। पूर्वमे भोगे हुये स्त्रियोके भोगका स्मरण तथा उसकी कथा सुननेके त्यागसे तथा स्त्रियोके पास बैठनेके छोडनेसे और स्वच्छद प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरुकुलमे रहनेसे पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य पलता है। इन दशो शब्दोमे 'उत्तम' शब्द जोडनेसे 'उत्तम' क्षमा आदि दश धर्म होते है। उत्तम क्षमा आदि कहनेसे उसे शुभ रागरूप न समझना किन्तु कषाय रहित शुभभावरूप समझना। (स० सि०)

५—दश प्रकारके धर्मोंका वर्णन

क्षमाके निम्न प्रकार ५ भेद हैः—

(१) जैसे स्वय निर्बल होनेपर सबलका विरोध नही करता, उसी प्रकार 'यदि मैं क्षमा करू तो मुझे कोई परेशान न करेगा' ऐसे भावसे क्षमा रखना। इस क्षमामे ऐसी प्रतीति न हुई कि मै क्रोध रहित ज्ञायक ऐसा त्रिकाल स्वभावसे शुद्ध हू' किन्तु प्रतिकूलताके भयवश सहन करनेका राग हुआ इसीलिये वह यथार्थ क्षमा नही है, धर्म नही है।

(२) यदि मै क्षमा करू तो दूसरी तरफसे मुझे नुकसान न हो किंतु लाभ हो—ऐसे भावसे सेठ आदिके उलाहनेको सहन करे, प्रत्यक्षमे क्रोध न करे, किन्तु यह यथार्थ क्षमा नही है, धर्म नही है।

(३) यदि मै क्षमा करू तो कर्मबंधन रुक जायगा, क्रोध करनेसे नीच गतिमे जाना पडेगा इसलिये क्रोध न करू—ऐसे भावसे क्षमा करे किन्तु यह भी सच्ची क्षमा नही है, यह धर्म नही है, क्योकि उसमे भय है, किन्तु नित्य ज्ञातास्वरूप की निर्भयता-निसदेहता नही है।

(४) ऐसी वीतरागकी आज्ञा है कि क्रोधादि नही करना, इसी प्रकार शास्त्रमे कहा है, इसलिये मुझे क्षमा रखना चाहिये, जिससे मुझे पाप नही लगेगा और लाभ होगा—ऐसे भावसे शुभ परिणाम रखे और उसे

वीतरागकी आज्ञा माने किन्तु यह यथार्थ क्षमा नही है, क्योकि यह पराधीन क्षमा है, यह धर्म नही है।

(५) 'सच्ची क्षमा' अर्थात् 'उत्तम क्षमा' का स्वरूप यह है कि आत्मा अविनाशी, अबंध, निर्मल ज्ञायक ही है, इसके स्वभावमे शुभाशुभ परिणाम का कर्तृत्व भी नही है। स्वय जैसा है वैसा स्व को जानकर, मानकर उसमे ज्ञाता रहना—स्थिर होना सो वीतरागकी आज्ञा है और यह धर्म है। यह पाचवी क्षमा क्रोधमे युक्त न होना, क्रोधका भी ज्ञाता ऐसा सहज अकषाय क्षमा स्वरूप निज स्वभाव है। इसप्रकार निर्मल विवेककी जागृति द्वारा शुद्धस्वरूपमे सावधान रहना सो उत्तम क्षमा है।

नोट—जैसे क्षमाके पाच भेद बतलाये तथा उसके पाचवे प्रकारको उत्तम क्षमाधर्म बतलाया, उसी प्रकार मार्दव, आर्जव, आदि सभी धर्मोंमे ये पाचो प्रकार समझना और उन प्रत्येकमे पाचवा भेद ही धर्म है ऐसा समझना।

६—क्षमाके शुभ विकल्पका मैं कर्ता नही हूँ ऐसा समझकर राग-द्वेषसे छूटकर स्वरूपकी सावधानी करना सो स्व की क्षमा है स्व सन्मुखता के अनुसार रागादिकी उत्पत्ति न हो वही क्षमा है। 'क्षमा करना, सरलता रखना' ऐसा निमित्तकी भाषामें बोला तथा लिखा जाता है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा समझना कि शुभ या शुद्ध परिणाम करनेका विकल्प करना सो भी सहज स्वभावरूप क्षमा नही है। 'मैं सरलता रखू, क्षमा करू' ऐसा भगरूप विकल्प राग है, क्षमा धर्म नही है, क्योकि यह पुण्य परिणाम भी बंधभाव है, इससे अबध अरागी मोक्षमार्गरूप धर्म नही होता और पुण्यसे मोक्षमार्गमे लाभ-या पुष्टि हो ऐसा भी नही है ॥ ६ ॥

दूसरे सूत्रमे कहे गये सवर के छह कारणोमेसे पहले तीन कारणोका वर्णन पूर्ण हुआ। अब चौथा कारण बारह अनुप्रेक्षा हैं, उनका वर्णन करते हैं।

बारह अनुप्रेक्षा

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा–

लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अर्थ—[अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनं] अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारहके स्वरूप का बारम्बार चितवन करना सो [अनुप्रेक्षाः] अनुप्रेक्षा है।

टीका

१—कुछ लोग ऐसा मानते है कि अनित्यादि चितवनसे शरीरादिको बुरा जान—हितकारी न जान उससे उदास होना सो अनुप्रेक्षा है, किन्तु यह ठीक नही है, यह तो जैसे पहले कोई मित्र था तब उसके प्रति राग था और बादमे उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ उसी प्रकार पहले शरीरादिकसे राग था किन्तु बादमे उसके अनित्यत्व आदि अवगुण देखकर उदासीन हुआ, इसकी यह उदासीनता द्वेषरूप है, यह यथार्थ अनुप्रेक्षा नही है। (मो० प्र०)

प्रश्न— तो यथार्थ अनुप्रेक्षाका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जैसा स्व का—आत्माका और शरीरादिकका स्वभाव है वैसा पहचान कर भ्रम छोडना और इस शरीरादिकको भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना, ऐसी यथार्थ उदासीनताके लिये अनित्यत्व आदिका यथार्थ चितवन करना सो ही वास्तविक अनुप्रेक्षा है। उसमे जितनी वीतरागता बढती है उतना सवर है और जो राग रहता है वह बध का कारण है। यह अनुप्रेक्षा सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि यही सम्यक् अनुप्रेक्षा बतलाई है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है कि आत्माको अनुसरण कर इसे देखना।

२—जैसे अग्निसे तपाया गया लोहेका पिंड तन्मय (अग्निमय) हो जाता है उसी प्रकार जब आत्मा क्षमादिकमे तन्मय हो जाता है तब क्रोधादिक उत्पन्न नही होते। उस स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये स्व सन्मुखतापूर्वक अनित्य आदि बारह भावनाओका वारम्बार चितवन करना जरूरी है। वे बारह भावनाये आचार्यदेवने इस सूत्रमे बतलाई है।

३—बारह भावनाओंका स्वरूप

(१) **अनित्यानुप्रेक्षा**—दृश्यमान, सयोगी ऐसे शरीरादि समस्त पदार्थ इन्द्रधनुप, बिजली अथवा पानीके बुदबुदेके समान शीघ्र नाश होजाते हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्य अनुप्रेक्षा है।

शुद्ध निश्चयसे आत्माका स्वरूप देव, असुर और मनुष्यके वैभवादिकसे रहित है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी सदा शाश्वत है और सयोगी भाव अनित्य है—ऐसा चिंतवन करना सो अनित्य भावना है।

(२) **अशरणानुप्रेक्षा**—जैसे निर्जन वनमे भूखे सिंहके द्वारा पकडे हुये हिरणके बच्चेको कोई शरण नही है, उसी प्रकार ससारमे जीवको कोई शरणभूत नही है। यदि जीव स्वय स्व के शरणरूप स्वभावको पहिचानकर शुद्धभावसे धर्मका सेवन करे तो वह सभी प्रकारके दु खसे बच सकता है, अन्यथा वह प्रतिसमय भावमरणसे दु खी है—ऐसा चिंतवन करना सो अशरण अनुप्रेक्षा है।

आत्मामे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यक्-तप—रहते हैं इससे आत्मा ही शरणभूत है और इनसे पर ऐसे सब अशरण है—ऐसा चिंतवन करना वह अशरण भावना है।

(३) **संसारानुप्रेक्षा**—इस चतुर्गतिरूप ससारमे भ्रमण करता हुआ जीव जिसका पिता था उसीका पुत्र, जिसका पुत्र था उसीका पिता, जिसका स्वामी था उसीका दास, जिसका दास था उसीका स्वामी हो जाता है अथवा वह स्वय स्व का ही पुत्र हो जाता है, स्त्री, धन, देहादिकको अपना संसार मानना भूल है, जड कर्म जीवको ससारमे रुलानेवाला नही है। इत्यादि प्रकार से ससारके स्वरूपका और उसके कारणरूप विकारी भावो के स्वरूपका विचार करना सो ससार अनुप्रेक्षा है।

यद्यपि आत्मा अपनी भूलसे अपनेमे राग—द्वेष—अज्ञानरूप मलिन भावोंको उत्पन्न करके ससाररूप घोर वनमे भटका करती है—तथापि निश्चय नयमे आत्मा—विकारी भावोसे और कर्मोंसे रहित है—ऐसा चितवन करना सो ससार भावना है।

(४) **एकत्वानुप्रेक्षा**—जीवन, मरण–ससार और मोक्ष आदि दशाओ मे जीव स्वय अकेला ही है, स्वय स्व से ही विकार करता है, स्वय स्व से ही धर्म करता है, स्वय स्व से ही सुखी-दु खी होता है। जीवमे पर द्रव्योका अभाव है इसलिये कर्म या पर द्रव्य पर क्षेत्र, पर कालादि जीवको कुछ भी लाभ या हानि नही कर सकते–ऐसा चिंतवन करना सो एकत्व अनुप्रेक्षा है।

मै एक हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षणवाला हूँ, कोई अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नही है, शुद्ध एकत्व ही उपादेय है ऐसा चिंतवन करना सो एकत्व भावना है।

(५) **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—प्रत्येक आत्मा और सर्व पदार्थ सदा भिन्न-भिन्न है, वे प्रत्येक अपना-अपना कार्य करते है। जीव पर पदार्थोका कुछ कर नही सकते और पर पदार्थ जीवका कुछ कर नही सकते। जीवके विकारी भाव भी जीवके त्रिकालिक स्वभावसे भिन्न है, क्योकि वे जीवसे अलग हो जाते है। विकारी भाव चाहे तीव्र हो या मद तथापि उससे आत्माको लाभ नही होता। आत्माको परद्रव्योसे और विकारसे पृथकत्व है ऐसे तत्त्वज्ञानकी भावना पूर्वक वैराग्यकी वृद्धि होनेसे अन्तमे मोक्ष होता है—इस प्रकार चिंतवन करना सो अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है और जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य हैं वे सब आत्मासे भिन्न है। परद्रव्य छेदा जाय या भेदा जाय, या कोई ले जाय अथवा नष्ट हो जाय अथवा चाहे वैसा ही रहे किंतु परद्रव्यका परिग्रह मेरा नही है—ऐसा चिंतवन करना सो अन्यत्व भावना है।

(६) **अशुचित्व अनुप्रेक्षा**—शरीर स्वभावसे ही अशुचिमय है और जीव (-आत्मा) स्वभावसे ही शुचिमय (शुद्ध स्वरूप) है, शरीर रुधिर, मास, मल आदिसे भरा हुआ है, वह कभी पवित्र नही हो सकता, इत्यादि प्रकारसे आत्माकी शुद्धताका और शरीरकी अशुद्धताका ज्ञान करके शरीरका ममत्व तथा राग छोडना और निज आत्माके लक्षसे शुद्धिको बढाना।

शरीरके प्रति द्वेष करना अनुप्रेक्षा नही है किंतु शरीरके प्रति इष्ट अनिष्टपने की मान्यता और राग द्वेष दूर करना और आत्माके पवित्र स्वभावकी तरफ लक्ष करने से तथा सम्यग्दर्शनादिककी भावनाके द्वारा आत्मा अत्यन्त पवित्र होता है—ऐसा बारम्बार चितवन करना सो अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा देहसे भिन्न, कर्म रहित, अनन्त सुखका पवित्र स्थान है। इसकी नित्य भावना करना और विकारी भाव अनित्य, दुखरूप, अशुचिमय हैं ऐसा जानकर उससे विमुख हो जानेकी भावना करना सो अशुचिभावना है।

(७) **आस्रव अनुप्रेक्षा**—मिथ्यात्व और रागद्वेषरूप अपने अपराधसे प्रति समय नवीन विकारीभाव उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व मुख्य आस्रव है क्योंकि यह ससारकी जड है, इसलिये इसका स्वरूप जानकर उसे छोडनेका चितवन करना सो आस्रव भावना है।

मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव के भेद कहे हैं वे आस्रव निश्चय नयसे जीवके नही है। द्रव्य और भाव दोनो प्रकारके आस्रवरहित शुद्ध आत्मा का चितवन करना सो आस्रव भावना है।

(८) **संवर अनुप्रेक्षा**—मिथ्यात्व और रागद्वेषरूप भावोका रुकना सो भावसवर है, उससे नवीन कर्मका आना रुक जाय सो द्रव्यसवर है। प्रथम तो आत्माके शुद्ध स्वरूपके लक्षसे मिथ्यात्व और उसके सहचारी अनन्तानुबधी कषायका सवर होता है, सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव सवर है और इससे आत्माका कल्याण होता है ऐसा चितवन करना सो सवर अनुप्रेक्षा है।

परमार्थ नयविमुक्त से आत्मामे सवर ही नही है, इसीलिये सवर भाव विमुक्त शुद्ध आत्मा का नित्य चितवन करना सो सवर भावना है।

निर्जरा अनुप्रेक्षा—अज्ञानी के सविपाक निर्जरासे आत्मा का कुछ भी भला नही होता, किंतु आत्माका स्वरूप जानकर उसके त्रिकाली स्वभावके आलवनके द्वारा शुद्धता प्रगट करनेसे जो निर्जरा होती है उससे आत्मा

का कल्याण होता है—इत्यादि प्रकारसे निर्जराके स्वरूपका विचार करना सो निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

स्वकाल पक्व निर्जरा (सविपाक निर्जरा) चारो गतिवालोके होती है किंतु तपकृत निर्जरा (अविपाक निर्जरा) सम्यग्दर्शन पूर्वक व्रतधारियो के ही होती है ऐसा चिंतवन करना सो निर्जरा भावना है।

(१०) **लोक अनुप्रेक्षा**—लोकालोकरूप अनन्त आकाशके मध्यमे चौदह राजू प्रमाण लोक है। इसके आकार तथा उसके साथ जीवका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध विचारना और परमार्थकी अपेक्षा से आत्मा स्वय ही स्व का लोक है इसलिये स्वय स्व को ही देखना लाभदायक है, आत्मा की अपेक्षासे परवस्तु उसका अलोक है, इसलिये आत्माको उसकी तरफ लक्ष करनेकी आवश्यकता नही है। स्व के आत्म स्वरूप लोकमे (देखने जाननेरूप स्वभाव मे) स्थिर होनेसे परवस्तुएँ ज्ञानमे सहज रूपसे जानी जाती है—ऐसा चितवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है, इससे तत्त्वज्ञान की शुद्धि होती है।

आत्मा निजके अशुभभावसे नरक तथा तिर्यंच गति प्राप्त करता है, शुभभावसे देव तथा मनुष्यगति पाता है और शुद्ध भावसे मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा चितवन करना सो लोक भावना है।

(११) **बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा**—रत्नत्रयरूप बोधि प्राप्त करनेमे महान् पुरुषार्थकी जरूरत है, इसलिये इसका पुरुपार्थ बढाना और उसका चिंतवन करना सो बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे ज्ञानमे हेय और उपादेयपनका भी विकल्प नही है इसलिये मुनिजनोके द्वारा ससारसे विरक्त होनेके लिये चिंतवन करना सो बोधिदुर्लभ भावना है।

(१२) **धर्मानुप्रेक्षा**—सम्यक् धर्मके यथार्थ तत्त्वोका वारम्वार चिंतवन करना, धर्म वस्तुका स्वभाव है, आत्माका शुद्ध स्वभाव ही स्व का—आत्मा का धर्म है तथा आत्माके सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप धर्म अथवा दश लक्षणरूप धर्म अथवा स्वरूपकी हिसा नही करनेरूप अहिसाधर्म,

वही धर्म आत्मा को इष्ट स्थानमें (सम्पूर्ण पवित्र दशामे) पहुँचाता है, धर्म ही परम रसायन है। धर्म ही चिंतामणि रत्न है, धर्म ही कल्पवृक्ष—कामधेनु है और धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही बन्धु, हितु, रक्षक और साथ रहने वाला है, धर्म ही शरण है, धर्म ही धन है, धर्म ही अविनाशी है, धर्म ही सहायक है, और यही धर्मका जिनेश्वर भगवानने उपदेश किया है—इस प्रकार चिंतवन करना सो धर्म अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे आत्मा श्रावकधर्म या मुनिधर्मसे भिन्न है, इसलिये माध्यस्थभाव अर्थात् रागद्वेष रहित निर्मल भावद्वारा शुद्धात्माका चिंतवन करना सो धर्म भावना है। (श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा)

ये वारह भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं। धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही है, इसमें भेद नही होता। जहा राग हो वहा भेद होता है।

४—ये वारह भावना ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि है, इसलिये निरन्तर अनुप्रेक्षाका चिंतवन करना चाहिये। (भावना और अनुप्रेक्षा ये दोनो एकार्थ वाचक हैं)

५—इन अनुप्रेक्षाओका चिंतवन करनेवाले जीव उत्तम क्षमादि धर्म पालते हैं और परीषहोको जीतते हैं इसीलिये इनका कथन दोनोके वीचमे किया गया है॥ ७॥

दूसरे सूत्रमे कहे हुये सवरके छह कारणोमेसे पहले चार कारणोका वर्णन पूर्ण हुआ। अव पाचवे कारण परीषह जयका वर्णन करते हैं।

परीषह सहन करनेका उपदेश

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः॥ ८॥

अर्थ—[मार्गाच्यवननिर्जरार्थं] सवरके मार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी निर्जराके लिये [परीषहाः परिसोढव्याः] वावीस परीषह सहन करने योग्य है (यह संवरका प्रकरण चल रहा है, अत इस सूत्रमे कहे गये 'मार्ग' शब्दका अर्थ 'सवरका मार्ग' समझना।)

टीका

१—यहांसे लेकर सत्रहवें सूत्र तक परीषहका वर्णन है। इस विषयमे जीवोकी बडी भूल होती है, इसलिये यह भूल दूर करनेके लिये यहाँ परीपह जयका यथार्थ स्वरूप बतलाया है। इस सूत्रमे प्रथम 'मार्गाच्यवन' शब्द का प्रयोग किया है इसका अर्थ है मार्गसे च्युत न होना। जो जीव मार्गसे (सम्यग्दर्शनादिसे) च्युत हो जाय उसके सवर नही होता किंतु बध होता है, क्योंकि उसने परीषह जय नही किया किन्तु स्वय विकारसे घाता गया। अब इसके बादके सूत्र ९–१०–११ के साथ सम्बन्ध बतानेकी खास आवश्यकता है।

२—दसवे सूत्रमे कहा गया है कि–दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमे बाईस परीपहोमेसे आठ तो होती ही नही अर्थात् उनको जीतना नही है, और बाकीकी चौदह परीषह होती है उन्हे वह जीतता है अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि परीषहोसे उस गुणस्थानवर्ती जीव घाता नही जाता किंतु उनपर जय प्राप्त करता है अर्थात् उन गुणस्थानोमे भूख, प्यास आदि उत्पन्न होनेका निमित्त कारणरूप कर्मका उदय होने पर भी वे निर्मोही जीव उनमे युक्त नही होते, इसीलिये उनके क्षुधा तृषा आदि सम्बन्धी विकल्प भी नही उठता, इसप्रकार वे जीव उन परीषहो पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करते हैं। इसीसे उन गुणस्थानवर्ती जीवोके रोटी आदिका आहार औषधादिका ग्रहण तथा पानी आदि ग्रहण नही होता ऐसा नियम है।

३—परीषहके बारेमे यह बात विशेषरूपसे ध्यान रखनी चाहिये कि सक्लेश रहित भावोसे परीषहोको जीत लेनेसे ही सवर होता है। यदि दसमे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमे खाने पीने आदिका विकल्प आये तो सवर कैसे हो ? और परीषह जय हुआ कैसे कहलाये ? दसमे सूत्रमे कहा है कि चौदह परीषहोपर जय प्राप्त करनेसे ही सवर होता है। सातवे गुण-स्थान मे ही जीवके खाने पीनेका विकल्प नही उठता क्योंकि वहा निर्विकल्प दशा है, वहा बुद्धिगम्य नही ऐसे अबुद्धिपूर्वक विकल्प होता है किंतु वहा खाने पीनेके विकल्प नही होते इसलिये उन विकल्पोके साथ निमित्त–

नैमित्तिक सम्बन्ध रखने वाली आहार पानीकी क्रिया भी नही होती। तो फिर दशमे गुणस्थानमे तो कषाय बिल्कुल सूक्ष्म होगई है और ग्यारहवें तथा बारहवे गुणस्थानमे तो कषायका अभाव होनेसे निर्विकल्प दशा जम जाती है, वहा खाने पीनेका विकल्प ही कहासे हो सकता है ? खाने पीने का विकल्प और उसके साथ निमित्तरूपसे संबंध रखने वाली खाने पीनेकी क्रिया तो बुद्धिपूर्वक विकल्प दशामे ही होती है, इसीलिये वह विकल्प और क्रिया तो छट्ठे गुणस्थान तक ही हो सकती है किंतु उससे ऊपर नही होती अर्थात् सातवे आदि गुणस्थानमे नही होती। अतएव दसवे, ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानमे तो उसप्रकारका विकल्प तथा बाह्य क्रिया अशक्य है।

४—दसवे सूत्रमे कहा है कि दस-ग्यारह और बारहवे गुणस्थानमे अज्ञान परीषहका जय होता है सो अब इसके तात्पर्यका विचार करते हैं।

अज्ञानी परीषहका जय यह बतलाता है कि वहा अभी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु अपूर्ण ज्ञान है और उसके निमित्तरूप ज्ञानावरणी कर्मका उदय है। उपरोक्त गुणस्थानोमे ज्ञानावरणीका उदय होनेपर भी जीव के उस सम्बन्धी रचमात्र आकुलता नही है। दशवे गुणस्थानमे सूक्ष्म कषाय है किंतु वहा भी ऐसा विकल्प नही उठता कि 'मेरा ज्ञान न्यून है' और ग्यारहवे तथा बारहवे गुणस्थानमे तो अकषाय भाव रहता है इसीलिये वहां भी ज्ञानकी अपूर्णताका विकल्प नही हो सकता। इस तरह उनके अज्ञान (ज्ञान अपूर्णता) है तथापि उनका परीषह जय वर्तता है। इसी प्रमाणसे उन गुणस्थानोमे भोजन पानका परीषह जय सम्बन्धी सिद्धान्त भी समझना।

५—इस अध्यायके सोलहवे सूत्रमे वेदनीयके उदयसे ११ परीषह बतलाई है। उनके नाम—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल हैं।

दसवे ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानमे जीवके निज स्वभावसे ही इन ग्यारह परीषहोका जय होता है।

६—कर्मका उदय दो तरहसे होता है—प्रदेशउदय और विपाक-उदय। जब जीव विकार करता है तब उस उदयको विपाकउदय कहते है और यदि जीव विकार न करे तो उसे प्रदेशउदय कहते हैं। इस अध्याय मे सवर निर्जराका वर्णन है। यदि जीव विकार करे तो उसके न परीषह जय हो और न सवर निर्जरा हो। परीषह जयसे सवर निर्जरा होती है। दसवे-ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानमे भोजन-पानका परीपह जय कहा है, इसीलिये वहा उस सम्बन्धी विकल्प या वाह्य क्रिया नही होती।

७—परीपह जयका यह स्वरूप तेरहवे गुणस्थानमे विराजमान तीर्थंकर भगवान और सामान्य केवलियोके भी लागू होता है। इसीलिये उनके भी क्षुधा, तृषा आदि भाव उत्पन्न ही नही होते और भोजन-पानकी बाह्य क्रिया भी नही होती। यदि भोजन पानकी बाह्य क्रिया हो तो वह परीपह जय नही कहा जा सकता, परीपहजय तो सवर-निर्जराका कारण है। यदि भूख प्यास आदिके विकल्प होनेपर भी क्षुघा परीषहजय तृषा परी-पहजय आदि माना जावे तो परीषहजय संवर-निर्जराका कारण न ठहरेगा।

८—श्री नियमसार की छट्ठी गाथामे भगवान श्री कुन्दकुन्द-आचार्य ने कहा है कि—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ रोष, ५ राग, ६ मोह, ७ चिंता, ८ जरा, ९ रोग, १० मरण, ११ स्वेद-पसीना, १२ खेद, १३ मद-घमड, १४ रति, १५ विस्मय, १६ निद्रा, १७ जन्म और १८ उद्वेग ये अठारह महादोष आप्त-अर्हत वीतराग भगवानके नही होते।

९—भगवानके उपदिष्ट मार्ग से न डिगने और उस मार्गमे लगा-तार प्रवर्त्तन करनेसे कर्मका द्वार रुक जाता है और इसीसे सवर होता है, तथा पुरुषार्थके कारणसे निर्जरा होती है और उससे मोक्ष होता है, इस-लिये परीपह सहना योग्य है।

१०—परीषह जयका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

परीपह जयका स्वरूप ऊपर कहा गया है कि क्षुधादि लगने पर उस सम्बन्धी विकल्प भी न होने—न उठनेका नाम परीपह जय है। कितने

ही जीव भूख आदि लगने पर उसके नाशके उपाय न करने को परीषह सहना मानते हैं किन्तु यह मिथ्या मान्यता है। भूख प्यास आदिके दूर करने का उपाय न किया परन्तु अन्तरगमे क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेसे दुखी हुआ तथा रति आदि का कारण (इष्ट सामग्री) मिलनेसे सुखी हुआ ऐसा जो सुखदुखरूप परिणाम है वही आर्त रौद्र ध्यान है, ऐसे भावोसे सवर कैसे हो और उसे परीषहजय कैसे कहा जाय ? यदि दुःखके कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुखके कारण मिलनेसे सुखी न हो, किंतु ज्ञेयरूपसे उसका जानने वाला ही रहे तभी वह परीषह जय है। (मो० प्र०)

परीषहके बाईस भेद

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥

अर्थ [क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह है।

टीका

१—आठवे सूत्रमे आये हुये 'परिसोढव्या' शब्दका अध्याहार इस सूत्रमें समझना, इसीलिये प्रत्येक शब्दके साथ 'परिसोढव्या.' शब्द लागू करके अर्थ करना अर्थात् इस सूत्रमे कही गई २२ परीषह सहन करने योग्य है। जहा सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा हो वहाँ परीषहका सहन होता है अर्थात् परीषह सही जाती है। मुख्यरूपसे मुनि अवस्थामे परीषह जय होती है। अज्ञानीके परीषह जय होती ही नही क्योकि परीषह–जय तो सम्यग्दर्शन पूर्वक वीतराग भाव है।

२—अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परीषह सहन करना दु ख है किंतु ऐसा नही है, 'परीषह सहन करने' का अर्थ दु ख भोगना नही होता। क्योकि जिस भावसे जीवके दु ख होता है वह तो आर्तध्यान है और वह पाप है, उसीसे अशुभबंधन है और यहाँ तो सवरके कारणोका वर्णन चलरहा है। लोगोकी अपेक्षासे बाह्य सयोग चाहे प्रतिकूल हो या अनुकूल हो तथापि राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतराग भाव प्रगट करनेका नाम ही परीषह जय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन किया कहा जाता है। यदि अच्छे बुरेका विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नही कहलाता, किन्तु रागद्वेष करना कहलाता है, राग-द्वेषसे कभी सवर होता ही नही किन्तु बध ही होता है। इसलिये ऐसा समझना कि जितने अशमे वीतरागता है उतने अशमे परीषह जय है और यह परीषहजय सुख शातिरूप है। लोग परीषहजयको दु ख कहते है सो असत् मान्यता है। पुनश्च अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान और महावीर भगवान ने परीषहके बहुत दु.ख भोगे, परन्तु भगवान तो स्व के शुद्धोपयोग द्वारा आत्मानुभवमे स्थिर थे और स्वात्मानुभवके शात रसमे झूलते थे—लीन थे इसीका नाम परीषह जय है। यदि उस समय भगवानके दु ख हुआ हो तो वह द्वेष है और द्वेषसे बध होता किंतु सवर-निर्जरा नही होती। लोग जिसे प्रतिकूल मानते है ऐसे सयोगोमे भी भगवान निज स्वरूपसे च्युत नही हुये थे इसीलिये उन्हे दु ख नही हुआ किन्तु सुख हुआ और इसी से उसके सवर-निर्जरा हुई थी। यह ध्यान रहे कि वास्तवमे कोई भी सयोग अनुकूल या प्रतिकूलरूप नही है, किन्तु जीव स्वय जिस प्रकारके भाव करता है उसमे वैसा आरोप किया जाता है और इसीलिये लोग उसे अनुकूल सयोग या प्रतिकूल संयोग कहते हैं।

३—बावीस परीषह जयका स्वरूप

(१) क्षुधा—क्षुधा परीषह सहन करना योग्य है, साधुओका भोजन तो गृहस्थ पर ही निर्भर है, भोजनके लिये कोई वस्तु उनके पास नही होती, वे किसी पात्रमे भोजन नही करते किन्तु अपने हाथमे ही भोजन करते

हैं; उनके शरीरपर वस्त्रादिक भी नहीं होते, मात्र एक शरीर उपकरण है। पुनश्च अनशन, अवमौदर्य (भूखसे कम खाना) वृत्तिपरिसंख्यान (आहारको जाते हुए घर वगैरह का नियम करना) आदि तप करते हुए दो दिन, चार दिन, आठ दिन, पक्ष महीना आदि व्यतीत होजाते है, और यदि योग्य कालमें, योग्य क्षेत्रमे अतराय रहित शुद्ध निर्दोप आहार न मिले तो वे भोजन (भिक्षा) ग्रहण नही करते और चित्तमे कोई भी विपाद-दु.ख या खेद नही करते किंतु धैर्य धारण करते हैं। इस तरह क्षुधारूपी अग्नि प्रज्वलित होती है तथापि धैर्यरूपी जलसे उसे शांत कर देते हैं और राग-द्वेप नही करते ऐसे मुनियोको क्षुधा-परीपह सहनी योग्य है।

असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा हो तभी क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीय कर्मकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान पर्यंत ही होती है उससे ऊपरके गुणस्थानोमे नही होती। छट्ठे गुणस्थानमे रहनेवाले मुनिके क्षुधा उत्पन्न होती है तथापि वे आकुलता नही करते और आहार नही लेते किंतु धैर्यरूपी जलसे उस क्षुधाको शात करते हैं तव उनके परीषह जय करना कहलाता है। छट्ठे गुणस्थानमे रहनेवाले मुनिके भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय निर्दोप भोजनका योग न वने तो आहारका विकल्प तोडकर निर्विकल्प दशामे लीन हो जाते हैं तव उनके परीषह जय कहा जाता है।

(२) **तृषा**—प्यासको धैर्यरूपी जलसे शांत करना सो तृषा परीषह जय है।

(३) **शीत**—ठडको शातभावसे अर्थात् वीतरागभावसे सहन करना सो शीत परीषह जय है।

(४) **उष्ण**—गर्मीको शातभावसे सहन करना अर्थात् ज्ञानमे ज्ञेय-रूप करना सो उष्ण परीपह जय है।

(५) **दंशमशक**—डास, मच्छर, चीटी, विच्छू इत्यादिके काटनेपर शात भाव रखना सो दशमशक परीपह जय है।

(६) **नाग्न्य**—नग्न रहनेपर भी स्व मे किसी प्रकारका विकार न होने देना सो नाग्न्य परीषह जय है। प्रतिकूल प्रसंग आनेपर वस्त्रादि पहिन लेना नाग्न्य परीषह नही है किंतु यह तो मार्ग से ही च्युत होना है और परीषह तो मार्गसे च्युत न होना है।

(७) **अरति**—अरतिका कारण उपस्थित होनेपर भी सयममे अरति न करनी सो अरतिपरीषहजय है।

(८) **स्त्री**—स्त्रियोके हावभाव प्रदर्शन आदि चेष्टाको शात भावसे सहन करना अर्थात् उसे देखकर मोहित न होना सो स्त्री परीषह जय है।

(९) **चर्या**—गमन करते हुए खेद खिन्न न होना सो चर्यापरीषह जय है।

(१०) **निषद्या**— नियमित काल तक ध्यानके लिये आसनसे च्युत न होना सो निषद्यापरीषह जय है।

(११) **शय्या**—विषम, कठोर, ककरीले स्थानोमें एक करवटसे निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीरको चलायमान न करना सो शय्यापरीषहजय है।

(१२) **आक्रोश**—दुष्ट जीवो द्वारा कहे गये कठोर शब्दोको शात-भाव से सह लेना सो आक्रोशपरीषहजय है।

(१३) **वध**—तलवार आदिसे शरीर पर प्रहार करने वालेके प्रति भी क्रोध न करना सो वधपरीषहजय है।

(१४) **याचना**—अपने प्राणोका वियोग होना भी सभव हो तथापि आहारादिकी याचना न करना सो याचनापरीषहजय है।

नोटः—याचना करनेका नाम याचना परीषह जय नही है किन्तु याचना न करनेका नाम याचना परीषह जय है। जैसे अरति-द्वेष करनेका नाम अरति परीषह नही, किंतु अरति न करना सो अरति परीषह जय है, उसी तरह याचनामे भी समझना। यदि याचना करना परीषह जय हो

तो गरीब लोग आदि बहुत याचना करते हैं इसलिये उन्हें अधिक धर्म हो किंतु ऐसा नही है। कोई कहता है कि 'याचना की, उसमें मान की कमी-न्यूनता से परीषह जय कहना चाहिये' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी तरहका तीव्र कषायी कार्य के लिये यदि किसी प्रकारकी कषाय छोड़े तो भी वह पापी ही है, जैसे कोई लोभके लिये अपने अपमानको न समझे तो उसके लोभकी अतितीव्रता ही है, इसीलिये इस अपमान कराने से भी महा-पाप होता है, तथा यदि स्वयके किसी तरहकी इच्छा नहीं है और कोई स्वय अपमान करे तो उसे सहन करने वालेके महान धर्म होता है। भोजन के लोभसे याचना करके अपमान कराना सो तो पापही है, धर्म नहीं। पुनश्च वस्त्रादिकके लिये याचना करना सो पाप है, धर्म नहीं, (मुनिके तो वस्त्र होते ही नहीं) क्योंकि वस्त्रादि धर्मके अग नहीं हैं, वे तो शरीर सुखके कारण हैं, इसीलिये उनकी याचना करना याचना परीषह जय नहीं किन्तु याचना दोष है अतएव याचना का निषेध है ऐसा समझना।

याचना तो धर्मरूप उच्चपदको नीचा करती है और याचना करनेमे धर्मकी हीनता होती है।

(१५) **अलाभ**—आहारादि प्राप्त न होने पर भी अपने ज्ञाना-नन्दके अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करना सो अलाभपरीषहजय है।

(१६) **रोग**—शरीरमे अनेक रोग है तथापि शातभावसे उसे सहन कर लेना सो रोगपरीषहजय है।

(१७) **तृणस्पर्श**—चलते समय पैरमे तिनका, काटा, ककर आदि लगने या स्पर्श होने पर आकुलता न करना सो तृण स्पर्शपरीषहजय है।

(१८) **मल**—मलिन शरीर देखकर ग्लानि न करना सो मलपरी-षह जय है।

(१९) **सत्कारपुरस्कार**—जिनमे गुणोकी अधिकता है तथापि यदि कोई सत्कारपुरस्कार न करे तो चित्तमे कलुषता न करना सो सत्कार-पुरस्कार परीषह जय है। (प्रशसाका नाम सत्कार है और किसी अच्छे

कार्यमे मुखिया बनाना सो पुरस्कार है)।

(२०) प्रज्ञा—ज्ञानकी अधिकता होने पर भी मान न करना सो प्रज्ञा परीषहजय है।

(२१) अज्ञान—ज्ञानादिककी हीनता होनेपर लोगो द्वारा किये गये तिरस्कारको शांतभावसे सहन कर लेना और स्वय भी अपने ज्ञानकी न्यूनता का खेद न करना सो अज्ञानपरीषहजय है।

(२२) अदर्शन—अधिक समय तक कठोर तपश्चरण करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारण ऋद्धि आदिकी प्राप्ति न हुई इसलिये तपश्चर्या आदि धारण करना व्यर्थ है–ऐसा अश्रद्धाका भाव न होने देना सो अदर्शन परीषह जय है।

इन बावीस परीषहोको आकुलता रहित जीतनेसे सवर, निर्जरा होती है।

४–इस सूत्रका सिद्धान्त

इस सूत्रमे यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि परद्रव्य अर्थात् जड़ कर्मका उदय अथवा शरीरादि नोकर्म का सयोग–वियोग जीवके कुछ विकार नही कर सकते। उसका प्रतिपादन कई तरहसे होता है सो कहते है–

(१) भूख और प्यास ये नोकर्मरूप शरीरकी अवस्था है, यह अवस्था चाहे जैसी हो तो भी जीवके कुछ नही कर सकती। यदि जीव शरीरकी उस अवस्थाको ज्ञेयरूपसे जाने–उसमे रागादि न करे तो उसके शुद्धता प्रगट होती है और यदि उस समय राग, द्वेष करे तो अशुद्धता प्रगट होती है। यदि जीव शुद्ध अवस्था प्रगट करे तो परीषहजय कहलावे तथा संवर–निर्जरा हो और यदि अशुद्ध अवस्था प्रगट करे तो बंध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव ही शुद्ध अवस्था प्रगट कर सकता है। मिथ्यादृष्टिके शुद्ध अवस्था नही होती, इसलिये उसके परीषहजय भी नही होता।

(२) सम्यग्दृष्टियोके नीची अवस्थामे चारित्र मिश्रभावरूप होता है अर्थात् आशिक शुद्धता और आंशिक अशुद्धता होती है। जितने अंश मे शुद्धता होती है उतने अशमे सवर–निर्जरा है और वह यथार्थ चारित्र है

और जितने अंशमे अशुद्धता है उतने अंशमे बंध है। असाता वेदनीयका उदय जीवके कोई विक्रिया-विकार उत्पन्न नही करते। किसी भी कर्मका उदय शरीर तथा शब्दादि नोकर्मका प्रतिकूल संयोग जीवको विकार नही कराते। (देखो समयसार गाथा ३७२से ३८२)

(३) शीत औरउष्ण येदोनोशरीरकेसाथ सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य जड द्रव्योंकी अवस्था हैं और दंशमशक शरीरके साथ सम्बन्ध रखने वाले जीव-पुद्‌गलके संयोगरूप तिर्यंचादि जीवोके निमित्तसे हुई शरीरकी अवस्था है, यह संयोग या शरीरकी अवस्था जीवके दोप का कारण नही किंतु शरीर के प्रति स्व का ममत्व भाव ही दोपका कारण है। शरीर आदि तो पर द्रव्य हैं और वे जीवको विकार पैदा नही कर सकते अर्थात् येपरद्रव्य जीवको लाभ या नुकसान [-गुण या दोप] उत्पन्न नही कर सकते। यदि वे परद्रव्य जीवको कुछ करते हो तो जीव कभी मुक्त हो ही नही सकता।

(४) नाग्न्य अर्थात् नग्नत्व शरीरकी अवस्था है। शरीर अनन्त जड परद्रव्यका स्कंध है। एक रजकण दूसरे रजकणका कुछ कर नही सकते तथा रज कण जीवको कुछ कर नही सकते, तथापि यदि जीव विकार करे तो वह उसकी अपनी असावधानी है। यह असावधानी न होने देना सो परीपहजय है। चारित्र मोहका उदय जीवको विकार नही करा सकता क्योंकि वह भी परद्रव्य है।

(५) अरति यानि द्वेप, उनमे जीवकृत दोप चारित्र गुणकी अशुद्ध अवस्था है और द्रव्यकर्म पुद्‌गल की अवस्था है। अरतिके निमित्तरूप माने गये संयोगरूप कार्य यदि उपस्थित हो तो वे उस जीवके अरति पैदा नही करा सकते, क्योंकि वह तो पर द्रव्य है, किन्तु जब जीव स्वयं अरति करे तब चारित्र मोहनीय कर्मको विपाक उदयरूप निमित्त कहा जाता है।

(६) यही नियम स्त्री, निपद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार इन पाच परीपहोमे भी लागू होता है।

(७) जहाँ प्रज्ञा परीपह कही है वहां ऐसा समझना कि प्रज्ञा तो ज्ञान की दशा है, वह कोई दोप का कारण नही है किंतु जब जीवके ज्ञान

का अपूर्ण विकास हो तब ज्ञानावरणीयका उदय भी होता है और उस समय यदि जीव मोहमे युक्त हो तो जीवमे स्व के कारणसे विकार होता है, इसलियेयहां 'प्रज्ञा' काअर्थ मात्र 'ज्ञान' न करके 'ज्ञानमे होनेवाला मद' ऐसा करना। यहा प्रज्ञा शब्दका उपचारसे प्रयोग किया है किंतु निश्चयार्थमे वह प्रयोग नही है ऐसा समझना। दूसरी परीषहके सबध मे कही गई समस्त बातें यहा भी लागू होती हैं।

(८) ज्ञानकी अनुपस्थिति (गैरमौजूदगी) का नाम अज्ञान है, यह ज्ञानकी अनुपस्थिति किसी बधका कारण नही है किन्तु यदि जीव उस अनुपस्थितिको निमित्त बनाकर मोह करे तो जीवमे विकार होता है। अज्ञान तो ज्ञानावरणीकर्मके उदयकी उपस्थिति बतलाता है। परद्रव्य बध के कारण नही किंतु स्वके दोष-अपराध बधका कारण है। जीव जितना राग द्वेष करता है, उतना बध होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व मोह नही होता किन्तु चारित्रकी अस्थिरतासे राग द्वेष होता है। जितने अशमे राग-दूर करे उतने अशमे परीषह जय कहलाता है।

(९) अलाभ और अदर्शन परीषहमें भी उपरोक्त प्रमाणानुसार अर्थ समझना, फर्क मात्र इतना है कि अदर्शन यह दर्शनमोहनीयकी मौजूदगी बतलाती है और अलाभ अन्तराय कर्मकी उपस्थिति बतलाता है। कर्मका उदय, अदर्शन या अलाभ यह कोई बधका कारण नही है। जो अलाभ है सो परद्रव्यका वियोग (अभाव) बतलाता है, परन्तु यह जीवकेकोईविकार नही करा सकता, इसलिये यह बधका कारण नही है।

(१०) चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये छहो शरीर और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले परद्रव्योकी अवस्था है। वह मात्र वेदनीयका उदय बतलाता है, किन्तु यह किसी भी जीवके विक्रिया-विकार उत्पन्न नही कर सकता॥ ९॥

बावीस परीषहोंका वर्णन किया, उनमेंसे किस गुणस्थानमें कितनी परीषह होती हैं, यह वर्णन करते हैं:—

दशमेसे वारहवे गुणस्थान तक की परीषहे

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

अर्थ—[सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः] सूक्ष्मसापराय वाले जीवोके और छद्मस्थ वीतरागोके [चतुर्दश] १४ परीषह होती हैं।

टीका

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्म परिणामोकी तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं, वे चौदह हैं। सूक्ष्मसापराय यह दसमा गुणस्थान है और छद्मस्थ वीतरागता ग्यारहवे तथा वारहवें गुणस्थान मे होती है। इन तीन गुणस्थानो अर्थात् दसमे, ग्यारहवें और वारहवे गुणस्थानमे चौदह परीषह होती है, वे इस प्रकार हैं—

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दशमशक, ६ चर्या, ७ शय्या, ८ वध, ९ अलाभ, १० रोग, ११ तृणस्पर्श, १२ मल, १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान। इनके अतिरिक्त १ नग्नता, २ सयममे अप्रीति (अरति) ३–स्त्री अवलोकन–स्पर्श, ४–आसन (निषद्या) ५–दुर्वचन (आक्रोश) ६–याचना ७–सत्कार-पुरस्कार और ८–अदर्शन, मोहनीय कर्म जनित ये आठ परीषहे वहा नही होती।

२ प्रश्न—दसमे सूक्ष्म सापराय गुणस्थानमे तो लोभ कषायका उदय है तो फिर वहा ये आठ परीषहे क्यो नही होती।

उत्तर—सूक्ष्मसापराय गुणस्थानमे मोहका उदय अत्यन्त सूक्ष्म है—अल्प है अर्थात् नाममात्र है, इसीलिये वहा उपरोक्त १४ परीषहोका सद्भाव और वाकी की ८ परीषहोका अभाव कहा सो ठीक है, क्योकि इस गुणस्थानमे एक सज्वलन लोभ कषायका उदय है और वह भी वहुत थोडा है, कथनमात्रको है, इसलिये सूक्ष्मसापराय और वीतराग छद्मस्थकी समानता मानकर चौदह परीषह कही है, यह नियम युक्ति युक्त है।

३ प्रश्न—ग्यारहवें और वारहवे गुणस्थानमे मोहकर्मके उदयका अभाव है तथा दसमे गुणस्थानमे वह अति सूक्ष्म है, इसीलिये उन जीवोके

क्षुधा, तृषादि चौदह प्रकारकी वेदना नही होती, तो फिर ऐसा क्यो कहा कि इन गुणस्थानोमे परीषह विद्यमान है ?

उत्तर—यह तो ठीक ही है कि वहां वेदना नही है किंतु सामर्थ्य (शक्ति) की अपेक्षासे वहा चौदह परीषहो की उपस्थिति कहना ठीक है। जैसे सर्वार्थसिद्धि विमानके देवोके सातवे नरकमे जानेकी सामर्थ्य है किंतु उन देवोके वहाँ जानेका प्रयोजन नही है तथा वैसा राग भाव नही इसीलिये गमन नही है, उसी प्रकार दशवे, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमे चौदह परीषहोका कथन उपचारसे कहा है।

प्रश्न—इस सूत्रमे नय विभाग किस तरह लागू होता है ?

उत्तर—निश्चयनयसे दस, ग्यारह या बारहवे गुणस्थानमे कोई भी परीषह नही हैं, किन्तु व्यवहारनयसे वहां चौदह परीषह है, व्यवहार नय से हैं का अर्थ यह है कि यथार्थमे ऐसा नही है किन्तु निमित्तादिकको अपेक्षासे उनका उपचार किया है—ऐसा समझना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनो नयोका ग्रहण है, किन्तु दोनो नयोके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'इस रूप भी है और इस रूप भी है' अर्थात् वहां परीषह हैं यह भी ठीक है और नही भी है यह भी ठीक ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनो नयोका ग्रहण नही होता।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृ० ३६९)

साराश यह है कि वास्तवमे उन गुणस्थानोमे कोई भी परीषह नही होती, सिर्फ उस चौदह प्रकारके वेदनीय कर्मका मंद उदय है, इतना बताने के लिये उपचारसे वहां परीषह कही है किन्तु यह मानना मिथ्या है कि वहां जीव उस उदयमे युक्त होकर दुःखी होता है अथवा उसके वेदना होती है।

अब तेरहवें गुणस्थानमें परीषह बतलाते हैं:—

एकादशजिने ॥११॥

अर्थ—[जिने] तेरहवे गुणस्थानमे जिनेन्द्रदेवके [एकादश] ऊपर बतलाई गई चौदहमेसे अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान इन तीनको छोड़कर बाकीकी ग्यारह परीषह होती हैं।

टीका

१—यद्यपि मोहनीयकर्मका उदय न होनेसे भगवानके क्षुधादिककी वेदना नहीं होती, इसीलिये उनके परीषह भी नहीं होती, तथापि उन परीषहों के निमित्तकारणरूप वेदनीय कर्मका उदय विद्यमान है अतः वहा भी उपचार से ग्यारह परीषह कही हैं। वास्तवमे उनके एक भी परीषह नही है।

२ प्रश्न—यद्यपि मोहकर्मके उदयकी सहायताके अभावमे भगवान के क्षुधा आदिकी वेदना नही है तथापि यहा वह परीषह क्यो कही है?

उत्तर—यह तो ठीक है कि भगवानके क्षुधादिकी वेदना नही है किन्तु मोहकर्म जनित वेदनाके न होने पर भी द्रव्यकर्मकी विद्यमानता बतानेके लिये वहा उपचारसे परीषह कही गई हैं। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण कर्मके नष्ट होनेसे युगपत् समस्त वस्तुओके जाननेवाले केवलज्ञानके प्रभावसे उनके चिंता का निरोधरूप ध्यान सम्भव नही है तथापि ध्यानका फल जो अवशिष्ट कर्मोकी निर्जरा है उसकी सत्ता बतानेके लिये वहा उपचारसे ध्यान बतलाया है उसी प्रकार यहा ये परीषह भी उपचार से बतलाई हैं। प्रवचनसार गाथा १९८ मे कहा है कि भगवान परमसुख को ध्याते है।

३ प्रश्न—इस सूत्रमें नय विभाग किस तरहसे लागू होता है?

उत्तर—तेरहवें गुणस्थानमे ग्यारह परीषह कहना सो व्यवहार नय है। व्यवहार नयका अर्थ करनेका तरीका यों है कि 'वास्तवमे ऐसा नही है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे वह उपचार किया है,' निश्चयनयसे केवलज्ञानी के तेरहवे गुणस्थानमें परीषह नही होती।

प्रश्न—व्यवहारनय का क्या दृष्टांत है और वह यहाँ कैसे लागू होता है।

उत्तर—'घी का घड़ा' यह व्यवहार नयका कथन है, इसका ऐसा अर्थ है कि 'जो घडा है सो मिट्टीरूप है, घीरूप नही है' (देखो श्री समय-

सार गाथा ६७ टीका तथा कलश ४०), उसी प्रकार 'जिनेन्द्रदेवके ग्यारह परीषह हैं' यह व्यवहार-नय कथन है, इसका अर्थ इस प्रकार है कि 'जिन अनन्त पुरुपार्थ रूप हैं, परीषहके दु खरूप नही, मात्र निमित्तरूप परद्रव्यकी उपस्थितिका ज्ञान करानेके लिये ऐसा कथन किया है कि 'परीषह हैं' परंतु इस कथनसे ऐसा नही समझना कि वीतरागके दु ख या वेदना है। यदि उस कथन का ऐसा अर्थ माना जावे कि वीतरागके दु ख या वेदना है तो व्यवहार नयके कथनका अर्थ निश्चय नयके कथनके अनुसार ही किया, और ऐसा अर्थ करना बडी भूल है—अज्ञान है।

(देखो समयसार गाथा ३२४ से ३२७ टीका)

प्रश्न—इस शास्त्रमे, इस सूत्रमे जो ऐसा कथन किया कि 'जिन भगवानके ग्यारह परीषह है, सो व्यवहार नय के कथन निमित्त बताने के लिये है, ऐसा कहा, तो इस सम्बन्धी निश्चय नयका कथन किस शास्त्रमे है ?

उत्तर—श्री नियमसारजी गाथा ६ मे कहा है कि वीतराग भगवान तेरहवे गुणस्थानमे हो तब उनके अठारह महादोष नही होते। वे दोष इस प्रकार हैं—१ क्षुधा, २—तृषा, ३—भय, ४—क्रोध, ५—राग, ६—मोह, ७—चिंता, ८—जरा, ९—रोग, १०—मृत्यु, ११—पसीना, १२—खेद, १३—मद, १४—रति, १५—आश्चर्य, १६—निद्रा, १७—जन्म, और १८—आकुलता।

यह निश्चयनयका कथन है और यह यथार्थ स्वरूप है।

४. केवली भगवानके आहार नहीं होता, इस सम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण

(१) यदि ऐसा माना जाय कि इस सूत्रमे कही गई परीषहोकी वेदना वास्तवमें भगवानके होती है तो बहुत दोष आते हैं। यदि क्षुधादिक दोष हो तो आकुलता हो और यदि आकुलता हो तो फिर भगवानके अनंत सुख कैसे हो सकता है ? हा यदि कोई ऐसा कहे कि शरीरमे भूख लगती है इसी लिये आहार लेता है किन्तु आत्मा तद्रूप नही होता। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि आत्मा तद्रूप नही होता तो फिर ऐसा क्यो कहते हो कि क्षुधादिक दूर करनेके उपायरूप आहारादिकका ग्रहण किया ? क्षुधादिकके द्वारा पीडित होनेवाला ही आहार ग्रहण करता है। पुनश्च

यदि ऐसा माना जाय कि जैसे कर्मोदयसे विहार होता है वैसे ही आहार ग्रहण भी होता है सो यह भी यथार्थ नही है क्योकि विहार तो विहायोगति नामक नामकर्मके उदयसे होता है, तथा वह पीडाका कारण नही है और बिना इच्छाके भी किसी जीवके विहार होता देखा जाता है परन्तु आहार ग्रहण तो प्रकृतिके उदयसे नही किन्तु जब क्षुधादिकके द्वारा पीडित हो तभी जीव आहार ग्रहण करता है। पुनश्च आत्मा पवन आदिकको प्रेरित करनेका भाव करे तभी आहारका निगलना होता है, इसीलिये विहारके समान आहार सम्भव नही होता। अर्थात् केवली भगवानके विहार तो सम्भव है किंतु आहार सम्भव नही है।

(३) यदि यो कहा जाय कि केवलीभगवानके सातावेदनीय कर्मके उदयसे आहारका ग्रहण होता है सो भी नही बनता, क्योकि जो जीव क्षुधादिकके द्वारा पीडित हो और आहारादिकके ग्रहणसे सुख माने उसके आहारादि साताके उदयसे हुये कहे जा सकते हैं, साता वेदनीयके उदयसे आहारादिकका ग्रहण स्वय तो होता नही, क्योकि यदि ऐसा हो तो देवोके तो साता वेदनीयका उदय मुख्यरूपसे रहता है तथापि वे निरन्तर आहार क्यो नही करते? पुनश्च महामुनि उपवासादि करते हैं उनके साताका भी उदय होता है तथापि आहारका ग्रहण नही और निरन्तर भोजन करने वालेके भी असाताका उदय सम्भव है। इसलिये केवली भगवानके बिना इच्छाके भी जैसे विहायोगतिके उदयसे विहार सम्भव है वैसे ही बिना इच्छाके केवल सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही आहार ग्रहण सम्भव नही होता।

(४) पुनश्च कोई यह कहे कि—सिद्धांतमे केवलीके क्षुधादिक ग्यारह परीषह कही हैं इसीलिये उनके क्षुधाका सद्भाव सम्भव है और वह क्षुधा आहारके बिना कैसे शात हो सकती है इसलिये उनके आहारादिक भी मानना चाहिये—इसका समाधान—कर्म प्रकृतियोका उदय मद-तीव्र भेद सहित होता है। वह अति मन्द होने पर उसके उदय जनित कार्यकी व्यक्तता मालूम नही होती इसीलिये मुख्यरूपसे उसका अभाव कहा जाता है, किन्तु तारतम्यरूपसे उसका सद्भाव कहा जाता है। जैसे नवमे गुण-

स्थानमे वेदादिकका मंद उदय है वहा मैथुनादिक क्रिया व्यक्त नही है, इसीलिये वहा ब्रह्मचर्य ही कहा है तथापि वहा तारतम्यतासे मैथुनादिकका सद्भाव कहा जाता है। उसीप्रकार केवली भगवानके असाताका अति मद उदय है, उसके उदय मे ऐसी भूख नहीं होती कि जो शरीरको क्षीण करे; पुनश्च मोहके अभावसे क्षुधाजनित दु ख भी नही है और इसीलिये आहार ग्रहण करना भी नही है। अत केवली भगवानके क्षुधादिकका अभाव ही है किन्तु मात्र उदयकी अपेक्षासे तारतम्यतासे उसका सद्भाव कहा जाता है।

(४) **शंका**—केवली भगवानके आहारादिकके विना भूख (-क्षुधा) की शाति कैसे होती है ?

उत्तर—केवलीके असाताका उदय अत्यत मद है, यदि ऐसी भूख लगे कि आहारादिकके द्वारा ही शांत हो तो मद उदय कहाँ रहा ? देव, भोगभूमिया आदिके असाताका किंचित् मद उदय है तथापि उनके बहुत समयके वाद किंचित् हीआहार ग्रहणहोता है तो फिर केवलीके तो असाता का उदय अत्यंत हीमद हैइसीलिये उनकेआहारकाअभावही है। असाताका तीव्र उदय हो और मोहके द्वारा उसमे युक्त हो तो हीआहार हो सकताहै।

(५) **शंका**—देवो तथा भोगभूमियोका शरीर ही ऐसा है कि उसके अधिक समयके बाद थोडी भूख लगती है, किन्तु केवली भगवानका शरीर तो कर्मभूमिका औदारिक शरीर है, इसीलिये उनका शरीर विना आहारके उत्कृष्ट रूपसे कुछ कम एक कोटी पूर्व तक कैसे रह सकता है ?

समाधान—देवादिकोका शरीर भी कर्मके ही निमित्तसे है। यहाँ केवली भगवानके शरीरमे पहले केश-नख बढते थे, छाया होती थी और निगोदिया जीव रहते थे, किंतु केवलज्ञान होनेपर अब केश-नख नही वढते, छाया नही होती और निगोदिया जीव नही होते। इसतरह अनेक प्रकारसे शरीरकी अवस्था अन्यथा हुई, उसीप्रकार विना आहारके भी शरीर जैसा का तसा बना रहे—ऐसी अवस्था भी हुई।

प्रत्यक्षमे देखो ! अन्य जीवोके वृद्धत्व आने पर शरीर शिथिल हो जाता है, परन्तु केवलो भगवानके तो आयुके अंत तक भी शरीर शिथिल

नही होता।—इसीलिये अन्य मनुष्योंके शरीरके और केवली भगवानके शरीरके समानता संभव नही।

(६) शंका—देव आदिके तो आहार ही ऐसा है कि अधिक समय भूख मिट जाय, किन्तु केवली भगवानके बिना आहारके शरीर कैसे पुष्ट रह सकता है?

समाधान—भगवानके असाताका उदय अति मंद होता है तथा प्रति समय परम औदारिक शरीर वर्गणाओंका ग्रहण होता है। इसीलिये ऐसी नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण होता है कि जिनसे उनके क्षुधादिककी उत्पत्ति ही नही होती और न शरीर शिथिल होता है।

(७) पुनश्च अन्न आदिका आहार ही शरीरकी पुष्टताका कारण नही है। प्रत्यक्षमे देखो कि कोई थोडा आहार करता है तथापि शरीर अधिक पुष्ट होता है और कोई अधिक आहार करता है तथापि शरीर क्षीण रहता है।

पवनादिकका साधन करनेवाले अर्थात् प्राणायाम करनेवाले अधिक कालतक आहार नही लेते तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है और ऋद्धिधारी मुनि बहुत उपवास करते हैं तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है। तो फिर केवली भगवानके तो सर्वोत्कृष्टता है अर्थात् उनके अन्नादिकके विना भी शरीर पुष्ट बना रहता है इसमे आश्चर्य ही क्या है?

(८) पुनश्च केवलीभगवान आहारके लिये कैसे जांय तथा किस तरह याचना करें? वे जब आहारके लिये जाय तब समवशरण खाली क्यो रहे? अथवा यदि ऐसा माने कि कोई अन्य उनको आहार लाकर दे तो उनके अभिप्रायकी बातको कौन जानेगा? और पहले उपवासादिक की प्रतिज्ञा की थी उसका निर्वाह किसतरह होगा, पुनश्च प्राणियोका घातादि जीव-अंतराय सर्वत्र मालूम होता है वहाँ आहार किस तरह करे? इसलिये केवलीके आहार मानना सो विरुद्धता है।

(९) पुनश्च कोई यो कहे कि 'वे आहार ग्रहण करते हैं परन्तु किसीको दिखाई नही देता ऐसा अतिशय है' सो यह भी असत् है, क्योकि

आहार ग्रहण तो निंद्य हुआ, यदि ऐसा अतिशय भी माने कि उन्हे कोई नही देखता तो भी आहार ग्रहणका निंद्यपन रहता है। पुनश्च भगवानके पुण्यके कारणसे दूसरेके ज्ञानका क्षयोपशम (-विकास) किस तरह आवृत हो जाता है ? इसलिये भगवानके आहार मानना और दूसरा न देखे ऐसा अतिशय मानना ये दोनो बाते न्याय विरुद्ध हैं।

५. कर्म सिद्धांतके अनुसार केवलीके अन्नाहार होता ही नहीं

(१) जब असाता वेदनीयकी उदीरणा हो तव क्षुधा–भूख उत्पन्न होती है–लगती है, इस वेदनीयकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, इससे ऊपर नही। अतएव वेदनीयकी उदीरणाके विना केवलीके क्षुधादि की बाधा कहा से हो ?

(२) जैसे निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणी प्रकृतिका उदय वारहवे गुणस्थान पर्यंत है परन्तु उदीरणा विना निद्रा नही व्यापती–अर्थात् निद्रा नही आती। पुनश्च यदि निद्रा कर्मके उदयसे ही ऊपरके गुणस्थानो मे निद्रा आजाय तो वहाँ प्रमाद हो और ध्यानका अभाव हो जाय। यद्यपि निद्रा, प्रचलाका उदय बारहवे गुणस्थान तक है तथापि अप्रमत्तदशामे मंदउदय होनेसे निद्रा नही व्यापती (-नही रहती)। पुनश्च सज्वलनका मंद उदय होनेसे अप्रमत्त गुणस्थानोमे प्रमादका अभाव है, क्योंकि प्रमाद तो सज्वलनके तीव्र उदयमे ही होता है। ससारी जीवके वेदके तीव्र उदय मे युक्त होने से मैथुन सज्ञा होती है और वेदका उदय नवमे गुणस्थान तक है, परन्तु श्रेणी चढे हुए सयमी मुनिके वेद नोकपायका मद उदय होनेसे मैथुन संज्ञाका अभाव है, उदयमात्रसे मैथुन की वाच्छा उत्पन्न नही होती।

(३) केवली भगवानके वेदनीयका अति मद उदय है, इसीसे क्षुधादिक उत्पन्न नही होते, शक्तिरहित असाता वेदनीय केवलीके क्षुधादिकके लिये निमित्तताके योग्य नही है। जैसे स्वयभूरमण समुद्रके समस्त जलमे अनन्तवे भाग जहरकी कणी उस पानीको विषरूप होनेके लिये योग्य निमित्त नही है, उसीप्रकार अनन्तगुण अनुभागवाले सातावेदनीयके उदय-सहित केवली भगवानके अनन्तवे भागमे जिसका असख्यातवार खड होगया है ऐसा असाता वेदनीय कर्म क्षुधादिक की वेदना उत्पन्न नही कर सकता।

(४) अशुभ कर्म प्रकृतियोकी विष, हलाहलरूप जो शक्ति है उसका अध प्रवृत्तकरणमे अभाव हो जाता है और निम्ब (नीम) कांजीरूप रस रह जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमे गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसक्रमण, स्थिति-काडोत्किर्ण और अनुभाग काडोत्किर्ण ये चार आवश्यक होते हैं, इसीलिये केवली भगवानके असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियोका रस असंख्यात वार घट कर अनतानंतमे भाग रह गया है, इसीकारण असातामे सामर्थ्य कहाँ रही है जिससे केवली भगवानके क्षुधादिक उत्पन्न करनेमें निमित्त होता ? (अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ४४६ द्वितीयावृत्ति)

६. सू० १०-११ का सिद्धांत और ८ वें सूत्रके साथ उसका संबंध

यदि वेदनीय कर्मका उदय हो किंतु मोहनीय कर्मका उदय न हो तो जीवके विकार नही होता (सूत्र ११) क्योकि जीवके अनन्तवीर्य प्रगट हो चुका है।

वेदनीय कर्मका उदय हो और यदि मोहनीय कर्मका मद उदय हो ता वह भी विकारका निमित्त नही होता (सूत्र १०) क्योकि वहाँ जीव के अधिक पुरुषार्थ प्रगट होगया है।

दशवे गुणस्थानसे लेकर १३ वे गुणस्थान तकके जीवोके पूर्णपरीषहजय होता है और इसीलिये उनके विकार नही होता। यदि उत्तम गुणस्थानवाले परीषहजय नही कर सकते तो फिर आठवे सूत्रका यह उपदेश व्यर्थ हो जायगा कि 'सवरके मार्गसे च्युत न होने और निर्जराके लिये परीषह सहन करना योग्य है।' दशमें तथा ग्यारहवे सूत्रमे उत्तम गुणस्थानोमे जो परीषह कही हैं वे उपचारसे हैं निश्चयसे नही, ऐसा समझना ॥ ११ ॥

छट्ठे से नवमें गुणस्थान तककी परीषह

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ—[बादरसांपराये] बादरसापराय अर्थात् स्थूलकषायवाले जीवोके [सर्वे] सर्व परीषह होती हैं।

टीका

१—छट्ठे से नवमे गुणस्थानको बादरसापराय कहते हैं। इन गुणस्थानो मे परीषहके कारणभूत सभी कर्मोंका उदय है, किंतु जीव जितने अंशमे उनमे युक्त नही होता उतने अंशमे (आठवे सूत्रके अनुसार) परीषहजय करता है।

२—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि इन तीन सयमोमे से किसी एकमे समस्त परीषहे सभव है ॥ १२ ॥

इस तरह यह वर्णन किया कि किस गुणस्थानमे कितनी परीषह जय होती है। अब किस किस कर्मके उदयसे कौन कौन परीषह होती है सो बतलाते हैं—

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ—[**ज्ञानावरणे**] ज्ञानावरणीयके उदयसे [**प्रज्ञाऽज्ञाने**] प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषहे होती हैं।

टीका

प्रज्ञा आत्माका गुण है, वह परीषहका कारण नही होता, किन्तु ज्ञान का विकास हो और उसके मदजनित परीषह हो तो उस समय ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है। यदि ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मके उदयमे लगे—जुडे तो उसके अनित्य मद आ जाता है, किन्तु ज्ञानी जीव पुरुषार्थ पूर्वक जितने अंशमे उसमे युक्त न हो उतने अंशमे उनके परीषह जय होता है। (देखो सूत्र ८)

दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ ॥१४॥

अर्थ—[**दर्शनमोहांतराययोः**] दर्शनमोह और अंतराय कर्मके उदयसे [**अदर्शनाऽलाभौ**] क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवे सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १४ ॥

अब चारित्रमोहनीयके उदयसे होनेवाली परीषह बतलाते हैं

चारित्रमोहेनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना-सत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थ—[चारित्रमोहे] चारित्रमोहनीयके उदयसे [नाग्न्यारतिस्त्री-निषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः] नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवे सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १५ ॥

वेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषहें

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ—[वेदनीये] वेदनीय कर्मके उदयसे [शेषा.] बाकी की ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये परीषह होती है।

यहाँ भी तेरहवे सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १६ ॥

अब एक जीवके एक साथ होनेवाली परीषहोंकी संख्या बतलाते हैं

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थ—[एकस्मिन् युगपत्] एक जीवके एक साथ [एकादयो] एकसे लेकर [आ एकोनविंशतेः] उन्नीस परीषह तक [भाज्याः] जानना चाहिये।

१—एक जीवके एक समयमें अधिकसे अधिक १९ परीषह हो सकती हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दो मे से एक समयमे एक ही होती है और शय्या, चर्या तथा निषद्या (सोना, चलना तथा आसनमे रहना)

इन तीनमेसे एक समयमे एक ही होती है, इसतरह इन तीन परीषहोके कम करनेसे बाकी की उन्नीस परीषह हो सकती हैं।

२–प्रश्न–प्रज्ञा और अज्ञान ये दोनो भी एक साथ नही हो सकते, इसलिये एक परीषह इन सबमेसे कम करना चाहिये।

उत्तर–प्रज्ञा और अज्ञान इन दोनोके साथ रहनेमे कोई बाधा नही है एक हीं कालमे एक जीवके श्रुतज्ञानादिकी अपेक्षासे प्रज्ञा और अवधिज्ञानादि की अपेक्षासे अज्ञान ये दोनो साथ रह सकते है।

३–प्रश्न–औदारिक शरीरकी स्थिति कवलाहार (अन्न पानी) के विना देशोनकोटी पूर्व (कुछ कम एक करोड पूर्व) कैसे रहती है ?

उत्तर—आहारके ६ भेद है–१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार, ४ लेपाहार, ५ ओजाहार, और ६ मनसाहार। ये छह प्रकार यथायोग्य देहकी स्थितिके कारण हैं। जैसे (१) केवलीके नोकर्म आहार वताया है। उनके लाभातराय कर्मके क्षयसे अनन्त लाभ प्रगट हुआ है, अत. उनके शरीरके साथ अपूर्व असाधारण पुद्गलोका प्रतिसमय सवध होता है, यह नोकर्म-केवली के देहकी स्थितिका कारण है, दूसरा नही, इसी कारण केवलीके नोकर्मका आहार कहा है। (२) नारकियोके नरकायु नाम कर्मका उदय है वह उनके देहकी स्थितिका कारण है इसलिये उनके कर्माहार कहा जाता है। (३) मनुष्यो और तिर्यंचोके कवलाहार प्रसिद्ध है। (४) वृक्ष जातिके लेपाहार है (५) पक्षीके अडेके ओजाहार है। शुक्र नामकी धातुकी उपधातुको ओज कहते हैं। जो अण्डोको पक्षी (-पखी) सेवे उसे ओजाहार नही समझना। (६) देव मनसे तृप्त होते हैं, उनके मनसाहार कहा जाता–होता है।

यह छह प्रकारका आहार देहकी स्थितिका कारण है, इस सवंधी गाथा निम्नप्रकार है —

णोकम्मकम्महारोकवलाहारो य लेप्पाहारो य।
ऊज्जमणोविय कमसो आहारा छव्विहो भणिओ ॥

णोकम्मतित्थयरे कम्मं च णयरे मानसो अमरे ।
णरपसु कवलाहारो पंखी उज्जो इगि लेऊ ॥

अर्थ—१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार, ४ लेपाहार, ५ ओजाहार, और ६ मनोआहार, इसप्रकार क्रमसे ६ प्रकारका आहार है, उनमे नोकर्म आहार तीर्थंकरके, कर्माहार नारकीके, मनोआहार देवके, कवलाहार मनुष्य तथा पशुके, ओजाहार पक्षीके अंडेके और वृक्षके लेपाहार होता है ।

इससे सिद्ध होता है कि केवलीके कवलाहार नही होता ।

प्रश्न—मुनिकी अपेक्षासे छट्ठे गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थान तक की परीषहोका कथन इस अध्यायके १३ से १६ तकके सूत्रोमें किया है यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे या निश्चयनयकी अपेक्षासे ?

उत्तर—यह कथन व्यवहारनयकी अपेक्षासे है, क्योकि यह जीव परवस्तुके साथका संबंध बतलाता है, यह कथन निश्चयकी अपेक्षासे नही है ।

प्रश्न—यदि व्यवहारनयकी मुख्यता सहित कथन हो उसे मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६९ में यो जाननेके लिए कहा है कि 'ऐसा नहीं किंतु निमित्तादिककी अपेक्षासे यह उपचार किया है' तो ऊपर कहे गये १३ से १६ तक के कथनमे कैसे लागू होता है ?

उत्तर—उन सूत्रोमे जीवके जिन परीषहोका वर्णन किया है वह व्यवहारसे है, इसका सत्यार्थ ऐसा है कि—जीव जीवमय है परीषहमय नही । जितने दरजेमें जीवमें परीषह वेदन हो उतने अंशमे सूत्र १३ से १६ में कहे गये कर्मका उदय निमित्त कहलाता है किंतु निमित्तने जीवको कुछ नही किया ।

प्रश्न—१३ से १६ तकके सूत्रोमे परीषहोके बारेमे जिस कर्मका उदय कहा है उसके और सूत्र १७ मे परीषहोकी जो एक साथ संख्या कही

उसके इस अध्यायके ८ वें सूत्रमे कहे गये निर्जराका व्यवहार कैसे लागू होता है ?

उत्तर—जीव अपने पुरुषार्थके द्वारा जितने अंशमे परीषह वेदन न करे उतने अंशमे उसने परीषह जय किया और इसीलिये उतने अशमे सूत्र १३ से १६ तकमे कहे गये कर्मोंकी निर्जरा की, ऐसा आठवे सूत्रके अनुसार कहा जा सकता है, इसे व्यवहार कथन कहा जाता है क्योकि परवस्तु (कर्म) की साथ के सबधका कितना अभाव हुआ, यह इसमे बताया गया है ।

इसप्रकार परीषहजयका कथन पूर्ण हुआ ॥ १७ ॥

दूसरे सूत्रमे कहे गये सवरके ६ कारणोमेसे यहाँ पाँच कारणोका वर्णन पूर्ण हुआ, अब अतिम कारण चारित्रका वर्णन करते हैं—

चारित्र के पाँच भेद

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ–[**सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय यथाख्यातं**] सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात [**इति चारित्रम्**] इस प्रकार चारित्रके ५ भेद है ।

टीका

१. सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) **सामायिक**—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान की एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्य योगका त्याग करके शुद्धात्मस्वरूपमें अभेद होनेपर शुभाशुभ भावोका त्याग होना सो सामायिक चारित्र है । यह चारित्र छट्ठे से नवमे गुणस्थान तक होता है ।

(२) **छेदोपस्थापना**—कोई जीव सामायिक चारित्ररूप हुआ हो और उससे हटकर सावद्य व्यापाररूप होजाय, पश्चात् प्रायश्चित द्वारा उस सावद्य व्यापारसे उत्पन्न हुये दोषोको छेदकर आत्माको सयममे स्थिर करे सो

छेदोपस्थापना चारित्र है। यह चारित्र छट्ठे से नवमे गुणस्थान तक होता है।

(३) परिहार विशुद्धि—जो जीव जन्मसे ३० वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थंकर भगवानके पादमूलमे आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नवमे पूर्वका अध्ययन करे, उसके यह सयम होता है। जो जीवोकी उत्पत्ति-मरणके स्थान, कालकी मर्यादा, जन्म योनिके भेद, द्रव्य-क्षेत्रका स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभीका जाननेवाला हो और प्रमाद रहित महावीर्यवान हो, उनके शुद्धताके वलसे कर्मकी वहुत (–प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करनेवाले मुनियोके यह सयम होता है। जिनके यह सयम होता है उनके शरीरसे जीवोकी विराधना नही होती। यह चारित्र ऊपर वतलाये गये साधुके छट्ठे और सातवे गुणस्थानमे होता है।

(४) सूक्ष्मसांपराय—जव अति सूक्ष्म लोभकषायका उदय हो तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्म सापराय है। यह चारित्र दशमे गुणस्थान मे होता है।

(५) यथाख्यात—सपूर्ण मोहनीय कर्मके क्षय अथवा उपशमसे आत्माके शुद्धस्वरूपमे स्थिर होना सो यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवे से चौदहवे गुणस्थान तक होता है।

२ शुद्धभावसे सवर होता है किन्तु शुभभाव से नही होता, इसलिये इन पाचो प्रकारमे जितना शुद्धभाव है उतना चारित्र है ऐसा समझना।

३. छट्ठे गुणस्थान की दशा

सातवे गुणस्थानसे तो निर्विकल्प दशा होती है। छट्ठे गुणस्थानमे मुनिके जव आहार विहारादिका विकल्प होता है तभी भी उनके [तीन जातिके कषाय न होनेसे] सवरपूर्वक निर्जरा होती है और शुभभावका अल्प बंध होता है, जो विकल्प उठता है उस विकल्पके स्वामित्वका उनके नकार वर्तता है, अकषायदृष्टि और चारित्रसे जितने दरजेमे राग दूर होता है उतने दरजेमे सवर-निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है उतना बधन है। विशेष यह है कि पचम गुणस्थानवाला उपवासादि वा प्रायश्चित्तादि तप करे उसी कालमे भी उसे निर्जरा अल्प और छट्ठे गुणस्थानवाला आहार

विहार आदि क्रिया करे उस कालमे भी उसके निर्जरा अधिक है इससे ऐसा समझना कि—वाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नही है।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३४१)

४. चारित्र का स्वरूप

कितनेक जीव मात्र हिंसादिक पापके त्यागको चारित्र मानते हैं और महाव्रतादिरूप शुभोपयोगको उपादेयरूपसे ग्रहण करते हैं, किंतु यह यथार्थ नही है। इस शास्त्रके सातवे अध्यायमे आस्रव पदार्थका निरूपण किया गया है, वहाँ महाव्रत और अणुव्रतको आस्रवरूप माना है, तो वह उपादेय कैसे हो सकता है? आस्रव तो बधका कारण है और चारित्र मोक्षका कारण है, इसलिये उन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोके चारित्रता सभव नही होती, किंतु जो सर्व कषाय रहित उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीवके कुछ भाव वीतराग हुए होते है और कुछ भाव सराग होते हैं, उनमे जो अश वीतरागरूप है वही चारित्र है और वह सवरका कारण है। (देखो मोक्षप्रकाशक पृष्ठ ३३७)

५. चारित्रमें भेद किसलिये बताये?

प्रश्न—जो वीतराग भाव है सो चारित्र है और वीतरागभाव तो एक ही तरहका है, तो फिर चारित्रके भेद क्यो बतलाये?

उत्तर—वीतरागभाव एक तरहका है परन्तु वह एक साथ पूर्ण प्रगट नही होता, किन्तु क्रम क्रमसे प्रगट होता है इसीलिये उसमे भेद होते हैं। जितने अन्शमे वीतरागभाव प्रगट होता है उतने अन्शमें चारित्र प्रगट होता है, इसलिये चारित्रके भेद कहे हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो छट्ठे गुणस्थानमे जो शुभभाव है उसे भी चारित्र क्यो कहते हो?

उत्तर—वहाँ शुभभावको यथार्थमे चारित्र नही कहा जाता, किंतु उस शुभभावके समय जिस अशमे वीतरागभाव है, वास्तवमे उसे चारित्र कहा जाता है।

प्रश्न—कितनेक जगह शुभभावरूप समिति, गुप्ति, महाव्रतादिको भी चारित्र कहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—वहाँ शुभभावरूप समिति आदिको व्यवहार चारित्र कहा है। व्यवहारका अर्थ है उपचार, छट्ठे गुणस्थानमें जो वीतराग चारित्र होता है, उसके साथ महाव्रतादि होते है, ऐसा सम्बन्ध जानकर यह उपचार किया है। अर्थात् वह निमित्तकी अपेक्षामे यानि विकल्पके भेद बतानेके लिये कहा है, किन्तु यथार्थरीत्या तो निष्कषाय भाव ही चारित्र है, शुभराग चारित्र नही।

प्रश्न—निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (-सराग व्यवहार) मोक्षमार्ग नही होता, तो फिर सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—भूतनैगमनय की अपेक्षासे उस सविकल्परूपको मोक्षमार्ग कहा है, अर्थात् भूतकालमे वे विकल्प (-रागमिश्रित विचार) हुये थे, यद्यपि वे वर्तमानमे नही हैं तथापि 'यह वर्तमान है' ऐसा भूत नैगमनयकी अपेक्षासे गिना जा सकता है—कहा जा सकता है, इसीलिये उस नयकी अपेक्षासे सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कहा है ऐसा समझना। (देखो परमात्म प्रकाश पृष्ठ १४२ अध्याय २ गाथा १४ की सस्कृत टीका तथा इस ग्रन्थमे अंतमें परिशिष्ट १)

६. सामायिक का स्वरूप

प्रश्न—मोक्षके कारणभूत सामायिक का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला परमार्थ ज्ञानका भवनमात्र (परिणमन मात्र) है एकाग्रता लक्षणवाली है वह सामायिक मोक्षके कारणभूत है।

(देखो समयसार गाथा १५४ टीका)

श्री नियमसार गाथा १२५ से १३३ मे यथार्थ सामायिकका स्वरूप दिया है वह इसप्रकार है—

जो कोई मुनि एकेन्द्रियादि प्राणियोके समूहको दुःख देनेके कारण-रूप जो सपूर्ण पापभाव सहित व्यापार है, उससे अलग हो मन, वचन और शरीर के शुभ अशुभ सर्व व्यापारोंको त्यागकर तीन गुप्तिरूप रहते हैं तथा जितेन्द्रिय रहते हैं ऐसे सयमीके 'वास्तवमे सामायिक व्रत होता है। (गाथा १२५)

जो समस्त त्रस स्थावर प्राणियोमे समताभाव रखता है, माध्यस्थ भावमे आरूढ है, उसीके यथार्थ सामायिक'होती है। (गाथा १२६)

संयम पालते हुये, नियम करते तथा तप धारण करते हुये जिसके एक आत्मा ही निकटवर्ती रहा है उसीके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२७)

जिसे राग-द्वेष विकार प्रगट नही होते उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२८)

जो आर्त और रौद्र ध्यानको दूर करता है, उसके वास्तवमे सामायिकव्रत होता है। (गाथा १२९)

जो हमेशा पुण्य और पाप इन दोनो भावोको छोडता है, उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १३०)

जो जीव सदा धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याता है उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १३३)

सामायिक चारित्रको परम समाधि भी कहते हैं।

७. प्रश्न—इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमे सवरके कारणरूपसे जो १० प्रकारका धर्म कहा है उसमे सयम आ ही जाता है और सयम ही चारित्र है तथापि यहाँ फिरसे चारित्रको सवरके कारणरूपमे क्यो कहा ?

उत्तर—यद्यपि सयमधर्ममे चारित्र आ जाता है तथापि इस सूत्रमे चारित्रका कथन निरर्थक नही है। चारित्र मोक्ष प्राप्तिका साक्षात् कारण है यह बतलानेके लिये यहाँ अन्तमे चारित्रका कथन किया है। चौदहमे गुणस्थान के अन्तमे चारित्रकी पूर्णता होनेपर ही मोक्ष होता है अतएव

मोक्ष प्राप्तिके लिये चारित्र साक्षात् हेतु है—ऐसा ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमे वह अलग बताया है।

८. व्रत और चारित्रमें अन्तर

आस्रव अधिकारमें (सातवे अध्यायके प्रथम सूत्रमे) हिंसा, झूठ, चोरी आदिके त्यागसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि क्रियामें शुभप्रवृत्ति है इसीलिये वहां अव्रतोकी तरह व्रतोमे भी कर्मका प्रवाह चलता है, किन्तु उन व्रतोसे कर्मोकी निवृत्ति नही होती। इसी अपेक्षाको लक्ष्यमें रखकर, गुप्ति आदिको संवरका परिवार कहा है। आत्माके स्वरूपमे जितनी अभेदता होती है उतना संवर है शुभाशुभ भावका त्याग निश्चय व्रत अथवा वीतराग चारित्र है। जो शुभभावरूप व्रत है वह व्यवहार चारित्ररूप राग है और वह संवरका कारण नही है। (देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ पृष्ठ ५ से ७) ॥ १८ ॥

दूसरे सूत्रमे कहे गये संवरके ६ कारणोका वर्णन पूर्ण हुआ। इस तरह संवर तत्त्वका वर्णन पूर्ण हुआ। अब निर्जरा तत्त्वका वर्णन करते है—

निर्जरा तत्त्वका वर्णन

भूमिका

१—पहले अठारह सूत्रोमें संवरतत्त्वका वर्णन किया। अब उन्नीसवें सूत्रसे निर्जरा तत्त्वका वर्णन प्रारम्भ होता है। जिसके संवर हो उसके निर्जरा हो। प्रथम संवर तो सम्यग्दर्शन है, इसीलिये जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसीके ही संवर-निर्जरा हो सकती है। मिथ्यादृष्टिके संवर निर्जरा नही होती।

२—यहाँ निर्जरा तत्त्वका वर्णन करना है और निर्जराका कारण तप है (देखो अध्याय ९ सूत्र ३) इसीलिये तपका और उसके भेदोका वर्णन किया है। तपकी व्याख्या १९ वें सूत्रकी टीका में दी है और ध्यानकी व्याख्या २७ वें सूत्र मे दी गई है।

३. निर्जरा के कारणों सम्बन्धी होनेवाली भूलें और उनका निराकरण

(१) कितने ही जीव अनशनादि तपसे निर्जरा मानते है किंतु वह तो बाह्य तप है। अब बाद के १९–२० वे सूत्रमे बारह प्रकारके तप कहे हैं वे सब बाह्य तप है, किंतु वे एक दूसरेकी अपेक्षासे बाह्य अभ्यतर हैं, इसीलिये उनके बाह्य और अभ्यतर ऐसे दो भेद कहे हैं। अकेले बाह्य तप करनेसे निर्जरा नही होती। यदि ऐसा हो कि अधिक उपवासादि करनेसे अधिक निर्जरा हो और थोडे करने से थोडी हो तो निर्जराका कारण उपवासादिक ही ठहरे किन्तु ऐसा नियम नही है। जो इच्छाका निरोध है सो तप है, इसीलिये स्वानुभव की एकाग्रता बढनसे शुभाशुभ इच्छा दूर होती है, उसे तप कहते है।

(२) यहाँ अनशनादिकको तथा प्राश्चित्तादिकको तप कहा है इसका कारण यह है कि–यदि जीव अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्ते और रागको दूर करे तो वीतरागभावरूप सत्य तप पुष्ट किया जा सकता है, इसीलिये उन अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिको उपचारसे तप कहा है। यदि कोई जीव वीतराग भावरूप सत्य तपको तो न जाने और उन अनशनादिकको ही तप जानकर सग्रह करे तो वह ससारमे ही भ्रमण करता है।

(३) इतना खास समझ लेना कि–निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, अन्य अनेक प्रकारके जो भेद कहे जाते है वे भेद बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे उपचारसे कहे हैं, इसके व्यवहार मात्र धर्म सज्ञा जाननी। जो जीव इस रहस्यको नही जानता उसके निर्जरातत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नही है। (मो० प्र०)

तप निर्जरा के कारण है, इसीलिये उनका वर्णन करते हैं। उनमे पहले तपके भेद कहते है—

बाह्य तपके ६ भेद

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थ—[अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः] सम्यक् प्रकारसे अनशन, सम्यक् अवमौदर्य, सम्यक् वृत्तिपरिसख्यान, सम्यक् रसपरित्याग, सम्यक् विविक्त शय्यासन और सम्यक् कायक्लेश ये [वाह्यं तपः] छह प्रकारके वाह्य तप हैं।

नोट—इस सूत्रमे 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे आता है–किया जाना है। अनशनादि छहो प्रकारमे 'सम्यक्' शब्द लागू होता है।

टीका

१. सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) **सम्यक् अनशन**—सम्यग्दृष्टि जीवके आहारके त्यागका भाव होनेपर विषय कषायका भाव दूर होकर अतरग परिणामोकी शुद्धता होती वह सम्यक् अनशन है।

(२) **सम्यक् अवमौदर्य**—सम्यग्दृष्टि जीवके रागभाव दूर करने के लिये जितनी भूख हो उससे कम भोजन करनेका भाव होने पर जो अतरग परिणामोकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् अवमौदर्य कहते है।

(३) **सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान**— सम्यग्दृष्टि जीवके सयमके हेतुसे निर्दोष आहारकी भिक्षाके लिये जाते समय, भोजनकी वृत्ति तोडने वाले नियम करने पर अतरग परिणामोकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् वृत्तिपरिसख्यान कहते है।

(४) **सम्यक् रसपरित्याग**—सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियो सम्बन्धी राग का दमन करनेके लिये घी, दूध, दही, तेल, मिठाई नमक आदि रसो का यथा शक्ति त्याग करनेका भाव होनेसे अतरग परिणामोकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् रसपरित्याग कहते हैं।

(५) **सम्यक् विविक्तशय्यासन**—सम्यग्दृष्टि जीवके स्वाध्याय, ध्यान आदिकी प्राप्तिके लिये किसी एकात निर्दोष स्थानमे प्रमाद रहित सोने, बैठने की वृत्ति होने पर अतरग परिणामोकी जो शुद्धता होती है

उसे सम्यक् विविक्त शय्यासन कहते है ।

(६) **सम्यक् कायक्लेश**—सम्यग्दृष्टि जीवके शारीरिक आसक्ति घटानेके लिये आतापन आदि योग धारण करते सयय जो अतरग परिणामों की शुद्धता होती है उसे सम्यक् कायक्लेश कहते हैं ।

२—'सम्यक्' शब्द यह बतलाता है कि सम्यग्दृष्टिके ही ये तप होते है मिथ्यादृष्टि के तप नही होता ।

३—जब सम्यग्दृष्टि जीव अनशनकी प्रतिज्ञा करता है उस समय निम्न लिखित बाते जानता है ।—

(१) आहार न लेने का राग मिश्रित विचार होता है वह शुभभाव है और इसका फल पुण्यबधन है, मै इसका स्वामी नही हूँ ।

(२) अन्न, जल आदि पर वस्तुएे हैं, आत्मा उसे किसी प्रकार न तो ग्रहण कर सकता और न छोड सकता है किन्तु जब सम्यग्दृष्टि जीव पर वस्तु सम्बन्धी उस प्रकारका राग छोडता है तब पुद्गल परावर्तनके नियम अनुसार ऐसा निमित्त नैमित्तिक सबध होता है कि उतने समय उसके अन्न पानी आदिका सयोग नही होता ।

(३) अन्न जल आदिका सयोग न हुआ यह परद्रव्यकी क्रिया है, उससे आत्माके धर्म या अधर्म नही होता ।

(४) सम्यग्दृष्टि जीवके राग का स्वामित्व न होने की जो सम्यक् मान्यता है वह दृढ होती है, और इसीलिये यथार्थ अभिप्रायपूर्वक जो अन्न, जल आदि लेनेका राग दूर हुआ वह सम्यक् अनशन तप है, यह वीतरागता का अंश है इसीलिये वह धर्मका अग है । उसमे जितने अशमे अतरग परिणामो को शुद्धता हुई और शुभाशुभ इच्छाका निरोध हुआ उतने अशमे सम्यक् तप है और यही निर्जराका कारण है ।

छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अतरग इन बारह प्रकारके तप के सम्बन्धमे ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना ।

सम्यक् तप की व्याख्या

(१) स्वरूपविश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रतपनात् तपः अर्थात् स्वरूप की स्थिरतारूप,—तरंगोंके विना—लहरों के विना (निर्विकल्प) चैतन्य का प्रतपन होना (देदीप्यमान होना सो तप है)।

(प्रवचनसार अ० १ गा० १४ की टीका)

(२) सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपन तप अर्थात् सहज निश्चयनय रूप परमस्वभावमय परमात्माका प्रतपन होना अर्थात् दृढतासे तन्मय होना सो तप है। (नियमसार गाथा ५५ की टीका)

(३) प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपन यत्तत्तप. अर्थात् प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्वमे सदा अंतर्मुखरूप से जो प्रतपन अर्थात् लीनता है सो तप है। (नियमसार टीका गाथा ११८ का शीर्षक)

(४) आत्मानमात्मना संधत्त इत्यध्यात्म तपन अर्थात् आत्माको आत्माके द्वारा धरना सो अध्यात्म तप है। (नियमसार गाथा १२३की टीका)

(५) इच्छानिरोध तप अर्थात् शुभाशुभ इच्छाका निरोध करना (–अर्थात् स्वरूपमे विश्रांत होना) सो तप है।

५. तप के भेद किस लिये हैं ?

प्रश्न—यदि तपकी व्याख्या उपरोक्त प्रमाण है तो उस तपके भेद नही हो सकते, तथापि यहाँ तपके वारह भेद क्यो कहे हैं ?

उत्तर—शास्त्रोका कथन किसी समय उपादान (निश्चय) की अपेक्षा से और किसी समय निमित्त (व्यवहार) की अपेक्षासे होता है। भिन्न-भिन्न निमित्त होनेसे उसमे भेद होते हैं किंतु उपादान तो आत्माका शुद्ध स्वभाव है अत उसमे भेद नही होता। यहाँ तपके जो वारह भेद वतलाये हैं वे भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं।

६—जिस जीवके सम्यग्दर्शन न हो वह जीव वनमे रहे, चातुर्मास मे वृक्षके नीचे रहे ग्रीष्म ऋतुमे अत्यन्त प्रखर किरणोसे संतप्त पर्वतके शिखर पर आसन लगावे, शीतकालमे खुले मैदानमे ध्यान करे, अन्य

अनेक प्रकारके काय क्लेश करे, अधिक उपवास करे, शास्त्रोके पढनेमे बहुत चतुर हो, मौनव्रत धारण करे इत्यादि सब कुछ करे, किंतु उसका यह सब वृथा है—ससारका कारण है, इनसे धर्मका अश भी नही होता। जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित हो यदि वह जीव अनशनादि बारह तप करे तथापि उसके कार्यकी सिद्धि नही होती। इसलिये हे जीव! आकुलता रहित समतादेवीका कुल मदिर जो कि स्व का आत्मतत्त्व है, उसका ही भजन कर ॥ १९ ॥ (देखो नियमसार गाथा १२४)

अब आभ्यंतर तपके ६ भेद बताते हैं

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्याना-न्युत्तरम् ॥ २० ॥

अर्थ—[**प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि**] सम्यक् रूपसे प्रायश्चित्त, सम्यक् विनय, सम्यक् वैयावृत्य, सम्यक् स्वाध्याय, सम्यक् व्युत्सर्ग और सम्यक् ध्यान [**उत्तरम्**] ये छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

नोट—इस सूत्रमे 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे किया जाता है, यह प्रायश्चित्तादि छहो प्रकारमे लागू होता है। यदि 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान न किया जावे तो नाटक इत्यादि सम्बन्धी अभ्यास करना भी स्वाध्याय तप ठहरेगा। परन्तु 'सम्यक्' शब्द के द्वारा उसका निषेध हो जाता है।

टीका

१—ऊपरके सूत्रकी जो टीका है वह यहाँ भी लागू होती है।

२—सूत्रोमे कहे गये शब्दोकी व्याख्या करते हैं—

(१) सम्यक् प्रायश्चित—प्रमाद अथवा अज्ञानसे लगे हुये दोषो की शुद्धता करनेसे वीतराग स्वरूपके आलवनके द्वारा जो अतरंग परिणामोकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) **सम्यक् विनय**—पूज्य पुरुषो का आदर करने पर वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अतरग परिणामोकी जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् विनय कहते है।

(३) **सम्यक् वैयावृत्य**—शरीर तथा अन्य वस्तुओमे मुनियोकी सेवा करने पर वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अतरग परिणामो की जो शुद्धता होती है सो सम्यक् वैयावृत्य कहते हैं।

(४) **सम्यक् स्वाध्याय**—सम्यग्ज्ञानकी भावनामे आलस्य न करना–इसमे वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अतरग परिणामो की जो शुद्धता होती है सो सम्यक् स्वाध्याय है।

(५) **सम्यक् व्युत्सर्ग**—बाह्य और आभ्यतर परिग्रहके त्यागकी भावनामे वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अतरग परिणामो की जो शुद्धता होती है सो सम्यक् व्युत्सर्ग है।

(६) **सम्यक् ध्यान**—चित्तकी चचलताको रोककर तत्त्वके चितवन मे लगना, इसमे वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अतरग परिणामोकी जो शुद्धता होती है सो सम्यक् ध्यान है।

३—सम्यग्दृष्टिके ही ये छहो प्रकारके तप होते हैं। इन छहो प्रकार मे सम्यग्दृष्टिके निज स्वरूपकी एकाग्रतासे जितनी अंतरग परिणामो की शुद्धता हो उतना ही तप है। [जो शुभ विकल्प है उसे उपचारसे तप कहा जाता है, किंतु यथार्थमे तो वह राग है, तप नही।]

अब अभ्यन्तर तपके उपभेद बताते हैं

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

अर्थ—[**प्राक् ध्यानात्**] ध्यानसे पहलेके पांच तपके [**यथाक्रम**] अनुक्रमसे [**नवचतुर्दश पंचद्विभेदाः**] नव, चार, दश, पाँच और दो भेद है अर्थात् सम्यक् प्रायश्चितके नव, सम्यक् विनयके चार, सम्यक् वैयावृत्यके दस, सम्यक् स्वाध्यायके पांच और सम्यक् व्युत्सर्गके दो भेद हैं।

नोट—आभ्यंतर तपका छट्ठा भेद ध्यान है उसके भेदोका वर्णन २८ वें सूत्रमे किया जायगा।

अब सम्यक् प्रायश्चितके नव भेद बतलाते हैं

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः॥ २२ ॥

अर्थ—[आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः] आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना ये प्रायश्चित तपके नव भेद है।

टीका

१—सूत्रमे आये हुये शब्दोकी व्याख्या करते है।

प्रायश्चित्त—प्राय = अपराध, चित्त = शुद्धि, अर्थात् अपराध की शुद्धि करना सो प्रायश्चित्त है।

(१) **आलोचना**—प्रमादसे लगे हुये दोषोको गुरुके पास जाकर निष्कपट रीतिसे कहना सो आलोचना है।

(२) **प्रतिक्रमण**—अपने किये हुए अपराध मिथ्या होवे-ऐसी भावना करना सो प्रतिक्रमण है।

(३) **तदुभय**—वे दोनो अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो करना सो तदुभय है।

(४) **विवेक**—आहार-पानीका नियमित समयतक त्याग करना।

(५) **व्युत्सर्ग**—कायोत्सर्ग करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।

(६) **तप**—उपवासादि करना सो तप है।

(७) **छेद**—एक दिन, पद्रह दिन, एक मास आदि समय पर्यंत दीक्षा का छेद करना सो छेद कहलाता है।

(८) **परिहार**—एक दिन, एक पक्ष, एक मास आदि नियमित

समय तक सघसे अलग करना सो परिहार है।

(६) **उपस्थापन**—पुरानी दीक्षाका सपूर्ण छेद करके फिरसे नई दीक्षा देना सो उपस्थापन है।

२—ये सब भेद व्यवहार प्रायश्चित्त के है। जिस जीवके निश्चय प्रायश्चित्त प्रगट हुआ हो उस जीवके इस नवप्रकार के प्रायश्चित्तको व्यवहार–प्रायश्चित्त कहा जाता है किन्तु यदि निश्चय-प्रायश्चित्त प्रगट न हुआ हो तो वह व्यवहाराभास है।

३–निश्चय प्रायश्चित्तका स्वरूप

निजात्मा का ही जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है जो जीव उसे नित्य धारण करते है उसके ही प्रायश्चित्त होता है (बोध, ज्ञान और चित्तका एक ही अर्थ है) प्राय = प्रकृष्टरूपसे और चित्त = ज्ञान, अर्थात् प्रकृष्टरूप से जो ज्ञान है वही प्रायश्चित्त है। क्रोधादि विभावभावोका क्षय करनेकी भावनामे प्रवर्तना तथा आत्मिक गुणोका चिंतन करना सो यथार्थ प्रायश्चित्त है। निज आत्मिक तत्त्वमे रमणरूप जो तपश्चरण है वही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है। (देखो नियमसार गाथा ११३ से १२१)

४—निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप

जो कोई वचनकी रचनाको छोडकर तथा राग द्वेषादि भावोका निवारण करके स्वात्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है। जो मोक्षार्थी जीव सपूर्ण विराधना अर्थात् अपराध को छोडकर स्वरूपकी आराधनामे वर्तन करता है उसके यथार्थ प्रतिक्रमण है।

(श्री नियमसार गाथा ८३–८४)

५–निश्चय आलोचना का स्वरूप

जो जीव स्वात्माको—नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा विभाव गुण पर्यायसे रहित ध्यान करते है उसके यथार्थ आलोचना होती है। समताभावमे स्वकीय परिणामको धरकर स्वात्माको देखना सो यथार्थ आलोचना है। (देखो श्री नियमसार गाथा १०७ से ११२) ॥ २२ ॥

अब सम्यक् विनयतपके चार भेद बतलाते हैं

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—[ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः] ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, और उपचारविनय ये विनयतपके चार भेद हैं।

टीका

(१) **ज्ञानविनय**—आदरपूर्वक योग्यकालमे सत्शास्त्रका अभ्यास करना, मोक्षके लिए, ज्ञानका ग्रहण–अभ्यास–स्मरण आदि करना सो ज्ञानविनय है।

(२) **दर्शनविनय**—शंका, कांक्षा, आदि दोष रहित सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविनय है।

(३) **चारित्रविनय**—निर्दोष रीतिसे चारित्रको पालना।

(४) **उपचारविनय**—आचार्य आदि पूज्य पुरुषोको देखकर खड़े होना, नमस्कार करना इत्यादि उपचार विनय है। ये सब व्यवहारविनय के भेद हैं।

निश्चयविनयका स्वरूप

जो शुद्ध भाव है सो निश्चयविनय है। स्वके अकषायभावमे अभेद परिणमनसे, शुद्धतारूपसे स्थिर होना सो निश्चयविनय है; इसीलिये कहा जाता है कि "विनयवंत भगवान कहावे, नही किसीको शीष नमावें" अर्थात् भगवान विनयवन्त कहे जाते हैं किन्तु किसीको मस्तक नही नवाते ॥ २३ ॥

अब सम्यक् वैयावृत्य तपके १० भेद बतलाते हैं

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधु-मनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—[आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनो-

ज्ञानाम्] आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियो की सेवा करना सो वैयावृत्य तपके दश भेद है

टीका

१—सूत्रमे आये हुये शब्दोका अर्थ—

(१) **आचार्य**—जो मुनि स्वयं पांच प्रकारके आचारको आचरण करे और दूसरोको आचरण करावे उन्हे आचार्य कहते हैं।

(२) **उपाध्याय**—जिनके पाससे शास्त्रोका अध्ययन किया जाय उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

(३) **तपस्वी**—महान उपवास करनेवाले साधुको तपस्वी कहते हैं।

(४) **शैक्ष्य**—शास्त्रके अध्ययनमें तत्पर मुनिको शैक्ष्य कहते हैं।

(५) **ग्लान**—रोगसे पीडित मुनिको ग्लान कहते हैं।

(६) **गण**—वृद्ध मुनियोके अनुसार चलनेवाले मुनियोके समुदायको गण कहते हैं।

(७) **कुल**—दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य कुल कहलाते हैं।

(८) **संघ**—ऋषि, यति मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोका समूह संघ कहलाता है। (संघके दूसरी तरहसे मुनि, आर्यिका श्रावक और श्राविका ये भी चार भेद हैं)

(९) **साधु**—जिनने वहुत समयसे दीक्षा ली हो वे साधु कहलाते हैं अथवा जो रत्नत्रय भावनासे अपनी आत्माको साधते हैं उन्हे साधु कहते हैं।

(१०) **मनोज्ञ**—मोक्षमार्ग प्रभावक, वक्तादि गुणोसे शोभायुक्त जिसकी लोकमे अधिक ख्याति हो रही हो ऐसे विद्वान मुनिको मनोज्ञ कहते हैं, अथवा उसके समान असयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं।

(सर्वार्थ सि० टीका)

टीका

२—इन प्रत्येक की सेवा सुश्रूषा करना सो वैयावृत्य है। यह वैयावृत्य शुभभावरूप है, इसीलिये व्यवहार है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा है। स्व के अकषाय भावकी जो सेवा है सो निश्चय वैयावृत्य है।

३—सघके चार भेद बतलाये, अब उनका अर्थ लिखते है—

ऋषि—ऋद्धिधारी साधुको ऋषि कहते है।

यति—इन्द्रियोको वशमे करनेवाले साधु अथवा उपशम या क्षपकश्रेणी माडनेवाले साधु यति कहलाते है।

मुनि—अवधिज्ञानी या मन पर्ययज्ञानी साधु मुनि कहे जाते हैं।

अनगार—सामान्य साधु अनगार कहलाते है।

पुनश्च ऋषिके भी चार भेद है—(१) राजर्षि = विक्रिया, अक्षीण ऋद्धि प्राप्त मुनि राजर्षि कहलाते है। (२) ब्रह्मर्षि = बुद्धि, सर्वोपधि आदि ऋद्धि प्राप्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते है। (३) देवर्षि = आकाशगमन ऋद्धि प्राप्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं। (४) परमर्षि—केवलज्ञानीको परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तपके ५ भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५॥

अर्थ—[वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके ५ भेद हैं।

टीका

वाचना—निर्दोष ग्रथ, उसका अर्थ तथा दोनोका भव्य जीवोको श्रवण कराना सो वाचना है।

पृच्छना—संशयको दूर करनेके लिये अथवा निश्चयको दृढ करनेके लिए प्रश्न पूछना सो पृच्छना है।

अपना उच्चपन प्रगट करनेके लिये, किसीको ठगनेके लिये, किसी

२—इन प्रत्येक की सेवा सुश्रूषा करना सो वैयावृत्य है। यह वैयावृत्य शुभभावरूप है, इसीलिये व्यवहार है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा है। स्व के अकषाय भावकी जो सेवा है सो निश्चय वैयावृत्य है।

३—सघके चार भेद बतलाये, अब उनका अर्थ लिखते हैं—

ऋषि—ऋद्धिधारी साधुको ऋषि कहते है।

यति—इन्द्रियोको वशमे करनेवाले साधु अथवा उपशम या क्षपकश्रेणी माडनेवाले साधु यति कहलाते है।

मुनि—अवधिज्ञानी या मन पर्ययज्ञानी साधु मुनि कहे जाते हैं।

अनगार—सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं।

पुनश्च ऋषिके भी चार भेद है—(१) राजर्षि = विक्रिया, अक्षीण ऋद्धि प्राप्त मुनि राजर्षि कहलाते हैं। (२) ब्रह्मर्षि = बुद्धि, सर्वोषधि आदि ऋद्धि प्राप्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। (३) देवर्षि = आकाशगमन ऋद्धि प्राप्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं। (४) परमर्षि—केवलज्ञानीको परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तपके ५ भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५॥

अर्थ—[वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके ५ भेद हैं।

टीका

वाचना—निर्दोष ग्रथ, उसका अर्थ तथा दोनोका भव्य जीवोको श्रवण कराना सो वाचना है।

पृच्छना—संशयको दूर करनेके लिये अथवा निश्चयको दृढ करनेके लिए प्रश्न पूछना सो पृच्छना है।

अपना उच्चपन प्रगट करनेके लिये, किसीको ठगनेके लिये, किसी

को हरानेके लिये, दूसरेका हास्य करनेके लिये आदि खोटे परिणामोसे प्रश्न करना सो पृच्छना स्वाध्यायतप नही है।

अनुप्रेक्षा—जाने हुए पदार्थोंका वारंवार चितवन करना सो अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय—निर्दोष उच्चारण करके पाठको घोखना सो आम्नाय है।

धर्मोपदेश—धर्मका उपदेश करना सो धर्मोपदेश है।

प्रश्न—ये पांच प्रकारके स्वाध्याय किस लिये कहे हैं।

उत्तर—प्रज्ञाकी अधिकता, प्रशसनीय अभिप्राय, उत्कृष्ट उदासीनता, तपकी वृद्धि, अतिचारकी विशुद्धि इत्यादिके कारण पांच प्रकारके स्वाध्याय कहे गये हैं॥ २५॥

सम्यक् व्युत्सर्गतपके दो भेद बतलाते हैं—

वाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—[वाह्याभ्यंतरोपध्यो] वाह्य उपधि व्युत्सर्ग और अभ्यतर उपधिव्युत्सर्ग ये दो व्युत्सर्ग तपके भेद हैं।

टीका

१—वाह्य उपधिका अर्थ है वाह्य परिग्रह और आभ्यतर उपधिका अर्थ आभ्यंतर परिग्रह है। दस प्रकारके वाह्य और चौदह प्रकारके अंतरग परिग्रहका त्याग करना सो व्युत्सर्ग तप है। जो आत्माका विकारी परिणाम है सो अतरग परिग्रह है, इसका वाह्य परिग्रहके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबध है।

२—प्रश्न—यह व्युत्सर्गतप क्यो कहा ?

उत्तर—निःसगत्व, निर्भयता, जीनेकी आशाका अभाव करने आदिके लिये यह तप है।

३—जो चौदह अतरग परिग्रह हैं, उनमे सबसे प्रथम मिथ्यात्व दूर

को हरानेके लिये, दूसरेका हास्य करनेके लिये आदि खोटे परिणामोसे प्रश्न करना सो पृच्छना स्वाध्यायतप नही है।

अनुप्रेक्षा—जाने हुए पदार्थोंका वारवार चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय—निर्दोष उच्चारण करके पाठको घोखना सो आम्नाय है।

धर्मोपदेश—धर्मका उपदेश करना सो धर्मोपदेश है।

प्रश्न—ये पाँच प्रकारके स्वाध्याय किस लिये कहे हैं।

उत्तर—प्रज्ञाकी अधिकता, प्रशसनीय अभिप्राय, उत्कृष्ट उदासीनता, तपकी वृद्धि, अतिचारकी विशुद्धि इत्यादिके कारण पाँच प्रकारके स्वाध्याय कहे गये हैं ॥ २५ ॥

सम्यक् व्युत्सर्गतपके दो भेद बतलाते हैं—

बाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—[बाह्याभ्यंतरोपध्यो] बाह्य उपधि व्युत्सर्ग और अभ्यतर उपधिव्युत्सर्ग ये दो व्युत्सर्ग तपके भेद है।

टीका

१—बाह्य उपधिका अर्थ है बाह्य परिग्रह और आभ्यतर उपधि का अर्थ आभ्यतर परिग्रह है। दस प्रकारके बाह्य और चौदह प्रकारके अतरग परिग्रहका त्याग करना सो व्युत्सर्ग तप है। जो आत्माका विकारी परिणाम है सो अतरग परिग्रह है, इसका बाह्य परिग्रहके साथ निमित्त-नैमित्तिक सबंध है।

२—**प्रश्न**—यह व्युत्सर्गतप क्यो कहा ?

उत्तर—नि सगत्व, निर्भयता, जीनेकी आशाका अभाव करने आदिके लिये यह तप है।

३—जो चौदह अंतरंग परिग्रह हैं, उनमे सबसे प्रथम मिथ्यात्व दूर

होता है इसके दूर किये बिना अन्य कोई भी परिग्रह दूर ही नही होता। यह सिद्धांत बतानेके लिये इस शास्त्रके पहले ही सूत्रमे मोक्षमार्गके रूपमे जो आत्माके तीन शुद्धभावोकी एकताकी आवश्यकता बतलाई है उसमे भी प्रथम सम्यग्दर्शन ही बतलाया है। सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान या चारित्र भी सम्यक् नही होते। चारित्रके लिए जो 'सम्यक्' विशेपण दिया जाता है वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्ति बतलाता है। पहले सम्यक् श्रद्धा ज्ञान होनेके बाद जो यथार्थ चारित्र होता है वही सम्यक् चारित्र है। इसलिये मिथ्यात्व को दूर किये बिना किसी प्रकार का तप या धर्म नही होता ॥ २६ ॥

यह निर्जरातत्त्वका वर्णन चल रहा है। निर्जराका कारण तप है। तप के भेदोका वर्णन चालू है, उसमे आभ्यतर तपके प्रारभके पाँच भेदोका वर्णन पूर्ण हुआ। अब छठा भेद जो ध्यान है, उसका वर्णन करते है।

सम्यक् ध्यानतपका लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधोध्यानमान्तमुर्हूर्तात्॥२७॥

अर्थ—[उत्तमसंहननस्य] उत्तम सहननवालेके [आ अंतर्मुहूर्तात्] अतर्मुहूर्त तक [एकाग्र चिंतानिरोधो ध्यानम्] एकाग्रतापूर्वक चिंताका निरोध सो ध्यान है।

टीका

१—**उत्तमसंहनन**—वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तमसहनन हैं। इनमे मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके पहला वज्रर्षभनाराच सहनन होता है।

एकाग्र—एकाग्रका अर्थ मुख्य, सहारा, अवलवन, आश्रय, प्रधान अथवा सन्मुख होता है। वृत्तिको अन्य क्रियासे हटाकर एक ही विपयमे रोकना सो एकाग्रचितानिरोध है और वही ध्यान है। जहाँ एकाग्रता नही वहाँ भावना है।

होता है इसके दूर किये बिना अन्य कोई भी परिग्रह दूर ही नही होता। यह सिद्धांत बतानेके लिये इस शास्त्रके पहले ही सूत्रमे मोक्षमार्गके रूपमे जो आत्माके तीन शुद्धभावोकी एकताकी आवश्यकता बतलाई है उसमे भी प्रथम सम्यग्दर्शन ही बतलाया है। सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान या चारित्र भी सम्यक् नही होते। चारित्रके लिए जो 'सम्यक्' विशेषण दिया जाता है वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्ति बतलाता है। पहले सम्यक् श्रद्धा ज्ञान होनेके बाद जो यथार्थ चारित्र होता है वही सम्यक् चारित्र है। इसलिये मिथ्यात्व को दूर किये बिना किसी प्रकार का तप या धर्म नही होता ॥ २६ ॥

यह निर्जरातत्त्वका वर्णन चल रहा है। निर्जराका कारण तप है। तप के भेदोका वर्णन चालू है, उसमे आभ्यतर तपके प्रारभके पांच भेदोका वर्णन पूर्ण हुआ। अब छठा भेद जो ध्यान है, उसका वर्णन करते है।

सम्यक् ध्यानतपका लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधोध्यानमान्तमुर्हूर्तात्॥२७॥

अर्थ—[**उत्तमसंहननस्य**] उत्तम सहननवालेके [**आ अंतर्मुहूर्तात्**] अतर्मुहूर्त तक [**एकाग्र चितानिरोधो ध्यानम्**] एकाग्रतापूर्वक चिताका निरोध सो ध्यान है।

टीका

१—उत्तमसंहनन—वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तमसहनन है। इनमे मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके पहला वज्रर्षभनाराच सहनन होता है।

एकाग्र—एकाग्रका अर्थ मुख्य, सहारा, अवलवन, आश्रय, प्रधान अथवा सन्मुख होता है। वृत्तिको अन्य क्रियासे हटाकर एक ही विषयमे रोकना सो एकाग्रचितानिरोध है और वही ध्यान है। जहाँ एकाग्रता नही वहाँ भावना है।

२—इस सूत्रमे ध्याता ध्यान, ध्येय और ध्यानका समय ये चार बाते निम्नरूपसे आ जाती है—

(१) जो उत्तमसंहननधारी पुरुष है वह ध्याता है।

(२) एकाग्रचिंताका निरोध सो ध्यान है।

(३) जिस एक विषयको प्रधान किया सो ध्येय है।

(४) अन्तर्मुहूर्त यह ध्यानका उत्कृष्ट काल है।

मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिट और अन्तःमुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनट के भीतरका समय। ४८ मिनिटमे एक समय कम सो उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

३—यहाँ ऐसा कहा है कि उत्तमसंहननवालेके अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान रह सकता है, इसका यह अर्थ हुवा कि अनुत्तम सहननवालेके सामान्य ध्यान होता है अर्थात् जितना समय उत्तमसहननवालेके रहता है उतना समय उसके (अनुत्तम सहननवालेके) नही रहता। इस सूत्रमे कालका कथन किया है जिसमे यह सम्बन्ध गर्भितरूपसे आ जाता है।

४—अष्टप्राभृतके मोक्षप्राभृतमे कहा है कि जीव आज भी तीन रत्न (रत्नत्रय) के द्वारा शुद्धात्माको ध्याकर स्वर्गलोकमें अथवा लौकांतिक मे देवत्व प्राप्त करता है और वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है (गाथा ७७), इसलिये पञ्चमकालके अनुत्तम संहननवाले जीवो के भी धर्मध्यान हो सकता है।

प्रश्न—ध्यानमे चिंताका निरोध है, और जो चिंताका निरोध है सो अभाव है, अतएव उस अभावके कारण ध्यान भी गधेके सीगकी तरह असत् हुआ ?

उत्तर—ध्यान असत्‌रूप नही। दूसरे विचारोसे निवृत्तिकी अपेक्षा से अभाव है, परन्तु स्व विषयके आकारकी अपेक्षासे सद्भाव है अर्थात् उसमे स्वरूपकी प्रवृत्तिका सद्भाव है, ऐसा 'एकाग्र' शब्दसे निश्चय किया जा सकता है। स्वरूपकी अपेक्षासे ध्यान विद्यमान–सतरूप है।

६—इस सूत्रका ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि जो ज्ञान चचलता रहित अचल प्रकाशवाला अथवा देदीप्यमान होता है वह ध्यान है।

ध्यानके भेद—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ—[आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि] आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद है।

टीका

प्रश्न—यह सवर-निर्जराका अधिकार है और यहाँ निर्जराके कारणोका वर्णन चल रहा है। आर्त और रौद्रध्यान तो बधके कारण हैं तो उन्हे यहाँ क्यो लिया ?

उत्तर—निर्जरा का कारणरूप जो ध्यान है उससे इस ध्यानको अलग दिखानेके लिये ध्यानके सब भेद समझाये है।

आर्तध्यान—दु ख पीडारूप चिंतवन का नाम आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान—निर्दय-क्रूर आशयका विचार करना।

धर्मध्यान—धर्म सहित ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान—शुद्ध पवित्र उज्ज्वल परिणामवाला चिंतवन शुक्लध्यान कहलाता है।

इन चार ध्यानोमे पहले दो अशुभ है और दूसरे दो धर्मरूप हैं ॥ २८ ॥

अब मोक्षके कारणरूप ध्यान बताते हैं

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

अर्थ—[परे] जो चार प्रकारके ध्यान कहे उनमेसे अन्तके दो अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान [मोक्षहेतू] मोक्षके कारण हैं।

टीका

पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं और निश्चय धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं।

प्रश्न—यह तो सूत्रमें कहा है कि अन्तिम दो ध्यान मोक्षके कारण हैं, किंतु ऐसा अर्थ सूत्रमेंसे किसतरह निकाला कि पहले दो ध्यान संसार के कारण हैं ?

उत्तर—मोक्ष और संसार इन दो के अतिरिक्त और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग। इन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई साधनीय पदार्थ नहीं है, अतएव यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यानके अलावा आर्त और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं ॥ २९ ॥

आर्तध्यानके चार भेद हैं, अब उनका वर्णन अनुक्रम से चार सूत्रों द्वारा करते हैं

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ—[अमनोज्ञस्य संप्रयोगे] अनिष्ट पदार्थका संयोग होने पर [तद्विप्रयोगाय] उसके दूर करनेके लिये [स्मृति समन्वाहार] बारबार विचार करना सो [आर्त्तम्] अनिष्ट संयोगज नामका आर्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ—[मनोज्ञस्य] मनोज्ञ पदार्थ संबंधी [विपरीत] उपरोक्त सूत्रमें कहे हुये से विपरीत अर्थात् इष्ट पदार्थका वियोग होनेपर उसके संयोग के लिये बारबार विचार करना सो 'इष्ट वियोगज' नामका आर्त्तध्यान है ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—[वेदनाया च] रोगजनित पीड़ा होनेपर उसे दूर करनेके लिये बारम्बार चितवन करना सो वेदना जन्य आर्त्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ—[निदानं च] भविष्यकाल सबधी विषयोकी प्राप्तिमे चित्तको तल्लीन कर देना सो निदानज आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

अब गुणस्थान की अपेक्षासे आर्त्तध्यानके स्वामी बतलाते हैं

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—[तत्]वह आर्त्तध्यान [अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्] अविरत—पहले चार गुणस्थान, देशविरत–पाँचवाँ गुणस्थान और प्रमत्त सयत–छट्ठे गुणस्थानमे होता है।

नोट—निदान नामका आर्त्तध्यान छट्ठे गुणस्थानमे नही होता।

टीका

मिथ्यादृष्टि जीव तो अविरत है और सम्यग्दृष्टि जीव भी अविरत होता है इसीलिये (१) मिथ्यादृष्टि (२) सम्यग्दृष्टि अविरति (३) देशविरत और (४) प्रमत्तसयत इन चारप्रकारके जीवोके आर्त्तध्यान होता है। मिथ्यादृष्टिके सबसे खराब आर्त्तध्यान होता है और उसके बाद प्रमत्तसयत तक वह क्रमक्रम से मद होता जाता है। छठे गुणस्थान के बाद आर्त्तध्यान नही होता।

मिथ्यादृष्टि जीव पर वस्तुके सयोग-वियोगको आर्त्तध्यानका कारण मानता है, इसीलिये उसके यथार्थमे आर्त्तध्यान मद भी नही होता। सम्यग्दृष्टि जीवोके आर्त्तध्यान क्वचित् होता है और इसका कारण उनके पुरुषार्थकी कमजोरी है ऐसा जानते हैं, इसीलिये वे स्व का–पुरुषार्थ वढा कर धीरे धीरे आर्त्तध्यानका अभाव करके अतमे उसका सर्वथा नाश करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके स्वीय ज्ञानस्वभावकी अरुचि है इसीलिये उसके सर्वत्र, निरतर दु खमय आर्त्तध्यान वर्तता है, सम्यग्दृष्टि जीवके स्व

के ज्ञान स्वभावकी अखण्ड रुचिश्रद्धा वर्तती है। इसीलिये उसके हमेशा धर्मध्यान रहता है, मात्र पुरुषार्थकी कमजोरी से किसी समय अशुभभाव रूप आर्त्तध्यान भी होता है, किंतु वह मंद होता है॥ ३४॥

अब रौद्रध्यानके भेद और स्वामी बतलाते हैं

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोः॥ ३५॥

अर्थ–[हिंसानृतस्तेय विषय संरक्षणेभ्यः] हिंसा, असत्य, चोरी, और विषय संरक्षणके भावसे उत्पन्न हुआ ध्यान [रौद्रम्] रौद्रध्यान है, यह ध्यान [अविरतदेशविरतयोः] अविरत और देशविरत [पहलेसे पांच] गुणस्थानोमे होता है।

टीका

जो ध्यान क्रूर परिणामोसे होता है वह रौद्रध्यान है। निमित्तके भेद की अपेक्षासे रौद्रध्यानके ४ भेद होते हैं वे निम्नप्रकार हैं—

१–**हिंसानंदी**–हिंसामे आनन्द मानकर उसके साधन मिलानेमे तल्लीन रहना सो हिंसानंदी है।

२–**मृषानंदी**–झूंठ बोलनेमे आनन्द मान उसका चिंतवन करना।

३–**चौर्यानंदी**–चोरीमे आनंद मानकर उसका विचार करना।

४–**परिग्रहानंदी**–परिग्रह की रक्षाकी चिंता मे तल्लीन हो जाना॥

अब धर्मध्यानके भेद बताते हैं

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्॥३६॥

अर्थ—[आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय] आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाकविचय और संस्थानविचयके लिये चिंतवन करना सो [धर्म्यम्] धर्मध्यान है।

टीका

१—धर्मध्यानके चार भेद निम्नप्रकार है।

(१) **आज्ञाविचय**—आगमकी प्रमाणतासे अर्थका विचार करना।

(२) **अपायविचय**—संसारी जीवोके दु खका और उसमे से छूटने केउपायका विचार करना सो अपायविचय है।

(३) **विपाकविचय**—कर्मके फलका (उदयका) विचार करना।

(४) **संस्थानविचय**—लोकके आकारका विचार करना। इत्यादि विचारोके समय स्वसन्मुखताके बलसे जितनी आत्म परिणामोकी शुद्धता हो, उसे धर्मध्यान कहते है।

२—उपरोक्त चार प्रकारके सम्बन्धमे विचार।

(१) वीतराग आज्ञा विचार, साधकदशाका विचार, मै वर्तमानमे आत्मशुद्धिकी कितनी भूमिका-(कक्षा) मे वर्तता हूँ उसीका स्वसन्मुखतापूर्वक विचार करना वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(२) बाधकता का विचार,—कितने अशमे सरागता—कषायकरण विद्यमान हैं ? मेरी कमजोरी ही विघ्नरूप है, रागादि ही दु खके कारण हैं ऐसे भावकर्मरूप बाधक भावोका विचार, अपायविचय है।

(३) द्रव्यकर्मके विपाकका विचार, जीवकी भूलरूप मलिनभावोमे कर्मों का निमित्तमात्ररूप सम्बन्धको जानकर स्वसन्मुखताके बलको संभालना, जड़कर्म किसीको लाभ हानि करनेवाला नही है, ऐसा विचार विपाकविचय है।

(४) **संस्थानविचय**—मेरे शुद्धात्मद्रव्यका प्रगट निरावरण संस्थान-आकार कैसे पुरुषार्थसे प्रगट हो, शुद्धोपयोगकी पूर्णता सहित, स्वभाव व्यंजन पर्यायका स्वय, स्थिर, शुद्ध आकार कब प्रगट होगा, ऐसा विचार करना सो सस्थानविचय है।

३—प्रश्न—छट्ठे गुणस्थानमे तो निर्विकल्पदशा नही होती तो वहाँ उस धर्मध्यान कैसे संभव हो सकता है।

उत्तर—यह ठीक है कि छट्ठे गुणस्थानमे विकल्प होता है, परन्तु वहाँ उस विकल्पका स्वामित्व नही और सम्यग्दर्शनकी दृढता होकर अशुभ राग दूर होता जाता है, और तीन प्रकारके कषाय रहित वीतरागदशा है अतएव उतने दरजेमे वहाँ धर्मध्यान है और उससे सवर-निर्जरा होती है। चौथे और पाँचवें गुणस्थानमे भी धर्मध्यान होता है और उससे उस गुण-स्थानके योग्य सवर-निर्जरा होती है। जो शुभभाव होता है वह तो बधका कारण होता है, वह यथार्थ धर्मध्यान नही। अत किसीको शुभराग द्वारा धर्म हो ऐसा नही है।

४—धर्मध्यान—(धर्मका अर्थ है स्वभाव और ध्यानका अर्थ है एकाग्रता) अपने शुद्धस्वभावमे जो एकाग्रता है सो निश्चय धर्मध्यान है, जिसमे क्रियाकाण्डके सर्व आडवरोका त्याग है, ऐसी अतरग क्रियाके आधार-रूप जो आत्मा है उसे, मर्यादा रहित तीनो कालके कर्मो की उपाधि रहित निजस्वरूपसे जानता है, वह ज्ञानकी विशेष परिणति या जिसमे आत्मा स्वाश्रयमे स्थिर होता है सो निश्चय धर्मध्यान है और यही संवर निर्जराका कारण है।

जो व्यवहार धर्मध्यान है वह शुभभाव है, कर्मके चितवनमे मन लगा रहे, यह तो शुभपरिणामरूप धर्मध्यान है। जो केवल शुभपरिणामसे मोक्ष मानते हैं उन्हे समझाया है कि शुभपरिणामसे अर्थात् व्यवहार धर्म-ध्यानसे मोक्ष नही होता। [देखो समयसार गाथा २९१ की टीका तथा भावार्थ] **आगम (-शास्त्र) की आज्ञा क्या है**—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव-अचल-ज्ञानस्वरूपसे परिणमित प्रतिभासते हैं, वही मोक्षका हेतु है कारण कि वह स्वय भी मोक्षस्वरूप है, उसकेअलावा जो कुछ है वह वन्धके हेतु है, कारण कि वह स्वय भी वन्धस्वरूप है इसलिये ज्ञानस्वरूप होनेका अर्थात् अनुभूति करनेकी ही आगममे आज्ञा (-फरमान) है। (समयसार गाथा १५३ कलश १०५) ॥ ३६ ॥

अब शुक्लध्यानके स्वामी बताते हैं

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—[शुक्ले चाद्ये] पहले दो प्रकारके शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी [पूर्वविदः] पूर्व-ज्ञानधारी श्रुतकेवलीके होता है।

नोट—इस सूत्रमे च शब्द है वह यह बतलाता है कि श्रुत केवली के धर्मध्यान भी होता है।

टीका

शुक्लध्यानके ४ भेद ३९ वे सूत्रमे कहेगे। शुक्लध्यानका प्रथम भेद आठवे गुणस्थानमे प्रारभ होकर क्षपकमे–दसवे और उपशमकमे ११ वे गुणस्थान तक रहता है, उनके निमित्तसे मोहनीय कर्मका क्षय या उप-शम होता है। दूसरा भेद बारहवे गुणस्थानमे होता है, इसके निमित्तसे बाकीके घाति कर्म–यानी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय कर्मका क्षय होता है। ग्यारहवे गुणस्थानमे पहला भेद होता है।

२–इस सूत्रमे पूर्वधारी श्रुत केवलीके शुक्लध्यान होना बताया है सो उत्सर्ग कथन है, इसमे अपवाद कथनका गौणरूपसे समावेश हो जाता है। अपवाद कथन यह है कि किसी जीवके निश्चय स्वरूपाश्रितमात्र आठ प्रवचनमाताका सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुषार्थ बढाकर निजस्वरूपमे स्थिर होकर शुक्लध्यान प्रगट करता है, शिवभूति मुनि इसके दृष्टात है, उनके विशेष शास्त्र ज्ञान न था तथापि (हेय और उपादेयका निर्मल ज्ञान था,) निश्चयस्वरूपाश्रित सम्यग्ज्ञान था, और इसीसे पुरुषार्थ बढाकर शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया था।

(तत्त्वार्थसार अध्याय ६ गाथा ४६ की टीका) ॥ ३७ ॥

शुक्लध्यानके चार भेदोमे से पहले दो भेद किसके होते है यह बतलाया,

अब यह बतलाते हैं कि बाकीके दो भेद किसके होते हैं।

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—[परे] शुक्लध्यानके अन्तिम दो भेद अर्थात् सूक्ष्म क्रिया

प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निर्वर्ति ये दो ध्यान [केवलिनः] केवली भगवान्के होते है।

टीका

तेरहवे गुणस्थानके अंतिम भागमे शुक्लध्यानका तीसरा भेद होता है, उसके बाद चौथा भेद चौदहवे गुणस्थान मे प्रगट होता है ॥ ३८ ॥

शुक्लध्यानके चार भेद

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-निवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—[पृथक्त्वैकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरत-क्रियानिवर्तीनि] पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

अब योगकी अपेक्षासे शुक्लध्यानके स्वामी बतलाते हैं

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ—[त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्] ऊपर कहे गये चार प्रकारके शुक्लध्यान अनुक्रमसे तीनयोगवाले, एकयोगवाले, मात्र काययोग-वाले और अयोगी जीवोके होता है।

टीका

१—पहला पृथक्त्ववितर्कध्यान मन, वचन और काय इन तीन योगो के धारण करनेवाले जीवोके होता है (गुणस्थान ८ से ११)

दूसरा एकत्ववितर्कध्यान तीनमेसे किसी एक योगके धारकके होता है (१२ वें गुणस्थानमे होता है)

तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काययोगके धारण करनेवाले के होता है (१३ वे गुणस्थानके अंतिम भाग)

चौथा व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योग रहित-अयोगी जीवोके होता

है (चौदहवे गुणस्थानमे होता है)

२—केवलीके मनोयोग संबंधी स्पष्टीकरण

(१) केवली भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसका यह मतलब नही है कि उनके द्रव्यमन नही है। उनके द्रव्यमनका सद्भाव है किंतु उनके मन निमित्तक ज्ञान नही है क्योकि मानसिकज्ञान तो क्षायोपशमरूप है और केवली भगवानके क्षायिकज्ञान है अत: इसका अभाव है।

२. मनोयोग चार प्रकारका है (१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) उभय मनोयोग और (४) अनुभय मनोयोग, इस चौथे अनुभय मनोयोगमे सत्य और असत्य दोनो नही होते। केवली भगवानके इन चारमेसे पहला और चौथा मनोयोग वचनके निमित्तसे उपचारसे कहा जाता है।

३. प्रश्न—यह तो ठीक है कि केवलीके सत्यमनोयोगका सद्भाव है, किन्तु उनके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है और सशय तथा अध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है इसीलिये उनके अनुभय अर्थात् असत्यमृषामनोयोग कैसे सभव होता है ?

उत्तर—सशय और अनध्यवसायका कारणरूप जो वचन है उसका निमित्त कारण मन होता है, इसीलिये उसमे श्रोताके उपचारसे अनुभय धर्म रह सकता है अत सयोगी जिनके अनुभय मनोयोगका उपचारसे सद्भाव कहा जाता है। इसप्रकार सयोगी जिनके अनुभयमनोयोग स्वीकार करनेमे कोई विरोध नही है। केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनत होनेसे, और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोके निमित्तसे सशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है, इसीलिए उपचारसे अनुभय मनोयोगका सद्भाव कहा जाता है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८२ से २८४ तथा ३०८)

३—केवलीके दो प्रकारका वचन योग

केवली भगवानके क्षायोपशमिकज्ञान (भावमन) नही है तथापि

उनके सत्य और अनुभय दो प्रकारके मनोयोगकी उत्पत्ति कही जाती है वह उपचार से कही जाती है। उपचारसे मन द्वारा इन दोनो प्रकारके वचनोकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। जिस तरह दो प्रकारका मनोयोग कहा गया है उसीप्रकार दो प्रकारका वचन योग भी कहा गया है, यह भी उपचारसे है क्योंकि केवली भगवानके बोलनेकी इच्छा नही है, सहजरूपसे दिव्यध्वनि है।

(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८३ तथा ३०८)

४—क्षपक तथा उपशमक जीवोंके चार मनोयोग किस तरह हैं ?

शंका—क्षपक (-क्षपक श्रेणीवाले) और उपशमक (उपशम श्रेणीवाले) जीवोके भले ही सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगका सद्भाव हो किन्तु बाकीके दो-असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव किस तरह है ? क्योंकि उन दोनोमे रहनेवाला जो अप्रमाद है सो असत्य और उभयमनोयोगके कारणभूत प्रमादका विरोधी है अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमाद रहित होता है, इसलिये उसके असत्य मनोयोग और उभयमनोयोग किस तरह होते है ?

समाधान—आवरणकर्मयुक्त जीवोके विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञानके कारणभूत मनका सद्भाव माननेमे और उससे असत्य तथा उभयमनोयोग माननेमे कोई विरोध नही, परन्तु इस कारणसे क्षपक और उपशमक जीव प्रमत्त नही माने जा सकते, क्योंकि प्रमाद मोहकी पर्याय है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८५-२८६)

नोट—ऐसा माननेमे दोष है-कि समनस्क (-मनसहित) जीवोके ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे होती है। क्योंकि ऐसा माननेमे केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है। किन्तु यह बात सत्य है कि समनस्क जीवोके क्षायोपशमिक ज्ञान होता है और उसमे मनोयोग निमित्त है। और यह माननेमें भी दोष है कि-समस्त वचन होनेमे मन निमित्त है, क्योंकि ऐसा

माननेसे केवली भगवानके मनके निमित्तका अभाव होनेसे उनके वचनका अभाव् हो जायगा। (श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८७-२८८)

५—क्षपक और उपशमक जीवोंके वचनयोग संबंधी स्पष्टीकरण

शंका—जिनके कषाय क्षीण होगई है ऐसे जीवोके असत्य वचनयोग कैसे हो सकता है ?

समाधान—असत्यवचनका कारण अज्ञान है और वह बारहवें गुणस्थान तक होता है, इस अपेक्षासे बारहवे गुणस्थान तक असत्य-वचनका सद्भाव होता है, और इसीलिये इसमे भी कोई विरोध नही है कि उभयसयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवे गुणस्थान तक होता है।

शंका—वचनगुप्तिका पूर्णरीत्या पालन करनेवाले कषाय रहित जीवोके वचनयोग कैसे संभव होता है ?

समाधान—कषाय रहित जीवोमे अंतर्जल्प होनेमे कोई विरोध नही है (श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८९) ॥ ४० ॥

शुक्लध्यानके पहले दो भेदोंकी विशेषता बतलाते हैं

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ—[**एकाश्रये**] एक (-परिपूर्ण) श्रुतज्ञानीके आश्रयसे रहने-वाले [**पूर्वे**] शुक्लध्यानके पहले दो भेद [**सवितर्क वीचारे**] वितर्क और वीचार सहित है परन्तु—

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—[**द्वितीयम्**] ऊपर कहे गये शुक्लध्यानोमेसे दूसरा शुक्ल-ध्यान [**अवीचारं**] वीचारसे रहित है, किन्तु सवितर्क होता है।

टीका

१—४२ वा सूत्र ४१ वे सूत्रका अपवादरूप है, अर्थात् शुक्लध्यानका दूसरा भेद वीचार रहित है। जिसमे वितर्क और वीचार दोनो हो वह

पहला पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान है और जो वीचार रहित तथा वितर्क सहित मणि के दीपककी तरह अचल है सो दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है, इसमे अर्थ, वचन और योगका पलटना दूर हुआ होता है अर्थात् वह संक्रांति रहित है। वितर्ककी व्याख्या ४३ वें और वीचारकी व्याख्या ४४ वें सूत्रमे आवेगी।

२—जो ध्यान सूक्ष्म काययोगके अवलंबनसे होता है उसे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (तृतीय) शुक्लध्यान कहते हैं, और जिसमे आत्मप्रदेशोमे परिस्पंद और श्वासोच्छ्वासादि समस्त क्रियाये निवृत्त हो जाती हैं उसे व्युपरत क्रिया निवर्ति (चौथा) शुक्लध्यान कहते हैं ॥४१-४२॥

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—[श्रुतम्] श्रुतज्ञानको [वितर्कः] वितर्क कहते हैं।

नोट—'श्रुतज्ञान' शब्द श्रवणपूर्वक ज्ञानका ग्रहण बतलाता है। मतिज्ञानके भेदरूप चिंताको भी तर्क कहते है वह यहाँ ग्रहण नही करना ॥ ४३ ॥

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—[अर्थ व्यंजन योगसंक्रान्तिः] अर्थ, व्यंजन और योगका बदलना सो [वीचारः] वीचार है।

टीका

अर्थसंक्रान्ति—अर्थका तात्पर्य है ध्यान करने योग्य पदार्थ और संक्रान्तिका अर्थ बदलना है। ध्यान करने योग्य पदार्थमे द्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायका ध्यान करे अथवा पर्यायको छोडकर द्रव्यका ध्यान करे सो अर्थसंक्रान्ति है।

व्यंजनसंक्रान्ति—व्यंजनका अर्थ वचन और संक्रातिका अर्थ बदलना है।

श्रुतके किसी एक वचनको छोडकर अन्यका अवलबन करना तथा उसे छोडकर किसी अन्यका अवलबन करना तथा उसे छोडकर किसी अन्यका अवलंबन करना सो व्यजनसक्राति है।

योगसंक्रांति—काययोगको छोडकर मनोयोग या वचनयोगको ग्रहण करना और उसे छोडकर अन्य योगको ग्रहण करना सो योग सक्रांति है।

यह ध्यान रहे कि जिस जीवके शुक्लध्यान होता है वह जीव निर्विकल्प दशामे ही है, इसीलिये उसे इस सक्राति की खबर नही है; किंतु उस दशामे ऐसी पलटना होती है अर्थात् सक्राति होती है वह केवलज्ञानी जानता है।

ऊपर कही गई सक्राति—परिवर्तन को वीचार कहते है। जहाँ तक यह वीचार रहता है वहाँ तक इस ध्यानको सवीचार (अर्थात् पहला प्रथक्त्ववितर्क) कहते हैं। पश्चात् ध्यानमे दृढता होती है तब वह परिवर्तन रुक जाता है इस ध्यानको अवीचार (अर्थात् दूसरा एकत्व-वितर्क) कहते हैं।

प्रश्न—क्या केवली भगवानके ध्यान होता है ?

उत्तर—'एकाग्रचिंता निरोध' यह ध्यान का लक्षण है। एक एक पदार्थका चिंतवन तो क्षायोपशमिक ज्ञानीके होता है और केवली भगवानके तो एक साथ सपूर्ण पदार्थोका ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नही रहा कि जिसका वे ध्यान करे। केवली भगवान कृतकृत्य-है, उन्हे कुछ करना बाकी नही रहा, अतएव उनके वास्तवमे ध्यान नही है। तथापि आयु पूर्ण होने पर तथा अन्य तीन कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होनेपर योगका निरोध और कर्मोकी निर्जरा स्वयमेव होती है और ध्यानका कार्य भी योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा होना है, इसीलिये केवली भगवानके ध्यानकी सदृश कार्य देखकर —उपचारसे उनके शुक्लध्यान कहा जाता है, यथार्थमे उनके ध्यान

नहीं है ["भगवान परम सुखको ध्याते हैं" ऐसा प्र० सार गा० १९८ में कहा है वहाँ उनकी पूर्ण अनुभवदशा दिखाना है] ॥ ४४ ॥

यहाँ ध्यान तपका वर्णन पूर्ण हुआ।

इस नवमें अध्यायके पहले अठारह सूत्रोंमें संवर और उसके कारणों का वर्णन किया। उसके बाद निर्जरा और उसके कारणोंका वर्णन प्रारंभ किया। वीतरागभाव-रूप तपसे निर्जरा होती है (तपसा निर्जरा च सूत्र-३) उसे भेद द्वारा समझाने के लिये तपके बारह भेद बतलाये, इसके बाद छह प्रकारके अंतरंग तपके उपभेदोंका यहाँ तक वर्णन किया।

व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, बारह प्रकारके तप आदि संबंधी खास ध्यानमें रखने योग्य स्पष्टीकरण

१—कितने ही जीव सिर्फ व्यवहारनयका अवलंबन करते हैं उनके परद्रव्यरूप भिन्न साधनसाध्यभावकी दृष्टि है, इसीलिये वे व्यवहारमें ही खेद खिन्न रहते हैं। वे निम्नलिखित अनुसार होते हैं—

श्रद्धाके संबंधमें—धर्मद्रव्यादि परद्रव्योंकी श्रद्धा करते हैं।

ज्ञानके संबंधमें—द्रव्यश्रुतके पठन पाठनादि संस्कारोंसे अनेक प्रकार के विकल्पजालसे कलंकित चैतन्य वृत्तिको धारण करते हैं।

चारित्रके संबंधमें—यति के समस्त व्रत समुदायरूप तपादि-प्रवृत्ति-रूप कर्मकांडों को अचलितरूपसे आचरते हैं, इसमें किसी समय पुण्यकी रुचि करते हैं, कभी दयावन्त होते हैं।

दर्शनाचारके संबंधमें—किसी समय प्रशमता, किसी समय वैराग्य, किसी समय अनुकम्पा-दया और किसी समय आस्तिक्यमें वर्तता है, तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि आदि भाव उत्पन्न न हो ऐसी शुभोपयोगरूप सावधानी रखते हैं, मात्र व्यवहारनयरूप उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन अंगोंकी भावना विचारते हैं और इस संबंधी उत्साह बार बार बढाते हैं।

ज्ञानाचारके संबंधमें—स्वाध्यायका काल विचारते है, अनेक प्रकारकी विनयमे प्रवृत्ति करते है, शास्त्रकी भक्तिके लिये दुर्धर उपधान करते है–आरंभ करते हैं, शास्त्रका भले प्रकारसे बहुमान करते हैं, गुरु आदिमे उपकार प्रवृत्ति को नही भूलते, अर्थ–व्यजन और इन दोनोकी शुद्धतामे सावधान रहते है।

चारित्राचारके सम्बन्धमें–हिंसा, झूँठ, चोरी स्त्रीसेवन और परिग्रह इन सबसे विरतिरूप पचमहाव्रतमे स्थिर वृत्ति धारण करते है; योग (मन–वचन–काय) के निग्रहरूप गुप्तियोके अवलवन का उद्योग करते हैं; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिर्क्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियोमे सर्वथा प्रयत्नवत रहते है।

तपाचारके संबंधमें— अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेशमे निरतर उत्साह रखता है; प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय, और ध्यानके लिये चित्तको वशमे करता है।

वीर्याचारके सम्बन्धमें—कर्मकाडमे सर्वशक्तिपूर्वक वर्तता है।

ये जीव उपरोक्त प्रमाणसे कर्मचेतना की प्रधानता पूर्वक अशुभभाव की प्रवृत्ति छोडते है, किंतु शुभभावकी प्रवृत्तिको आदरने योग्य मानकर अगीकार करते हैं, इसीलिये सपूर्ण क्रियाकाडके आडम्बरसे अतिक्रात दर्शनज्ञान-चारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञान चेतनाको वे किसी भी समय प्राप्त नही होते।

वे बहुत पुण्यके भारसे मथर (-मंद, सुस्त) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हैं इसीलिये स्वर्गलोकादि क्लेश प्राप्त करके परम्परासे दीर्घकाल तक संसार सागरमे परिभ्रमण करते हैं (देखो पचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

वास्तवमें तो शुद्धभाव ही-सवर-निर्जरारूप है। यदि शुभभाव यथार्थ मे सवर-निर्जराका कारण हो तो केवल व्यवहारावलम्बीके समस्त प्रकारका निरतिचार व्यवहार है इसीलिये उसके शुद्धता प्रगट होनी

चाहिये। परन्तु राग संवर-निर्जराका कारण ही नही है। अज्ञानी शुभ-भावको धर्म मानता है इस वजहसे तथा शुभ करते करते धर्म होगा ऐसा माननेसे और शुभ-अशुभ दोनो दूर करने पर धर्म होगा ऐसा नही माननेसे उसका तमाम व्यवहार निरर्थक है, इसीलिये उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

भव्य तथा अभव्य जीवोने ऐसा व्यवहार (जो वास्तवमें व्यवहाराभास है) अनन्तबार किया है और इसके फलसे अनन्तवार नवमें ग्रैवेयक स्वर्ग तक गया है, किन्तु इससे धर्म नही हुआ। धर्म तो शुद्ध निश्चयस्वभाव के आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही होता है।

श्री समयसारमे कहा है कि—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करनेपर भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

टीका—यद्यपि अभव्यजीव भी शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति और पांच समितियोके प्रति सावधानीसे वर्तता हुआ अहिंसादि पांच महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र करता है तथापि वह निश्चारित्र (चारित्र रहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टिही है क्योकि **निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान श्रद्धानसे शून्य है—रहित है।**

भावार्थ—अभव्य जीव यद्यपि महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र का पालन करता है तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धाके विना वह चारित्र सम्यक् चारित्र नाम नही पाता, इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

नोट—यहां अभव्य जीवका उदाहरण दिया है किन्तु यह सिद्धांत व्यवहारका आश्रय से हित माननेवाले समस्त जीवोके एक सरीखा लागू होता है।

३—जो शुद्धात्माका अनुभव है सो यथार्थ मोक्षमार्ग है। इसीलिये उसके निश्चय कहा है। व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नहीं, किंतु निमित्तादिककी अपेक्षासे उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहा है, इसीलिये इसे व्यवहार कहते है। इसप्रकार यह जानना कि भूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा निश्चयनय और अभूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा व्यवहारनय कहा है। किन्तु इन दोनोको ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्याबुद्धि ही है। (देखो देहली० मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ट ३६७)

४—किसी भी जीवके निश्चय-व्यवहार का स्वरूप समझे विना धर्म या संवर-निर्जरा नहीं होती। शुद्ध आत्माका यथार्थ स्वरूप समझे विना निश्चय-व्यवहारका यथार्थ स्वरूप समझमे नहीं आता, इसलिये पहले आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझनेकी आवश्यकता है।

अब पात्रकी अपेक्षासे निर्जरामें होनेवाली न्यूनाधिकता बतलाते हैं।

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थ—[**सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानंत वियोजक दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोह क्षपक क्षीणमोह जिनाः**] सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरतमुनि, अनन्तानुबंधीका विसयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणी माडनेवाला, उपशांतमोह, क्षपक श्रेणी माडनेवाला, क्षीणमोह और जिन इन सवके (अंतर्मुहूर्त पर्यंत परिणामोकी विशुद्धताकी अधिकतासे आयुकर्मको छोडकर) प्रति समय [**क्रमशःअसंख्येयगुण निर्जराः**] क्रमसे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

टीका

(१) यहाँ पहले सम्यग्दृष्टि की—चौथे गुणस्थान की दशा वतलाई

है। जो असंख्यात गुणी निर्जरा कही है वह निर्जरा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले की एकदम समीप की (अत्यत निकट की) आत्माकी दशामे होनेवाली निर्जरासे असंख्यात गुणी जानना। प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके पहले तीन करण होते हैं, उनमे अनिवृत्ति करणके अत समयमे वर्तनेवाली विशुद्धतासे विशुद्ध, जो सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है उसके आयुको छोडकर सात कर्मो की जो निर्जरा होती है उनसे असख्यात गुणी निर्जरा असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करने पर अतर्मुहूर्त पर्यंत प्रतिसमय (निर्जरा) होती है अर्थात् सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टिकी निर्जरा से सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणी निर्जरामे असख्यगुणा द्रव्य है। यह चौथे गुणस्थानवाले अविरत–सम्यग्दृष्टि की निर्जरा है।

(२) जब यह जीव पाँचवाँ गुणस्थान–श्रावकदशा प्रगट करता है तब अन्तर्मुहूर्त पर्यंत निर्जरा होने योग्य कर्मपुद्गलरूप गुणश्रेणी निर्जराद्रव्य चौथे गुणस्थानसे असख्यात गुणा है।

(३) पाँचवेंसे जब सकलसयमरूप अप्रमत्तसयत (-सातवी) गुणस्थान प्रगट करे तब पचमगुणस्थानसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। पाँचवेंके बाद पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठनेपर छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान होता है। सूत्रमे 'विरत' शब्द कहा है इसमे सातवें और छट्ठे दोनो गुणस्थान वाले जीवोका समावेश होता है।

(४) तीन करणके प्रभावसे चार अनन्तानुबन्धी कषायको, बारह कषाय तथा नव नोकषायरूप परिणमा दे, उन जीवोके अन्तर्मुहूर्तपर्यंत प्रतिसमय असंख्यात गुणी द्रव्य निर्जरा होती है। अनतानुबन्धीका यह विसयोजन चौथे, पाँचवे, छट्ठे और सातवे, इन चारगुणस्थानोमें होता है।

(५) अनन्त वियोजकसे असख्यात गुणी निर्जरा दर्शनमोहके क्षपकके (उस जीवके) होती है। पहले अनन्तानुबन्धीका विसयोजन करनेके बाद दर्शनमोहके त्रिकका क्षय करे ऐसा क्रम है।

(६) दर्शनमोहका क्षपण करनेवालेसे 'उपशमक' के असख्यात गुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न—उपशमककी बात दर्शनमोहके क्षपण करनेवालेके बाद क्यो कही ?

उत्तर—क्षपक का अर्थ क्षायिक होता है, यहाँ क्षायिक सम्यक्त्वकी बात है; और 'उपशमक' कहनेसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व युक्त उपशम श्रेणी वाले जीव समझना। क्षायिक सम्यग्दृष्टिसे उपशमश्रेणी वालेके असख्यात गुणी निर्जरा होती है, इसीलिये पहले क्षपककी बात की है और उसके बाद उपशमककी बात की है क्षायक सम्यग्दर्शन चौथे, पाँचवे, छट्ठे और सातवे गुणस्थानमे प्रगट होता है और जो जीव चारित्रमोहका उपशम करने को उद्यमी हुये हैं उनके आठवाँ, नवमां और दशमां गुणस्थान होता है।

(७) उपशमक जीवकी निर्जरासे ग्यारहवे उपशातमोह गुणस्थान मे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

(८) उपशातमोहवाले जीवकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवालेके असख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस जीवके आठवा नवमां और दसमा गुणस्थान होता है।

(९) क्षपकश्रेणीवाले जीवकी अपेक्षा बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान मे असख्यात गुणी निर्जरा होती है।

(१०) बारहवे गुणस्थानकी अपेक्षा 'जिन' के (तेरहवे और चौदहवे गुणस्थानमे) असख्यातगुणी निर्जरा होती है। जिनके तीन भेद हैं (१) स्वस्थान केवली (२) समुद्घात केवली और (३) अयोग केवली। इन तीनोमे भी विशुद्धताके कारण उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा है। अत्यन्त विशुद्धताके कारण समुद्घात केवलीके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुकर्म के समान हो जाती है।

इस सूत्रका सिद्धान्त

इस सूत्रमे निर्जराके लिये प्रथम पात्र सम्यग्दृष्टि बतलाया गया है इसीसे यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारभ होता है ॥४५॥

अब निर्ग्रंथ साधुके भेद बतलाते हैं

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः निर्ग्रंथाः ॥४६॥

अर्थ—[पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथ स्नातका] पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक-ये पाँच प्रकारके [निर्ग्रंथा.] निर्ग्रंथ हैं।

टीका

१—सूत्रमें आये हुये शब्दोंकी व्याख्या-

(१) पुलाक—जो उत्तर गुणोकी भावनासे रहित हो और किसी क्षेत्र तथा कालमें किसी मूलगुणमे भी अतीचार लगावे तथा जिसके अल्प विशुद्धता हो उसे पुलाक कहते हैं। विशेष कथन सू० ४७ प्रति सेवनाका अर्थ।

(२) वकुश—जो मूल गुणोंका निर्दोष पालन करता है किन्तु धर्मानुरागके कारण शरीर तथा उपकरणोकी शोभा बढानेके लिये कुछ इच्छा रखता है उसे वकुश कहते हैं।

(३) कुशील—इसके दो भेद हैं १-प्रतिसेवना कुशील और (२) कषाय कुशील। जिसके शरीरादि तथा उपकरणादिसे पूर्ण विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तर गुणोकी परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुणमे क्वचित् कदाचित् विराधना होती हो उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। और जिसने संज्वलनके सिवाय अन्य कषायोको जीत लिया हो उसे कषाय-कुशील कहते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ—जिनके मोहकर्म क्षीण होगया है तथा जिनके मोह कर्मके उदयका अभाव है ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिको निर्ग्रंथ कहते हैं।

(५) स्नातक—समस्त घातिया कर्मों के नाश करने वाले केवली भगवानको स्नातक कहते है। (इसमे तेरहवां तथा चौदहवां दोनो गुणस्थान समझना)

२ परमार्थनिर्ग्रन्थ और व्यवहारनिर्ग्रन्थ

बारहवें, तेरहवे और चौदहवे गुणस्थानमे विराजनेवाले जीव परमार्थ निर्ग्रन्थ हैं, क्योकि उनके समस्त मोहका नाश हो गया है, इन्हे निश्चयनिर्ग्रन्थ कहते हैं। अन्य साधु यद्यपि सम्यग्दर्शन और निष्परिग्रहत्व को लेकर निर्ग्रंथ हैं अर्थात् वे मिथ्यादर्शन और अविरति रहित हैं तथा वस्त्र, आभरण, हथियार, कटक, धन, धान्य आदि परिग्रहसे रहित होनेसे निर्ग्रंथ हैं तथापि उनके मोहनीय कर्मका आंशिक सद्भाव है, इसीलिये वे व्यवहार निर्ग्रंथ हैं।

कुछ स्पष्टीकरण

(१) **प्रश्न**—यद्यपि पुलाक मुनिके क्षेत्र कालके वश किसी समय किसी एक व्रतका भग होता है तथापि उसे निर्ग्रन्थ कहा, तो क्या श्रावक के भी निर्ग्रन्थत्व कहने का प्रसग आवेगा ?

उत्तर—पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवशसे या जबरदस्तीसे व्रत मे क्षणिक दोष हो जाता है, किंतु यथाजातरूप है, इसीलिये नैगमनयसे वह निर्ग्रन्थ है, श्रावकके यथाजातरूप (नग्नता) नही है, इसीलिये उसके निर्ग्रन्थत्व नही कहलाता। [उद्देशिक और अध:कर्मके आहार जल को जानते हुए भी लेते है उसकी गणना पुलाकादि कोई भेद मे नही है ॥]

(२) **प्रश्न**—पुलाक मुनिको यदि यथाजात रूपको लेकर ही निर्ग्रंथ कहोगे तो अनेक मिथ्यादृष्टि भी नग्न रहते हैं उनको भी निर्ग्रन्थ कहनेका प्रसग आवेगा।

उत्तर—उनके सम्यग्दर्शन नही है। मात्र नग्नत्व तो पागलके, बालक के साथ तिर्यंचोके भी होता है, परन्तु इसीलिये उन्हे निर्ग्रंथ नही कहते। किंतु जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक संसार और देह, भोगसे विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है चारित्रमोहकी तीन जातिके कषाय का अभाव किये है उसे निर्ग्रन्थ कहा जाता है, दूसरेको नही ॥ ४६ ॥

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान-विकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

अर्थ—उपरोक्त मुनि [सयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपाद-स्थानविकल्पतः] सयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगो द्वारा [साध्याः] भेदरूपसे साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकारसे इन पुलाकादि मुनियोमे विशेष भेद होते हैं।

टीका

(१) संयम—पुलाक, वकुश, और प्रतिसेवना कुशील साधुके सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो सयम होते हैं। कषाय कुशील साधुके सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापराय, ये चार सयम होते हैं, निर्ग्रन्थ और स्नातकके यथाख्यात चारित्र होता है।

(२) श्रुत—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादासे ज्यादा सम्पूर्ण दश पूर्वधारी होते हैं, पुलाकके जघन्य आचारांगमे आचार वस्तु का ज्ञान होता है और वकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलके जघन्य अष्ट-प्रवचन माताका ज्ञान होता है अर्थात् आचारांगके १८००० पदोमेसे पाच समिति और तीन गुप्तिका परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओका ज्ञान होता है; कषायकुशील और निर्ग्रन्थके उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्वका होता है और जघन्यज्ञान आठ प्रवचन माता का होता है। स्नातक तो केवल ज्ञानी है, इसीलिये वे श्रुतज्ञान से दूर हैं। [अष्ट प्रवचन माता = तीन गुप्ति-पाँच समिति]

(३) प्रतिसेवना—(-विराधना) पुलाकमुनिके परवशसे या जबर्दस्ती से पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनका त्याग इन छहमे से किसी एक की विराधना हो जाती है। महाव्रतोमें तथा रात्रिभोजन त्यागमे कृत, कारित, अनुमोदनासे पांचो पापोंका त्याग है उनमेसे किसी प्रकारमे सामर्थ्यकी

हीनतासे दूषण लगता है, उपकरण–वकुश मुनिके कमडल, पीछी, पुस्तकादि उपकरणकी शोभाकी अभिलाषाके सस्कारका सेवन होता है, सो विराधना जानना। तथा बकुशमुनिके शरीरके सस्काररूप विराधना होती है, प्रतिसेवनाकुशील मुनि पाँच महाव्रतकी विराधना नही करता किन्तु उत्तरगुणमे किसी एककी विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकके विराधना नही होती।

(४) **तीर्थ**—ये पुलाकादि पाँचो प्रकारके निर्ग्रन्थ समस्त तीर्थङ्करोके धर्मशासनमे होते हैं।

(५) **लिंग**—इसके दो भेद हैं १–द्रव्यलिंग और २–भावलिंग। पाँचो प्रकारके निर्ग्रन्थ भावलिंगी होते हैं। वे सम्यग्दर्शन सहित संयम पालने मे सावधान हैं। भावलिंग का द्रव्यलिंगके साथ निमित्त नैमित्तिक संबंध है। यथाजातरूप लिंगमे किसीके भेद नही है किन्तु प्रवृत्तिरूप लिंग मे अतर होता है, जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थमे विहार करता है, कोई अनेक आसनरूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेता है, कोई दूषण नही लगाता, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यानमे श्रेणीका प्रारम्भ करता है, इत्यादि राग (-विकल्प) रूप द्रव्यलिंगमे मुनिगणोके भेद होता है। मुनिके शुभभावको द्रव्यलिंग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं; इन प्रकारोको द्रव्यलिंग कहा जाता है।

(६) **लेश्या**—पुलाक मुनिके तीन शुभ लेश्याये होती हैं। बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके छहो लेश्या भी होती हैं। कषाय से अनुरंजित योग परिणतिको लेश्या कहते हैं।

प्रश्न—बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें किस तरह होती है?

उत्तर—उन दोनो प्रकारके मुनिके उपकरणकी कुछ आसक्तिके

कारण किसी समय आर्तध्यान भी हो जाता है और इसीलिये उनके कृष्णादि अशुभ लेश्या भी हो सकती है।

कषायकुशील मुनिके कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती है। सूक्ष्म सापराय गुणस्थानवर्ती के तथा निर्ग्रन्थके शुक्ल लेश्या होती है। स्नातकके उपचारसे शुक्ल लेश्या है, अयोग केवलीके लेश्या नही होती।

(७) उपपाद—पुलाक मुनिका–उत्कृष्ट अठारह सागरकी आयुके–साथ–बारहवे सहस्रार स्वर्गमे जन्म होता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशीलका–उत्कृष्ट जन्म बाईस सागरकी आयुके साथ पन्द्रहवें आरण और और सोलहवे अच्युत स्वर्गमे जन्म होता है। कषायकुशील और निर्ग्रंथका–उत्कृष्ट जन्म तेतीस सागरकी आयुके साथ सर्वार्थ सिद्धिमे होता है। इन सबका जघन्य सौधर्म स्वर्गमे दो सागरकी आयुके साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं उनका उपपाद निर्वाण–मोक्षरूपसे होता है।

(८) स्थान—तीव्र या मद कषाय होनेके कारण असख्यात सयम-लब्धिस्थान होते है, उनमेसे सबसे छोटा सयमलब्धिस्थान पुलाक मुनिके और कषायकुशीलके होता है। ये दोनो एक साथ असख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते है, पुलाक मुनि इन असख्यात लब्धिस्थानोके बाद आगेके लब्धिस्थान प्राप्त नही कर सकते। कषायकुशील मुनि उनसे आगेके असख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

यहाँ दूसरी बार कहे गये असख्यात लब्धिस्थानसे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश मुनि ये तीनो एकसाथ असख्यात लब्धि-स्थान प्राप्त करते है।

वकुशमुनि इस तीसरी बार कहे गये असख्यात लब्धि स्थानमे रुक जाता है आगेके स्थान प्राप्त नही कर सकता, प्रतिसेवनाकुशील वहाँ से आगे असख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं।

कषायकुशील मुनि ये चौथी बार कहे गये असख्यात लब्धिस्थानमेसे

आगे असख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं, इससे आगेके स्थान प्राप्त नही कर सकते।

निर्ग्रंथ मुनि इन पाँचवीवार कहे गये लब्धिस्थानोसे आगे कषायरहित संयमलब्धिम्स्थानोको प्राप्त कर सकता है। ये निर्ग्रंथ मुनि भी आगेके असख्यात लब्धिस्थानोकी प्राप्ति कर सकते है, पश्चात् रुक जाता है। उसके बाद एक सयमलब्धिस्थानको प्राप्त करके स्नातक निर्वाणको प्राप्त करता है।

इसप्रकार सयमलब्धिके स्थान है, उनमे अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा से संयमकी प्राप्ति अनन्त अनन्तगुणी होती है॥ ४७॥

उपसंहार

१—इस अध्यायमे आत्माकी धर्मपरिणति का स्वरूप कहा है; इस परिणतिको 'जिन' कहते हैं।

२—अपूर्वकरण परिणामको प्राप्त हुये प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोको 'जिन' कहा जाता है। (गोमट्टसार जीवकाड गाथा १ टीका, पृष्ठ १६) यहासे लेकर पूर्णशुद्धि प्राप्त करनेवाले सब जीव सामान्यतया 'जिन' कहलाते हैं। श्रीप्रवचनसारके तीसरे अध्यायकी पहली गाथामें श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—"दूसरे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीव 'एकदेशजिन' है, केवली भगवान 'जिनवर' हैं और तीर्थंकर भगवान 'जिनवर वृषभ' हैं।" मिथ्यात्व रागादिको जीतनेसे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनिको जिन' कहते है, उनमे गणधरादि श्रेष्ठ हैं इसलिये उन्हे 'श्रेष्ठ जिन' अथवा 'जिनवर' कहा जाता है और तीर्थंकरदेव उनसे भी प्रधान–श्रेष्ठ हैं इसीलिये उन्हे 'जिनवर वृषभ' कहते हैं। (देखो द्रव्यसग्रह गाथा १ टीका) श्री समयसारजीकी ३१ वी गाथा मे भी सम्यग्दृष्टिको 'जितेन्द्रिय जिन' कहा है।

सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि और अध करण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण का स्वरूप श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ मे दिया है।

गुणस्थानोका स्वरूप श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिकाके अंतिम अध्यायमे दिया है, सो वहाँ से समझ लेना।

३—चतुर्थ गुणस्थान से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है और निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारंभ होता है यह बतानेके लिये इस शास्त्र में पहले अध्यायका पहला ही सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' दिया है। धर्ममे पहले निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके कालमे अपूर्वकरणसे संवर-निर्जरा का प्रारभ होता है। इस अधिकारके दूसरे सूत्रमे सम्यग्दर्शनको संवर-निर्जराके कारणरूपमे प्रथक् नही कहा। इसका कारण यह है कि इस अध्यायके ४५ वे सूत्रमे इसका समावेश हो जाता है।

४—जिनधर्मका अर्थ है वस्तुस्वभाव। जितने अशमें आत्माकी स्वभावदशा (-शुद्ध दशा) प्रगट होती है उतने अशमे जीवके 'जिनधर्म' प्रगट हुआ कहलाता है। जिनधर्म कोई सप्रदाय, वाडा, या सघ नही किंतु आत्माकी शुद्धदशा है, और आत्माकी शुद्धतामे तारतम्यता होनेपर शुद्धरूप तो एक ही तरहका है अतः जिनधर्ममे प्रभेद नही हो सकते। जैनधर्मके नामसे जो वाडाबदी देखी जाती है उसे यथार्थमे जिन धर्म नही कह सकते। भरतक्षेत्रमे जिनधर्म पांचवें कालके अ तक रहनेवाला है अर्थात् वहा तक अपनी शुद्धता प्रगट करनेवाले मनुष्य इस क्षेत्रमे ही होते हैं और उनके शुद्धताके उपादान कारणकी तैयारी होनेसे आत्मज्ञानी गुरु और सत् शास्त्रोका निमित्त भी होता ही है। जैनधर्मके नामसे कहे जानेवाले शास्त्रोमेसे कौनसे शास्त्र परम सत्यके उपदेशक हैं इसका निर्णय धर्म करनेके इच्छुक जीवोको अवश्य करना चाहिये। जबतक जीव स्वय यथार्थ परीक्षा करके कौन सच्चादेव शास्त्र और गुरु हैं इसका निर्णय नही करता, तथा आत्मज्ञानी गुरु कौन है उसका निर्णय नही करता तब तक गृहीतमिथ्यात्व दूर नही होता, गृहीत मिथ्यात्व दूर हुये बिना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है? इसीलिये जीवोको स्व मे जिनधर्म प्रगट करनेके लिये अर्थात् यथार्थ सवर निर्जरा प्रगट करनेके लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

—५ सम्यग्दृष्टि जीवने आत्मस्वभावकी प्रतीति करके अज्ञान और दर्शनमोहको जीत लिया है इसलिये वह रागद्वेषका कर्ता और स्वामी नही होता, वह कभी हजारो रानियोके सयोगके बीचमे है तथापि 'जिन' है। चौथे, पाँचवे गुणस्थानमे रहनेवाले जीवोका ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कैसा है यह बतानेके लिये अनन्त ज्ञानियोने यह स्वरूप कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवोके अपनी शुद्धपर्यायके अनुसार (-शुद्धताके प्रमाणमे) संवर–निर्जरा होती है।

६—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको नही समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोकी बाह्य सयोगो और बाह्य त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिये वे उपरोक्त कथनका आशय नही समझ सकते और सम्यग्दृष्टिके अतरग परिणमनको वे नही समझ सकते। इसलिये धर्म करनेके इच्छुक जीवोको संयोगदृष्टि छोडकर वस्तु स्वरूप समझनेकी और यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करनेकी आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उनपूर्वक सम्यक्चारित्रके बिना संवर-निर्जरा प्रगट करनेका अन्य कोई उपाय नही है। इस नवमे अध्यायके २९ वे सूत्रकी टीकासे मालूम पडेगा कि मोक्ष और ससार इन दो के अलावा और कोई साधने योग्य पदार्थ नही है। इस जगतमे दो ही मार्ग है—मोक्षमार्ग और ससारमार्ग।

७—सम्यक्त्व मोक्षमार्गका मूल है और मिथ्यात्व ससारका मूल है। जो जीव ससार मार्गसे विमुख हो वे ही जीव मोक्षमार्ग (अर्थात् सच्चे सुख के उपायरूप धर्म) प्राप्त कर सकते है। बिना सम्यग्दर्शनके जीवके सवर-निर्जरा नही होती, इसीलिए दूसरे सूत्रमे सवरके कारण बतलाते हुए उनमे प्रथम गुप्ति बतलाई, उसके बाद दूसरे कारण कहे है।

८—यह ध्यान रहे कि इस शास्त्रमे आचार्य महाराजने महाव्रतो या देशव्रतोको सवरके कारणरूपसे नही बतलाया, क्योकि सातवे अध्याय के पहले सूत्रमे बताये गये प्रमाणसे वह शुभास्रव है।

९—यह समझानेके लिये चौथे सूत्रमे 'सम्यक्' शब्दका प्रयोग किया है कि गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, दशप्रकारका धर्म, परीषहजय और चारित्र ये सभी सम्यग्दर्शनके विना नही होते।

—१० छट्ठे सूत्रमे धर्मके दश भेद बतलाये है। उसमे दिया गया उत्तम विशेषण यह बतलाता है कि धर्मके भेद सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकते हैं। इसके बाद सातवे सूत्रमे अनुप्रेक्षाका स्वरूप और ८ वें सूत्रसे १७ वे सूत्र तक परीषहजयका स्वरूप कहा है। शरीर और दूसरी बाह्य वस्तुओकी जिस अवस्था को लोग प्रतिकूल मानते हैं उसे यहाँ परीषह कहा गया है। आठवें सूत्रमे 'परिषोढव्या' शब्द का प्रयोग करके उन परीषहोको सहन करनेका उपदेश दिया है। निश्चयसे परीषह क्या है और उपचारसे परीषह किसे कहते हैं—यह नही समझनेवाले जीव १०-११ सूत्रका आश्रय लेकर (कुतर्क द्वारा) ऐसा मानते हैं कि-'केवली भगवानके क्षुधा और तृषा (भूख और प्यास) की व्याधिरूप परीषह होती है, और छद्मस्थ रागी जीवोकी तरह केवली भगवान भी भूख और प्यासकी व्याधिको दूर करनेके लिए खान-पान ग्रहण करते हैं और रागी जीवोकी तरह भगवान भी अतृप्त रहते हैं' परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है। सातवे गुणस्थानसे ही आहारसज्ञा नही होती (गोमट्टसार जीव काड गाथा १३९ की बडी टीका पृष्ठ ३५१-३५२) तथापि जो लोग केवली भगवान के खान-पान मानते है वे भगवानको आहार सज्ञासे भी दूर हुये नही मानते (देखो सूत्र १०-११ की टीका)।

११—जब भगवान मुनि अवस्थामे थे तब तो करपात्री होनेसे स्वय ही आहारके लिये निकलते और जो दाता श्रावक भक्तिपूर्वक पडगाहन करते हैं तो वे खडे रहकर करपात्रमे आहार लेते। परन्तु जो ऐसा मानते है कि वीतरागी होनेके बाद भी असह्य वेदनाके कारण भगवान आहार लेते हैं, उन्हे ऐसा मानना पडता है या पडेगा कि 'भगवानके कोई गणधर या मुनि आहार लाकर देते हैं, वे स्वय नही जाते।' अब देखो कि छद्मस्थ अवस्थामें तो भगवान आहारके लिये किसीसे याचना नही करते और अब वीतराग होनेके बाद आहार लानेके लिये शिष्योसे याचना करे, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। पुनश्च-भगवानको आहार–पानीका दाता तो वह आहार लाने वाला मुनि ही हुआ। भगवान कितना आहार लेगे, क्या क्या लेंगे, अपन जो कुछ ले जायेंगे वह सब भगवान लेंगे, उनमेसे कुछ

बचेगा या नही ? इत्यादि बाते भगवान स्वय पहलेसे निश्चय करके मुनि को कहते हैं या आहार लाने वाले मुनि स्वय निश्चय करते है ? ये भी विचारणीय प्रश्न है। पुनश्च नग्न मुनिके पास पात्र तो होता नही इसी कारण वह आहार लानेके लिये निरुपयोगी है, और इसीलिये भगवान स्वय मुनि दशामे नग्न थे तथापि उनके वीतराग होनेके बाद उनके गण-धरादिकको पात्र रखने वाले अर्थात् परिग्रहधारी मानना पडेगा और यह भी मानना पडेगा कि भगवानने उस पात्रधारी मुनिको आहार लानेकी आज्ञा की। किंतु यह सब असगत है—ठीक नही है।

१२—पुनश्च यदि भगवान स्वय अशन-पान करते हो तो भगवान की ध्यान मुद्रा दूर हो जायगी क्योंकि अध्यान मुद्राके अलावा पात्रमे रहे हुये आहारको देखनेका, उसके टुकडे करने, कौर लेने, दातसे चाबने, गलेमे उतारने आदिकी क्रियाये नही हो सकती। अब यदि भगवानके अध्यान-मुद्रा या उपरोक्त क्रियाये स्वीकार करे तो वह प्रमाददशा होती है। पुनश्च आठवे सूत्र मे ऐसा उपदेश देते है कि परीषहे सहन करनी चाहिये और भगवान स्वय ही वैसा नही कर सकते अर्थात् भगवान अशक्य कार्यो का उपदेश देते है, ऐसा अर्थ करने पर भगवानको मिथ्या उपदेशी कहना पडेगा।

१३—४६ वे सूत्रमे निर्ग्रन्थोके भेद बताये है उनमे 'बकुश' नामक एक भेद बतलाया है, उनके धर्म प्रभावनाके रागसे शरीर तथा शास्त्र, कमडल, पीछी पर लगे हुये मैलको दूर करनेका राग हो जाता है। इस परसे कोई यह कहना चाहते हैं कि–उस 'बकुश' मुनिके वस्त्र होनेमे बाधा नही, परन्तु उनका यह कथन न्याय विरुद्ध है, ऐसा छट्ठे अध्यायके तेरहवे सूत्रकी टीकामे बतलाया है। पुनश्च मुनिका स्वरूप नही समझने वाले ऐसा भी कहना चाहते हैं कि यदि मुनिको शरीरकी रक्षाके लिये अथवा संयमकी रक्षाके लिये वस्त्र हो तो भी वे क्षपक श्रेणी मांडकर केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं। यह बात भी मिथ्या है। इस अध्याय के ४७ वे सूत्रकी टीकामें सयमके लब्धिस्थानोका स्वरूप दिया है इस परसे मालूम

होगा कि वकुश मुनि तीसरी वारके सयमलब्धिस्थानमे रुक जाता है और कषाय-रहित दशा प्राप्त नही कर सकता, तो फिर ऋतु इत्यादि की विपमतासे शरीरकी रक्षा के लिये वस्त्र रखे तो ऐसे रागवाला सम्यग्दृष्टि हो तो भी मुनिपद प्राप्त नही कर सकता और सर्वथा अकषाय दशाकी प्राप्ति तो वे कर ही नही सकते, यही देखा भी जाता है।

१४—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीपहजय और चारित्रके स्वरूपके सम्वन्धमे होनेवाली भूल और उसका निराकरण उन उन विषयो से सम्वन्धित सूत्रोकी टीकामे दिया है, वहांसे समझ लेना। कुछ लोग आहार न लेनेको तप मानते हैं किंतु यह मान्यता यथार्थ नही। तपकी इस व्याख्या मे होने वाली भूल दूर करनेके लिये सम्यक् तपका स्वरूप १९ वे सूत्रकी भूमिकामे तथा टीका पैकरा ५ में दिया है, उसे समझना चाहिये।

१५—मुमुक्षु जीवोको मोक्षमार्ग प्रगट करनेके लिये उपरोक्त वारेमे यथार्थ विचार करके सवर-निर्जरा तत्त्वका स्वरूप वरावर समझना चाहिये। जो जीव अन्य पाँच तत्त्वो सहित इस सवर तथा निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है उस अपने चैतन्यस्वरूप स्वभाव भावकी ओर झुक कर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा ससार चक्रको तोडकर अल्पकालमे वीतराग चारित्रको प्रगट कर निर्वाण-मोक्षको प्राप्त करता है।

१६—इस अध्यायमें सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहते हुए उसके अनुसधानमे धर्मध्यान और शुक्लध्यानका स्वरूप भी वतलाया है। (देखो सूत्र ३६ से ३९) चारित्रके विभागमे यथाख्यात चारित्र भी समाविष्ट हो जाता है, चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयमे परम यथाख्यात चारित्र प्रगट होने पर सर्वगुणोके चारित्रकी पूर्णता होती है और उसी समय जीव निर्वाणदशा प्राप्त करता है—मोक्ष प्राप्त करता है। ४७ वे सूत्रमे सयम-लब्धिस्थानका कथन करते हुये उसमें निर्वाण पद प्राप्त होने तककी दशाका वर्णन किया गया है। इसतरह इस अध्याय मे सव तरह की 'जिन' दशाका स्वरूप आचार्य भगवान ने वहुत थोडे सूत्रो द्वारा वताया है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके नवमें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र अध्याय दशवाँ

भूमिका

१—आचार्यदेवने इस शास्त्रके शुरूआतमे पहले अध्यायके पहले ही सूत्रमें कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है—कल्याणमार्ग है। उसके बाद सात तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, इसप्रकार बतलाकर सात तत्त्वोके नाम बतलाये और दस अध्याय मे उन सात तत्त्वोका वर्णन किया। उनमे इस अन्तिम अध्यायमे मोक्ष-तत्त्वका वर्णन करके यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—मोक्ष सवर-निर्जरापूर्वक होती है, इसीलिये नवमे अध्यायमे सवर-निर्जराका स्वरूप कहा, और अपूर्वकरण प्रगट करनेवाले सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोसे लेकर चौदहवे गुणस्थानमे विराजनेवाले केवलीभगवान तकके समस्त जीवोके सवर-निर्जरा होती है ऐसा उसमे बतलाया। इस निर्जराकी पूर्णता होने पर जीव परमसमाधानरूप निर्वाणपदमे विराजता है; इस दशाको मोक्ष कहा जाता है। मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जीवोने सर्व कार्य सिद्ध किया अत. 'सिद्ध भगवान' कहे जाते हैं।

३—केवली भगवानके (तेरहवे और चौदहवे गुणस्थानमे) संवर-निर्जरा होती है अत उनका उल्लेख नवमे अध्यायमे किया गया है किन्तु वहाँ केवलज्ञानका स्वरूप नही बतलाया। केवलज्ञान भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके बलसे द्रव्यमोक्ष (सिद्धदशा) होता है। (देखो प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ८४ जयसेनाचार्य की टीका) इसीलिये इस अध्यायमे प्रथम भावमोक्षरूप केवलज्ञानका स्वरूप बताकर फिर द्रव्यमोक्ष का स्वरूप बतलाया है।

अब केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—[मोहक्षयात्] मोहका क्षय होनेसे (अंतर्मुहूर्तपर्यंत क्षीण-कषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करनेके बाद) [ज्ञानदर्शनावरणांतराय क्षयात् च] और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अंतराय इन तीन कर्मों का एक साथ क्षय होनेसे [केवलम्] केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

टीका

१—प्रत्येक जीव द्रव्य एक पूर्ण अखंड है अत. उसका ज्ञान सामर्थ्य संपूर्ण है। संपूर्ण वीतराग होनेपर संपूर्ण सर्वज्ञता प्रगट होती है। जब जीव संपूर्ण वीतराग होता है तब कर्मके साथ ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है कि–मोहकर्म जीवके प्रदेशमे संयोगरूपसे रहता ही नही, उसे मोहकर्मका क्षय हुआ कहा जाता है। जीवकी संपूर्ण वीतरागता प्रगट होनेके बाद अल्पकालमें तत्काल ही संपूर्णज्ञान प्रगट होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध, अखंड, राग रहित है। इस दशामे जीवको 'केवली भगवान्' कहते हैं। भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसीलिये वे केवली नही कहलाते, परन्तु 'केवल' अर्थात् शुद्ध आत्माको जानते अनुभवते हैं अत. वे 'केवली' कहलाते हैं। भगवान एकसाथ परिणमनेवाले समस्त चैतन्य-विशेषवाले केवलज्ञानके द्वारा अनादि निधन, निष्कारण असाधारण स्वसंवेद्यमान् चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतक स्वभावके द्वारा एकरूप होनेसे जो केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है ऐसे आत्माको आत्मा से आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली है।

(देखो श्री प्रवचनसार गाथा ३३)

यह व्यवहार कथन है कि भगवान परको जानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारसे केवलज्ञान लोकालोकको युगपत् जानता है, क्योंकि स्व-पर प्रकाशक निज शक्तिके कारण भगवान संपूर्ण ज्ञानरूपसे परिणमते हैं अतः कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय उनके ज्ञानके बाहर नही है। निश्चयसे तो केवलज्ञान अपने शुद्ध स्वभावको ही अखण्डरूपसे जानता है।

२—केवलज्ञान स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है, स्वतन्त्र है तथा क्रम रहित है। यह ज्ञान जब प्रगट हो तब ज्ञानावरण कर्मका सदाके लिये क्षय होता

है, इसीलिये इस ज्ञानको क्षायिकज्ञान कहते है। जब केवलज्ञान प्रगट होता है उसीसमय केवलदर्शन और सपूर्ण वीर्य भी प्रगट होता है और दर्शनावरण तथा अंतरायकर्मका सर्वथा अभाव (नाश) हो जाता है।

४—केवलज्ञान होनेपर भावमोक्ष हुवा कहलाता है (यह अरिहंत दशा है) और आयुष्यकी स्थिति पूरी होनेपर चार अघातिया कर्मोका अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है, मोक्ष केवलज्ञान पूर्वक ही होता है इसलिये मोक्षका वर्णन करने पर उसमे पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका सूत्र बतलाया है।

५–प्रश्न–क्या यह मान्यता ठीक है कि जीवके तेरहवे गुणस्थान मे अनन्तवीर्य प्रगट हुवा है तथापि योग आदि गुणका विकार रहता है और ससारित्व रहता है इसका कारण अघातिकर्मका उदय है ?

उत्तर—यह मान्यता यथार्थ नही है। तेरहवे गुणस्थानमे ससारित्व रहनेका यथार्थ कारण यह है कि वहाँ जीवके योग गुणका विकार है तथा जीवके प्रदेशोकी वर्तमान योग्यता उस क्षेत्रमे (-शरीरके साथ) रहने की है, तथा जीवके अव्याबाध, ❀ निर्नामी, निर्गोत्री और अनायुषी आदि-गुण अभी पूर्ण प्रगट नही हुआ इस प्रकार जीव अपने ही कारणसे ससार मे रहता है। वास्तवमे जड अघातिकर्मके उदयके कारणसे या किसी पर के कारणसे जीव ससारमे रहता है, यह मान्यता बिल्कुल असत् है। यह तो मात्र निमित्तका उपचार करनेवाला व्यवहार कथन है कि 'तेरहवे गुण-स्थानमे चार अघातिकर्मोका उदय है इसीलिये जीव सिद्धत्वको प्राप्त नही होता' जीवके अपने विकारी भावके कारण ससार दशा होनेसे तेरहवें और चौदहवे गुणस्थानमे भी जडकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबध कैसा होता है वह बतानेके लिये कर्म शास्त्रोमे ऊपर बताये अनुसार व्यवहार कथन किया जाता है। वास्तवमे कर्मके उदय, सत्ता इत्यादिके कारण कोई जीव ससारमे रहता है यह मानना सो, जीव और जड़कर्मको एकमेक मानने-रूप मिथ्या-मान्यता है। शास्त्रोका अर्थ करनेमे अज्ञानियोकी मूलभूत भूल

❀ यह गुणोके नाम बृ० द्रव्यसग्रह गा० १३-१४ की टीका में हैं।

यह है कि व्यवहारनयके कथनको वह निश्चयनयके कथन मानकर व्यवहार को ही परमार्थ मान लेता है। यह भूल दूर करनेके लिये आचार्य भगवानने इस शास्त्रके प्रथम अध्यायके छट्ठे सूत्रमे प्रमाण तथा नयका यथार्थ ज्ञान करने की आज्ञा की है (प्रमाण नयैरधिगम.) जो व्यवहारके कथनो को ही निश्चयके कथन मानकर शास्त्रोका वैसा अर्थ करते हैं उनके उस अज्ञानको दूर करनेके लिये श्री कुन्दकुदाचार्यदेवने समयसारजी मे ❀ ३२४ से ३२६ वी गाथा कही हैं। इसलिए जिज्ञासुओको शास्त्रोका कथन किस नयसे है और इसका परमार्थ (-भूतार्थ सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है यह यथार्थ समझकर शास्त्रकारके कथनके मर्मको जान लेना चाहिये, परन्तु भाषाके शब्दोको नही पकडना चाहिये।

६. केवलज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता ?

(१) **प्रश्न**—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मोक्षके कारणभूत रत्नत्रयकी पूर्णता हो जाती है तो फिर उसीसमय मोक्ष होना चाहिये, इसप्रकार जो सयोगी तथा अयोगी ये केवलियोके दो गुणस्थान कहे हैं उनके रहने का कोई समय ही नही रहता ?

उत्तर—यद्यपि केवलज्ञान की उत्पत्तिके समय यथाख्यातचारित्र हो गया है तथापि अभी परमयथाख्यातचारित्र नही हुआ। कषाय और योग अनादिसे अनुसगी-(साथी) हैं तथापि प्रथम कषायका नाश होता है, इसी-

---

❀ वे गाथाये इस प्रकार है—

व्यवहार भाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति॥ ३२६ ॥

लिये केवली भगवानके यद्यपिवीतरागतारूप यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है तथापि योगके व्यापारका नाश नही हुआ। योगका परिस्पंदनरूप व्यापार परमयथाख्यातचारित्रके दूषण उत्पन्न करनेवाला हैं। इस योगके विकार की क्रम क्रमसे भावनिर्जरा होती है। इस योगके व्यापारकी सपूर्ण भावनिर्जरा होजाने तक तेरहवाँ गुणस्थान रहता है। योगका अशुद्धतारूप–चचलतारूप व्यापार बंध पडनेके बाद भी कितनेक समय तक अव्याबाध, निर्नाम (नाम रहितत्व), अनायुष्य (आयुष्यरहितत्व) और निर्गोत्र ❀ आदि गुण प्रगट नही होते, इसीलिये चारित्रमे दूषण रहता है। चौदहवे गुणस्थानके अतिम समय का व्यय होनेपर उस दोषका अभाव हो जाता है और उसीसमय परमयथाख्यात चारित्र प्रगट होनेसे अयोगी जिन मोक्षरूप अवस्था धारण करता है, इसरीतिसे मोक्ष अवस्था प्रगट होने पहले सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान प्रत्येक केवली भगवानके होते हैं।

[❀ देखो–बृ० द्रव्यसग्रह गा० १३–१४ की टीका]

(२) **प्रश्न**—यदि ऐसा माने कि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय मोक्ष अवस्था प्रगट होजाय तो क्या दूषण लगेगा ?

उत्तर—ऐसा मानने पर निम्न दोष आते हैं—

१—जीवमे योग गुणका विकार होनेपर, तथा अन्य (अव्याबाध आदि) गुणोमे विकार होनेपर और परमयथाख्यातचारित्र प्रगट हुये बिना, जीवकी सिद्धदशा प्रगट हो जायगी जो कि अशक्य है।

२—यदि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय सिद्ध दशा प्रगट हो जाय तो धर्म तीर्थ ही न रहे, यदि अरिहत दशा ही न रहे तो कोई सर्वज्ञ उपदेशक–आप्त पुरुष ही न हो। इसका परिणाम यह होगा कि भव्य जीव अपने पुरुषार्थसे धर्म प्राप्त करने योग्य–दशा प्रगट करनेके लिये तैयार हो तथापि उसे निमित्तरूप सत्य धर्मके उपदेशका (दिव्यध्वनिका) सयोग न होगा अर्थात् उपादान निमित्तका मेल टूट जायगा। इसप्रकार बन ही नही सकता, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस समय जो जीव अपने उपादानकी जागृतिसे धर्म प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करता है उससमय उस जीवके

इतना पुण्य का सयोग होता ही है कि जिससे उसे उपदेशादिक योग्य निमित्त (सामग्री) स्वय मिलती ही हैं। उपादानकी पर्यायका और निमित्त की पर्यायका ऐसा ही सहज निमित्त नैमित्तिक सबंध है। यदि ऐसा न हो तो जगतमे कोई जीव धर्म प्राप्त कर ही न सकेगे। अर्थात् समस्त जीव द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण है तथापि अपनी शुद्ध पर्याय कभी प्रगट कर नही सकते। ऐसा होनेपर जीवोका दु ख कभी दूर नही होगा और वे सुखस्वरूप कभी नही हो सकेगे।

३–जगतमे यदि कोई जीव धर्म प्राप्त नही कर सकता तो तीर्थंकर, सिद्ध, अरिहत, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि की भूमिकामे रहनेवाले उपदेशक इत्यादि पद भी जगत्‌में न रहेगे, जीवकी साधक और सिद्धदशा भी न रहेगी, सम्यग्दृष्टिकी भूमिका ही प्रगट न होगी, तथा उस भूमिकामे होनेवाला धर्मप्रभावनादिका राग–पुण्यानुबधी पुण्य, सम्यग्दृष्टिके योग्य देवगति–देवक्षेत्र इत्यादि व्यवस्थाका भी नाश हो जायगा।

(३) इस परसे यह समझना कि जीवके उपादानके प्रत्येक समय की पर्यायकी जिसप्रकारकी योग्यता हो तदनुसार उस जीवके उस समयके योग्य निमित्त का सयोग स्वय मिलता ही है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सबध तेरहवें गुणस्थानका अस्तित्व सिद्ध करता है, एक दूसरेके कर्तारूप मे कोई है ही नही। तथा ऐसा भी नही कि उपादानकी पर्यायमे जिस समय योग्यता हो उस समय उसे निमित्तकी ही राह देखनी पडे, दोनोका सहजरूपसे ऐसा ही मेल होता ही है और यही निमित्त नैमित्तिक भाव है, तथापि दोनो द्रव्य स्वतत्र हैं। निमित्त परद्रव्य है उसे जीव मिला नही सकता। उसीप्रकार वह निमित्त जीवमे कुछ कर नही सकता, क्योकि कोई द्रव्य परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता, हर्ता नही है॥ १॥

अब मोक्षके कारण और उसका लक्षण कहते हैं—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थ—[बंधहेत्वभाव निर्जराभ्यां] बधके कारणो (मिथ्यात्व,

अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जराके द्वारा **कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः**] समस्त कर्मोंका अत्यन्त नाश होजाना सो मोक्ष है।

टीका

१—कर्म तीन प्रकारके है—(१) भावकर्म (२) द्रव्यकर्म और (३) नो कर्म। भावकर्म जीवका विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ है। भाव कर्मका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मका अभाव होता है और द्रव्य-कर्मका अभाव होनेपर नोकर्म (-शरीर) का अभाव होता है। यदि अस्ति की अपेक्षासे कहे तो जो जीवकी सपूर्ण शुद्धता है सो मोक्ष है और यदि नास्तिकी अपेक्षासे कहे तो जीवकी सपूर्ण विकारसे जो मुक्तदशा है सो मोक्ष है। इस दशामे जीव कर्म तथा शरीर रहित होता है और इस का आकार अतिम शरीरसे कुछ न्यून पुरुषाकार होता है।

२. मोक्ष यत्नसे साध्य है

(१) **प्रश्न**—मोक्ष यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य है ?

उत्तर—मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्नसे (-पुरुषार्थसे) प्रथम मिथ्यात्वको दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थसे क्रम क्रमसे विकारको दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थके विकल्पसे मोक्ष साध्य नही है।

(२) मोक्षका प्रथम कारण सम्यदर्शन है और वह पुरुषार्थसे ही प्रगट होता है। श्री समयसार कलश ३४ मे अमृतचन्द्र सूरि कहते है कि—

हे भव्य ! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है ? इस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वय निश्चल होकर देख, इसप्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदय सरोवरमे आत्माकी प्राप्ति होती है या नही ? अर्थात् ऐसा प्रयत्न करनेसे अवश्य आत्माकी प्राप्ति होती है।

पुनश्च कलश २३ मे कहते है कि—

हे भाई ! तू किसी भी तरह महाकष्टसे अथवा मरकरके भी (अर्थात्

कई प्रयत्नोके द्वारा) तत्त्वोंका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त्त द्रव्योका एक मुहूर्त्त (दो घड़ी) पड़ोसी होकर आत्माका अनुभव कर कि जिससे निज आत्माको विलासरूप, सर्व परद्रव्योसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोहको तू तत्क्षण ही छोड देगा।

भावार्थ—यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमे लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घातिकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है।

इसमें आत्मानुभव करनेके लिये पुरुषार्थ करना बताया है।

(३) सम्यक् पुरुषार्थके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। विना कारणके कार्य सिद्ध नही होता। पुरुषार्थसे मोक्ष होता है ऐसा सूत्रकारने स्वय, इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमे 'पूर्वप्रयोगात्' शब्दका प्रयोग कर बतलाया है।

(४) समाधिशतकमे श्री पूज्यपाद आचार्य वतलाते हैं कि—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अर्थ—यदि पृथ्वी आदि पचभूतसे जीवतत्त्वकी उत्पत्ति हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है, किंतु यदि ऐसा न हो तो योगसे अर्थात् स्वरूप सवेदनका अभ्यास करनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो, इस कारण निर्वाण—मोक्षके लिये पुरुषार्थ करनेवाले योगियोको चाहे जैसा उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी दुःख नही होता।

(५) श्री अष्टप्राभृतमे दर्शनप्राभृत गाथा ६, सूत्रप्राभृत १६ और भाव प्राभृत गाथा ८७ से ९० में स्पष्ट रीत्या बतलाया है कि धर्म—सवर, निर्जरा, मोक्ष ये आत्माके वीर्य-बल-प्रयत्नके द्वारा ही होता है, उस शास्त्र की वचनिका पृष्ठ १५-१६ तथा २४२ मे भी ऐसा ही कहा है।

(६) **प्रश्न**—इसमे अनेकांत स्वरूप कहाँ आया ?

उत्तर—आत्माके सत्य पुरुषार्थसे ही धर्म—मोक्ष होता है और अन्य किसी प्रकारसे नही होता, यही सम्यक् अनेकात हुआ।

(७) **प्रश्न**—आप्तमीमासा की ८८ वी गाथामे अनेकांतका ज्ञान करानेके लिये कहा है कि पुरुषार्थ और दैव दोनो होते हैं, इसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तर—जब जीव मोक्षका पुरुपार्थ करता है तब परम-पुण्य कर्म का उदय होता है इतना बतानेके लिये यह कथन है। पुण्योदयसे धर्म या मोक्ष नही, परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबध है कि मोक्षका पुरुषार्थ करनेवाले जीवके उससमय उत्तमसहनन आदि बाह्य सयोग होता है। यथार्थ पुरुषार्थ और पुण्य इन दोनोसे मोक्ष होता है—इसप्रकार कथन करने के लिये यह कथन नही है। किंतु उससमय पुण्यका उदय नही होता ऐसा कहनेवालेकी भूल है—यह बतानेके लिये इस गाथाका कथन है।

इस परसे सिद्ध होता है कि मोक्षकी सिद्धि पुरुषार्थके द्वारा ही होती है इसके बिना मोक्ष नही हो सकती ॥ २ ॥

मोक्षमे समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव होता है यह उपरोक्त सूत्रमे बतलाया, अब यह बतलाते हैं कि कर्मोंके अलावा और किसका अभाव होता है—

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ—[**च**] और [**औपशमिकादि भव्यत्वानां**] औपशमिकादि भावोका तथा-पारिणामिक भावोमेसे भव्यत्व भावका मुक्त जीवके अभाव होता—हो जाता है।

टीका

'औपशमिकादि' कहनेसे औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना, क्षायिकभाव इसमे नही गिनना—जानना।

जिन जीवोके सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने की योग्यता हो वे भव्य जीव कहलाते है। जब जीवके सम्यग्दर्शनादि पूर्णरूपमे प्रगट हो जाते है तव उस आत्मामे 'भव्यत्व' का व्यवहार मिट जाता है। इस सम्बन्धमे यह विशेप ध्यान रहे कि यद्यपि 'भव्यत्व' पारिणामिक भाव है तथापि, जिस प्रकार पर्यायार्थिकनयसे जीवके सम्यग्दर्शनादि पर्यायोका—निमित्तरूपसे घातक देशघाति तथा सर्वघाति नामका मोहादिक कर्म सामान्य है उसी-प्रकार, जीवके भव्यत्वगुणको भी कर्मसामान्य निमित्तरूपमे प्रच्छादक कहा जा सकता है। (देखो, हिन्दी समयसार, श्री जयसेनाचार्यकी सस्कृत टीका पृष्ठ ४२३) सिद्धत्व प्रगट होने पर भव्यत्व गुणकी विकारी पर्यायका नाश हो जाता है, यह अपेक्षा लक्ष्यमे रखकर भव्यत्वभावका नाश वतलाया है। दूसरे अध्यायके ७ वे सूत्रकी टीकामे ऐसा कहा है कि भव्यत्व भावकी पर्यायकी अशुद्धता का नाश होता है, इसलिये वह टीका यहाँ भी वाँचना ॥ ३ ॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—[केवलसम्यक्त्व ज्ञान दर्शनसिद्धत्वेभ्य. अन्यत्र] केवल-सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावोके अतिरिक्त अन्य भावोके अभावसे मोक्ष होता है।

टीका

मुक्त अवस्थामे केवलज्ञानादि गुणोके साथ जिन गुणोका सहभावी सबंध है ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग इत्यादि गुण भी होते हैं ॥ ४ ॥

अब मुक्त जीवोंका स्थान बतलाते हैं

तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥

अर्थ—[तदनन्तरम्] तुरन्त ही [ऊर्ध्वं आलोकांतात् गच्छति] ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभाग तक जाता है।

टीका

चौथे सूत्रमे कहा हुआ सिद्धत्व जब प्रगट होता है तब तीसरे सूत्र मे कहे हुये भाव नही होते, तथा कर्मोका भी अभाव हो जाता है, उसी समय जीव ऊर्ध्वगमन करके सीधे लोकके अग्रभाग तक जाता है और वहा शाश्वत स्थित रहता है। छट्ठे और सातवे सूत्रमे ऊर्ध्वगमन होनेका कारण बतलाया है और लोकके अन्तभागसे आगे नही जानेका कारण आठवे सूत्र मे बतलाया है ॥ ५ ॥

अब मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमनका कारण बतलाते हैं—

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।६।

अर्थ—[**पूर्व प्रयोगात्**] १—पूर्वप्रयोगसे, [**असंगत्वात्**] २—सगरहित होनेसे, [**बधच्छेदात्**] ३—बन्धका नाश होनेसे [**तथा गतिपरिणामात् च**] और ४—तथा गतिपरिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे—मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

नोट—पूर्व प्रयोगका अर्थ है पूर्वमे किया हुआ पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम, इस सबधमे इस अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीका तथा सातवे सूत्रके पहले दृष्टात परकी टीका बाचकर समझना ॥ ६ ॥

ऊपरके सूत्रमें कहे गये चारों कारणोंके दृष्टांत बतलाते हैं

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीज-वदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

अर्थ— मुक्त जीव [**आविद्धकुलाल चक्रवत्**] १—कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाककी तरह पूर्व प्रयोगसे, [**व्ययगतलेपालाबुवत्**] २—लेप दूर हो चुका है जिसका ऐसी तूबे की तरह सगरहित होनेसे, [**एरंडबीजवत्**] ३—एरडके बीजकी तरह बन्धन रहित होनेसे [**च**] और [**अग्निशिखावत्**] ४—अग्निकी शिखा—(लौ) की तरह ऊर्ध्वगमनस्वभावसे ऊर्ध्वगमन (ऊपर को गमन) करता है।

टीका

१–पूर्व प्रयोग का उदाहरण—जैसे कुम्हार चाकको घुमाकर हाथ रोक लेता है तथापि वह चाक पूर्वके वेगसे घूमता रहता है, उसीप्रकार जीव भी संसार अवस्थामे मोक्ष प्राप्तिके लिये वारवार अभ्यास (उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है तथापि पूर्वके अभ्यासके सस्कारसे मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

२–असंगका उदाहरण–जिसप्रकार तूवे को जवतक लेपका सयोग रहता है तवतक वह स्व के क्षणिक उपादानकी योग्यताके कारण पानी मे डूवा हुआ रहता है, किंतु जव लेप (मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है तव वह पानीके ऊपर-स्वय अपनी योग्यतासे आ जाता है, उसीप्रकार जवतक जीव सगवाला होता है तवतक अपनी योग्यतासे समार समुद्रमें डूवा रहता है और संग रहित होनेपर ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभागमे चला जाता है।

३–वंध छेदका उदाहरण–जैसे एरड वृक्षका सूखा फल–जव चटकता है तव वह वन्धनसे छूट जाने से उसका वीज ऊपर जाता है, उसीप्रकार जव जीवकी पक्वदशा (मुक्तअवस्था) होनेपर कर्म वन्धके छेद पूर्वक वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४–ऊर्ध्वगमन स्वभावका उदाहरण–जिसप्रकार अग्निकी शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवाके अभावमे जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपरको जाती है उसीप्रकार जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है, इसीलिये मुक्तदशा होनेपर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है ॥ ७ ॥

लोकाग्रसे आगे नहीं जानेका कारण वतलाते हैं

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

अर्थ—[धर्मास्तिकायाभावात्] आगे (अलोकमे) धर्मास्तिकाय का अभाव है अत मुक्त जीव लोकके अततक ही जाता है।

टीका

१—इस सूत्रका कथन निमित्तकी मुख्यतासे है। गमन करते हुये द्रव्योंको धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्तरूप है, यह द्रव्य लोकाकाशके बराबर है। वह यह बतलाता है कि जीव और पुद्‌गलकी गति ही स्वभावसे इतनी है कि वह लोकके अंततक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाशमें 'लोकाकाश' और अलोकाकाश' ऐसे दो भेद ही न रहे। लोक छह द्रव्योंका समुदाय है और अलोकाकाशमें एकाकी आकाशद्रव्य ही है। जीव और पुद्‌गल इन दो ही द्रव्योंमें गमन शक्ति है, उनकी गति शक्ति ही स्वभावसे ऐसी है कि वह लोकमें ही रहते हैं। गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है उसका अलोकाकाशमें अभाव है, वह यह बतलाता है कि गमन करनेवाले द्रव्योंकी उपादान शक्ति ही लोकके अग्रभाग तक गमन करनेकी है। अर्थात् वास्तवमें जीवकी अपनी योग्यता ही अलोकमें जानेकी नहीं है, अतएव वह अलोकमें नहीं जाता, धर्मास्तिकायका अभाव तो इसमें निमित्तमात्र है।

२—बृहद्‌द्रव्यसंग्रहमें सिद्धके अगुरुलघु गुणका वर्णन करते हुये बतलाते हैं कि—यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु हो (भारी हो) तो लोहेके गोलेकी तरह उसका सदा अधःपतन होता रहेगा अर्थात् वह नीचे ही पड़ा रहेगा। और यदि वह सर्वथा लघु (-हलका) हो तो जैसे वायुके झकोरेसे आकके वृक्षकी रूई उड़ जाया करती है उसीप्रकार सिद्धस्वरूपका भी निरंतर भ्रमण होता ही रहेगा, परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है, इसीलिये उसमें अगुरुलघुगुण कहा गया है। (बृहद्‌द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ३८)

इस अगुरुलघुगुणके कारण सिद्ध जीव सदा लोकाग्रमें स्थित रहते हैं, वहाँसे न तो आगे जाते और न नीचे आते ॥ ८ ॥

मुक्त जीवोंमें व्यवहारनय की अपेक्षासे भेद बतलाते हैं

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

अर्थ—[क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थ चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञानाव-गाहनांतर संख्याल्प बहुत्वत. साध्याः] क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अतर, सख्या और अल्प-बहुत्व इन बारह अनुयोगोसे [साध्याः] मुक्त जीवो (सिद्धो) मे भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं।

टीका

१–क्षेत्र—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे (वर्तमान की अपेक्षासे) आत्म-प्रदेशोमे सिद्ध होता है, आकाशप्रदेशोमे सिद्ध होता है, सिद्धक्षेत्रमें सिद्ध होता है। भूत नैगमनयकी अपेक्षासे पद्रह कर्म भूमियोमे उत्पन्न हुए पुरुष ही सिद्ध होते है। पद्रह कर्मभूमियोमे उत्पन्न हुये पुरुषका यदि कोई देवादि अन्य क्षेत्रमे उठाकर ले जाय तो अढाई द्वीप प्रमाण समस्त मनुष्य क्षेत्रसे सिद्ध होता है।

२–काल—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे एक समयमे सिद्ध होता है। भूतनैगमनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनो काल मे सिद्ध होता है, उसमे अवसर्पिणी कालके तीसरे काल के अन्त भागमे, चौथे काल मे और पाचवे कालके प्रारभमे (जिसने चौथे कालमे जन्म लिया है ऐसा जीव) सिद्ध होता है। उत्सर्पिणी कालके 'दुषमसुषम' कालमे चौवीस तीर्थंकर होते है और उस कालमे जीव सिद्ध होते हैं (त्रिलोक प्रज्ञप्ति पृष्ठ ३५०), विदेहक्षेत्रमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे कालके भेद नही है। पचमकालमे जन्मे हुये जीव सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करते हैं किंतु वे उसी भवसे मोक्ष प्राप्त नही करते। विदेहक्षेत्रमे उत्पन्न हुये जीव अढाई द्वीपके किसी भी भागमे सर्वकाल मे मोक्ष प्राप्त करते है।

३—गति—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे सिद्धगतिसे मोक्ष प्राप्त होती है, भूत नैगमनयकी अपेक्षासे मनुष्यगतिमे ही मोक्ष प्राप्त होती है।

४—लिंग—ऋजुसूत्रनयसे लिंग (वेद) रहित ही मोक्ष पाता है, भूतनैगम नयसे तीनो प्रकारके भाववेदमे क्षपकश्रेणी माडकर मोक्ष प्राप्त करते

हैं, और द्रव्यवेदमे तो पुरुषलिग और यथाजातरूप लिगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है।

५–तीर्थ—कोई जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते है और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते है। सामान्य केवलीमे भी कोई तो तीर्थंकरकी मौजूदगीमे मोक्ष प्राप्त करते है और कोई तीर्थंकरोके बाद उनके तीर्थमे मोक्ष प्राप्त करते है।

६–चरित्र—ऋजुसूत्रनयसे चारित्रके भेदका अभाव करके मोक्ष पाते है, भूतनैगमनयसे–निकटकी अपेक्षासे यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होती है, दूरकी अपेक्षासे सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसापराय, तथा यथाख्यातसे और किसीके परिहार विशुद्धि हो तो उससे—इन पाँच प्रकारके चारित्र से मोक्ष प्राप्त होती है।

७–प्रत्येक बुद्ध बोधित–प्रत्येक बुद्ध जीव वर्तमानमे निमित्त की उपस्थितिके विना अपनी शक्तिसे बोध प्राप्त करते है, किंतु भूतकालमे या तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो तब या उससे पहले सम्यग्ज्ञानीके उपदेशका निमित्त हो, और बोधित बुद्ध जीव वर्तमानमे सम्यग्ज्ञानीके उपदेशके निमित्तसे धर्म पाते है। ये दोनो प्रकारके जीव मोक्ष प्राप्त करते है।

८–ज्ञान–ऋजुसूत्रनयसे केवलज्ञानसे ही सिद्ध होता है, भूतनैगमनय से कोई मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे, कोई मति, श्रुत, अवधि इन तीनसे, अथवा मति, श्रुत, मन पर्ययसे और कोई मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय इनचार ज्ञानसे (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होता है।

९–अवगाहना–किसीके उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम पाँचसौ पच्चीस धनुषकी, किसीके जघन्य साढे तीन हाथमे कुछ कम और किसीके मध्यम अवगाहना होती है। मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद हैं।

(१०)–अन्तर–एक सिद्ध होनेके बाद दूसरा सिद्ध होनेका जघन्य अन्तर एक समयका और उत्कृष्ट अन्तर छह मासका है।

(११)–संख्या–जघन्यरूपसे एक समयमे एक जीव सिद्ध होता है,

उत्कृष्टरूपसे एक समयमे १०८ जीव सिद्ध होते है।

१२–अल्पबहुत्व–अर्थात् सख्यामे हीनाधिकता। उपरोक्त ग्यारह भेदोमे अल्पवहुत्व होता है वह निम्न प्रकार है—

(१) क्षेत्र—सहरण सिद्धसे जन्म सिद्ध संख्यात गुणे है। समुद्र आदि जल क्षेत्रोसे अल्प सिद्ध होते है और महाविदेहादि क्षेत्रोसे अधिक सिद्ध होते है।

(२) काल—उत्सर्पिणी कालमे हुये सिद्धोकी अपेक्षा अवसर्पिणी कालमे हुये सिद्धोकी सख्या ज्यादा है और इन दोनो कालके विना सिद्ध हुये जीवोकी सख्या उनसे सख्यात गुनी है, क्योकि विदेह क्षेत्रोमे अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीका भेद नही है।

(३) गति—सभी जीव मनुष्यगतिसे ही सिद्ध होते है इसलिये इस अपेक्षासे गतिमे अल्पवहुत्व नही है, परन्तु एक गतिके अतरकी अपेक्षासे (अर्थात् मनुष्यभवसे पहिले की गतिकी अपेक्षासे) तिर्यंचगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुए ऐसे जीव थोडे है–कम हैं, इनकी अपेक्षासे संख्यात गुने जीव मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं, उससे सख्यात-गुणे जीव नरकगतिसे आकर मनुष्य हो सिद्ध होते है, और उससे सख्यात-गुणे जीव देवगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं।

(४) लिंग—भावनपुंसक वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध हो ऐसे जीव कम हैं–थोडे हैं। उनसे सख्यातगुने भावस्त्री वेदवाले पुरुष क्षपक श्रेणी माडकर सिद्ध होते है और उससे सख्यातगुणे भावपुरुष-वेदवाले पुरुष क्षपक श्रेणी माडकर सिद्ध होते हैं।

(५) तीर्थ—तीर्थंकर होकर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, और उनसे सख्यातगुने सामान्यकेवली होकर सिद्ध होते है।

(६) चारित्र —पांचो चारित्रसे सिद्ध होनेवाले जीव थोडे है, उनसे सख्यात गुने जीव परिहार विशुद्धिके अलावा चार चारित्रसे सिद्ध होने वाले हैं।

(७) **प्रत्येक बुद्ध बोधित**—प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं उससे संख्यातगुने जीव बोधितबुद्ध होते हैं।

(८) **ज्ञान**—मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प है, उनसे सख्यात गुने चार ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होते है और उनसे सख्यातगुने तीन ज्ञानसे केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध होते है।

(९) **अवगाहना**—जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े है, उनसे सख्यातगुने उत्कृष्ट अवगाहनासे और उनसे सख्यातगुने मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होते है।

(१०) **अन्तर**—छहमासके अन्तरवाले सिद्ध सबसे थोडे हैं और उनसे सख्यातगुने एक समयके अन्तरवाले सिद्ध होते हैं।

(११) **संख्या**—उत्कृष्टरूपमे एक समयमे एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं, उनसे अनन्तगुने एक समयमे १०७ से लगाकर ५० तक सिद्ध होते हैं, उनसे असख्यात गुने जीव एक समयमे ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे सख्यातगुने एक समयमे २४ से लेकर १ तक सिद्ध होनेवाले जीव है।

इसतरह बाह्य निमित्तोकी अपेक्षासे सिद्धोमे भेदकी कल्पना की जाती है, वास्तवमे अवगाहना गुणके अतिरिक्त अन्य आत्मीय गुणोकी अपेक्षासे उनमे कोई भेद नही है। यहाँ यह न समझना कि 'एक सिद्धमे दूसरा सिद्ध मिल जाता है—इसलिये भेद नही है।' सिद्धदशामे भी प्रत्येक जीव अलग अलग ही रहते है, कोई जीव एक दूसरेमे मिल नही जाते।९।

उपसंहार

१—मोक्षतत्त्वकी मान्यता संबंधी होनेवाली भूल और उसका निराकरण

कितने ही जीव ऐसा मानते है कि स्वर्गके सुखकी अपेक्षासे अनतगुना सुख मोक्षमे है। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है, क्योकि इस गुणाकारमे वह

स्वर्ग और मोक्षके सुखकी जाति एक गिनता है, स्वर्गमे तो विषयादि सामग्री जनित इन्द्रिय-सुख होता है, उनकी जाति उसे मालूम होती है, किन्तु मोक्षमे विषयादि सामग्री नही है अर्थात् वहांके अतीन्द्रिय सुखकी जाति उसे नही प्रतिभासती—मालूम होती। परन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्ग से उत्तम कहते है इसीलिये वे अज्ञानी भी विना समझे बोलते हैं। जैसे कोई गायनके स्वरूपको तो नही समझता किन्तु समस्त सभा गायनकी प्रशसा करती है इसीलिये वह भी प्रशसा करता है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव तो मोक्षका स्वरूप जानकर उसे उत्तम कहते हैं, इसीलिये अज्ञानी जीव भी विना समझे ऊपर बताये अनुसार कहता है।

प्रश्न—यह किसपरसे कहा जा सकता है कि अज्ञानी जीव सिद्ध के सुखकी और स्वर्गके सुखकी जाति एक जानता है—समझता है।

उत्तर—जिस साधनका फल वह स्वर्ग मानता है उसी जातिके साधनका फल वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस किस्मके अल्प साधन हो तो उससे इन्द्रादि पद मिलते है और जिसके वह साधन सपूर्ण हो तो मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रमाणमे दोनोके साधनकी एक जाति मानता है, इसीसे यह निश्चय होता है कि उनके कार्यकी (स्वर्ग तथा मोक्ष की) भी एक जाति होनेका उसे श्रद्धान है। इन्द्र आदि को जो सुख है वह तो कपायभावोसे आकुलतारूप है, अतएव परमार्थत: वह दु खी है और सिद्धके तो कषायरहित अनाकुल सुख है। इसलिये दोनो की जाति एक नही है ऐसा समझना चाहिये। स्वर्गका कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षका कारण वीतराग भाव है। इसप्रकार उन दोनोके कारणमे अन्तर है। जिन जीवोके ऐसा भाव नही भासता उनके मोक्षतत्त्व का यथार्थ श्रद्धान नही है। (मो० प्र०)

२. अनादि कर्मबंधन नष्ट होनेकी सिद्धि

श्री तत्त्वार्थसार अ० ८ मे कहा है कि—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धन संततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस वस्तुकी उत्पत्तिका आद्य समय न हो वह अनादि कहा जाता है, जो अनादि हो उसका कभी अत नही होता। यदि अनादि पदार्थका अत हो जाय तो सत्का विनाश मानना पडेगा, परन्तु सत्का विनाश होना यह सिद्धान्त और युक्तिसे विरुद्ध है।

इस सिद्धान्तसे, इस प्रकरणमे ऐसी शका उपस्थित हो सकती है कि—तो फिर अनादि कर्मबन्धनकी सततिका नाश कैसे हो सकता है? क्योकि कर्मबन्धनका कोई आद्य-समय नही है इससे वह अनादि है, और जो अनादि हो उसका अत भी नही होना चाहिए, कर्मबन्धन जीवके साथ अनादि से चला आया है अत अनन्तकाल तक सदा उसके साथ रहना चाहिए—फलत कर्मबन्धनसे जीव कभी मुक्त नही हो सकेगा।

यह शंकाके दो रूप हो जाते हैं—(१) जीवके कर्मवन्धन कभी नही छूटना चाहिए, और (२) कर्मत्वरूप जो पुद्गल हैं उनमे कर्मत्व सदा चलता ही रहना चाहिए, क्योकि कर्मत्व भी एक जाति है और वह सामान्य होनेसे ध्रुव है। इसलिए उसकी चाहे जितनी पर्याये बदलती रहे तो भी वे सभी कर्मरूप ही रहनी चाहिए। सिद्धान्त है कि "जो द्रव्य जिस स्वभावका हो वह उसी स्वभावका हमेशा रहता है"। जीव अपने चैतन्य स्वभावको कभी छोडता नही है और पुद्गल भी अपने रस रूपादिक स्वभावको कभी छोडते नही हैं इसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने अपने स्वभावको छोडते नही हैं फिर कर्म ही अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड दे?

उपरोक्त शकाका समाधान इसप्रकार है—जीवके साथ कर्मका सबध सतति प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे है किन्तु कोई एकके एक ही परमाणुका सबध अनादिसे नही है, जीवके साथ प्रत्येक परमाणुका सबध नियत कालतक ही रहता है। कर्मपिडरूप परिणत परमाणुओका जीवके साथ सम्बन्ध होने का भी काल भिन्न २ है और उनके छूटनेका भी काल

नियत और भिन्न २ है। इतना सत्य है कि, जीवको विकारी अवस्थामे कर्मका सयोग चलता ही रहता है। ससारी जीव अपनी स्वयंकी भूलसे विकारी अवस्था अनादिसे करता चला आ रहा है अत' कर्मका सम्वन्व भी संतति प्रवाहरुप अनादिसे इसको है क्योकि विकार कोई नियतकालसे प्रारम्भ नही हुआ है अत. कर्मका सम्वन्व भी कोई नियत कालसे प्रारम्भ नही हुआ है इसप्रकार जीवके साथ कर्मका सम्वन्व सन्ततिप्रवाहसे अनादि का कहा जाता है, लेकिन कोई एक ही कर्म अनादिकालसे जीवकी साथ लगा हुआ चला आया हो–ऐसा उसका अर्थ नही है।

जिसप्रकार कर्मकी उत्पत्ति है उसीप्रकार उनका नाश भी होता है, क्योकि—"जिसका सयोग हो उसका वियोग अवश्य होता ही है" ऐसा सिद्धान्त है। पूर्व कर्मके वियोगके समय यदि जीव स्वरूपमें सम्यक् प्रकार जागृतिके द्वारा विकारको उत्पन्न नही होने देवे तो नवीन कर्मोका वन्ध नही होवे इसप्रकार अनादि कर्म वन्धनका सन्ततिरूप प्रवाह निर्मूल नष्ट हो सकता है उसका उदाहरण—जैसे बीज और वृक्षका सम्वन्ध सतति प्रवाहरूपसे अनादिका है, कोई भी वीज पूर्वके वृक्ष विना नही होता। वीजका उपादानकारण पूर्ववृक्ष और पूर्ववृक्षका उपादान पूर्ववीज, इसप्रकार वीज-वृक्षकी सतति अनादि से होनेपर भी उस सततिका अन्त करनेके लिए अतिम वीजको पीस डाले या जलादे तो उनका सततिप्रवाह नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार कर्मोकी सतति अनादि होनेपर भी कर्मनाशके प्रयोग द्वारा समस्त कर्मोका नाश कर दिया जाय तो उनकी सतति नि शेष नष्ट हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मोके नाशका और नये कर्मोकी उत्पत्ति न होने देने का उपाय सवर-निर्जराके नवमे अध्यायमे वताया है। इसप्रकार कर्मोका सम्वन्ध जीवसे कभी नही छूट सकता, ऐसी शका दूर होती है।

शंकाका दूसरा. प्रकार यह है कि—कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोडता नही है तो कर्मरूप पदार्थ भी कर्मत्वको कैसे छोडें? उसका समाधान यह है कि—कर्म कोई द्रव्य नही है परन्तु वह तो सयोगरूप पर्याय है। जिस द्रव्यमे कर्मत्वरूप पर्याय होती है वह द्रव्य तो पुद्गल द्रव्य है और

पुद्गल द्रव्यका तो कभी नाश होता नही है और वह अपने वर्णादि स्वभावको भी कभी छोड़ता नही है । पुद्गल द्रव्योमे उनकी योग्यतानुसार शरीरादि तथा जल, अग्नि, मिट्टी, पत्थर वगैरह कार्यरूप अनेक अवस्थाएँ होती रहती हैं, और उनकी मर्यादा पूर्ण होनेपर वे विनाशको भी प्राप्त होती रहती है, उसीप्रकार कोई पुद्गल जीवके साथ एक क्षेत्रअवगाहसबधरूप बन्धन अवस्था होनेरूप सामर्थ्य—तथा रागी जीवको रागादि होनेमे निमित्तपनेरूप होनेकी सामर्थ्यसहित जीवके साथ रहते हैं वहाँ तक उनको 'कर्म' कहते हैं, कर्म कोई द्रव्य नही है वह तो पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है पर्यायका स्वभाव ही पलटना है इसलिये कर्मरूप पर्यायका अभाव होकर अन्य पर्यायरूप होता रहता है ।

पुद्गल द्रव्यकी कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसरी जो पर्याय हो, वह कर्मरूप भी हो सकती है और अन्यरूप भी हो सकती है । कोई द्रव्यके उत्तरोत्तर कालमे भी उस द्रव्यकी एक समान ही योग्यता होती रहे तो उसकी पर्याय एक समान ही होती रहेगी, और यदि उसकी योग्यता बदलती रहे तो उसकी पर्याय अनेक प्रकार–भिन्न–भिन्न जातिकी होती रहेगी, जैसे मिट्टीमे जिससमय घटरूप होनेकी योग्यता हो तब वह मिट्टी घटरूप परिणमती है और फिर वही मिट्टी पूर्व अवस्था बदलकर दूसरी बार भी घट हो सकती है । अथवा अपनी योग्यतानुसार कोई अन्य पर्यायरूप (-अवस्था) भी हो सकती है। इसीप्रकार कर्मरूप पर्यायमे भी समझना चाहिये । जो 'कर्म' कोई अलग द्रव्य ही हो तो उनका अन्यरूप (-अकर्मरूप) होना नही बन सकता, परन्तु 'कर्म' पर्याय होने से वह जीवसे छूट सकते हैं और कर्मपना छोडकर अन्यरूप (-अकर्मरूप) हो सकते है ।

३ इसप्रकार, पुद्गल जीवसे कर्मरूप अवस्थाको छोडकर अकर्मरूप घट पटादिरूप हो सकते हैं ये सिद्ध हुआ । परन्तु जीवसे कुछ कर्मोका अकर्मरूप हो जाने मात्रसे ही जीव कर्मरहित नही हो जाता, क्योंकि जैसे कुछ कर्मरूप पुद्गल कर्मत्वको छोड़कर अकर्मरूप हो जाते हैं वैसे ही अकर्मरूप अवस्थावाले पुद्गल जिनमे कर्मरूप होनेकी योग्यता हो, वह जीवके विकार भावकी उपस्थितिमे कर्मरूप हुआ करते है । जहाँतक जीव

विकारी भाव करें वहाँ तक उसकी विकारदशा हुआ करती है और अन्य पुद्गल कर्मरूप होकर उसकी साथ बंधन रूप हुआ करते है, इसप्रकार संसारमे कर्मशृङ्खला चलती रहती है। लेकिन ऐसा नही है कि—कर्म सदा कर्म ही रहे, अथवा तो कोई जीव सदा अमुक ही कर्मोंमे बन्धे हुए ही रहे, अथवा विकारी दशामे भी सर्व कर्म सर्व जीवो के छूट जाते है और सर्व जीव मुक्त हो जाते हैं।

४—इस तरह अनादिकालीन कर्म शृङ्खला अनेक काल तक चलती ही रहती है, ऐसा देखा जाता है, परन्तु शृङ्खलाओंका ऐसा नियम नही है कि जो अनादिकालीन हो वह अनन्त काल तक रहना ही चाहिए, क्योकि शृङ्खला संयोगसे होती है और संयोगका किसी न किसी समय वियोग हो सकता है। यदि वह वियोग आंशिक हो तो वह शृङ्खला चालू रहती है, किन्तु जब उसका आत्यंतिक वियोग हो जाता है तब शृङ्खला का प्रवाह टूट जाता है। जैसे शृङ्खला बलवान कारणोंके द्वारा टूटती है उसीप्रकार कर्मशृङ्खला अर्थात् संसार शृङ्खला भी (संसाररूपी जंजीर) जीवके सम्यग्दर्शनादि सत्य पुरुषार्थके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जाती है। विकारी शृङ्खलामे अर्थात् मलिन पर्यायमे अनन्तताका नियम नही है, इसीलिये जीव विकारी पर्यायका अभाव कर सकता है और विकारका अभाव करनेपर कर्मका संबंध भी छूट जाता है और उसका कर्मत्व नष्ट होकर अन्यरूपसे परिणमन हो जाता है।

५. अब आत्माके बंधनकी सिद्धि करते हैं—

कोई जीव कहते है कि आत्माके बन्धन होता ही नही। उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योकि बिना बन्धनके परतन्त्रता नही होती। जैसे गाय भैंस आदि पशु जब बन्धनमे नही होते तब परतंत्र नही होते, परतंत्रता बन्धन की दशा बतलाता है, इसलिये आत्माके बन्धन मानना योग्य है आत्माके यथार्थ बन्धन अपने-निज विकारी भावका ही है, उसका निमित्त पाकर स्वतः जडकर्मका बन्धन होता है और उसके फलस्वरूप शरीरका संयोग होता है। शरीरके संयोगमे आत्मा रहती

है, यह परतंत्रता बतलाती है। यह ध्यान रहे कि कर्म, शरीर इत्यादि कोई भी परद्रव्य आत्माको परतंत्र नही करते किंतु जीव स्वय अज्ञानतासे स्व को परतत्र मानता है और पर वस्तुसे निज को लाभ या नुकसान होता है ऐसी विपरीत पकड़ करके परमे इष्ट-अनिष्टत्व की कल्पना करता है। पराधीनता दुखका कारण है। जीवको शरीरके ममत्वसे—शरीरके साथ एकत्वबुद्धिसे दुख होता है। इसीलिये जो जीव शरीरादि परद्रव्यसे अपने को लाभ—नुकसान मानते है वे परतत्र ही रहते हैं। कर्म या परवस्तु जीव को परतत्र नही करती, किन्तु जीव स्वयं परतन्त्र होता है। इस तरह जहांतक अपनेमे अपराध, अशुद्धभाव किंचित् भी हो वहाँ तक कर्म-नोकर्म का सबधरूप बध है।

६. मुक्त होने के बाद फिर बंध या जन्म नहीं होता

जीवके मिथ्यादर्शनादि विकारी भावोका अभाव होने से कर्मका कारण—कार्य सम्बन्ध भी टूट जाता है। जानना—देखना यह किसी कर्म बन्ध का कारण नही किंतु परवस्तुओमे तथा राग—द्वेषमे आत्मीयता की भावना बधका कारण होती है। मिथ्याभावनाके कारण जीवके ज्ञान तथा दर्शन (श्रद्धान) को मिथ्याज्ञान तथा मिथ्या दर्शन कहते है। इस मिथ्यात्व आदि विकारभावके छूट जाने से विश्वकी चराचर वस्तुओका जानना—देखना होता है, क्योकि ज्ञान दर्शन तो जीवका स्वाभाविक असाधारण धर्म है। वस्तुके स्वाभाविक असाधारण धर्मका कभी नाश नही होता, यदि उसका नाश हो तो वस्तुका भी नाश हो जाय। इसीलिये मिथ्यावासनाके अभावमे भी जानना देखना तो होता है, किंतु अमर्यादित बधके कारण-कार्यका अभाव मिथ्यावासनाके अभावके साथ ही हो जाता है। कर्म के आने के सर्व कारणोका अभाव होने के बाद भी जानना—देखना होता है तथापि जीवके कर्मोका बध नही होता और कर्म बन्ध न होने से उसके फलरूप स्थूल शरीरका सयोग भी नही मिलता, इसीलिये उसके फिर जन्म नही होता। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९४)

७. बंध जीवका स्वाभाविक धर्म नहीं

यदि बंध जीवका स्वाभाविक धर्म हो तो वह बंध जीवके सदा रहना चाहिये, किंतु यह तो संयोग वियोगरूप है, इसीलिये पुराना कर्म दूर होता है और यदि जीव विकार करे तो नवीन कर्म बंधता है। यदि बंध स्वाभाविक हो तो बन्धसे प्रथक् कोई मुक्तात्मा हो नही सकता। पुनश्च यदि बंध स्वाभाविक हो तो जीवोमे परस्पर अंतर न दिखे। भिन्न कारण के विना एक जातिके पदार्थोंमे अंतर नही होता, किंतु जीवोमे अंतर देखा जाता है। इसका कारण यह है कि जीवोका लक्ष्य भिन्न भिन्न पर वस्तु पर है। पर वस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं अतः पर द्रव्योके आलंबनसे जीवकी अवस्था एक सदृश नही रहती। जीव स्वयं पराधीन होता रहता है, यह पराधीनता ही बन्धनका कारण है। जैसे बंधन स्वाभाविक नही उसीप्रकार वह आकस्मिक भी नही अर्थात् विना कारण के उसकी उत्पत्ति नही होती। प्रत्येक कार्य स्व-स्व के कारण अनुसार होता है। स्थूल बुद्धिवाले लोग उसका सच्चा कारण नही जानते अत अकस्मात् कहते हैं। बंधका कारण जीवका अपराधरूप विकारीभाव है। जीवके विकारी भावोमे तारतम्यता देखी जाती है इसीलिये वह क्षणिक है अत उसके कारणसे होनेवाला कर्मबंध भी क्षणिक है। तारतम्यता सहित होने से कर्मबन्ध शाश्वत नही। शाश्वत और तारतम्यता इन दोनो के शीत और उष्णता की तरह परस्पर विरोध है। तारतम्यताका कारण क्षणभंगुर है, जिनका कारण क्षणिक हो वह कार्य शाश्वत कैसे हो सकता है? कर्मका बंध और उदय तारतम्यता सहित ही होता है इसलिये बन्ध शाश्वतिक या स्वाभाविक वस्तु नही, इसीलिये यह स्वीकार करना ही चाहिये कि बंधके कारणोका अभाव होने पर पूर्व बंधकी समाप्ति पूर्वक मोक्ष होता है। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९६)

८. सिद्धों का लोकाग्रसे स्थानांतर नहीं होता

प्रश्न—आत्मा मुक्त होने पर भी स्थानवाला होता है। जिसको स्थान हो वह एक स्थानमे स्थिर नही रहता किंतु नीचे जाता अथवा विचलित

होता रहता है, इसीलिये मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वलोकमे ही स्थिर न रहकर नीचे जाय अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थानमे जाय—ऐसा क्यो नही होता ?

उत्तर—पदार्थ मे स्थानांतर होने का कारण स्थान नही है परन्तु स्थानांतरका कारण तो उसकी क्रियावती शक्ति है। जैसे नावमे जब पानी आकर भरता है तब वह डगमग होती है और नीचे डूब जाती है, उसी प्रकार आत्मामे भी जब कर्मास्रव होता रहता है तब वह ससारमे डूबता है और स्थान बदलता रहता है किन्तु मुक्त अवस्थामे तो जीव कर्मास्रव से रहित हो जाता है, इसीलिये ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोकाग्रमे स्थित होने के बाद फिर स्थानातर होने का कोई कारण नही रहता।

यदि स्थानान्तरका कारण स्थानको माने तो कोई पदार्थ ऐसा नही है जो स्थानवाला न हो, क्योकि जितने पदार्थ हैं वे सब किसी न किसी स्थानमे रहे हुवे है और इसीलिये उन सभी पदार्थोंका स्थानातर होना चाहिये। परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल आदि द्रव्य स्थानातर रहित देखे जाते हैं अत वह हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अत सिद्ध हुआ कि ससारी जीवके अपनी क्रियावती शक्ति के परिणमन की उस समय की योग्यता उस क्षेत्रातरका मूल–कारण है और कर्मका उदय तो मात्र निमित्त कारण है। मुक्तात्मा कर्मास्रवसे सर्वथा रहित है अत. वे स्वस्थानसे विचलित नही होते। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८७) पुनश्च तत्त्वार्थसार अध्याय ८ की १२ वी गाथा मे बतलाया है कि गुरुत्व के अभावको लेकर मुक्तात्माका नीचे पतन नही होता।

९—जीव की मुक्त दशा मनुष्य पर्यायसे ही होती है और मनुष्य ढाई द्वीपमें ही होता है, इसीलिये मुक्त होनेवाले जीव (मोडे विना) सीधे ऊर्ध्वगतिसे लोकातमे जाते है। उसमे उसे एक ही समय लगता है।

१०. अधिक जीव थोड़े क्षेत्रमें रहते हैं

प्रश्न—सिद्धक्षेत्रके प्रदेश तो असख्यात है और मुक्त जीव अनन्त हैं तो असंख्यात प्रदेशमे अनन्त जीव कैसे रह सकते है ?

उत्तर—सिद्ध जीवोके शरीर नही है और जीव सूक्ष्म (अरूपी) है, इसीलिये एक स्थान पर अनत जीव एक साथ रह सकते हैं। जैसे एक ही स्थान मे अनेक दीपकोका प्रकाश रह सकता है उसी तरह अनत सिद्ध जीव एक साथ रह सकते है। प्रकाश तो पुद्गल है, पुद्गल द्रव्य भी इस तरह रह सकता है तो फिर अनत शुद्ध जीवोके एक क्षेत्रमे साथ रहने मे कोई बाधा नही।

११. सिद्ध जीवों के आकार है ?

कुछ लोग ऐसा मानते है कि जीव अरूपी है इसलिये उसके आकार नही होता, यह मान्यता मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थमे प्रदेशत्व नामका गुण हैं, इसीलिये वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ऐसी कोई चीज नही हो सकती जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है उसका अपना आकार होता है। जीव अरूपी-अमूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तुके भी अमूर्तिक आकार होता है। जीव जिस शरीरको छोडकर मुक्त होता है उस शरीरके आकार से कुछ न्यून आकार मुक्त दशामे भी जीवके होता है।

प्रश्न—यदि आत्माके आकार हो तो उसे निराकार क्यो कहते हैं ?

उत्तर—आकार दो तरह का होता है—एक तो लम्बाई चौडाई मोटाई रूप आकार और दूसरा मूर्तिकरूप आकार। मूर्तिकतारूप आकार एक पुद्गल द्रव्यमे ही होता है अन्य किसी द्रव्यमे नही होता। इसीलिये जब आकार का अर्थ मूर्तिकता किया जावे तब पुद्गल के अतिरिक्त सर्व द्रव्योको निराकार कहते है। इस तरह जीवमे पुद्गलका मूर्तिक आकार न होने की अपेक्षा से जीवको निराकार कहा जाता है। परन्तु स्व क्षेत्र की लबाई चौडाई मोटाई की अपेक्षासे समस्त द्रव्य आकारवान है। जब इस सद्भावसे आकारका सबन्ध माना जाय तो आकार का अर्थ लबाई-चौड़ाई मोटाई ही होता है। आत्माके स्व का आकार है, इसीलिये वह साकार है।

ससारदशामे जीव की योग्यता के कारण उसके आकार की पर्याय

संकोच विस्तार रूप होती थी। अब पूर्ण शुद्ध होनेपर संकोच विस्तार नही होता। सिद्धदशा होनेपर जीवके स्वभावव्यंजनपर्याय प्रगट होती है और उसी तरह अनंतकाल तक रहा करती है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९८ से ४०६)

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीकाका दशवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।



परिशिष्ट—१

इस मोक्षशास्त्रके आधारसे श्री अमृतचन्द्र सूरिने 'श्री तत्त्वार्थसार' शास्त्र बनाया है। उसके उपसंहार मे इस ग्रंथका साराश २३ गाथाओ द्वारा दिया है वह इस शास्त्रमे भी लागू होता है अत यहा दिया जाता है—

ग्रन्थ का सारांश

प्रमाणनयनिक्षेप निर्देशादि सदादिभिः।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अर्थ—जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप क्रमसे कहा गया है उसे प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगो द्वारा जानकर मोक्षमार्ग का यथार्थरूपसे आश्रय करना चाहिये।

प्रश्न—इस शास्त्रके पहले सूत्रका अर्थ निश्चयनय, व्यवहारनय, और प्रमाण द्वारा क्या होगा?

उत्तर—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है—इस कथनमें अभेद स्वरूप निश्चयनयकी विवक्षा है अतः यह निश्चयनयका कथन जानना, मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेदसे कहना, इसमें भेदस्वरूप व्यवहारनयकी विवक्षा है अत यह व्यवहारनयका कथन जानना, और इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना सो प्रमाण है। मोक्षमार्ग पर्याय है इसीलिये आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी अपेक्षासे यह सद्-भूत व्यवहार है।

प्रश्न—निश्चयनयका क्या अर्थ है?

उत्तर—'सत्यार्थ इसी प्रकार है' ऐसा जानना सो निश्चयनय है।

प्रश्न—व्यवहारनयका क्या अर्थ है?

उत्तर—ऐसा जानना कि 'सत्यार्थ इस प्रकार नहीं है किन्तु निमि-

त्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है' सो व्यवहारनय है। अथवा पर्याय-भेदका कथन भी व्यवहारनयसे कथन है।

मोक्षमार्गका दो तरहसे कथन

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ २॥

अर्थ—निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो तरहसे मोक्षमार्गका कथन है। उसमे पहला साध्यरूप है और दूसरा उसका साधन-रूप है।

१. **प्रश्न**—व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—पहले रागरहित दर्शन-ज्ञान-चारित्रका स्वरूप जानना और उसी समय 'राग धर्म नही या धर्म का साधन नही है' ऐसा मानना, ऐसा माननेके बाद जब जीव रागको तोडकर निर्विकल्प हो तब उसके निश्चय-मोक्षमार्ग होता है और उसी समय रागसहित दर्शन-ज्ञान-चारित्रका व्यय हुवा इसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहते है, इस रीतिसे 'व्यव' यह साधन है।

२—इस सम्वधमे श्री परमात्म प्रकाशमे निम्नप्रकार बताया है—

प्रश्न—निश्चयमोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सवि-कल्प मोक्षमार्ग है नही तो वह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे होता है?

उत्तर—भूतनैगमनयकी अपेक्षासे परम्परासे साधक होता है अर्थात् पहले वह था किंतु वर्तमानमे नही है तथापि भूतनैगमनयसे वह वर्तमान मे है ऐसा सकल्प करके उसे साधक कहा है (पृष्ठ १४२ सस्कृत टीका) इस सम्बन्ध मे छठे अध्यायके १८ वें सूत्रकी टीकाके पाँचवे पैरेमे दिये गये अन्तिम प्रश्न और उत्तरको बाचना।

३—शुद्धनिश्चयनयसे शुद्धानुभूतिरूप वीतराग (-निश्चय) सम्य-क्त्व का कारण नित्य आनन्द स्वभावरूप निज शुद्धात्मा ही है।

(परमात्मप्रकाश पृष्ठ १४५)

४—मोक्षमार्ग दो नहीं

मोक्षमार्ग तो कही दो नही है किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो तरह से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपण किया है वह निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग है, तथा जो मोक्षमार्ग तो नही है किन्तु मोक्षमार्गमे निमित्त है अथवा साथ मे होता है उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है, लेकिन वह सच्चा मोक्षमार्ग नही है।

निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्य स्वात्मनो हि या।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥ ३ ॥

अर्थ—निज शुद्धात्माकी अभेदरूपसे श्रद्धा करना, अभेदरूपसे ही ज्ञान करना तथा अभेदरूपसे ही उसमे लीन होना—इसप्रकार जो सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा है सो निश्चयमोक्षमार्ग है।

व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥ ५ ॥

अर्थ—आत्मामे जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-तथा सम्यक्चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रगट हो रहे हैं उस सम्यक्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहार मार्ग समझना चाहिये।

व्यवहारी मुनिका स्वरूप

श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो परद्रव्यकी (सात तत्त्वोकी भेदरूपसे) श्रद्धा करता है उसी तरह भेदरूपसे जानता है और उसी तरह भेदरूपसे उपेक्षा करता है उस मुनिको व्यवहारी मुनि कहते हैं।

निश्चयी मुनिका स्वरूप

स्व द्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो स्व द्रव्यको ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते है और जिनके आत्माकी प्रवृत्ति उपेक्षारूप ही हो जाती है ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चय-रत्नत्रय युक्त हैं ।

निश्चयीके अभेदका समर्थन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शन चारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ ७ ॥

अर्थ— जो जानता है सो आत्मा है, ज्ञान जानता है इसीलिये ज्ञान ही आत्मा है, इसी तरह जो सम्यक् श्रद्धा करता है, सो आत्मा है । श्रद्धा करने वाला सम्यग्दर्शन है अतएव वही आत्मा है । जो उपेक्षित होता है सो आत्मा है । उपेक्षा गुण उपेक्षित होता है अतएव वही आत्मा है अथवा आत्मा ही वह है । यह अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, ऐसी अभेदरूप स्वस्थदशा उनके ही हो सकती है कि जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयाधीन नही रहता ।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रय बताया है, उस रत्नत्रयको मोक्षका कारण मानकर जहाँ तक उसके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है वहाँ तक साधु उस रत्नत्रय को विपयरूप (ध्येयरूप) मान कर उसका चिंतवन करता है, वह विचार करता है कि रत्नत्रय इस प्रकार के होते हैं । जहाँ तक ऐसी दशा रहती है वहाँ तक स्वकीय विचार द्वारा रत्नत्रय भेदरूप ही जाना जाता है, इसीलिये साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं, यह व्यवहारकी दशा है । ऐसी दशामे अभेदरूप रत्नत्रय कभी हो नही सकता । परन्तु जहाँ तक ऐसी दशा भी न हो अथवा ऐसे रत्नत्रयका स्वरूप समझ न ले वहाँ तक उसे निश्चयदशा कैसे प्राप्त हो सकती है ? यह ध्यान रहे कि व्यवहार करते करते निश्चय दशा प्रगट ही नही होती ।

यह भी ध्यान रहे कि व्यवहार दशाके समय राग है इसलिये वह दूर करने योग्य है, वह लाभ दायक नही है। स्वाश्रित एकतारूप निश्चय-दशा ही लाभ दायक है ऐसा यदि पहलेसे ही लक्ष्य हो तो ही उसके व्यवहारदशा होती है। यदि पहलेसे ही ऐसी मान्यता न हो और उस राग दशा को ही धर्म या धर्मका कारण माने तो उसे कभी धर्म नही होता और उसके वह व्यवहारदशा भी नही कहलाती, वास्तवमे वह व्यवहाराभास है—ऐसा समझना। इसलिये रागरूप व्यवहारदशाको टालकर निश्चयदशा प्रगट करने का लक्ष्य पहले से ही होना चाहिये।

ऐसी दशा हो जाने पर जब साधु स्वसन्मुखताके बलसे स्वरूप की तरफ झुकता है तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय–सम्यक्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय हो जाता है। इसीलिये वह स्व से अभेदरूपरत्नत्रयकी दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होनेके कारण निश्चयरत्नत्रयरूप कही जाती है।

इस अभेद और भेदका तात्पर्य समझ जाने पर यह बात माननी पडेगी कि जो व्यवहाररत्नत्रय है वह यथार्थ रत्नत्रय नही है। इसीलिये उसे हेय कहा जाता है। यदि साधु उसीमे ही लगा रहे तो उसका तो व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। यो कहना चाहिये कि उन साधुओ ने उसे हेयरूप न जानकर यथार्थरूप समझ रखा है। जो जिसे यथार्थरूप जानता और मानता है वह उसे कदापि नही छोडता, इसीलिये उस साधुका व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप संसारका कारण है।

पुनश्च उसीप्रकार जो व्यवहार को हेय समझकर अशुभभावमे रहता है और निश्चयका अवलवन नही करता वह उभयभ्रष्ट (शुद्ध और शुभ दोनो से भ्रष्ट) है। निश्चयनयका अवलवन प्रगट नही हुआ और जो व्यवहारको तो हेय मानकर अशुभमे रहा करते हैं वे निश्चय के लक्ष्य से शुभ मे भी नही जाते तो फिर वे निश्चय तक नही पहुँच सकते—यह निर्विवाद है।

इस श्लोकमे अभेद रत्नत्रयका स्वरूप कृदत शब्दो द्वारा शब्दोका अभेदत्व बताकर कर्तृ भावसाधन सिद्ध किया। अब आगे के श्लोकोमे क्रिया पदो द्वारा कर्ताकर्मभाव आदि मे सर्व विभक्तियो के रूप दिखाकर अभेद-सिद्ध करते हैं।

निश्चयरत्नत्रय की कर्ता के साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो निज स्वरूपको देखता है, निजस्वरूपको जानता है और निजस्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है, अतएव दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनोरूप आत्मा ही है।

कर्मरूपके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपको देखा जाता है, जाना जाता है और धारण किया जाता है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है इसीलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

करणरूपके साथ अभेदता

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १० ॥

अर्थ—जो निज स्वरूप द्वारा देखा जाता है, निजस्वरूप द्वारा जाना जाता है और निज स्वरूप द्वारा स्थिरता होती है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय है, वह कोई प्रथक् पदार्थ नही है किंतु तन्मय आत्मा ही है इसीलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

संप्रदानरूप के साथ अभेदता

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो स्वरूपकी प्राप्ति के लिये देखता है, जानता है तथा प्रवृत्ति करता है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्र नामवाला रत्नत्रय है, यह कोई प्रथक् पदार्थ नही है परन्तु तन्मय आत्मा ही है अर्थात् आत्मा रत्नत्रयसे भिन्न नही किन्तु तन्मय ही है।

अपादान स्वरूप के साथ अभेदता

यस्मात् पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो निजस्वरूपसे देखता है, जानता है तथा जो निजस्वरूप से वर्तता–रहता है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है, वह दूसरा कोई नही किन्तु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

संबंध स्वरूपके साथ अभेदता

यस्य पश्यति जानाति स्वस्वरूपस्य चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो निजस्वरूपके संबधको देखता है, निजस्वरूपके सबध को जानता है तथा निजस्वरूपके सबधकी प्रवृत्ति करता है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय है। यह आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नही किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

आधार स्वरूपके साथ अभेदता

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो निजस्वरूपमें देखता है, जानता है तथा निजस्वरूपमे स्थिर होता है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नही किंतु आत्मा ही तन्मय है।

क्रिया स्वरूपकी अभेदता

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो देखनेरूप, जाननेरूप तथा चारित्ररूप क्रियाऐ है वह दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु ये क्रियाऐ आत्मासे कोई भिन्न पदार्थ नही तन्मय आत्मा ही है।

गुणस्वरूपका अभेदत्व—

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोका आश्रय है वह दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। आत्मासे भिन्न दर्शनादि गुण कोई पदार्थ नही परन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेदत्व

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय पर्यायोका आश्रय है वह दर्शनज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नही है, आत्मा ही तन्मय होकर रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई प्रथक् पदार्थ नही।

प्रदेशस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रदेशा ये प्ररूपिताः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ १८ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान-चारित्रके जो प्रदेश बताये गये हैं वे आत्माके

प्रदेशोसे कही अलग नही है। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्माका ही वह प्रदेश है। अथवा दर्शन–ज्ञान–चारित्रके प्रदेशरूप ही आत्मा है और यही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्माके प्रदेश और रत्नत्रयके प्रदेश भिन्न-भिन्न नही हैं उसीप्रकार परस्पर दर्शनादि तीनोके प्रदेश भी भिन्न नही हैं, अतएव आत्मा और रत्नत्रय भिन्न नही किंतु आत्मा तन्मय ही है।

अगुरुलघुस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते ॥ १९ ॥

अर्थ—अगुरुलघु नामक गुण है अतः वस्तु मे जितने गुण हैं वे सीमा से अधिक अपनी हानि–वृद्धि नही करते, यही सभी द्रव्यो मे अगुरुलघुगुण का प्रयोजन है। इस गुणके निमित्त से समस्त गुणोमे जो सीमा का उल्लंघन नही होना उसे भी अगुरुलघु कहते हैं, इसीलिये यहाँ अगुरुलघुको दर्शनादिकका विशेषण कहना चाहिये।

अर्थात्—अगुरुलघुरूप प्राप्त होनेवाले जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र है वे आत्मासे प्रथक् नही है और परस्परमे भी वे प्रथक् प्रथक् नही हैं, दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप जो रत्नत्रय है, उसका वह (अगुरुलघु) स्वरूप है और वह तन्मय ही है इस तरह अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है, किंतु आत्मा उससे प्रथक् पदार्थ नही। क्योकि आत्माका अगुरलघु–स्वभाव है और आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है इसीलिये वह सर्व आत्मासे अभिन्न है।

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वरूपकी अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्र ध्रौव्योत्पाद व्ययास्तु ये।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ २० ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है वह सब आत्मा का ही है, क्योकि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है वह आत्मासे अलग नही है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मामय ही है, इसीलिये रत्नत्रयके जो उत्पाद-व्यय-

ध्रौव्य है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आत्मा का ही है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी परस्परमे अभिन्न ही है।

इस तरह यदि रत्नत्रयके जितने विशेषण है वे सब आत्माके ही हैं और आत्मासे अभिन्न है तो रत्नत्रयको भी आत्मास्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माका दर्शन-ज्ञान-चारित्र है वह निश्चय रत्नत्रय है, इसके समुदायको (एकताको) निश्चयमोक्षमार्ग कहते है, यही मोक्षमार्ग है।

निश्चय व्यवहार माननेका प्रयोजन

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः॥२१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप प्रथक् २ पर्यायो द्वारा जीवको जानना सो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है और इन सव पर्यायोमे ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है, पर्याय तथा जीवके कोई भेद नही है—इस प्रकार रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न जानना सो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

अर्थात्—रत्नत्रयसे जीव अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा जानना सो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्यिकनयका स्वरूप है, परन्तु रत्नत्रयमे भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहार मोक्षमार्ग है और अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चय मोक्षमार्ग है। अतएव उपरोक्त श्लोकका तात्पर्य यह है कि—

आत्माको प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय द्वारा जानकर पर्याय पर से लक्ष्य हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्य स्वभाव-जो शुद्ध द्रव्यार्यिकनयका विपय है—उसकी ओर झुकनेसे शुद्धता और निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थका प्रयोजन

(वसततिलका)

तत्वार्थसारमिति यः समधिर्विदित्वा,

निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः ।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह—
श्चैतन्यरूपममलं शिवतत्त्वमेति ॥ २२ ॥

अर्थ—बुद्धिमान और ससारसे उपेक्षित हुये जो जीव इस ग्रन्थ को अथवा तत्त्वार्थके सारको ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझ कर निश्चलता पूर्वक मोक्षमार्गमे प्रवृत्त होगा वह जीव मोहका नाश कर संसार बन्धनको दूर करके निश्चय चैतन्यस्वरूपी मोक्षतत्त्वको (शिवतत्त्वको) प्राप्त कर सकता है ।

इस ग्रन्थके कर्त्ता पुद्गल हैं आचार्य नहीं

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥

अर्थ—वर्ण (अर्थात् अनादि सिद्ध अक्षरोका समूह) इन पदो के कर्त्ता है, पदावलि वाक्योकी कर्त्ता है और वाक्योने यह शास्त्र किया है। कोई यह न समझे कि यह शास्त्र मैंने (आचार्यने) बनाया है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ४२१ से ४२८)

नोट—(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता नही हो सकता—यह सिद्धात सिद्ध करके यहाँ आचार्य भगवानने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जीव जड़शास्त्रको नही बना सकता ।

(२) श्री समयसारकी टीका, श्री प्रवचनसारकी टीका, श्री पचास्तिकायकी टीका और श्री पुरुषार्थ सिद्धि उपाय शास्त्रके कर्तृत्वके सम्बन्धमे भी आचार्य भगवान श्री अमृतचन्द्रजीसूरिने बतलाया है कि—इस शास्त्रका अथवा टीकाका कर्ता पुद्गल द्रव्य है, मैं (आचार्य) नही । यह बात तत्त्व-जिज्ञासुओको खास ध्यानमे रखनेकी जरूरत है अत आचार्य भगवानने तत्त्वार्थ सार पूर्ण करने पर भी यह स्पष्टरूपसे बतलाया है । इसलिये पहले भेद विज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नही कर सकता, यह निश्चय करने पर जीवके स्व की ओर ही झुकाव रहता है। अब स्व की तरफ झुकानेमे दो पहलू हैं। उनमे एक त्रिकाली

चैतन्यस्वभावभाव जो परमपारिणामिकभाव कहा जाता है–वह है। अ। दूसरा स्व की वर्तमान पर्याय। पर्याय पर लक्ष्य करनेसे विकल्प (-राग) दूर नही होता, इसलिये त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी तरफ झुकनेके लिये सर्व वीतरागी शास्त्रो की, और श्री गुरुओकी आज्ञा है। अत उसकी तरफ झुकना और अपनी शुद्धदशा प्रगट करना यही जीवका कर्त्तव्य है। इसीलिये तदनुसार ही सर्व जीवोको पुरुषार्थ करना चाहिये। इस शुद्ध-दशा को ही मोक्ष कहते है। मोक्षका अर्थ निज शुद्धताकी पूर्णता अथवा सर्व समाधान है। और वही अविनाशी और शाश्वत–सच्चा सुख है, जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने ज्ञानके अनुसार प्रवृत्ति भी करता है किन्तु उसे मोक्षके सच्चे उपायकी खबर नही है इसलिये दुःख (-बन्धन) के उपायको सुखका (मोक्षका) उपाय मानता है। अत वितरीत उपाय प्रति समय किया करता है। इस विपरीत उपायसे पीछे हटकर सच्चे उपायकी तरफ पात्र जीव झुके और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करे यह इस शास्त्रका हेतु है।



परिशिष्ट—२



प्रत्येक द्रव्य और उसके प्रत्येक पर्यायकी स्वतंत्रताकी घोषणा

१—प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी त्रिकाली पर्यायका पिड है और इसीलिये वे तीनो कालकी पर्यायोके योग्य है, और पर्याय प्रति समय की है, इसीलिये प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमे उस उस समयकी पर्यायके योग्य है और तत्तद् समयकी पर्याय तत्तद् समयमे होने योग्य है अत होती है; किसी द्रव्यकी पर्याय आगे या पीछे होती ही नही।

१—मिट्टी द्रव्य (मिट्टीके परमाणु) अपने तीनो कालकी पर्यायो के योग्य है तथापि यदि ऐसा माना जाय कि उसमे तीनो कालमे एक घडा होने की ही योग्यता है तो मिट्टी द्रव्य एक पर्याय जितना ही हो जाय और उसके द्रव्यत्वका भी नाश हो जाय।

३—जो यो कहा जाता है कि मिट्टी द्रव्य तीन काल मे घडा होने के योग्य है सो परद्रव्यसे मिट्टीको भिन्न बतलाकर यह बतलाया जाता है कि मिट्टीके अतिरिक्त अन्य द्रव्य किसी कालमे मिट्टीका घडा होनेके योग्य नही है। परन्तु जिस समय मिट्टी द्रव्यका तथा उसकी पर्यायकी योग्यताका निर्णय करना हो तब यो मानना मिथ्या है कि 'मिट्टी द्रव्य तीनो कालमे घडा होने के योग्य है, क्योकि ऐसा माननेसे मिट्टी द्रव्यकी अन्य जो जो पर्याये होती हैं, उन पर्यायोके होनेके योग्य मिट्टी द्रव्यकी योग्यता नही है तथापि होती है ऐसा मानना पडेगा जो सर्वथा असत् है। इसलिये मिट्टी मात्र घटरूप होने योग्य है यह मानना मिथ्या है।

४—उपरोक्त कारणोको लेकर यह मानना कि "मिट्टी द्रव्य तीनो काल मे घडा होनेके योग्य है और जहाँ तक कुम्हार न आये वहाँ तक घडा नही होता" (यह मानना) मिथ्या है, किन्तु मिट्टी द्रव्यकी पर्याय जिस समय घडेरूप होनेके योग्य है वह एक समय की ही योग्यता है अत उसी समय

घडेरूप पर्याय होती है, आगे पीछे नही होती और उस समय कुम्हार आदि निमित्त स्वय उपस्थित होते ही है।

५—प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपनी पर्यायका स्वामी है अत. उसकी पर्याय उस उस समयकी योग्यताके अनुसार स्वय हुवा ही करती है, इस तरह प्रत्येक द्रव्यकी अपनी पर्याय प्रत्येक समय तत्तद् द्रव्यके ही आधीन है; किसी दूसरे द्रव्यके आधीन वह पर्याय नही है।

६—जीव द्रव्य त्रिकाल पर्यायो का पिंड है। इसीलिये वह त्रिकाल वर्तमान पर्यायो के योग्य है और प्रगट पर्याय एक समय की है अत उस उस पर्याय के स्वय योग्य है।

७–यदि ऐसा न माना जावे तो एक पर्याय मात्र ही द्रव्य हो जायगा। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का स्वामी है अत उसकी वर्तमानमे होनेवाली एक एक समय की पर्याय है वह उस द्रव्यके आधीन है।

८–जीवको पराधीन कहते है इसका यह अर्थ नही है कि पर द्रव्य उसे आधीन करता है अथवा पर द्रव्य उसे अपना खिलौना बनाता है किन्तु तत्तद समयका पर्याय जीव स्वय परद्रव्य की पर्यायके आधीन हुवा करता है। यह मान्यता मिथ्या है कि परद्रव्य या उसकी कोई पर्याय जीवको कभी भी आश्रय दे सकती है उसे रमा सकती है, हैरान कर सकती है या सुखी दु खी कर सकती है।

९–प्रत्येक द्रव्य सत् है अत वह द्रव्यसे, गुण से और पर्याय से भी सत् है और इसीलिये वह हमेशा स्वतत्र है। जीव पराधीन होता है वह भी स्वतत्ररूपसे पराधीन होता है। कोई पर द्रव्य या उसकी पर्याय उसे पराधीन या परतत्र नही बनाते।

१०–इस तरह श्री वीतराग देव ने सपूर्ण स्वतत्रताकी मुनादी पीटी है–घोषणा की है।



परिशिष्ट--३

साधक जीवकी दृष्टि की सतत कथा (-स्तर)

अध्यात्म शास्त्रोंमें ऐसा नहीं कहा कि "जो निश्चय है सो मुख्य है" यदि निश्चयका ऐसा अर्थ करें कि जो निश्चयनय है सो मुख्य है, तो किसी समय निश्चयनय मुख्य हो और किसी समय व्यवहारनय मुख्य हो, अर्थात् किसी समय 'द्रव्य' मुख्य हो और किसी समय 'गुण–पर्याय के भेद' मुख्य हो, लेकिन द्रव्यके साथ अभेद हुई पर्याय को भी निश्चय कहा जाता है इसलिये निश्चय सो मुख्य न मानकर मुख्य सो निश्चय मानना चाहिये। और आगमशास्त्रोमे किसी समय व्यवहारनयको मुख्य और निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है। अध्यात्म शास्त्रोमे तो हमेशा 'जो मुख्य है सो निश्चयनय' है और उसीके आश्रयसे धर्म होता है—ऐसा समझाया जाता है और उसमे सदा निश्चयनय मुख्य ही रहता है। पुरुषार्थ के द्वारा स्व मे शुद्ध पर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय दूर करनेके लिये हमेशा निश्चयनय ही आदरणीय है, उस समय दोनो नयों का ज्ञान होता है किंतु धर्म प्रगट करने के लिये दोनो नय कभी आदरणीय नही। व्यवहारनयके आश्रयसे कभी आंशिक धर्म भी नही होता परन्तु उसके आश्रयसे तो राग-द्वेपके विकल्प उटते ही हैं।

छहो द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायोके स्वरूपका ज्ञान कराने के लिये किसी समय निश्चयनय की मुख्यता और व्यवहारनयकी गौणता रखकर कथन किया जाता है और किसी समय व्यवहार नयको मुख्य करके तथा निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है, स्वयं विचार करनेमे भी किसी समय निश्चयनयकी मुख्यता और किसी समय व्यवहारनयकी मुख्यता की जाती है। अध्यात्म-शास्त्रमे भी जीव विकारी पर्याय स्वयं करता है इसीलिए होती है। और उस जीवके अनन्य परि-

णाम है—ऐसा-व्यवहार द्वारा कहा और समझाया जाता है किन्तु उस प्रत्येक समय मे निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है ऐसा ज्ञानियो का कथन है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और किसी समय व्यवहारनय आदरणीय है सो भूल है। तीनो काल अकेले निश्चय-नय के आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है—ऐसा समझना।

प्रश्न—क्या साधक जीवके नय होता ही नही ?

उत्तर—साधक दशामे ही नय होता है। क्योकि केवलीके तो प्रमाण है अत उनके नय नही होता, अज्ञानी ऐसा मानते है कि व्यवहार-नयके आश्रय से धर्म होता है इसीलिये उनको तो व्यवहारनय ही निश्चय-नय होगया, अर्थात् अज्ञानीके सच्चा नय नही होता। इस तरह साधक जीव के ही उनके श्रुत ज्ञानमे नय होता है। निर्विकल्पदशा से अतिरिक्त कालमे जव उनके नयरूपसे श्रुतज्ञानका भेदरूप उपयोग होता है तब, और ससारके शुभाशुभ भावमे हो या स्वाध्याय, व्रत नियमादि कार्योमे हो तव जो विकल्प उठते हैं वह सब व्यवहारनयके विषय है, परन्तु उस समय भी उनके ज्ञानमे एक निश्चयनय ही आदरणीय है (अत उस समय व्यवहारनय है तथापि वह आदरणीय नही होने से) उनकी शुद्धता वढती है। इस तरह सविकल्प दशामे भी निश्चयनय आदरणीय है और जव व्यवहारनय उपयोग रूप हो तो भी ज्ञानमे उसी समय हेयरूप से है, इस तरह निश्चय और व्यवहारनय—ये दोनो साधक जीवो के एक ही समयमे होते है।

इसलिये यह मान्यता ठीक नही है कि साधक जीवोके नय होता ही नही, किंतु साधक जीवो के ही निश्चय और व्यवहार दोनो नय एक ही साथ होते है। निश्चयनयके आश्रयके बिना सच्चा व्यवहारनय होता ही नही। जिसके अभिप्रायमे व्यवहार नयका आश्रय हो उसके तो निश्चय-नय रहा ही नही, क्योकि उसके तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया।

चारो अनुयोगो मे किसी समय व्यवहारनय की मुख्यता से कथन किया जाता है और किसी समय निश्चयनयको मुख्य करके कथन किया जाता है किन्तु उस प्रत्येक अनुयोगमे कथनका सार एक ही है और वह यह है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो जानने योग्य हैं, किंतु शुद्धताके लिये आश्रय करने योग्य एक निश्चयनय ही है और व्यवहारनय कभी भी आश्रय करने योग्य नही है—वह हमेशा हेय ही है–ऐसा समझना।

व्यवहारनयके ज्ञानका फल उसका आश्रय छोडकर निश्चयनयका आश्रय करना है। यदि व्यवहारनयको उपादेय माना जाय तो वह व्यवहार-नयके सच्चे ज्ञानका फल नही है किंतु व्यवहारनयके अज्ञानका अर्थात् मिथ्यात्वका फल है।

निश्चयनयके आश्रय करनेका अर्थ यह है कि निश्चयनयके विषय-भूत आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वरूपका आश्रय करना और व्यवहारनयका आश्रय छोडना–उसे हेय समझना—इसका यह अर्थ है कि व्यवहारनयके विषयरूप विकल्प, पर द्रव्य या स्वद्रव्य की अपूर्ण अवस्था की ओर का आश्रय छोडना।

अध्यात्मका रहस्य

अध्यात्ममें जो मुख्य है सो निश्चय और जो गौण है सो व्यवहार, यह कक्षा है, अतः उसमें मुख्यता सदा निश्चयनयकी ही है और व्यवहार सदा गौणरूपसे ही है। साधक जीवकी यह कक्षा या स्तर है। साधक जीवकी दृष्टि की सतत कक्षा की यही रीति है।

साधक जीव प्रारंभसे अंततक निश्चयकी मुख्यता रखकर व्यव-हारको गौण ही करता जाता है, इसीलिये साधक को साधक दशामे निश्चयकी मुख्यता के बलसे शुद्धता की वृद्धि ही होती जाती है और अशु-द्धता हटती ही जाती है इस तरह निश्चयकी मुख्यताके बलसे ही पूर्ण केवलज्ञान होते हैं फिर वहाँ मुख्यता–गौणता नही होती और नय भी नही होता।

वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके !

वस्तुमे द्रव्य और पर्याय, नित्यत्व और अनित्यत्व इत्यादि जो विरुद्ध धर्म स्वभाव है वह कभी दूर नही होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं उनमे एक के आश्रयसे विकल्प टूटता–हटता है और दूसरे के आश्रय से राग होता है। अर्थात् द्रव्यके आश्रय से विकल्प टूटता है और पर्याय के आश्रय से राग होता है, इसी से दो नयोका विरुद्ध है। अब द्रव्य स्वभाव की मुख्यता और अवस्था की—पर्यायकी गौणता करके जब साधक जीव द्रव्य स्वभावकी तरफ झुक गया तब विकल्प दूर होकर स्वभावमे अभेद होने पर ज्ञान प्रमाण हो गया। अब यदि वह ज्ञान पर्यायको जाने तो भी वहाँ मुख्यता तो सदा द्रव्य स्वभाव की ही रहती है। इसतरह जो निज द्रव्य स्वभावकी मुख्यता करके स्व सन्मुख झुकने पर ज्ञान प्रमाण हुवा वही द्रव्यस्वभावकी मुख्यता साधक दशाकी पूर्णता तक निरतर रहा करती है। और जहाँ द्रव्यस्वभावकी ही मुख्यता है वहाँ सम्यग्दर्शनसे पीछे हटना कभी होता ही नही, इसीलिये साधक जीवके सतत द्रव्यस्वभावकी मुख्यता के वलसे शुद्धता वढते २ जब केवलज्ञान हो जाता है तब वस्तुके परस्पर विरुद्ध दोनो धर्मोंको (द्रव्य और पर्यायको) एक साथ जानता है, किन्तु वहा अब एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता करके झुकाव—झुकना नही रहा। वहाँ सपूर्ण प्रमाणज्ञान हो जाने पर दोनो नयोका विरोध दूर होगया (अर्थात् नय ही दूर हो गया) तथापि वस्तुमे जो विरुद्ध धर्म स्वभाव है वह तो दूर नही होता।



परिशिष्ट–४



शास्त्रका संक्षिप्त सार

१—इस जगतमे जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये छह द्रव्य अनादि अनन्त हैं, इसे सक्षेप मे 'विश्व' कहते है। (अध्याय ५)

२—वे सत् हैं अत उनका कोई कर्ता नही या उनका कोई नियामक नही, किन्तु विश्व का प्रत्येक द्रव्य स्वय स्वतत्ररूपसे नित्य स्थिर रह कर प्रतिसमय अपनी नवीन अवस्था प्रगट करता है और पुरानी अवस्था दूर करता है। (अध्याय ५ सूत्र ३०)

३—उन छह द्रव्यो मे से जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्य जड है उनमे ज्ञान, आनद गुण नही है अतः वे सुखी–दुखी नही, जीवोमे ज्ञान, आनन्द गुण है किंतु वे अपनी भूलसे अनादिसे दु खी हो रहे हैं, उनमे जो जीव मनसहित हैं वे हित अहित की परीक्षा करने की शक्ति रखते हैं अत ज्ञानियोने, उन्हे दु ख दूर कर अविनाशी सुख प्रगट करनेका उपदेश दिया है।

४—अज्ञानी जीव मानता है कि शरीर की क्रिया, पर जीवकी दया, दान, व्रत आदि सुखके उपाय है, परन्तु यह उपाय खोटा है, यह वतलाने के लिये इस शास्त्रमे सबसे पहले ही यह वतलाया है कि सुखका मूल कारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद उस जीवके सम्यक्चारित्र प्रगट हुये विना रहता ही नही।

५—जीव ज्ञाता दृष्टा है और उसका व्यापार या जिसे उपयोग कहा जाता है वह जीवका लक्षण है, राग, विकार, पुण्य, विकल्प, करुणा आदि जीवके लक्षण नही–ये उसमे गर्भितरूपसे कहे हैं।

(अध्याय २ सूत्र ८)

६–दया, दान, अणुव्रत, महाव्रत, मैत्री आदि शुभभाव तथा मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इत्यादि अशुभभाव आस्रवके कारण है–ऐसा कहकर पुण्य-पाप दोनो को आस्रवके कारणरूपसे वर्णन किया है। (अध्याय ६ तथा ७)

७–मिथ्यादर्शन ससारका मूल है ऐसा अध्याय ८ सूत्र १ मे वतलाया है तथा बंधके दूसरे कारण और बधके भेदोका स्वरूप भी बतलाया है।

८—ससारका मूल कारण मिथ्यादर्शन है, वह सम्यग्दर्शनके द्वारा ही दूर हो सकता है, विना सम्यग्दर्शनके उत्कृष्ट शुभभावके द्वारा भी वह दूर नही हो सकता। सवर–निर्जरारूप धर्मका प्रारभ सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के वाद सम्यग्चारित्रमे क्रमश शुद्धि प्रगट होने पर श्रावकदशा तथा मुनिदशा कैसी होती है यह भी बतलाया है। यह भी वतलाया है कि मुनि बावीस परीषहो पर जय करते है। यदि किसी समय भी मुनि परीषह जय न करे तो उसके बध होता है, इस विषयका समावेश आठवे बध अधिकार मे आगया है और परीषह जय ही सवर–निर्जरारूप हैं अत यह विषय नवमे अध्यायमे बतलाया है।

९—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकताकी पूर्णता होने पर (अर्थात् सवर निर्जराकी पूर्णता होने पर) अशुद्धताका सर्वथा नाश होकर जीव पूर्णतया जडकर्म और शरीरसे प्रथक् होता है और पुनरागमन रहित अविचल सुखदशा प्राप्त करता है, यही मोक्षतत्त्व है, इसका वर्णन दसवे अध्यायमे किया है।

इसप्रकार इस शास्त्रके विषयका सक्षिप्त सार है।

"मोक्षशास्त्र गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ"।

प० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ।



सम्यक्त्वकी महिमा

श्रावक क्या करे ?

हे श्रावक ! ससारके दुःखोका क्षय करने के लिए परम शुद्ध सम्यक्त्वको धारण करके और उसे मेरु पर्वत समान निष्कंप रखकर उसीको ध्यानमे ध्याते रहो ! [मोक्षपाहुड—८६]

सम्यक्त्वसे ही सिद्धि

अधिक क्या कहा जाय ? भूतकालमे जो महात्मा सिद्ध हुए हैं और भविष्य कालमें होगे वह सव इस सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है—ऐसा जानो । [मोक्षपाहुड—८८]

शुद्ध सम्यग्दृष्टिको धन्य है !

सिद्ध कर्ता—ऐसे सम्यक्त्वको जिसने स्वप्नमें भी मलिन नही किया है उस पुरुषको धन्य है, वह सुकृतार्थ है, वही वीर है, और वही पडित है । [मोक्षपाहुड—८९]

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी श्रेष्ठ है

जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है वह मोक्षमार्गमे स्थित है, परन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गी नही है, इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी श्रेष्ठ है । [रत्नकरंड श्रावकाचार ३३]

सम्यक्त्वी सर्वत्र सुखी

सम्यग्दर्शन सहित जीवका नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित जीवका स्वर्गमे रहना भी शोभा नही देता, क्योकि आत्मभान बिना स्वर्गमे भी वह दुःखी है । जहाँ आत्मज्ञान है वही सच्चा सुख है ।

[सारसमुच्चय ३९]

लक्षण-संग्रह



शब्द	अध्याय	सूत्र
[अ]		
अकामनिर्जरा	६	१२
अक्षिप्र	१	१६
अगारी	७	२०
अगृहीत मिथ्यादर्शन	८	१
अघातिया	,,	४
अङ्गोपाङ्ग	,,	११
अचक्षुदर्शन	,,	७
अचौर्याणुव्रत	७	२०
अजीव	१	४
अज्ञातभाव	६	६
अज्ञान	८	१
अज्ञान परीषह जय	६	६
अण्डज	२	३३
अणु	५	२५
अणुव्रत	७	२
अतिथि संविभाग व्रत	,,	२१
अतिचार	,,	२३
अतिभार आरोपण	,,	२५
अदर्शन परीषह जय	६	६
अधिगमज सम्यग्दर्शन	१	३
अधिकरण क्रिया	६	५
अधिकरण	,,	६
अध्रुव	१	१६
अधो व्यतिक्रम	७	३०
अन्तर	१	८
अनिःसृत	१	१६
अनुक्त	१	१६
अनुगामी अवधिज्ञान	१	२२
अननुगामी ,,	१	२२
अनवस्थित ,,	१	२२
अनीक	४	४
अनर्पित	५	३२
अनाभोग	६	५
अनाकांक्षा	,,	५
अनुमत	६	८
अनाभोगनिक्षेपाधिकरण	६	६
अतराय	६	१०
अनुवीचिभाषण	७	५
अनृत-असत्य	७	१४
अनगारी	,,	२०
अनर्थ दंड व्रत	,,	२१
अन्यदृष्टिप्रशंसा	,,	२३
अन्नपाननिरोध	,,	२५
अनङ्ग क्रीड़ा	,,	२८
अनादर	,,	३३
,,	,,	३४
अनुभागबंध	८	३
अन्तराय	८	४
अनुजीविगुण	८	४
अनन्तानुबंधी क्रोधादि	,,	६
अन्तर्मुहूर्त	,,	२०



शुद्धि-पत्र

पेज	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
९	२०	अ० ६	अ० ९
१६	१०	लक्ष से	आश्रय से
१७	१	जीवा जीवादिना	जीवाजीवादिना
२१	१	सूत्र १	सूत्र ३
२१	३	तत्त्वका ग्रहण	तत्त्वका श्रवण, ग्रहण
३३	४	केवली	केवल
५७	२	की होती है	से होती है
५९	२	प्रति ×	प्रति +
६४	१६	तब उसमे	तब वह
६७	२३	ज्ञानागोचर	ज्ञानगोचर
६८	८	हिनादिक	हिनाधिक
८७	२५	अवग्रह ईहा और अवाय,	अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा
८८	२३–२४	(गृहस्थ दशा मे	(गृहस्थ दशा मे)
९१	२	क्षत्र	क्षेत्र
९४	७	विपुलमन:	विपुलमतिमन
१०१	१६	आत्माका	अनात्माका
१०६	१२	दव्य	द्रव्य
१०८	१	हाता	होता
१०८	२१	आर	और
११४	१४	मि या	मिथ्या
११९	२२	मिथ्था	मिथ्या
१३०	९	आश्रय	आश्रय से
१४०	१९	दर्शन का कारण	दर्शन का सच्चा कारण
१५४	११	सम्यक्तमे	सम्यक्त मे भी
१५७	१५	क्षायक	ज्ञायक
१७५	८	स्यभाव	स्वभाव
१८०	४	मेरे विकल्प मे	मेरे ज्ञानादि है ऐसे विकल्पमे
१८६	८	जात	जाति
२२९	१९	क्षायिक	क्षायोपशमिक
२५८	२०	हीती	होती
२६३	१०	स्वमी	स्वामी
२६९	१७–१८	तबरक	तबतक

पेज	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
२७३	१५	तेसज	तैजस
३४३	२३	क्योंकि	D.
३६३	१७	दक्षिण इन्द्र,	दक्षिण के छह इन्द्र (-सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण) सौधर्म के चारो लोकपाल [देखो सर्वार्थ सिद्धि एटा पृ० ८७-८८ की फुटनोट]
३९८	६	उतने	रोके उतने
४०६	१९	ग्रौर	ग्रोर
४८७	२३	द्रव्यसह	द्रव्यसग्रह
४८९	२७	दशामे,	दशामे,)
५१८	२५	कवलज्ञानी	केवलज्ञानी
५२०	१९	मुमुक्ष	मुमुक्षु
५२३	१४	रस	उस
५३५	११	शुभ	शुद्ध
५३५	१२	शुभ	शुद्ध
५३७	७	वयावृत्य	वैयावृत्य
५४४	८	किसी	किस
५५४	४	वस्तुका	वस्तुका)
५५५	८	दिया है	दिया है जो अब निम्नलेखानुसार दिखाते हैं
५५८	२४	जमसे	जलसे
५६८	१७	गुणादिक	गुणाधिक
५८४	२१	जसे	जैसे
६०२	१९	जनत्व	जैनत्व
६१७	२३	कातृत्व	कर्तृत्व
६५९	३	निस्तरक	निस्तरग
६७०	१५	द्वप	द्वेप
६७१	२	अनित्पा	अनित्या
६७४	२१	नय विमुक्तसे	नयसे
६७८	१३	अज्ञानी	अज्ञान
७०९	३	सयय	समय
७४६	१७	अ तक	अततक